ओम्

श्रीनरहरिस्वामी कृत

बोधसार

[राजयोग विषय का ग्रन्थ]

यथा ब्रह्माण्डसर्वस्वं पिण्डे पिण्डे निरूपितम् ।
तथा सिद्धान्तसर्वस्वं श्लोके श्लोके निरूपितम् ॥
सिद्धार्थैः सुगमार्थैश्च विशेषै र्बहुभि र्वृतः ।
ग्रन्थ स्त्वेतादृश स्तात न भूतो न भविष्यति ॥

भाषान्तरकार तथा व्याख्याकार—
पं० रामावतार विद्याभास्कर

प्रकाशक—
ठा० कायमसिंह
मिलावली पो० जसराना
ज़ि० मैनपुरी

प्रथमवार] सम्वत् १९८९ [मूल्य २।)

प्रकाशक—
ठा० क़ायमसिंह
मिलावली, पो० जसराना
ज़ि० मैनपुरी
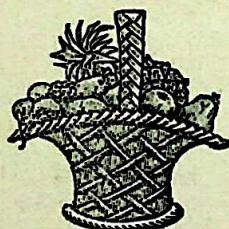
मुद्रक—
श्री देवचन्द्र विशारद
हिन्दी-भवन प्रेस,
लाहौर

ओम्

एक अभिलाषा

हे अच्युत ! हे अनन्त ! तुमको बार बार प्रणाम हो। मेरे प्रणामों का यह प्रवाह बहता बहता जब तक तुम्हारे दरबार तक न जा पहुँचे और स्वीकार न हो जाय, तब तक मैं प्रणामों की झड़ी लगाता ही जाऊँगा। जैसे भूमि पर पड़ा पड़ा डण्डा गल सड़कर भूमि में मिलकर अपनी भूमाता को सच्चा प्रणाम कर लेता है, ओ मेरी अच्युत नाम की माँ ! अब तो मेरी एकमात्र यही इच्छा है कि मैं भी उस डण्डे की तरह तुममें गिर पड़ूँ, खोया जाऊँ और वैसा ही नीरव प्रणाम कर सकूँ। हे अच्युत ! हे अनन्त ! मैं कब ऐसा प्रणाम कर सकूँगा? जिस दिन मैं ऐसा प्रणाम कर सकूँगा उस दिन को देखने के लिये मेरी आँखें तरस रही हैं।

हे अच्युत ! हे अनन्त ! तुमने तो सदा से सदा तक मौन रहना ही सीखा है। मौत की सी शान्ति को ही तुमने पसन्द किया है। शब्द और संकेत तुमको भाते ही नहीं हैं। तुमसे जो भी कुछ अब तक कहा जाता रहा है उस किसी की भी कोई सूचना तुम्हारे एकान्त अन्तरतम तक नहीं पहुँच पायी है। उस किसी का भी कोई उत्तर तुम्हारी ओर से अभी तक भी दिया नहीं गया है। उत्तर की प्रतीक्षा में मेरी आँखें पथरा चुकी हैं। बीते हुए अनन्त जन्मों में मैंने अनन्तवार तुम्हारी इस अनाद्यन्त मौनमुद्रा को तोड़ने की असफल चेष्टायें की हैं। परन्तु तुमने तो 'एक चुप सौ को हराय' वाला महासूत्र पढ़ रक्खा है। आज तो अन्त में मैं भी तुमसे हार मानकर बैठ गया हूँ। अब तुमसे कुछ भी कहने को मेरा जी नहीं चाहता है। उसकी कुछ ज़रूरत भी तो

नहीं है। क्योंकि बोलने का मतलब तुमको भूल जाना ही तो है और हे अच्युत नाम की माँ ! तुमको भूलकर जीवन का आनन्द कैसा ? और हे देव ! तुमको भूले बिना बोलना कैसा ? अपने मुँह के टुकड़े को छोड़े बिना कव्वे का गाना कैसा ? **देवो भूत्वा देवं यजेत्** देव को पूजना हो तो पहले देव ही बन जाओ, तभी उसका यजन हो सकता है। सो आज मैं भी तुम्हारी ही तरह मौन होकर—पूरा पूरा मौन होकर—पत्थर बनकर—अपने मन को भी 'चुप रह' कहकर, आपके जगदप-वादाधिष्ठानरूपी चरण के नीचे, अपने आपको रखकर, अपना सर्वस्व बलिदान करके, आपका यजन करता हूँ और चाहता हूँ कि आप अपने इस पैर से, मेरा 'मैं' का मस्तक कुचल दीजिये। अण्डे में से पक्षी के बच्चे की तरह, इस अनन्तद्रोही 'मैं' में से, मुझे बाहर निकाल लीजिये। एक काम और कीजिये कि मेरे इस मौनावेष्टित मन को—आप से मुझ को अलगाये रखने वाले मन को—मेरे इस सर्वस्वबलिदान की दक्षिणा के रूप में ले लीजिये। हे अच्युत ! हे अनन्त ! मेरे अध्यात्मयोग नाम के कांपते हुए नन्हे से हाथ से, अनुभव के अक्षरों में, ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु पर, आप जो मौनसागर हैं, उसमें घुल जाने की, पूर्ण अनुमति लिखवा दीजिये। बस, मेरा जीवन सफल हो जायगा। करने धरने का, खोने पाने का, मेरा दफ़्तर सदा के लिये बन्द हो जायगा। ओम्

ओम्

प्राक्कथन

ऋचोक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ।। वेद

देवप्रकृति के सम्पूर्ण लोग, मनन और निदिध्यासन का परवाना लेकर, जिस परमाकाश में जा डटते हैं, ऋचायें तो उसी घटघटवासी परमाकाश को बता रही हैं। उस परमाकाश को जिसने नहीं पहचाना है, वह यदि ऋचायें पढ़ भी लेगा तो उस से क्या होगा ? देख लो, जो लोग उस तत्त्व को पहचान गये हैं वे लोग कैसे निश्चिन्त निःस्पृह और शान्त हुए बैठे हैं। क्या तुम्हें उनकी शान्ति को देखकर ईर्ष्या नहीं होती !

आज से नहीं, अनादिकाल से ही प्रत्येक प्राणी दुःखों से छूटने और सुखों को पाने के लिये व्यग्र होरहा है। अपने सर्वोत्साह से वह इस काम में तभी से जुट भी रहा है। परन्तु तब से आजतक भी यह संसारी निश्चिन्त होकर यह नहीं कह सका है कि 'बस अब मेरे काम समाप्त हो चुके'। इसे प्रत्येक समय कोई न कोई इच्छा या अभाव सताता ही रहता है। यदि किसी फूटे बरतन को पानी से भरने लगें और जितना भरें उतना ही उसमें से निकल जाय तो हम अवश्य ही उसे भरना छोड़ दें तथा पानी भरने का कोई दूसरा ही उपाय करें। परन्तु इतने लम्बे अनुभव के बाद भी, अनन्त असफलताओं के पश्चात् भी, सर्वसह होकर, हम फिर फिर वही वही काम करते जारहे हैं, जिन से न तो हमारे दुःख ही छूट पाये हैं और न हमें सुख ही मिल पाया है। संसार के प्रत्येक काम में प्राप्ति को—हासिल को—पहले देख लेनेवाले, फिर पीछे से काम में हाथ डालनेवाले, इस चौकन्ने

प्राणी को, इस मुख्य विषय में प्राप्ति या हासिल का कुछ भी मालूम न होना, भेड़ों के पीछे चली जाने वाली भेड़ों की तरह अनुकरण तत्पर होकर कुछ भी करते जाना, सचमुच बड़ी ही शोचनीय बात है। मैं यह सब क्यों कर रहा हूँ ? मैं इन दुःखों में क्यों फंस गया हूँ ? यह बन्धन मेरे ऊपर क्यों और कहां से आगया है ? क्या मैं इससे कभी छूट भी सकूँगा ? इत्यादि कुछ भी मालूम न करना सचमुच बड़े ही आश्चर्य की बात है। दुनियादारी में तो ख़ूब चौकन्ना और इस-मुख्य विषय में पूरा पूरा प्रमादी यह प्राणी, सचमुच अशरफ़ियें लुटाकर कोयलों पर मोहर लगाने वाला हो गया है। प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है कि वह अपने अनन्त जन्मों में किये गये उद्योगों पर अपनी विचार की दृष्टि फैलाकर यह मालूम करले कि क्या उन सब से उसे कुछ मिला है या वह सब व्यर्थ ही चला गया है ? यदि कुछ प्राप्ति न हुई मालूम पड़ती हो तो अब तक स्वीकार किया हुआ मार्ग—आंख मींचकर कुछ भी करते जाने का मार्ग—बापदादों, पड़ोसियों और बिरादरीवालों को देख देखकर बेहासिल काम करते जाने का निष्फल मार्ग—बदल डालना चाहिये। पहले मार्ग की कमियों को मालूम करना चाहिये कि उस मार्ग में हमारे दुःख क्यों नहीं हटे और हमें सुख क्यों नहीं मिला ?

बात यह है कि जो शरीर स्वभाव से ही दुःखों की चौपाल हैं, उनको जब भूल से अपना आपा मान लिया जाता है, तब उन शरीरों के जितने भी दुःख और आवश्यकतायें होती हैं—भौतिक होने से उनकी जितनी टूट-फूट होती हैं—वे सब अपनी ही समझ ली जाती हैं। क्योंकि ये टूट-फूट कभी पूरी पूरी हट ही नहीं सकतीं, इसी से हमारे दुःख कभी भी—अनादिकाल से आजतक भी—

हट नहीं पाते। शरीर, इन्द्रिय और मन की इस दुःखाभाव की मांग में हम भी अपनी 'हाँ' मिला देते हैं—इनकी इस मांग को अपनी मांग बना लेते हैं। भौतिक मकानों की टूट फूट न होना जैसे अनहोनी बात है, इसी प्रकार इनमें दुःखभाव का होजाना भी एक अनहोनी बात ही है—इन शरीरों का कोई न कोई कलपुरज़ा तो बिगड़ा ही करेगा। हम अपनी मूर्खता से इसी अनहोनी बात के लिये आंख बन्द करके उद्योग किया करते हैं और असफल होते जाते हैं—दुःखों का अभाव कर ही नहीं पाते हैं। क्योंकि दुःखाभाव का तो यह मार्ग ही नहीं था। तब से अब तक भी सुख न मिलने का कारण तो यह होता है कि जो वस्तु जहां नहीं है वहां से उसको मांगा जाता है तथा जहां वह है वहां से उसके विषय में पूछताछ तक नहीं की जाती। बिचारे गरीब विषयों के पास सुख है ही कहां कि वे दे देते। जिसके पास जो नहीं है उससे वह मांगना तो मांगने वाले की ही मूर्खता है। इसी मूर्खता का दण्ड दुःख के रूप में हम सब को भोगना पड़ रहा है। उन गरीबों की गठरी में तो दुःख ही दुःख भरे हुए हैं। जब उनसे सुख मांगा जाता है तब वे बिचारे अपनी गठरी में से निकाल कर दुःखों को ही सुख बताकर दे देते हैं। अपनी बेसमझी के कारण हमें दुःख की जगह भी दुःख ही भोगने पड़ते हैं और सुख की जगह भी दुःख ही भोगने पड़ जाते हैं। यों हम दुःखाभाव भी नहीं कर पाते और सुख भी हमें नसीब नहीं होता। तब क्या सुख नाम की कोई वस्तु इस संसार में है ही नहीं ? इसका उत्तर अध्यात्म यह देता है कि सुख तो आत्मा का ही दूसरा नाम है। कस्तूरीमृग जैसे अपनी ही कस्तूरी को तलाश करता फिरता हो, वही मज़ाक़ हमने इस अपने ही सुख

के साथ कर रक्खा है। फिर बताइये वह वहां विषयों में से क्योंकर मिल जाता ? यह सुख जब विषयों की ओढ़नी ओढ़कर आता है तब भी यह हमें दुःखमिश्रित सुख ही देता है। विषयों के द्वारा आने वाले इस सुख का नाम 'विषयसुख' होता है। जब तो यह सुख बिना आवरण के, बिना किसी बहाने के, बे रोक टोक होकर, नदी की बाढ़ की तरह उमड़ पड़ता है—नींद की तरह आक्रमण करता आता है—तब इसको 'केवल सुख' किंवा 'आत्मानन्द' कहते हैं। वह केवल सुख कैसे प्राप्त किया जाय? निरावरण, निर्व्याज, अखण्ड और निरापद आनन्द को कैसे पायें? इसका उत्तर देना, उसकी प्रक्रिया बताना ही 'राजयोग' का मुख्य काम है। उसी राजयोग पर श्रीनरहरि स्वामी ने 'न भूतो न भविष्यति' न हुआ न होगा जैसा यह 'बोधसार' नामक अपूर्व ग्रन्थ लिखा है।

इसमें पातंजलयोग, हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग आदि सभी प्राचीन मुख्य योगों का इतना विशद वर्णन है कि ये विषय इन विषयों के मुख्य ग्रन्थों में भी इतने स्पष्ट समझ नहीं पड़ते। आत्मा के सुखरूप तक न पहुँचा सकने की उन योगों की जो मुख्य त्रुटि है उसे समझाते हुए राजयोग का इतना मार्मिक, इतना सरल, इतना स्पष्ट और अनुभवपूर्ण वर्णन किया है कि पाठकों को इस वर्णन में अपनी ही दिनचर्या लिखी हुई मालूम होने लगती है। अपनी ही जन्मगाथा का उल्लेख प्रतीत होने लगता है। अपने ही विचारों का संकलन किया हुआ ज्ञात होता है। राजयोग कितना स्वाभाविक है यह इसको भले प्रकार देखने से समझ में आ जायगा। गीता में जो राजयोग को **सुसुखं कर्तुमव्ययम्** करने में आसान से भी आसान बताया है सो भी इसको देखकर मान लेना पड़ेगा। इसके पढ़ते पढ़ते ही मन्त्र और ओषधि से बद्धवीर्य

सांप की तरह पाठकों का मन बड़ी ही अद्भुत अवस्था में जा पहुँचता है। वह कभी खड़ा होजाता है, कभी स्तब्ध हो जाता है। ज्ञान में कितनी मस्ती होती है ? **सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परि-समाप्यते** ज्ञान होने पर कर्मों का पूर्ण विराम कैसे हो जाता है ? सो इसको पढ़ने ही से अनुभव में आ जायगा। राजयोग के प्रभाव से ज्ञानी का दृष्टिविपर्यय किस प्रकार हो जाता है ? फिर वह संसार को कैसे दूसरे पहलू से देखने लग पड़ता है ? वह किन किन भूमिकाओं में को होकर ज्ञानयात्रा किया करता है ? ज्ञान किस तरह उसे भूत बनकर चिपट जाता है ? उसे किस अद्भुत ढंग से असंग रहना आजाता है ? वह कैसे अन्तःशीतल हो जाता है ? वह कैसे जागता हुआ भी होश की नींद सोलेता है ? वह कैसे अखण्ड ज्ञानदीपक जलाकर सर्वभाव से उसी की सेवा में मस्त हो जाता है ? वह इच्छारूपी कूड़े से ढके हुए सच्चिदा-नन्द को—सोये पड़े हुए ओम् को—कैसी कैसी लोरियों में लाकर जगा लेता है ? उसके जाग उठने पर यह संसार कैसे ऊपर तले होने लगता है ? अनुभव हो जाने पर साधक को कैसा सात्विक गर्व आता है ? यह सब कुछ इस पुस्तक में देखने को मिलेगा।

इस भाषान्तर में इसके टीकाकार दिवाकर पण्डित की टीका से बहुत अधिक सहायता ली गयी है। कहीं कहीं तो यह उस टीका का पूरा अनुवाद ही होगया है। उससे अधिक जो कुछ है वह श्रद्धेय श्रीअच्युतमुनिजी से अध्यात्म प्रसंग बूझे जाने पर सुनी हुई बातें हैं। अपना इस में कुछ भी नहीं है। पास की आवाज से कांसी के बरतन की तरह झंकारने वाला बस एक छोटा सा हृदय हमारे पास है। वह जैसे जैसे बजता गया है, उसे शब्दों में रखने का प्रयत्न हमने किया है। हां, जहां समझ की

भूल दीख पड़े, जहां वह गलत बजता प्रतीत हो, जहां हम चूकते मालूम पड़ें, वहीं हमारा अपना है। ग्रन्थकार की सब बातों से सहमत न होते हुए भी, व्याख्याकार के नाते अपनी ओर से उनके भाव की पूरी पूरी रक्षा करते हुए व्याख्या की गयी है। राजयोग के सम्बन्ध में तो ग्रन्थकार से हम पूर्ण सहमत हैं। अपितु उससे हमारे हृदय को बड़ी ही शान्ति मिली है। वैसी दूसरों को भी मिले यह भी एक कारण इस व्याख्या करने का हुआ है। श्रद्धास्पद श्रीअच्युतमुनिजी की विशेष प्रेरणा से और ग्रन्थ का पूरा पूरा मनन हो जाने के लोभ से भी हम इस काम में प्रवृत्त हुए हैं।

मिलावली डा० जसराना जि० मैनपुरी के रईस श्री ठाकुर क़ायमसिंहजी की सहायता से पांच वर्ष से लिखा पड़ा हुए यह ग्रन्थरत्न पाठकों को सुलभ हो सका है, तदर्थ पाठकों को उनका कृतज्ञ होना चाहिये। क्योंकि संस्कृत में तो यह ग्रन्थरत्न आजकल बनारस में १९) रुपये को मिलता है। बन्धुवर रघुवीरजी शास्त्री और श्री देवचन्द्रजी विशारद ने प्रूफ़-संशोधन में जो सहायता दी है उसके भी हम कृतज्ञ हैं। इस पुस्तक को लिखते समय बाह्य चिन्ताओं से रहित करके श्री पं० गिरिधारीलालजी ने भी बड़ी सहायता की है।

लेखन-स्थान—
श्रद्धेय
श्री अच्युतमुनिजी का
आश्रम, गंगातीर

निवेदक—
रामावतार
रतनगढ़, जि० बिजनौर

विषयसूची

उपनिषदि वने ये पुष्पिता मन्त्रवृक्षाः,
सुरभि कुसुममेषा मेकमेकं विविच्य ।
समरसपदलब्ध्यै वाङ्मयैरेव पुष्पै-
र्नरहरिसुधियैतत् पूजितं बोधलिङ्गम् ॥

बुधजनहितकारी सम्प्रदायानुसारी,
परमसुखनिधानं मोहमुक्तेर्निदानम् ।
नरहरिविहितोयं बोधवृक्षस्य तोयं,
कुमतिवनकुठारः पठ्यतां बोधसारः ॥

ओम्

बोधसारः

ॐ किञ्चित्कुतूहलेनैव विदुषां प्रियकाम्यया ।
मंगलाचरणं कृत्वा बोधसारो निरूप्यते ॥१॥

केवल इस थोड़े से कुतूहल में आकर कि—जिस गम्भीर आनन्द का मैंने साक्षात् किया है, अन्य आरुरुक्षु विवेकियों को भी वैसा साक्षात्कार हो सके—मंगलाचरण करने के पश्चात् यह बोधसार ग्रंथ बनाता हूँ ।

अनन्तशक्तिसंदोहपूर्णस्य परमात्मनः ।
विघ्नविध्वंसिनीं शक्तिं गणराजमुपास्महे ॥२॥

संसार की अनंत शक्तियों के सन्दोहन (अर्थात् आदि भूत मूल शक्ति) से परिपूर्ण परमात्मा (अर्थात् कार्यकारणातीत तुरीय आत्मा) की विघ्नों का विनाश करनेवाली गणराज नामक शक्ति की हम (ऐकात्म्यभाव से) उपासना करते हैं ।

या प्रकाशविमर्शाभ्यां स्वरूपावस्थितिं गता ।
स्मरामि तामहं भक्त्या ज्ञानशक्तिं सरस्वतीम् ॥३॥

जो सरस्वती विमर्श (अर्थात् सदसद्विवेक) और प्रकाश (अर्थात् आत्मज्ञान) से फिर अपने स्वरूप को प्राप्त हो चुकी है परमात्मा की उस सरस्वती नाम की ज्ञानशक्ति को मैं भक्तिपूर्वक स्मरण करता हूँ । (तात्पर्य यह है कि आत्मदर्शन कर लेने के

पश्चात् जब निरन्तर सदसद्विवेक रहने लगेगा तो साधक को अपने स्वरूप का लाभ हो जायगा)।

गुरुस्तवः

श्रीगुरून्परमानन्दस्वरूपानभिवादये ।
तापत्रयापहा येषां कृपा ब्रह्मामृतप्रपा ॥४॥

परमानन्दस्वरूप हो चुके हुए उन पूज्य गुरुओं को मैं अभिवादन करता हूँ, तीनों तापों को अपने कटाक्षमात्र से दूर भगा देनेवाली जिनकी निष्कारण कृपा ही ब्रह्मरूपी अमृत की प्याऊ बन जाया करती है।

मदमोहाभिधक्रूरमधुकैटभजिष्णवे ।
मोक्षलक्ष्मीनिवासाय नमः श्रीगुरुविष्णवे ॥५॥

मद (अहङ्कार) और मोह (अज्ञान) रूपधारी मधु और कैटभ नामक दोनों क्रूर राक्षसों पर विजय प्राप्त करनेवाले और मोक्षरूपी लक्ष्मी के निवासभवन श्रीगुरुरूप विष्णु को मेरा नमस्कार हो।

गुणै गौरवमायाता हरिब्रह्महरास्त्रयः ।
गुणातीततयाऽस्माकं गुरवो गुरुताङ्गताः ॥६॥

ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीनों तो सत्वादि तीन गुणों की सहायता से (जगत् की उत्पत्ति आदि करने के कारण गौण-रूप से) गुरुता को प्राप्त हो गए हैं (इनकी गुरुता उन उन उत्पत्ति आदि क्रियाओं के आधीन होने से प्रथम तो कृत्रिम होती है दूसरे परस्पर के उत्पत्ति आदि कर्म न कर सकने के कारण अपूर्ण भी है ही) परन्तु देखो हमारे गुरु लोग तो गुणातीत (गुणरहित) होने से स्वभाव ही से गुरुता को प्राप्त हुए हैं।

पुरान्तकहरो रुद्रः कंसकेशिहरो हरिः ।
चण्डमुण्डहरा चण्डी सर्वद्वन्द्वहरो गुरुः ॥७॥

रुद्र भगवान् ने तो त्रिपुर और यमराज को, विष्णु भगवान् ने कंस और केशि को तथा चण्डी देवी ने चण्ड-मुण्ड नामक राक्षसों को ही मारा है, परन्तु हमारे गुरुदेव की महत्ता को तो देखो! कि वे सम्पूर्ण (सुख दुःखादि) द्वन्द्वों का ही समूल नाश कर डालते हैं, (द्वन्द्वों के नष्ट हो जाने पर किसी को मारने किंवा किसी को पराजय करने जैसे तुच्छ भाव उदय ही नहीं होते)।

यच्छन्ति देवतास्तुष्टा धनमायुः सुतं यशः ।
ज्ञानं के नाम दास्यन्ति विना श्रीगुरुपादुकाम् ॥८॥

देवताओं में से यदि कोई प्रसन्न भी हो जाता है तो धन, ऐश्वर्य, सन्तान किंवा कीर्ति आदि विषय दे देता है (जिस से कि अनादि काल से संसारारण्य में भटकते हुए जीवों का कल्याण होना तो अलग रहा उल्टी और मोह ममता बढ़ जाती है तथा वे नरक के गामी हो जाते हैं) परन्तु (आत्यन्तिक मुक्तिसाधन) ज्ञान जैसी पवित्र वस्तु को गुरुपादुका के सिवाय और कौन दे सकता है ?

जयति श्रीगुरूणां हि चरणाब्जरजोगुणः ।
हतास्त्रयो यदेकेन रजःसत्वतमोगुणाः ॥९॥

(शिष्योद्धार करने की वासना के रूप में वर्त्तमान) गुरुदेव के चरण कमल की धूलि का गुण (प्रभाव) ही मुमुक्षुओं के सब से अधिक काम की वस्तु है, जिस अकेले ही से सत्व रज तम ये तीनों गुण बाधित हो जाते हैं ।

तार्या वयं तरि बोंध स्तरणीयो भवार्णवः ।
तत्कर्णधाररूपेण तारकं श्रीगुरुं भजे ॥१०॥

(विषयरूपी जल से भरा हुआ) यह संसाररूपी समुद्र हम मुमुक्षु लोगों को बोध अर्थात् आत्मसाक्षात्काररूपी नौका से पार करना होगा, उसके कर्णधार (केवट) बनकर तारनेवाले श्रीगुरु का मैं भक्तिभाव से चिन्तन करता हूँ।

तारकस्योपदेशेन गुरुर्भूत्वा विमुक्तिदः ।
काश्यामपीश्वरस्तस्मादीश्वरादधिको गुरुः ॥११॥

काशी में भी ईश्वर तारक (ओम्) मन्त्र के उपदेश से गुरु बन कर ही मुक्तिदाता होता है इसी से कहते हैं कि गुरु तो ईश्वर से भी अधिक है।

गुरोरनुग्रहादीश ईश्वरानुग्रहाद् गुरुः ।
श्री गुरोर्दर्शनं हेतुः परंत्वीश्वरदर्शने ॥१२॥

गुरु का अनुग्रह हो तो ईश्वर मिले, फिर ईश्वर अनुग्रह करें तो सद्गुरु मिले, उस सद्गुरु का दर्शन ही ईश्वर-दर्शन में मुख्य कारण माना जाता है।

ईश्वरः सर्वहेतुत्वाद्धेतुः संसारमोक्षयोः ।
मोक्षस्यैव गुरुस्तस्मान्नास्ति तत्वं गुरोः परम् ॥१३॥

ईश्वर तो इस सम्पूर्ण (प्रपञ्च) का कारण होने से (रज तम से) संसार तथा (सत्व से) मोक्ष दोनों का ही कारण होता है परन्तु गुरु तो केवल मोक्ष ही का कारण होता है इसलिये (मुमुक्षु के लिये) गुरु से उत्कृष्ट कोई तत्व नहीं है।

विनापि क्षेत्रमाहात्म्यं गुरुमाहात्म्यतः किल ।
विमुक्ति र्यत्र कुत्रापि न काश्यां गुरुणा विना ॥१४॥

क्षेत्रमाहात्म्य न होने पर भी केवल गुरुकृपा से जहाँ कहीं भी मोक्ष प्राप्त हो जाता है। परन्तु गुरु कृपा के विना तो काशी आदि क्षेत्रों में भी मुक्ति नहीं होती।

क्षम्यतामिति किं वाच्यं प्रसीदेति किमुच्यताम्।
क्षमाप्रसादसंपूर्णः स्वभावादेव मे गुरुः ॥१५॥

(अन्य देवताओं के समान गुरुदेव से) 'क्षमा कीजिये', 'प्रसन्न हूजिए' यह कहने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि हमारे गुरुदेव तो स्वभाव से ही क्षमा और प्रसन्नता से परिपूर्ण हैं।

अथ शिष्यविवेकः

बीजं गुरूपदेशो हि जिज्ञासुः क्षेत्रमुच्यते।
विवेकांकुरजो बोधो द्रुमो मोक्षस्तु तत्फलम् ॥१॥

गुरूपदेश (आत्मसाक्षात्काररूपी वृक्ष का) बीज होता है, जिज्ञासु (अर्थात् अपने निर्व्याज आनन्द-स्वरूप को जानने की इच्छावाला शिष्य उस बीज के बोने की) भूमि है। 'क्या नित्य है क्या अनित्य' इस विवेकरूपी अंकुर से बोधरूपी वृक्ष उगता है। उस बोधरूपी वृक्ष पर मोक्षरूपी फल लगता है।

यद्यपि क्षेत्रबीजाभ्यां विना न द्रुमसंभवः।
किन्तु बीजमुपादानं निमित्तं क्षेत्रमुच्यते ॥२॥

यद्यपि यह ठीक है कि क्षेत्र और बीज दोनों ही के बिना वृक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती, (परन्तु इस हेतु से गुरु शिष्य में समता की कल्पना ठीक नहीं होती) किन्तु बीज ही वृक्ष का उपादान कारण होता है क्षेत्र तो केवल निमित्त कारण कहाता है। (गुरु में शिष्य से यही विशिष्टता है)।

द्रुमो बीजपरीणामो न क्षेत्रपरिणामकः ।
बोधो गुरुपरीणामो न शिष्यपरिणामकः ॥३॥

वृक्ष बीज का रूपान्तर है भूमि का नहीं। इसी प्रकार आत्मबोध गुरु का परिणाम है शिष्य का नहीं। (इस हेतु से आत्मज्ञान में गुरु की ही मुख्यता है शिष्य तो गौण होता है)।

द्रुमो हि बीजजातीयः क्षेत्रजातीयको नहि ।
बोधो हि गुरुजातीयः शिष्यजातीयको नहि ॥४॥

वृक्ष अपने बीज की जाति का होता है, भूमि की जाति का नहीं। इसी प्रकार बोध भी गुरु की ही जाति का होता है शिष्य की जाति का नहीं।

बीजेन बीजजातीय स्तरुः क्षेत्रे समर्पितः ।
गुरुणा स्वात्माजातीयो बोधः शिष्ये समर्पितः ॥५॥

बीज अपने सजातीय वृक्ष को ही भूमि में उत्पन्न किया करता है। इसी प्रकार गुरु ने शिष्य (अर्थात् शुद्धान्तःकरणवाले अधिकारी) में अपने सजातीय बोध को स्थापित किया है।

वह्निप्रभा हि वर्तिस्था तमो हन्ति प्रकाशते ।
तमोहन्त्री प्रकाशात्मा प्रभैव न तु वर्तिका ॥६॥

बत्ती में निवास करनेवाली अग्नि की प्रकाशरूपा शक्ति ही अँधेरे को नष्ट करती और स्वयं भी प्रकाशित होती है, वहाँ अन्धकार को हटानेवाली और स्वयं भी प्रकाशित होनेवाली प्रभा (लौ) ही है; बत्ती नहीं।

गुरुप्रभा हि शिष्यस्था तमो हन्ति प्रकाशते ।
तमोहन्ता प्रकाशात्मा गुरुरेव न शिष्यकः ॥७॥

इसी प्रकार शिष्य में रहनेवाली गुरु की प्रभा ही स्वरूपा-ज्ञान को नष्ट करती है तथा स्वयं (अन्य निरपेक्ष होकर) भी प्रकाशित होती है। अज्ञान को नष्ट करनेवाला तथा (अन्त में स्वयं) ज्ञान-स्वरूप से शेष रह जानेवाला गुरु ही है, शिष्य नहीं।

यदग्निः काष्ठमारुह्य भस्मसात् कुरुते पुरीम्।
भस्मसात्कारणं तत्र गुणो वन्हेर्न काष्ठगः ॥८॥

जैसे कि अग्नि ईंधन के सहारे से नगरी को भस्मावशेष (राख का ढेर) बना देती है (उसमें चाहे ईंधन और अग्नि दोनों ही समानरूप से आवश्यक प्रतीत होते हों) परन्तु उन दोनों में भस्म बना डालने का कारण जो गुण है वह तो अग्नि का ही है, काष्ठ का नहीं।

बोधात्मना गुरुः शिष्यमाविश्य दहति क्षणात्।
यद् द्वैतं, सा गुरोः शक्तिर्न शिष्यस्येति निर्णयः ॥९॥

इसी प्रकार जो कि गुरु (साधन-सम्पन्न) अधिकारी में (ज्ञानरूप से) प्रविष्ट होकर द्वैत (अर्थात् द्वैत प्रतीति के कारण अनादि अज्ञान को) क्षण-मात्र में नष्ट कर देता है, वह सामर्थ्य किंवा प्रधानता गुरु की ही है शिष्य की नहीं, यह निश्चित है।

यद्यप्युदयने भानो र्यथा पद्मं प्रकाशते।
न काशन्ते तथा पद्माः काष्ठपाषाणमृण्मयाः ॥१०॥

सूर्य के उदय होने पर जिस तरह कि कमल खिलता है वैसे मिट्टी-पत्थर किंवा लकड़ी के बनावटी कमल नहीं खिलते।

प्रकाशको रविर्यद्वत्पद्ममेव विकासयेत्।
गुरुस्तथा बोधकः सच्छिष्यमेव प्रबोधयेत् ॥११॥

ऊपर के दृष्टान्त में जिस प्रकार प्रकाश करनेवाला सूर्य सच्चे कमल को ही विकसित करता है, बनावटी को नहीं। इसी प्रकार उपदेष्टा गुरु सच्छिष्य को ही प्रबुद्ध कर सकता है (अनधिकारी को नहीं)।

प्रकाशकस्य महिमा प्रकाश्यादधिकः किल।
सूक्ष्मं विशेषं वक्ष्यामि गुरुसूर्यस्य तं शृणु ॥१२॥

हे शिष्य, प्रकाशक (सूर्यादि) का महत्व (कमल आदि) प्रकाशयितव्य (जिनका प्रकाश करना है उन) पदार्थों से बहुत अधिक होता है इसमें कुछ संदेह मत करो। अब मैं तुम्हें गुरुसूर्य की (इस भौतिक सूर्य से विचारगम्य) विशेषता बताता हूँ, उसे सुनो।

तत्तद्विवेकवैराग्ययुक्तवेदान्तयुक्तिभिः।
शिष्यं नयति गुर्वर्कः स्वैक्यं स्वाद्भिन्नमप्यहो ॥१३॥

गुरुरूपी सूर्य आत्मानात्मविवेक कराने के पश्चात् अनात्म पदार्थों में वैराग्य कराकर वेदान्त की अन्वय व्यतिरेक आदि प्रबल युक्तियों के द्वारा अपने से भिन्न भी अधिकारी को अपने से अभिन्न कर देता है (यही गुरुरूपी सूर्यों की एक बड़ी विशेषता है)।

विकासकोपि तपनो न पद्मं स्वैकतां नयेत्।
तस्मात्सर्वात्मभावेन सेव्या श्रीगुरुपादुका ॥१४॥

कमलों का विकास करनेवाला यह लौकिक सूर्य कमलों को सूर्य नहीं बना सकता। इसी विशेषता के कारण (मुमुक्षुओं को) सर्वभाव से गुरु की पादुका का ही आश्रय लेना चाहिये।

तत्सत्यं दातृपात्राभ्यां विना दानं न सिद्ध्यति ।
तथापि पात्रं पात्रं स्याद्दाता परमकारणम् ॥१५॥

इसमें तो सन्देह नहीं कि देने और लेनेवाले दोनों के विना दान-क्रिया सिद्ध नहीं होती, तो भी (उन दोनों की परस्पर कुछ समता नहीं मानी जाती क्योंकि) पात्र आख़िर—पात्र ही होता है, मुख्य कारण तो दान करनेवाला ही है ।

भवेत्स्पर्शमणिस्पर्शाल्लोहं स्वर्णं न तन्मणिः ।
गुरुस्पर्शमणिस्पर्शात्स एव भवति क्षणात् ॥ १६ ॥

स्पर्शमणि (पारस) के संयोग से लोहे का स्वर्ण तो हो जाता है, वह लोहा स्वयं पारसमणि कभी नहीं बनता, परन्तु जब किसी अधिकारी शिष्य को गुरुरूपी पारसमणि का स्पर्श हो जाता है तो वह शिष्य तत्क्षण गुरु ही हो जाता है ।

एवं विवेकतो धीमन्नुपयोगो द्वयोरपि ।
शिष्यो निमित्तमात्रं स्याद्गरिष्ठा गुरुपादुका ॥१७॥

हे धीमन् ! इस प्रकार का विचार करें तो (आत्मबोध में) गुरु और शिष्य दोनों का उपयोग समान रूप से होने पर भी शिष्य तो निमित्तमात्र होता है, गरिष्ठ अर्थात् अत्यादरणीय वस्तु तो गुरुपादुका ही है ।

उपदेशक्रमो राम ! व्यवस्थामात्रपालनम् ।
इत्यादिवचनं तत्तु शिष्योत्साहविवृद्धये ॥१८॥

योगवसिष्ठ का 'हे राम उपदेशक्रम तो व्यवस्था का पालनमात्र है' इत्यादि वचन * तो शिष्यों का उत्साह बढ़ाने के लिये है ।

---

* उपदेशक्रमो राम व्यवस्थामात्रपालनम् ।
ज्ञप्तेस्तु कारणं शुद्धा शिष्यप्रज्ञैव केवलम् ॥ —योगवसिष्ठ

२

सिद्धान्तः सर्वतन्त्राणां सद्यः प्रत्ययकारकः ।
सर्वदा भावनीयोयं गुरुशिष्यविनिर्णयः ॥१९॥

यह प्रकरण गुरु शिष्य के विषय में सर्वशास्त्रों का सिद्धान्त भूत है। इसके विचार करते ही गुरु की विशेषता झटपट समझ में आ जाती है। इसलिए यह 'गुरुशिष्य विनिर्णय' नामक प्रकरण सर्वदा विचारणीय है।

अथ ब्रह्मजिज्ञासा

जिस प्रयोजन से गुरु के पास श्रद्धापूर्वक जाना चाहिये उसका प्रतिपादन पाँच श्लोकों से किया जाता है—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जिज्ञास्यं ब्रह्म केवलम् ।
तटस्थलक्षणेनाथ स्वरूपस्य च लक्षणात् ॥१॥

जब कोई अधिकारी नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि चारों साधनों से सम्पन्न हो चुके, तो उसे केवल ब्रह्मज्ञान ही इष्ट रह जाता है, इसलिए अब उसे ब्रह्म को जानने की इच्छा करनी ही चाहिये। केवल अर्थात् निरुपाधिक ब्रह्म ही जानने की इच्छा का विषय है। तटस्थ लक्षण से ब्रह्म को लक्षित करने के पश्चात् स्वरूप लक्षणों से केवल ब्रह्म भी ज्ञान का विषय हो सा जाता है।

उत्पत्तिस्थितिनाशानां मूलकारणमीश्वरः ।
सर्वज्ञः सत्यसंकल्प इत्यादिषु तटस्थता ॥२॥

वह ईश्वर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का मूल कारण है, वह सर्वज्ञ (सर्व जगत्प्रकाशक) तथा सत्यसंकल्प है इत्यादि लक्षण ब्रह्म के तटस्थलक्षण कहाते हैं (तटस्थ इसलिये

कि ये लक्षण इन क्रियाओं के होने पर ही हो सकते हैं। शुद्ध ब्रह्म में ये लक्षण नहीं पाये जाते)।

सच्चिदानन्दरूपं तत्स्वप्रकाशं परात्परम् ।
अनण्वित्यादिवेदोक्तं स्वरूपस्य तु लक्षणम् ॥३॥

सत् (त्रिकालाबाधित) चित् (ज्ञानस्वरूप) आनन्द (निरतिशय तथा निर्व्याज सुखस्वरूप) स्वयं ज्योतिःस्वरूप पर से भी पर (माया से भी असंपृक्त) अनणु अह्रस्व अदीर्घ इत्यादि उपनिषदों में प्रतिपादित लक्षण, ब्रह्म के स्वरूपलक्षण होते हैं।

गुणप्रधानभावेन यद्यत्किंचिदपेक्षितम् ।
नानाप्रकरणव्याजै स्तत्सर्वमभिधीयते ॥४॥

(मोक्ष का प्रधान साधन जो ज्ञान है उसके लिए) गौण किंवा मुख्य भाव से अन्य जिस जिस साधन की अपेक्षा हुआ करती है, अनेक प्रकरणों के द्वारा अब मैं उन सब साधनों का प्रतिपादन करूँगा।

बहिरंगान्तरंगाणां साधनाना मनुक्रमः ।
यदन्तरंगं यस्मात्तु तत्पश्चात्तु निरूप्यते ॥५॥

(आत्म दर्शन का मुख्य साधन ज्ञान है उसके) बहिरंग तथा अन्तरंग साधनों की जिस जिस क्रम से अपेक्षा हुआ करती है उसी क्रम के अनुसार पहिले बहिरंग साधनों का निरूपण करने के अनन्तर, अन्तरंग साधनों का वर्णन इस ग्रन्थ में किया जायगा।

वैराग्यपीठिकाबन्धं प्रथमं शृणु सन्मते ।
न नेमिरेव यत्रास्ति स्थितिश्चक्रस्य कीदृशी ॥१॥

हे सन्मते ! वैराग्यक्रम को प्रतिपादन करनेवाले प्रकरण को पहले सुन लो । क्योंकि जैसे बिना नेमि (पुट्ठी) का चक्र (पहिया) स्थिर नहीं रह सकता इसी प्रकार वैराग्य के बिना कोरे ज्ञान में अज्ञान को नष्ट करने का सामर्थ्य नहीं होता ।

न शूद्रे वेदसंस्कार स्तैलं च सिकतासु न ।
न स्यात्करतले रोम तथा मुक्तिर्न रागिणि ॥२॥

जैसे कि शूद्र के वेदोक्त संस्कार नहीं होते, बालू में तेल नहीं निकलता, हथेली पर केश नहीं उपजते, इसी प्रकार रागी (अर्थात् विषयकर्दम में फँसे) पुरुषों को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती । (इसलिए वैराग्य सब से आवश्यक होता है ।)

वैराग्यं द्विविधं, सूक्ष्मं तद्भेदमवधारय ।
जिज्ञासामुख्यमेकं स्याज्जिहासामुख्यमेव च ॥३॥

वैराग्य (विषयों से विमुखता) दो प्रकार की होती है उसके सूक्ष्म भेद को समझ लो । एक 'जिज्ञासामुख्य' वैराग्य होता है दूसरे को 'जिहासामुख्य' कहा जाता है ।

जिहासा संसृते ब्रह्मजिज्ञासेति द्वयं मुने ।
एकमेव तथाप्यस्ति विशेषः कश्चिदत्र हि ॥४॥

हे मुने ! 'संसार को छोड़ने की इच्छा' और 'ब्रह्म को जानने की इच्छा' ये दोनों बातें एक ही हैं तो भी इनमें कुछ भेद है ।

राज्यभ्रष्टा दीर्घरोगाः पराधीना हतश्रियः।
ये विरक्तास्तपस्यन्ति जिह्वासामुख्यमेव तत् ॥५॥

राज्य छिन जाने पर, आजीवन रोगी हो जाने पर, किंवा पराधीनता आ पड़ने पर अथवा सम्पत्ति के नष्ट हो जाने पर विषय भोगों से विरक्त होकर जो लोग तप करने लगते हैं (और चाहते हैं कि ऐसा कष्टकारक जन्म कभी न मिले, प्रत्युत ऐसा हो कि जिसमें सकल सम्पत्तियाँ हाथ बाँध कर हमारी इच्छा से नाचा करें, जिसमें ऐसे दुःखों का लेश भी न हो) उनका ऐसा वैराग्य जिह्वासामुख्य वैराग्य कहाता है। (इसको अधम वैराग्य जानना चाहिये क्योंकि इससे दूसरे जन्म में भोगों की प्राप्ति होकर ही रहती है)।

आधिव्याधिभयोद्वेगपारतन्त्र्यादिवर्जिताः।
ये धीरा मुक्तिमिच्छन्ति शृणु तेषामयं क्रमः ॥६॥

जिन लोगों ने मानसी व्यथा, शरीर कष्ट, भय, चित्त की अस्थिरता तथा कष्टकारिणी पराधीनता को कभी भी अनुभव नहीं किया, जो धीर (अर्थात् ब्रह्मचर्यादि साधनों से सम्पन्न) हैं, ऐसे लोग जब मुक्ति को चाहने लगते हैं उन लोगों का आचार जिस प्रकार का होता है वह हमसे सुनो—

कामधेनु गृहे येषां निवासो नन्दने वने।
काश्यपाद्या स्तपस्यन्ति जिज्ञासामुख्यमेव तत् ॥७॥

जिनके घर में कामधेनु बँध रही है तथा नन्दनवन में जिनका निवास है ऐसे सम्पन्न कश्यप आदि ऋषिगण भी जब तप करने लगते हैं, तब वह उनका जिज्ञासामुख्य वैराग्य होता है।

आधिव्याधिभयोद्वेगपारतन्त्र्यादिपीडिताः ।
ये जीवा मोक्षमिच्छन्ति जिहासामुख्यता तु सा ॥८॥

आधि, व्याधि, भय, उद्वेग और पराधीनता आदि से पीडित होकर जो जीव मुक्ति चाहने लगते हैं, तब यह वैराग्य (मध्यम) जिहासामुख्य वैराग्य कहाता है, (क्योंकि इसमें त्यागेच्छा की प्रधानता रहती है)।

मानुष्यं दुर्लभं प्राप्तं सच्छास्त्रैः संस्कृता मतिः ।
यदि न ब्रह्मविश्रान्ति स्तदस्माभिः किमार्जितम् ॥९॥
इत्येवं व्यवसायेन ह्याकाशफलपातवत् ।
जिज्ञासयन्ति ये धीराःजिज्ञासामुख्यता तु सा ॥१०॥

दुर्लभ मनुष्य शरीर भी प्राप्त किया, वेदान्तादि सच्छास्त्रों के परिशीलन से बुद्धि को सूक्ष्म (संस्कृत) भी कर डाला, इतने पर भी यदि (निरवधि आनन्दरूप) ब्रह्म में चित्त की स्थिरता न हुई, तो हमने क्या कमाया—इस प्रकार के निश्चय से, आकाश से अचानक फल गिरने के समान जब कोई धीर जीव अकारण ही जिज्ञासा करने लगते हैं, तब उनका वह वैराग्य (मध्यम) जिज्ञासामुख्य वैराग्य कहाता है।

विरोचनः कार्त्तवीर्यो बलिः श्रीराघवादयः ।
विरक्ता राजलीलायां ते हि तत्र निदर्शनम् ॥११॥

बलि का पिता दैत्य विरोचन, कृतवीर्य राजा का पुत्र सहस्रार्जुन, विरोचन का पुत्र दैत्य बलि तथा श्रीरामचन्द्र आदि अपने अपने राजकाज को उदासीन रहते हुए भी सम्पादन करते थे, ये लोग मध्यम जिज्ञासामुख्य वैराग्य के उदाहरण हैं।

तीव्रात् संसारवैराग्याद् ब्रह्मजिज्ञासनं यदि ।
वैराग्यं पुण्यजीवानां जिहासामुख्यमेव तत् ॥१२॥

संसार से अति प्रबल वैराग्य हो जाने पर (निराश्रय होकर) जब जीव ब्रह्मज्ञानेच्छा करने लगता है, पुण्यशाली जीवों का वह वैराग्य उत्तम जिज्ञासा मुख्य वैराग्य कहाता है।

ब्रह्मजिज्ञासया तात तीव्रया यो विधीयते।
विरागो दृश्यभावेषु जिज्ञासामुख्यमेव तत् ॥१३॥

हे तात! तीव्र ब्रह्मजिज्ञासा से दृश्य पदार्थों में जो वैराग्य उत्पन्न होता है, वह उत्तम प्रकार का जिज्ञासामुख्य वैराग्य कहाता है।

सहजं यस्य वैराग्यं का वाच्या तस्य मुख्यता।

परन्तु जिस उत्तम अधिकारी को (सर्वत्र आत्मदर्शन के कारण) स्वभाव से ही भोगों में वितृष्णता हो गई हो वह वैराग्य तो उन दोनों प्रकार के वैराग्यों का ललामभूत है।

अथ दोषाः प्रदर्श्यन्ते वैराग्यं दोषदर्शनात् ॥१४॥
कथयामि समासेन सावधानमनाः शृणु।
असमंजसतां साधो समारभ्य शरीरतः ॥१५॥

क्योंकि विषयों के दोषों का प्रदर्शन ही वैराग्य को उत्पन्न किया करता है, इसलिये अब अगले प्रकरण में संसार के दोषों का निरूपण किया जाता है। हे साधो! शरीर से लेकर जिस जिस विषय में जो जो दोष भरे पड़े हैं उनको संक्षेप से निरूपण करता हूँ स्थिरचित्त होकर तुम उन सब को सुन लो।

कायबिडम्बना

यं भूषयन्ति कनकै र्वसनै श्चन्दनैरपि।
अविचारत एवायं कायो रम्यत्वमागतः ॥१॥

जिस शरीर को सोने के आभूषणों से, कपड़ों से, और चंदनों से, सजाना पड़ता है तो फिर इससे यह सिद्ध तो हो ही गया कि यह शरीर अविचार की महिमा से ही रम्य प्रतीत हुआ करता है।

संसार के पामर लोगों को यह मनुष्य देह सोने आदि नाना प्रकार के आभूषणों और पगड़ी, दुपट्टा, कुरता, टोपी, आदि नाना प्रकार के रंग बिरंगे कपड़ों से सजाना और चन्दन तेल अतर आदि अनेक सुगन्धित पदार्थों से सुगन्धित करना पड़ता है। यदि देह में स्वभाव से रम्यता और सुगन्ध होती तो इसे गहने और कपड़ों से सजाने या चन्दनादि लेपन से सुगन्धित करने की क्या आवश्यकता होती। वस्तुतः तो इस नग्न देह की अरमणीयता को छिपाने के लिये भूषण वस्त्रादि धारण किया जाता है और स्वभाव से दुर्गन्धपरिपूर्ण इस देह के दुर्गन्ध को छिपाने के लिये चन्दनादि लेपन किया जाता है। इस विवेचन से इसकी अरम्यता और दुर्गन्ध प्रत्यक्ष ध्यान में आ ही जाते हैं। इस अरमणीयता और दुर्गन्ध के इतने प्रत्यक्ष होने पर भी अविवेकी लोग इस देह को, सजाने के लिये उधार ली हुई सुन्दरता और उधार लिये हुये सुगन्ध को स्वभावतः कुरूप तथा दुर्गन्ध परिपूर्ण इस देह में आरोपित करके इसे ही रमणीय और सुगन्ध मान बैठते हैं। यों प्रतिदिन अपने आपको और संसार को धोका दिया करते हैं।

अस्य क्रव्यादभक्ष्यस्य कृशानो रिन्धनस्य च।
परिणामकृशस्यैव केन कायस्य रम्यता ॥२॥

हिंसक पशुओं के भक्ष्य, अग्नि के ईंधन, तथा बुढ़ापे में

कमज़ोर (जरजर) हो जानेवाले इस देह में सुन्दरता कहाँ है, सो ही समझ में नहीं आता।

जीते हुए इसको जंगली जानवर फाड़ डालते हैं, और मरने पर इसको चील कव्वे गिद्ध आदि नोच खाते हैं, तथा अग्नि जला डालती है, जीवन काल में रोगों से और अन्त में बुढ़ापे से जब यह शरीर दुर्बल हो जाता है तब इसकी अरम्यता और दुर्गन्ध स्पष्ट दीख पड़ती है। हमें तो इसकी रम्यता खोजे भी नहीं मिलती। परन्तु संसार के विचारहीन लोगों के विषय में क्या कहा जाय! वे तो इसे फिर भी रम्य माने ही बैठे हैं।

कलेर्वरमिदं स्थानं विग्रहो मूर्त्तिमानसौ।
पञ्चभूतनिवासोऽयं कथं तत्र सुखी भवेत् ॥३॥

यह शरीर कलि (कलियुग और काल) का अत्यन्त प्रिय निवास स्थान तथा शरीरधारी विग्रह है (अर्थात् परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले भूत तथा भौतिक इन्द्रियों से यह देह बना है इन में परस्पर विग्रह—खींचातानी—वनी ही रहती है) साथ ही यह शरीर पाँच भूतों का निवास स्थान है, ऐसे इस देह में कैसे कोई सुखी रह सकता है (जब कि एक भूतवाले स्थान में भी निवास दुःखदायी हो जाता है फिर पाँच भूतों के समूह में सुख कहाँ ?)

कारागृहं गर्भवासो, बाल्यं केवलमूढता।
तत्रापि दुःसहात्यन्तं पराधीनतया स्थितिः ॥४॥

माता के उदर में (नौ मास तक) निवास पूरा कारावास है (वहाँ सुख की आशा कहाँ ?) बालकपन केवल मूर्खतापूर्ण होता है (बालकपन में दुःख का मूल कारण अज्ञान बना रहता है, सुख का हेतु ज्ञान वहाँ सर्वथा नहीं होता, इस प्रकार अति

दुःखदायक तो है ही) साथ ही वहाँ खाने-पीने, खेलने-कूदने में में भी पराधीनता होने से वह अवस्था और भी असहनीय हो जाती है।

कामबाणै र्यत्र पीडा कामिनीविरहज्वरः।
पुष्कला पापसम्पत्ति यौंवनं विपदां वनम् ॥५॥

जवान शरीर में कामविकार प्राणी के चित्त को खिन्न रखते हैं, सकामा स्त्री के न मिलने का ज्वर भी रहता ही है। सम्पूर्ण दुःखों के मूल पाप भी यौवन में ही अधिकता से कमाये जाते हैं, इस प्रकार यह यौवन विपद्वृक्षों का एक वन है। (इसमें तो ढूँढ़े भी सुख नहीं मिलेगा)

उन्नतानततां यातो जराक्षारविधूसरः।
पुराणकूष्माण्डसमः कायो वृद्धस्य गर्हितः ॥६॥

वृद्ध का शरीर चलते समय ऊँचा-नीचा होता है—डगमगाता है (जिसे देख कर बालक हँसी उड़ाते हैं) बुढ़ापे के क्षार से (खुजाये हुए दद्दु [दाद] की तरह) धूसर वर्ण तथा पुराने पेठे की तरह (अन्दर से सड़ा हुआ, निस्सार [पोला]) हो जाता है, इस प्रकार वृद्ध का शरीर एक नितान्त अनादरणीय पदार्थ होता है।

मरणस्य तु किं वाच्यं मृत्युदूतभयं ततः।
नरके तु महादुःखं स्वर्गे पतनजं भयम् ॥७॥

मरने के दुःख का तो वर्णन ही क्या करें (वह तो दुःखों में सब से बड़ा दुःख किंवा दुःखों की पराकाष्ठा ही है। क्योंकि मरना कोई [कुष्ठ रोगी तक] भी नहीं चाहता) मरने के बाद यमदूतों का डर भी तैयार है ही, उसके बाद नरक की घोर

यातनायें हैं। यदि किसी पुण्यशाली को भाग्यवश स्वर्ग मिल गया तो वहाँ 'यहाँ से लौटना होगा' यह विचार भी कुछ कम भयकारक नहीं होता।

उत्तमाधमभावेन तत्राप्यस्ति विडम्बना।
यदि पश्वादियोनिः स्यात्तदा दुःखस्य का कथा ॥८॥

स्वर्ग से लौटने के दुःख के साथ साथ उत्तम मध्यम तथा निकृष्टभाव भी स्वर्ग में है ही। यदि कहीं पश्वादि योनि की प्राप्ति हो जाती है, तब तो दुःख की कुछ हद ही नहीं रह जाती, (उनका तो खाना-पीना भी दूसरों के आधीन हो जाता है)।

पुनर्जन्म पुनर्मृत्युः पुनर्दुःखं पुनर्भयम्।
न जानाति गतिं जन्तु र्निमग्नो मोहसागरे ॥९॥

मरण के अनन्तर जन्म, जन्म के अनन्तर मृत्यु, सुख के अनन्तर दुःख और फिर भय, बस यही तो संसार की गति है। इस अपार मोहसागर में डूबा हुआ जीव परमगति परमात्मा को नहीं पहचान पाता (इससे फिर फिर संसारसागर में ला पटकने वाले ही कर्म किया करता है)।

अथ वृत्तिविडम्बना

क्षात्रधर्मे परा हिंसा याच्ञायां लाघवं महत्।
असत्यमेव वाणिज्ये नानृतात्पातकं परम् ॥१॥

क्षात्र धर्म तो हिंसा से भरा हुआ है। माँगने में भी बड़ा अनादर सहना पड़ता है। व्यापार में भी झूठ के बिना काम नहीं चलता, (झूठ बोलना स्वयं चाहे दुःखप्रद न हो परन्तु) झूठ से बड़ा कोई पाप नहीं है (इसलिए वह भी दुःखरूप ही है)

सेवायां परमं कष्टं मृत्कीटस्तु कृषीवलः ।
द्यूते सर्वस्वनाशः स्याच्चौर्ये राजभयं महत् ॥२॥

सेवा (करके वृत्ति उपार्जन करने) में भी बड़ा कष्ट है। किसान बिचारा तो मिट्टी का एक कीड़ा ही है, द्यूत में सर्वस्व नाश हो जाता है, चोरी (से जीविका चलाने) में भी राजदण्ड का भय रहता है।

नाकाशात् पतति द्रव्यं जीविका सुखदा कथम् ।

(अगतिक होकर इन ही वृत्तियों) में से किसी एक से निर्वाह करना पड़ता है क्योंकि आकाश से तो द्रव्य बरसता ही नहीं, इसलिए जीविका सुखदायी कैसे हो सकती है।

अथ कामविडम्बना

चर्वयन्ति महामांसं गते प्राणे पिशाचकाः ।
जीवत्परस्परं मांसं स्त्रीपुंसा श्चतुराननाः ॥१॥

(सुनते आये हैं कि) पिशाच लोग प्राण निकल जाने पर मुर्दे मनुष्य के मांस को खाते हैं। परन्तु संसार के चतुर मुख वाले दम्पती तो एक दूसरे के जीवित मांस को चबाते हैं (मैथुन से शरीर को पोषण करनेवाला पदार्थ नष्ट होकर दोनों ही रोगी और दुःखी होते हैं। एक दूसरे के दुःख दूर करने तथा जीविकोपार्जन आदि में भी दोनों का ही मांसशोषण होता रहता है)।

नृदेहै र्निशि नृत्यन्ति श्मशानेषु पिशाचकाः ।
विचित्रै रङ्गविन्यासै र्गृहेषु गृहमेधिनः ॥२॥

पिशाच लोग तो दूसरे मृत मनुष्यों के देहों के द्वारा केवल

रात में फिर भी एकान्त श्मशान जैसे अमंगल स्थानों पर ही नृत्य करते हैं, परन्तु ये गृहमेधी लोग तो स्वयं अपनी ही देहों से दिन रात निर्लज्ज होकर अपने ही घरों में विचित्र हाव भाव पूर्वक नृत्य किया करते हैं (यों कामी लोग तो पिशाचों से भी अधिक अविवेकी होते हैं और यह सब काम का ही प्रताप है)।

लिहति स्पृशति भ्रान्तो मुहुर्जिघ्रति खादति ।
ग्रामसिंहानुरूपेयं ग्राम्यधर्मव्यवस्थितिः ॥३॥

जिस प्रकार कुत्ता इधर उधर घूमकर अपने भक्ष्य को कभी स्पर्श करता है कभी सूँघता है कभी चाटता है और अन्त में निःसंदेह होकर खाने लगता है, ठीक यही अवस्था ग्राम्यधर्म (मैथुन) की भी है (यह तो केवल कुत्तों को ही शोभा देनेवाली बात मानी गयी है। यह विपरीत स्वभाव काम का ही किया हुआ है)।

कण्डूयनेन यत्कण्डूसुखं तत्किं भवेत्सुखम् ।
पश्चाद्यत्र महापीडा तथा वैषयिकं सुखम् ॥४॥

खुजली हो जाने पर खुजाने से जो सुख प्रतीत होता है उसे क्या कभी सुख कहा जा सकता है, क्योंकि खुजाने के बाद ही बड़ा भारी दुःख उत्पन्न होता है, ऐसा ही यह विषयघर्षण-जन्य सुख है (वह यद्यपि नाश, रोग, चिन्ता आदि दुःखों से परिपूर्ण ही है फिर भी कामी लोग काम के पराधीन होकर इन दुःखरूप विषयों में सुख बुद्धि कर ही बैठते हैं)।

नादासक्तं मृगं व्याधश्छिनत्ति निशितैः शरैः ।
रूपासक्तं नरं नारी रतिच्छुरिकयाऽसकृत् ॥५॥

शिकारी लोग बाजे के मधुर शब्द में आसक्त हुए मृग को तीक्ष्ण बाणों से सिर्फ एक बार मार डालते हैं, परन्तु कामिनी तो रूप के लोभी पुरुष को रति (मैथुन) रूपी छुरी से प्रतिदिन मारती रहती है (फिर भी कामी लोगों को शत्रुरूप कामिनी में मित्रबुद्धि काम के प्रताप से हो ही जाती है)।

अथ क्रोधविडम्बना

रुधिरं पिबति स्वीयं दिवा तमसि नृत्यति ।
भीषयत्यात्मनात्मानं क्रूरः क्रोधी न राक्षसः ॥१॥

क्रोधी मनुष्य अपना ही रक्त पीता है (राक्षस तो दूसरों का रक्त पीते हैं । उन्हें चाहे कभी दया आ भी जाती हो, पर अपना ही रक्त पीने वाले क्रोधी को दया कहाँ ?) क्रोधी दिन में ही क्रोधान्धकार में नाचता है। (क्रोधी को दिन में भी अँधेरा सा प्रतीत होता है राक्षस बिचारा तो अन्धकार को ही अन्धकार समझता है) क्रोधी अपने आप को ही डराता है (राक्षस दूसरों को डराते हैं अपने आप को नहीं । अपने में दयाशील होने के कारण राक्षस से कभी कभी दया की आशा की भी जा सकती है, परन्तु क्रोधी से कभी नहीं) इससे यह सिद्ध होता है कि क्रोधी लोग क्रूर होते हैं, राक्षस नहीं ।

अथ लोभविडम्बना

न पिशाचा न डाकिन्यो न भुजंगा न वृश्चिकाः ।
संभ्रान्तयन्ति मनुजं यथा लोभो धियं रिपुः ॥२॥

पिशाच, डाकिनी, सर्प और वृश्चिक ये सब (पृथक् पृथक् किंवा मिलकर) मनुष्य को उतना विचलित नहीं करते जितना

कि लोभ बुद्धि को भ्रान्त बना देता है (इसलिए लोभ एक बड़ा भारी शत्रु है)।

सर्प आदि जब डस लेते हैं तब वे केवल मनुष्य देह में दुःख उत्पन्न करते हैं अर्थात् केवल एक जन्म में ही हानि पहुँचाते हैं परन्तु यह लोभ तो बुद्धि को भ्रम में डाल देता है जिस से जन्मजन्मान्तर में भी छुटकारा नहीं होता, इसलिए लोभ तो उन सर्पादियों से भी बड़ा शत्रु है।

मेरवो घृतबिन्द्वाभा दुराशादावपावके।
कथं सहस्रलक्षाद्यै स्तर्हिं तृप्यतु लोभवान् ॥२॥

विषयाशारूपी दावाग्नि में सुवर्णमेरु जैसे बड़े बड़े पर्वत भी केवल एक घृतबिन्दु के समान तुच्छ (थोड़े से) प्रतीत होने लग जाते हैं फिर भला हज़ार लाख आदि द्रव्य से लोभी क्योंकर तृप्त हो।

आनिद्रं प्रातरारभ्य जाग्रति स्वप्नपूर्व्वपि।
भ्रमन्नो लभते शान्तिं स लोभस्य पराक्रमः ॥३॥

यह जो बिचारा जीव प्रातःकाल से लेकर सोने के समय तक तो जागरण अवस्था में भ्रान्त होकर, फिर सुपने के कल्पित नगरों में घूम घूम कर भी शान्ति को प्राप्त नहीं होता है, यह सब लोभरूपी शत्रु का ही तो पराक्रम है।

निधानं यक्षसर्पाद्या यदाक्रामन्ति यत्नतः।
न पिबन्ति न खादन्ति तेषां हि गुरवः शठाः ॥४॥

यक्ष सर्प आदि जिस खज़ाने पर डट कर बैठे रहते हैं उसे खान पान में व्यय नहीं करते, उनके गुरु ये लोभी लोग ही हैं

(अर्थात् इन लोभियों से ही उन्होंने इस प्रकार धनराशि पर निकम्मा पहरा देना सीखा है)।

दानभोगविहीनं च यदेव धनिनो धनम्।
न तु तस्य मुखे धूलिर्दीयते भूमिगोपनैः ॥५॥

जिस धनी का धन न तो दान (देकर परलोक) के काम आता है और न भोग (करके इस लोक) के काम में ही लगता है वह उसका कुछ धन न समझना चाहिए, वह तो उसका चौकीदार है। (पुरुष के मरने पर उसके मुख में सोना डालने की परिपाटी के अनुसार) उस धनी के मरने पर राजा लोग (जोकि मरने के अनन्तर उसकी सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं) उसके मुख में सोने के बजाय धूल भी तो नहीं डालते।

मूढस्ताम्रमये पात्रे संस्थापयति किं धनम्।
पात्रे स्थितं धनं भद्रं किन्तु पात्रं परीक्षय ॥६॥

मूर्ख मनुष्य तांबे के बरतन में रखकर धन को क्यों गाड़ता है, पात्र में रक्खा हुआ धन लाभदायक तो होता है किन्तु पहले पात्र की परीक्षा तो कर लो।

लोग कहते हैं "आपदर्थे धनं रक्षेत्" परन्तु वे इसका अर्थ नहीं समझते। इसका अभिप्राय यह है कि—'धनं रक्षेत् चेत् तद्धनमापदर्थे स्यात्' अगर धन जोड़ोगे तो उससे तुम्हारा नाश होगा, तुम पर आपत्ति आएगी। अथवा "धनं रक्षेत् चेत् न संभवति यतः अर्थे आपत् नाशः नियतः" धन जोड़ोगे तो भी वह नष्ट हो ही जायगा। अथवा "धने आपत्' धन में ही विनाश या बरबादी समायी हुई है। इसलिए धन जोड़ने का सवाल केवल एक वहम है, यह एक भ्रान्तकल्पना है परन्तु बहुत

दिनों से चली आने के कारण स्वाभाविक सी लगने लगी है। इसीलिये अन्त में नीतिकार ने कहा है 'आत्मानं सततं रक्षेत्' आत्मा की ही सतत रक्षा करो। ये लोभ मोहादि उसे ग्राहों की तरह अपनी अपनी ओर को खींच खींच कर बरबाद (निकम्मा) किये डालते हैं, स्वरूपपरिज्ञान के द्वारा उस ही की रक्षा करो। परन्तु संसार के मूढ लोगों का क्या किया जाय, वे तो तांबे के पात्रों में बन्द कर करके धन को भूमि आदि में गाड़ देते हैं। उन्होंने तो केवल इतना कहीं से सुन लिया है कि "पात्रे स्थितं धनं भद्रम्" अर्थात् पात्र में रक्खा हुआ धन कल्याणकारी होता है। परन्तु पहले उन्हें पात्र का अभिप्राय जानना चाहिए। वहाँ पात्र का अभिप्राय सत्पात्र श्रोत्रिय आदि से है। अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय को दान देना चाहिये।

काकविष्ठाधनस्यार्थे कायक्लेशेन भूयसा।
मदान्धा धनिनः सेव्या महतीयं विडम्बना ॥७॥

कव्वे की बींट के तुल्य हेय (तुच्छ) धन के लिए बड़ा भारी शरीरक्लेश सह सह कर द्रव्यमद से अन्धे श्रीमान् लोगोंके आगे पीछे फिरा जाय, यह तो एक बड़ी ही अनार्यता (कमीनापन) है।

न लोभस्योपचाराय मणिमन्त्रौषधादयः।
मणिमन्त्रौषधश्लाघी सोपि लोभपरायणः ॥८॥

लोभ नामक रोग को हटाने में मणि मन्त्र तथा औषध आदि भी समर्थ नहीं होते। क्योंकि यदि इनसे लोभ की निवृत्ति हो जाया करती, तो इनके जानने वाले लोभी क्यों होते।

किञ्चिद्धनकणं ध्यात्वा मुख माढ्यस्य पश्यसि।
करोषि श्वेव चाटूनि लोभेनापकृतं स्मर ॥९॥

थोड़े से तुच्छ धन के लिए तू अमीरों का मुँह ताकता है और कुत्तों की तरह खुशामदें कर रहा है लोभ के किये हुए इस अपकार को तो तू याद कर।

जैसे कि कुत्ता थोड़े से टुकड़े के लोभ में टुकड़ा देने वाले को प्रसन्न करने के लिये कभी पेट दिखाता, कभी पूँछ हिलाता, और कभी पैरों में पड़ता है, इसी प्रकार "कोई भी अपना सम्पूर्ण धन तो दे ही नहीं देता—थोड़े धन का भी देना न देना सन्दिग्ध होता है" यह जानता हुआ भी तू विद्वान् होकर उसको प्रसन्न करने के लिये कभी गायन से, कभी हास्य से, कभी विनोद से और कभी शास्त्रचर्चा से उसकी खुशामदें करता है। इस प्रकार उत्तम मनुष्य-स्वभाव को छिपा कर तुझ में लोभ ने कुत्ते का स्वभाव उत्पन्न कर दिया है। हे विद्वन्! लोभ की की हुई इस बुराई की ओर ध्यान दे।

लोहार्गलो भद्रहरो लोलातङ्को भयप्रदः।
लुनात्युभौ च यल्लोकौ तेन लोभः प्रकीर्त्तितः ॥१०॥

लोभ शब्द में दो अक्षर हैं एक 'लो' दूसरा 'भ'। 'लो' का अर्थ लोहे की जंजीर 'भ' का अर्थ है भलाई को हरनेवाला। 'लो' का दूसरा अर्थ है लोलातंक अर्थात् चंचलता का रोग 'भ' का दूसरा अर्थ है भयप्रद। 'लो' और 'भ' का तीसरा अर्थ है दोनों लोकों को नष्ट करनेवाला, यों इतनी बुराइयोंवाला यह 'लोभ' है।

लोभी की बुद्धि जिस जिस विषय में फँस जाती है वह वहाँ से स्वाधीनता से नहीं निकल सकती। इसलिये लोभ को लोहार्गल (लोहे की बेड़ी) कहा है। जिसकी बुद्धि पर लोभ सवार हो जाता है उसे सुख चैन नहीं रहता इसलिये

लोभ को भद्रहर (सुखनाशक) कहा गया है। सजीव पदार्थों में जहाँ जहाँ चञ्चलता—चेष्टा—गति है वहाँ वहाँ लोभ रहता है अर्थात् चञ्चलता लोभ का चिन्ह है इसलिये लोभ को लोलातङ्क (चंचलता का रोग) बताया जाता है। जहाँ जहाँ भय है वहाँ वहाँ कोई न कोई लोभ है इसलिये लोभ को भयप्रद कहा जाता है। लोभी मनुष्य न दान कर सकता है, जिससे उसका परलोक नष्ट हो जाता है, न भोग ही कर सकता है जिससे उसका यह लोक दुःखमय हो जाता है, इस प्रकार "उभौ लोकौ लुनाति" दोनों लोकों को नाश कर डालने से उसे लोभ कहा है।

सकामाः कामिनीलुब्धा निष्कामा मोक्षलोभिनः।
भावलब्धो हि भगवान् निर्लोभोऽत्यन्तदुर्लभः ॥११॥

सकाम लोग कामिनी (और काञ्चन) के लोभी हैं, निष्काम लोगों को भी मोक्ष का लोभ लगा ही है, भगवान् भी भाव (प्रेम) के लोभी प्रसिद्ध ही हैं। निर्लोभ (लोभरहित—केवल ब्रह्मनिष्ठ) पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है। (उस ही के आश्रय से लोभ को जीता जा सकता है)

दुग्धफेनोज्ज्वला शय्या बाला चरणसेविनी।
निद्रां न लभते भूपः परराष्ट्रजिगीषया ॥१२॥

दूध के झागों के समान श्वेत पलंग और चरण सेवा के लिये नयी युवती जैसे साधनों के होने पर भी, दूसरे के राष्ट्र को जीतने के लोभ से राजा को नींद ही नहीं आती, रातें उसकी चिन्ता में ही कटती हैं (अर्थात् जो जितना बड़ा है उस पर उतना ही बड़ा लोभ सवार है)।

मार्गेषु मिलिताश्चौराः सख्यं तैः सह वर्धितम् ।
ते गता धनमादाय पश्चाच्छोचति मन्दधीः ॥१३॥

पहिले तो (संसाररूपी कान्तार में घूमते घूमते) मार्ग में स्त्री पुत्रादि रूपधारी चोर मिले, फिर उनके साथ मित्रता बढ़ने लगी, वे लोग अपनी गाढ़ी कमाई का धनादि व्यय कराकर अपनी अपनी कर्मगति से परलोक आदि को चले गए, पीछे से यह मूढ मनुष्य शोक करने लगता है ।

स्वामी तु चौरवद्द्रव्यं गोपायति यतस्ततः ।
भार्यापुत्रादय श्चौरा भुंजते स्वामिनो यथा ॥१४॥

कमाने वाला मालिक तो चोरों की तरह जैसे तैसे जिस किसी से जिधर तिधर से धन को बचाता है। (न दान करता है, न स्वयं भोगता है) और भार्या पुत्रादि चोर मालिक की तरह (खुल्लमखुल्ला—प्रकटरूप में) उस धन को भोगते रहते हैं।

पुत्रमित्रकलत्रेभ्यो गोप्यते यद्धनं जनैः ।
तेन मन्येऽवनं पापं सुकृत्या गोप्यते नहि ॥१५॥

पुत्र मित्र कलत्रादि किसी को न देकर सब से धन को बचा रखना भी केवल पापरूप अर्थात् दुःखदायक है इसलिये पुण्यकर्मा लोग धन को जोड़ते ही नहीं।

रागिणी गणिका वित्तं यद्वाञ्छति वरा हि सा ।
धिक्तं वैराग्यवक्तारं वाचालं वित्तलम्पटम् ॥१६॥

रागिणी वेश्या का धन चाहना तो किसी हद तक ठीक है किन्तु ऊपर से वैराग्य का उपदेश करने वाले और अन्दर से धन के लोभी वंचक वाचाल को धिक्कार है ।

धनिभ्यो धनमादाय श्लाघते शास्त्रपाठकः।
बहुभ्यो मिथुनीभूय धनिभ्यो गणिका यथा ॥१७॥

बहुत से धनियों से मैथुन के द्वारा धन प्राप्त करके वेश्या जिस तरह अपने विपुल धन, सुन्दररूप और चतुरता का बखान करती रहती है, इसी प्रकार कोरा शास्त्रपाठी मनुष्य भी बहुत से धनियों के रञ्जन द्वारा धनोपार्जन करके "मैं बड़ा पण्डित हूँ, मैंने इतना धनोपार्जन किया, मेरे समान और कौन है" इत्यादि प्रकार से अपना बड़प्पन बघारता रहता है (उस कोरे शास्त्रपाठी की यह आत्मप्रशंसा कामियों में वेश्या की आत्मप्रशंसा के समान उपेक्षणीय होती है)।

न शोभते तथैवायं लोभी वेदान्तवाचकः।
चौर्येण निगडे दत्तो जटाभस्मधरो यथा ॥१८॥

जटा और भस्म रमाये हुए किन्तु चोरी के अपराध से बेड़ियों में जकड़े हुए साधुवेशधारी की तरह लोभ के कारण वेदान्त की कथा करनेवाला पण्डित भी शोभा नहीं पाता।

यदि वित्तार्जनेनैव विद्वांसो यान्ति गौरवम्।
कस्तर्हि वेश्याविदुषो र्विशेष इति वर्णय ॥१९॥

यदि धन कमा कर ही विद्वानों का गौरव होता हो तो (धन कमाने में एक सी चतुरता रखने वाले) विद्वान् और वेश्या का अन्तर बताओ ?

अनित्यमिति यो वक्ति सेवते नित्यमेव तत्।
बहिर्मुखस्य तस्यास्यं मा दर्शय महेश्वर ! ॥२०॥

जो आदमी नित्य ही इस संसार को नाशवान् बताता रहता है, परन्तु स्वयं निरन्तर उसी नाशवान् संसार में लिप्त

हो रहा है, हे भगवन् ! उस अन्तर्विषयी विरक्ताधम का हमें कभी मुँह भी न दिखाओ ।

कामकिंकरतां प्राप्य सकामाः सर्वकिंकराः ।
कामेनैव परित्यक्तो निष्कामः कस्य किंकरः ॥२१॥

काम के दास बन कर कामी लोग सभी के दास हो जाते हैं; इच्छारहित निष्काम लोग तो किसी के भी दास नहीं होते।

अथ कर्मविडम्बना

वंशपात्रमिवापूर्णं पूर्णं घटशतैरपि ।
क्रियाजालं कथं साधो ! विरागाय न जायते ॥१॥

हे साधो ! सैकड़ों घड़ों पानी से भरे जाने पर भी सदा अपूर्ण ही रहनेवाले फटे हुए बाँस के बरतन की तरह, संसार के कामों में तुम्हें वैराग्य उत्पन्न क्यों नहीं होता है ?

ब्रह्मणो दिनमारभ्य यावदद्य कृताः क्रियाः ।
मुहूर्त्तं हन्त संसारी नैव निश्चिन्ततां गतः ॥२॥

इस संसारी ने जब से यह सृष्टि प्रारम्भ हुई है तब ही से लेकर आज तक बराबर कर्म किये हैं । परन्तु तब से अब तक यह संसारी क्षणमात्र के लिए भी निश्चिन्त होकर नहीं बैठ सका है । (इतने लम्बे अनुभव के बाद अब भी यदि तुमपर इस कर्म को पूर्ण कर डालने की दुराशापिशाची सवार है तो फिर हम क्या करें) ।

अभाग्यं परमं पुंसां परपिण्डोपजीवनम् ।
तत्कथं नाम सौभाग्यं पुत्रपिण्डोपजीवनम् ॥३॥

परभाग्योपजीवी होना पुरुषों का परम दुर्भाग्य है फिर

भला पुत्र के दिये हुये पिण्डों से (इस लोक या परलोक में) जीवन धारण करना कहां का सौभाग्य कहा जायगा ?

मृतशब्देन सम्बोध्य मृतपिण्डं मृताहनि ।
मृताय दास्यते पुत्रस्तद्वरं किमुतामृतम् ॥४॥

(जीवित काल में यदि किसी को 'प्रेत' कहकर पुकारा जाय तो वह बुरा मानता है, फिर भला) जब श्राद्ध में तुम्हारा (अनन्त कष्टों से पाला हुआ) पुत्र ही मरे हुये तुमको मृत्यु के दिन प्रेत नाम से सम्बोधन करके मृत पिण्ड (मरने के कारण मिला हुआ पिण्ड) देगा (या न देगा) तब वह (निकृष्ट पराधीन जीवन) तुम्हें सुखदायी प्रतीत होगा किंवा अमृतरूप मोक्षसुख (यही तो एक विचारणीय बात है)।

अशनायां पिपासां च शोकं मोहं जरां मृतिम् ।
प्राप्नुवञ्छ्रुतिशास्त्रेभ्यो मा भव श्राद्धभक्षकः ॥५॥

श्राद्धभोजी को भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा अकाल-मृत्यु अधिकता से प्राप्त होती है ऐसा शास्त्र में कहा है इसलिये तू (सन्तानोत्पत्ति के द्वारा) श्राद्धभोजी मत बन ।

दीर्घमायु र्जराभुक्त्यै, धनं भूरि दुराधये ।
पुत्राः कलहदुःखाय, संसारे दुःखमद्भुतम् ॥६॥

बहुत काल तक जीने से बुढ़ापा भोगना होगा, बहुत धन (बहुत का अभिप्राय यह है, कि जीवनयात्रा का उपयोगी धन तो जीवन के कारण प्रारब्ध से ही होगा, विशेष भोग के लिये ही विशेष कर्म करना पड़ता है) कमाया जायगा तो बहुत सी चिन्तायें उत्पन्न होंगी, पुत्र बहुत से होंगे तो वे धन के लिये तुमसे किंवा आपस में ही झगड़ा करके तुम्हें दुःख ही

पहुँचायेंगे। इस प्रकार यह संसार अद्भुत प्रकार के दुःखों से भरा पड़ा है (परन्तु बिचारे मूर्ख लोग इसे नहीं पहचानते और वे पहचानें भी कैसे जब कि वे इस असार पदार्थ को संसार समझे बैठे हैं। फिर भला वे दुःख को सुख समझें तो इसमें आश्चर्य की बात ही कौन सी है)

छायां पश्यति कायस्य रायो गर्वेण मुह्यति।
जायां भजति भावेन मायां नो वेद वैष्णवीम् ॥७॥

मूर्ख मनुष्य बैठा बैठा दर्पण में शरीर की छाया को देखा करता है, धन के घमण्ड से मूर्छित सा हुआ रहता है, जाया को भाव से भजन करता है, हा शोक ! कि इस मूर्ख प्राणी को वैष्णवी माया का पता ही नहीं है।

वैष्णवी माया के भेद को न पाकर मूर्ख प्राणी शरीर की सुन्दरता को अपनी सुन्दरता समझता है, धन के घमण्ड में आकर अपने आपको भूल जाता है. जाया (माता) को स्त्री समझ कर भोग करता है—स्त्री को जाया इस लिये कहते हैं कि उसमें फिर दुबारा पति ही पुत्ररूप धारण करके उत्पन्न होता है, इस प्रकार जाया मातृरूपा है, परन्तु भगवान् को अपनी सृष्टि भी चलानी ही है इसलिए उस स्त्री के मातृरूप को आच्छादित करके वह उसमें भोग्य बुद्धि को उत्पन्न कर देता है, जिससे वह पुरुष उस पर आसक्त होकर परमात्मा की सृष्टि को चलाने का साधन बन जाता है।

यात्रासमागमसमे न तर्कितगतागते।
पशुपुत्रकलत्रादौ ममता न मता समा ॥८॥

यात्रा में अकस्मात् मिले हुए यात्रियों की तरह अकारण

ही जिनके संयोग और अकारण ही जिनके वियोग होते रहते हैं (जिनमें अपना कुछ भी वस नहीं चलता) ऐसे परबस मिले हुए पशु, पुत्र, स्त्री आदि में ममता करके कभी कोई सुख नहीं पा सकता, ऐसा विचारशील पुरुषों ने निर्णय किया है।

सुतरां गुरवोऽस्माकं वैयाकरणसत्तमाः ।
आदिश्य ममतास्थाने समतां साधयन्ति ये ॥९॥

हमारी दृष्टि में तो हमारे देशिक (आत्मज्ञान देनेवाले गुरु) ही बड़े भारी वैयाकरण हैं, जो कि हमारी ममता को निकाल कर उसके स्थान पर समता का आदेश कर देते हैं।

त्यक्ष्यन्त्यवश्यं च त्वां, त्वं च त्यक्ष्यसि यानपि ।
येषां त्यागे महत्सौख्यं तेषां त्यागेऽपि कःश्रमः ॥१०॥

(जिन स्त्रीपुत्रादि को तुम प्राणाधिक प्रेम करते हो, एक दिन आयेगा जब कि) वे तुम्हें छोड़कर चले जायेंगे, या फिर तुम ही स्वयं परवश होकर उन्हें छोड़कर कूच कर जाओगे (ये दोनों बातें अवश्यम्भावी हैं) जिन विषयों को स्वतः छोड़ने के अनन्तर बड़ा ही सुख मिला करता है उनके त्याग देने से कौनसा परिश्रम पड़ता है ?

व्यवहारविमूढानां स्तुतिनिन्दामयः क्रमः ।
सोऽपि तत्कायपर्यन्तः कायः कतिदिनान्वयी ॥११॥

व्यवहार में उलझ कर पथभ्रष्ट हुए लोग ही स्तुति और निन्दा किया करते हैं। उनकी यह स्तुति और निन्दा केवल उस शरीर तक ही चलती है, सोचो तो सही कि यह शरीर ही कितना टिकाऊ है ? (उन निन्दकों को निन्दा कर लेने दो,

उन्हें संसार भीरु बता लेने दो, तुम तो केवल अपना मुक्तिरूप कार्य सिद्ध कर डालो)।

एकतः सकला लोका विकर्षन्ति यथाबलम् ।
पदार्थमालां बलवानेकः कालो गिलत्यसौ ॥१२॥

अपनी अपनी शक्ति के अनुसार एक छोर पर तो सारे जीव इस पदार्थ माला को अपनी अपनी ओर को ('यह मेरी ही है' इस ममता से) खींच रहे हैं, दूसरी ओर इस पदार्थ माला को अकेला महाबलशाली काल (ईश्वर) ग्रास करता चला जा रहा है (विवेकी पुरुषों को उचित है कि विषयासक्ति में फँसकर उस काल के ग्रास न बनें और अमृत पद को पाने का प्रयत्न करें)।

लोला लक्ष्मीर्वयं लोला लोला विषयवृत्तयः ।
किं सुखं तत्र यत्रांग ! जीवनस्यैव संशयः ॥१३॥

लक्ष्मी अर्थात् विषयभोग की सामग्री अचिरस्थायिनी है, हम भोक्ता लोग भी कुछ अधिक दिन रहने वाले नहीं हैं, विषय प्राप्ति का विचार भी सदा नहीं बना रहता, फिर प्यारे ! बताओ तो सही कि विषयों में सुख कैसे हो सकता है जब कि वहाँ आये दिन जीवन के ही लाले पड़े रहते हैं ।

शोकमोहौ भयं दैन्य माधिर्व्याधिः क्षुधा तृषा ।
इत्यादि विविधं दुःखमिति संक्षेपकीर्त्तनम् ॥१४॥

शोक, मोह, भय, दीनता, आधि व्याधि, भूख, प्यास ये दुःख भी तो (उस संसारी सुख में) भरे ही पड़े हैं (सुख का शुद्धरूप तो संसारी सुख में देखने को भी नहीं मिलता) यह विषयदुःखों का संक्षेप से कीर्त्तन हुआ ।

अथ धर्मजिज्ञासा

अथातो धर्मजिज्ञासा धर्मः प्रोक्तश्चतुर्विधः ।
नित्यो नैमित्तिकः काम्यः प्रायश्चित्तमिति क्रमात् ॥१॥

वैराग्य के निरूपण के अनन्तर चित्तशुद्धि के लिये ग्राह्य धर्मों का संग्रह करना आवश्यक है । इसलिये धर्म को जानने की इच्छा करनी चाहिये। नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रायश्चित भेद से वह धर्म चार प्रकार का होता है ।

वर्णाश्रमसमाचाराः शौचस्नानादयश्च ये ।
आवश्यकास्ते नित्याः स्युरकृत्य प्रत्यवैति यान् ॥२॥

जो धर्म (ब्राह्मणादि) वर्णों तथा (ब्रह्मचारी आदि) आश्रमों के आचाररूप हैं, जैसे कि रागत्यागादिरूप आन्तरशुद्धि, स्नानादिरूप बाह्यशुद्धि तथा सन्ध्यावन्दनादि, जिनको कि न करने से मनुष्य पाप का भागी होता है वे धर्म 'नित्यधर्म' कहाते हैं ।

देशकालनिमित्ता ये ते तु नैमित्तिकाः स्मृताः ।
संक्रान्तिग्रहणस्नानदानश्राद्धजपादयः ॥३॥

जो तो संक्रान्ति ग्रहण आदि काल तथा विशिष्ट पुण्य-क्षेत्रादि देश के कारण स्नान, दान, श्राद्ध, जप, यज्ञ तथा उपवासादि किये जाते हैं, वे 'नैमित्तिक धर्म' कहाते हैं ।

प्रायश्चित्तात्मका धर्माः कृच्छ्रचान्द्रायणादयः ।
कामनापूर्वकं काम्यं मुमुक्षोर्न विधीयते ॥४॥

(शरीर शोषण आदि द्वारा पापों की निवृत्ति करके दोषों को दूर करनेवाले) कृच्छ्र चान्द्रायणादि धर्म 'प्रायश्चित धर्म' कहाते हैं। किसी फल की कामना से किये जानेवाले 'काम्य

कर्म' होते हैं, परन्तु मुमुक्षुओं को उनके करने का अधिकार नहीं होता।

हरिप्रसादकाम्या च चित्तशुद्धेश्च कामना।
मोक्षस्य कामना चेति कामनेयं न कामना ॥५॥

भगवान् को प्रसन्न करने, चित्त को शुद्ध करने तथा मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छा, इच्छा नहीं कहाती (क्योंकि इन इच्छाओं से तो जीवत्वरूपी भ्रम का नाश हो जाता है और अन्य इच्छायें भी नष्ट हो जाती हैं)।

तस्मात्तया कामनया स्नानदानजपादिकम्।
तीर्थव्रततपोनिष्ठा मोक्षकामैर्विधीयताम् ॥६॥

इसलिये ऊपर की इन तीनों कामनाओं को लेकर मुमुक्षुओं को भी स्नान दान जपादिक, तथा तीर्थ व्रत और तप में स्वाभाविक प्रीति, करनी ही चाहिये।

कर्मणां निर्णयं त्वेवं गीतायामाह माधवः।
सर्वथा न परित्याज्यं नित्यं कर्म मुमुक्षुणा ॥ ७ ॥

विहित कर्मों के (त्याग या अत्याग के) विषय में भगवान् ने गीता में यह निर्णय कहा है कि मोक्षेच्छुओं को सन्ध्यादि नित्य कर्म किसी प्रकार भी नहीं छोड़ना चाहिये।

ज्ञाने जातेपि न त्याज्यं लोकानुग्रहहेतुना।
यो वासनापरित्यागः कर्मत्यागः स एव हि ॥८॥

आत्मदर्शन हो जाने पर भी लोकसंग्रह (लोगों को कर्म करना सिखाने) के लिये ज्ञानी लोगों को कर्म करना नहीं छोड़ना चाहिये। क्योंकि वासनाओं के परित्याग को ही 'कर्मत्याग' कहा जाता है।

न कर्मणां परित्यागः कर्मत्यागो मनोमयः ।
यज्ञो दानं तपश्चेति पावनानि मनीषिणाम् ॥९॥

क्रियाओं का त्याग यथार्थ कर्मत्याग नहीं कहलाता, किन्तु मन से ही कर्मों का त्याग करना चाहिये। यज्ञ, दान और तप ये तो मनीषियों के चित्त को शुद्ध करनेवाले धर्म हैं। अतः त्यागने नहीं चाहियें।

कर्मणा चित्तशुद्धिः स्यात्तया तीव्रा मुमुक्षुता ।
ततो विवेकान्मुक्तिः स्यात्कर्म त्याज्यं कथं तु तत् ।१०।

विहित कर्मों के आचरण से चित्तरूपी क्षेत्र रागादि मलों से रहित हो जाता है, उसमें तीव्र मोक्षेच्छारूपी बीज बोया जाता है, तीव्र मोक्षेच्छारूपी बीज से विवेकरूपी अंकुर का उदय होता है, उस पर बढ़ते बढ़ते मोक्षरूपी फल लगते हैं। इतना उपकारक विहिताचरणरूपी कर्म भला किस प्रकार छोड़ देना चाहिये ?

ये तु बोधेन संप्राप्तास्तात कर्मातिगां दशाम् ।
न विधेः किंकरास्तस्मात्स्वच्छन्दं विचरन्तु ते ॥११॥

हे तात ! जो तो ज्ञान की महिमा से कर्म से ऊँची अवस्था को पा चुके हैं, वे तो विधि की आज्ञा मानेंगे ही नहीं, वे विधि के दास नहीं रहे हैं, उनको स्वच्छन्द घूमने दो। (उन को देख कर आप नवाभ्यासी लोग उच्छृङ्खल मत बनो। शुकदत्त अवधूत आदि पर तो वर्णाश्रमादि के अभिमान से रहित हो जाने के कारण विधि ने शासन करना ही छोड़ दिया था, वे तो ज्ञान की अधिकता के कारण कर्म की हद से बाहर होकर कृतकृत्य हो गए थे इसलिये ऐसे अधिकारी लोग तो

स्वच्छन्दतापूर्वक चाहे जैसा बर्ताव करें उनको वैसा करने दो, क्योंकि उनको तो गुण दोष कुछ भी नहीं लगता। ऐसे सिद्ध लोग कर्मत्याग करें तो उन्हें देख कर सामान्य जनों को कर्म से विचलित होना नहीं चाहिये)।

अथ तपस्यातात्पर्यम्

कृता कपटभावेन दम्भलोभपरायणैः।
हट्टे नगरमध्ये वा सा तपस्याऽधमा स्मृता ॥१॥

दम्भ (लोगों से अपनी स्तुति कराने की इच्छा) और लोभ (द्रव्य प्राप्ति की इच्छा) को मन में रखकर कपट भाव से बाजार में या नगर ग्रामादिकों में बैठ कर (जहाँ सब लोगों की दृष्टि पड़ती हो) जो तपस्या की जाती है वह तपस्या निकृष्ट तपस्या कहाती है।

वेदशास्त्रोक्तविधिना शीतोष्णादिसहिष्णुना।
या कृता कामनापूर्वं सा तपस्या तु मध्यमा ॥२॥

वेद शास्त्र में कही हुई विधि से शीतोष्णादि सहन करते हुए किसी कामना से जो तपस्या की जाती है वह मध्यम तपस्या कहाती है। (यह भी मुमुक्षु के काम की नहीं होती)।

मनसो निग्रहार्थाय परमार्थपरायणा।
अकामा तत्त्वजिज्ञासोः सा तपस्योत्तमा मता ॥३॥

मनोनिग्रह करने के लिये केवल मोक्षरूप परमार्थ को प्राप्त करने के उद्देश्य से ऐहिक तथा पारलौकिक किसी भी इच्छा को न रखते हुए तत्त्वजिज्ञासु मुनि लोग जो तप किया करते हैं, वही श्रेष्ठ तपश्चर्या कहाती है।

आगते स्वागतं कुर्याद्गच्छन्तं न निवारयेत्।
यथाप्राप्तं सहेत् सर्वं सा तपस्योत्तमोत्तमा ॥४॥

(प्रारब्धवश) आनेवाले (सुख दुःख) का स्वागत करे, जानेवाले को रोके नहीं, जो जैसे प्राप्त हो उसे वैसे ही सहन करे, बस यही उत्तम से उत्तम तपस्या है।

अथ व्रतव्यवस्था

परदारपरद्रव्यपरद्रोहविवर्जनम्।
रागद्वेषपरित्यागो व्रतानामुत्तमं व्रतम् ॥१॥

दूसरों की स्त्री, दूसरों के द्रव्य तथा दूसरों के अनिष्ट-चिन्तन का परित्याग करना, राग द्वेष को छोड़ना, यह अन्य सम्पूर्ण (उपवासादि) व्रतों से भी उत्तम व्रत है।

तदुक्तं काशीखण्डे—

परदारपरद्रव्यपरद्रोहपराङ्मुखः।
गंगाप्याह कदागत्य मामयं पावयिष्यति ॥२॥

काशी खण्ड में कहा है कि—गंगा भी कहती है कि पराई स्त्री, पराये द्रव्य, और पराये द्रोह से विमुख मनुष्य कब मुझ में आकर स्नान करें और कब मैं पवित्र होऊँ।

अथ वेषविचारः

मुक्तिर्नास्ति जटाजूटे, न काषाये न मुण्डने।
न भस्मनि न कन्थायां तिलके वा कमण्डलौ ॥ १ ॥

बालों के गुच्छे से, गेरू आदि से रँगे हुए वस्त्र से, दाढ़ी मूँछ कटा डालने और सिर मुँडवा लेने से, विभूति पोत लेने से,

या चीथड़ों की गुदड़ी ओढ़ लेने से, तिलक छाप लगा लेने से या कमण्डल पकड़ लेने से किसी को मुक्ति नहीं मिलती।

द्वेषेन ताड्यते सर्पो वृथा वल्मीकताडनम् ।
मनसो निग्रहो नास्ति वृथा कायस्य मुण्डनम् ॥ २॥

द्वेष के कारण साँप को तो मारा करते हैं, परन्तु साँप के बजाय वल्मीक (बमई) को पीटना तो व्यर्थ ही है, इसी प्रकार यदि मन को अपने व्यापारों से नहीं रोका गया है तो इस बिचारे शरीर का मुण्डन करा कर इसे विरूप बना देना तो निष्फल ही है ।

चित्तविक्षेपशान्त्यर्थं जटाकन्थादिधारणम् ।
कुरुते वीतरागश्चेदुत्तमोत्तममेव तत् ॥ ३ ॥

यदि वीतराग महात्मा लोग अपने चित्त के विक्षेप की शान्ति के लिये जटायें छोड़ दें गुदड़ी ओढ़ें या भस्मादि लेपन करने लगें तो वह सर्वोत्तम बात है परन्तु ये मुक्ति के मुख्य साधन नहीं हैं ।

अथ मौनमीमांसा

मौनं चतुर्विधं प्रोक्तं वाङ्मौनं वाग्विनिग्रहः ।
ज्ञानेन्द्रियाणां संरोधस्त्वक्षमौनमुदाहृतम् ॥१॥

शास्त्रों में चार प्रकार का मौन कहा गया है, केवल वाणी का संयम पहिला 'वाग्मौन' कहाता है, चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों को अपने अपने विषय से रोक रखना दूसरा 'अक्षमौन' कहाता है ।

कर्मेन्द्रियाणां संरोधः काष्ठमौनं तु काष्ठवत् ।
गौणं तु त्रिविधं मौनमुत्तमं तु मनोलयः ॥२॥

हस्तपादादि कर्मेन्द्रियों को आदान चलन आदि व्यापारों से रोक कर काष्ठ के समान निश्चेष्ट कर देना तीसरा 'काष्ठमौन' कहाता है। यह तीनों प्रकार का मौन ज्ञानोपार्जन में विशेष उपकारक न होने से अमुख्य मौन होता है, उत्तम मौन तो 'मनोलय' ही है।

न मौनी मूकतां यातो न मौनी दुग्धबालकः ।
न मौनी व्रतनिष्ठोपि मौनी संलीनमानसः ॥३॥

गूँगा बन जानेवाला मौनी नहीं है, दूध पीनेवाला नन्हा बालक मौनी नहीं है, किसी व्रत के कारण कुछ न बोलने या कुछ न करने वाला मौनी नहीं है, मौनी तो वही है जिसका मन मर चुका हो।

मुनेर्भावस्तु मौनं स्याच्छब्दशास्त्रव्यवस्थया ।
मुनेर्भावो यर्हिं नास्ति तर्हिं मौनं निरर्थकम् ॥४॥

व्याकरण के अनुसार तो मननशील पुरुष का भाव (आशय) अर्थात् निर्मनस्कता 'मौन' कहाती है, वैसी निर्मनस्कता यदि किसी ने सम्पादन नहीं की है तो यह लोकप्रसिद्ध (वाग्निरोध रूप) मौन तो निरर्थक ही है।

अथ दानज्ञानम्

कीर्त्तिदानं कामदानं दयादानमिति त्रिधा ।
उत्तरादुत्तरं श्रेष्ठं तेभ्यः कृष्णार्पणं परम् ॥१॥

यश किंवा नाम कमाने के लिये दिया हुआ दान 'अधमदान'

है। किसी बदले की इच्छा से दिया हुआ सकाम दान 'मध्यम दान' है। (मेरे धन से किन्हीं ग़रीब लोगों के कार्य सिद्ध हो जायँ इस) दया भावना से दिया गया दान 'उत्तमदान' है। परन्तु इन तीनों दानों से भी उत्तमदान तो यह है जो कि भगवदर्पण बुद्धि से दिया जाय। (उसमें देनेवाले के अहंकार का लेश तथा देने लेनेवाले के भेद का भान नहीं होना चाहिये)।

अथ तीर्थतत्त्वम्

इदं तीर्थ मिदं तीर्थ मितस्तीर्थ मतः परम्।
इतो दूरतरं तीर्थं मया दृष्टं न तु त्वया ॥१॥
तव तीर्थफलं स्वल्पं मम तीर्थफलं महत्।
इति भ्रमन्ति ये तीर्थं ते भ्रान्ता न तु तैर्थिकाः ॥२॥

यह तीर्थ है, वह तीर्थ है, इधर तीर्थ है, उधर तीर्थ है, एक तीर्थ यहाँ से बहुत ही दूर है, वह मैंने देखा है तैंने नहीं, तुम्हारे तीर्थ का थोड़ा फल है, मेरे तीर्थ का अधिक फल है, इन भ्रान्त विचारों को लेकर जो तीर्थाटन करते हैं वे तो भ्रान्त हैं उन्हें सच्चा तैर्थिक मत मानो।

तीर्थे पापक्षयः स्नानै स्तीर्थे साधुसमागमः।
तीर्थे वैराग्यचर्चा स्यात्तीर्थमीश्वरपूजनम् ॥३॥

तीर्थ में स्नान (दान आदि) करने से पापक्षय होता है तीर्थ में जाने से विवेकी महात्माओं का संग हो जाता है तीर्थ में वैराग्यचर्चा हुआ करती है। सब से बड़ा तीर्थ तो ईश्वरपूजन (उसके लक्ष्णों से उसे पहचान लेना) ही है।

तीर्थं शीतोष्णसहनं तीर्थं निःसंगचारिता।
इति जानन्ति ये तीर्थं तीर्थतत्त्वविदो हि ते ॥४॥

सरदी गरमी आदि द्वन्द्वों को सहना भी एक भारी तीर्थ है, निःसंगचारी होना अर्थात् अपने आपको असंग अनुभव करना यह भी एक वढ़िया तीर्थ है, इस प्रकार जो विवेकी लोग तीर्थों के यथार्थ रूप को समझते हैं, वे ही तीर्थों के मर्म को जानने वाले हैं।

अथाचारचातुरी

अनाचारस्तु मालिन्य मत्याचारस्तु मूर्खता।
विचाराचारसंयोगः सदाचारस्य लक्षणम्।

अनाचार (अर्थात् त्याग के धोखे में सदाचार को छोड़ बैठना) मलिनता है और अत्याचार (अर्थात् दिन रात शरीर शुद्धि आदि आचार में ही फँसे रह जाना और परमार्थ विचार को समय न रहना यह) भी कोरी मूर्खता ही है। सच्चे सदाचार का लक्षण तो यह है कि विचार (हेय उपादेय का विवेक) और आचार (अपने योग्यकर्मों का आचरण) इन दोनों का संयोग बराबर बना रहे। कोई एक दूसरे की बाधा न करे।

अथ रागत्यागात्यागनिर्णयः

न विरक्ता धनैस्त्यक्ता न विरक्ता दिगम्बराः।
विशेषरक्ताः स्वपदे ते विरक्ता मता मम ॥१॥

धनहीन मनुष्य को वैरागी नहीं कहा जा सकता, दिगम्बर अर्थात् नाँगों को भी विरक्त नहीं कह सकते, हम तो विरक्त उन्हें ही मानते हैं जो स्वपद अर्थात् अपने स्वरूप में ही विशेष रूप से आसक्त हो चुके हैं।

चौरास्त्यजन्ति गेहं स्वं भयेनैव न बोधतः ।
जारा स्त्यजन्ति गेहं स्वं कामेनैव न बोधतः ॥२॥

राजदण्ड के डर से चोर लोग भी घरबार (कुटम्ब आदि सब) छोड़ देते हैं, बोध के कारण नहीं । जार अर्थात् परस्त्री-गामी लोग भी अपने घर आदि को छोड़ देते हैं, उनका यह त्याग काम के कारण होता है ज्ञान के कारण नहीं (ज्ञान के विना घर छोड़ने से विरक्त होते हों तो उनको भी विरक्त कहना होगा) ।

क्रुद्धस्त्यजति गेहं स्वं प्रतिवादिविरोधतः ।
रुद्धस्त्यजति गेहं स्वं रोधेनैव न बोधतः ॥३॥

क्रोधी मनुष्य अपना घर आदि सब कुछ प्रतिवादियों के विरोध से विवश हो कर छोड़ बैठता है, कैद में डाला हुआ मनुष्य भी अपना घर आदि सब कुछ छोड़ देता है, उसका वह त्याग रोध के कारण होता है ज्ञान के कारण नहीं । (क्या भला ऐसा गृहत्यागी वैरागी कहा सकता है ?)

निःसंगतासुखं प्राप्ताः कयाचि द्बोधलीलया ।
गृहं त्यजन्ति मुनयो गृहस्था वा वने स्थिताः ॥४॥

किसी अनिर्वचनीय आनन्ददायिनी बोधलीला (के अप्रतिम प्रभाव) से असंगता सुख का भोग लेनेवाले विवेकी लोग तो घर-बार का मानस त्याग कर देते हैं, अर्थात् उन सबको मिथ्या रूप से अनुभव करने लगते हैं । यही उनका छोड़ना कहाता है । फिर चाहे वे वन को चले जायँ, या घर पर ही डटे रह कर अपना प्रारब्ध भोग समाप्त करें ।

मूढः किं त्यजतु, प्रमत्तमनस स्त्यागेन वा किं फलम्।
विज्ञः कर्म करोतु वा न कुरुतां त्यागेऽवलिप्तो न यत्॥
इत्येवं कृतनिश्चयः प्रवचनै रद्वैतविद्यावतां।
रागत्यागनिरादरो मुनिजनः पारे गिरां खेलति॥५॥

अज्ञानी लोग तो त्याग ही कैसे कर सकते हैं! प्रमत्त मनवाले पुरुष के त्याग से फल ही क्या हो सकता है! विज्ञ के लिये कर्म करना या न करना दोनों बराबर हैं क्योंकि उसे कर्मत्याग (या कर्माचरण) में अहंकार ही नहीं रहता। अद्वैत विद्या जाननेवाले आचार्यों के मुख से इस प्रकार दृढ निश्चय कर लेनेवाला मुनि, राग या त्याग की कुछ भी परवाह न करता हुआ विधिवाक्यों की हद से बाहर हो कर खेलने लगता है (वह कभी तो कर्म से क्रीडा करने लगता है और कभी त्याग से, उसको गुण दोष कुछ भी नहीं लगते)।

इत्ययं योगयुक्तानां रागत्यागविनिर्णयः।
त्यजतैव हि तज्ज्ञेय मितिवेदान्तनिर्णयात्॥६॥

योगयुक्त पुरुषों के लिये कहा हुआ यह 'रागत्यागनिर्णय' नामक प्रकरण समाप्त हुआ। क्योंकि त्यागशील पुरुष ही आत्मरूप को पा सकते हैं, ऐसा वेदान्तों में निर्णय किया जा चुका है (इस प्रकरण के विचार से अधिकारियों को त्याग के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान हो जायगा)।

अधिकारपरीक्षा

धर्मा बहुविधाः प्रोक्ताः शास्त्रे धर्माधिकारिणाम्।
तत्र तीव्रा मुमुक्षैव मोक्षे मुख्याधिकारिता॥१॥

वेद में धर्म के अधिकारियों के लिये बहुत प्रकार के धर्म बताये गये हैं। उन सब धर्मों में मोक्ष धर्म के लिये, मोक्ष की तीव्र इच्छा ही मुख्याधिकारी का चिन्ह बतायी गई है।

ज्योतिष्टोमे स्वर्गकामो विवाहे पुत्रकामवान्।
वाणिज्ये लोभवान् मोक्षे मुमुक्षुरधिकारवान् ॥२॥

स्वर्ग की इच्छावाले को ज्योतिष्टोम का, पुत्र की इच्छा वाले को विवाह का, धनाभिलाषी को व्यापार का तथा मुमुक्षु को मोक्ष (मोक्षसाधनों) का अधिकार होता है।

तीव्रा मुमुक्षा यद्यस्ति प्रज्ञामान्द्यं च वर्त्तते।
सच्छास्त्रविद्वच्चर्चाभिः प्रथमं तन्निवारयेत्। ॥३॥

यदि किसी की मुमुक्षा तो तीव्र हो परन्तु बुद्धि मन्द हो तो उस अधिकारी को चाहिये कि वह सच्छास्त्रों के अवलोकन तथा ब्रह्मनिष्ठ विद्वानों से प्रश्नोत्तर के द्वारा अपनी बुद्धि की मन्दता को नष्ट कर दे।

वेदे नास्त्यधिकारोस्य मुमुक्षा यदि वर्त्तते।
विचारस्तेन कर्त्तव्यः पुराणश्रवणादिना ॥४॥

यदि किसी मुमुक्षु को वेदश्रवण का अधिकार (योग्यता) न हो तो उसे पुराण आदि श्रवण के द्वारा (आत्मा का) विचार करना चाहिये।

यदेव वेदे कथितं पुराणेपि तदेव हि।
न तु वेदाक्षरं श्राव्यमिति भाष्ये विनिर्णयः ॥५॥

वेदों (के ज्ञानकाण्ड) में जो बात बतायी गयी है पुराणों में भी उसी का वर्णन है। अनधिकारियों को वेदाक्षर सुनना नहीं चाहिये, ऐसा शारीरिक भाष्य में निर्णय किया गया है।

यथाधिकारविहितं कर्म सिद्ध्यति चान्यथा ।
कार्यसिद्धि र्न जायेत प्रत्यवायो महान् भवेत् ॥६॥

अपने अपने अधिकार के अनुकूल किये हुए विहित कर्म ही फल दायक होते हैं, अनधिकार चेष्टा करने से तो कार्य भी सिद्ध नहीं होता, साथ ही बड़ा भारी दोष (पाप) भी लगता है ।

अथ सत्संगसुधा

सत्संगसुधया तात मन आनन्दितं यदा ।
निश्चेतव्यं तदा मोहान्मम मुक्ति र्भविष्यति ॥१॥

हे तात ! यदि सत्संगरूपी अमृत से तुम्हारा मन प्रफुल्लित होने लगा हो तो तुम निश्चय समझ लो कि 'अज्ञान से मेरी मुक्ति हो जायगी' । (सत्संगति का प्रेम ही होनेवाले मोक्ष का मुख्य चिन्ह है) ।

साधनानां हि सर्वेषां वरिष्ठा साधुसंगतिः ।
एतया सिद्धया सिद्धं सर्वमेव हि साधनम् ॥२॥

सम्पूर्ण साधनों में साधुसंगति ही सबसे श्रेष्ठ साधन कहाता है, सत्संगति हो जाने से सब साधन अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं ।

शश्वदीश्वरभक्ता ये विरक्ताः समदर्शनाः ।
साधवः सेवितव्यास्ते मोक्षशास्त्रविशारदाः ॥३॥

जो निरन्तर ईश्वर की भक्ति करते रहते हैं जिनको ईश्वर से भिन्न सब पदार्थों में वैराग्य हो गया है, जो सम (ब्रह्म) दर्शी हैं, जिन्होंने मोक्षशास्त्रों का भले प्रकार मनन किया है, उनकी सेवा मुमुक्षु लोगों को करनी चाहिये ।

येषां दर्शनमात्रेण मोक्षे श्रद्धा विवर्धते ।
येषां च वाग्विलासेन संशयो विनिवर्तते ॥४॥
उपक्रमादितात्पर्यलिङ्गै स्तात्पर्यनिर्णयः ।
विशेषसामान्यतया शास्त्रार्थानां व्यवस्थितिः ॥५॥
वेदशास्त्राविरोधेन मोक्षमार्गप्रवेशनम् ।
सम्प्रदायपरिज्ञानं मतभेदविनिर्णयः ॥६॥
पूर्वोत्तराभ्यां पक्षाभ्यां येषां वाक्यादवाप्यते ।
ज्ञानिनः कर्णधारास्ते सेवितव्या हि साधवः ॥७॥

जिनके केवल दर्शन करने मात्र से मोक्ष में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती हो, जिनके वाग्विलास से सन्देह निवृत्त हो जाते हों, उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उपपत्ति आदि (प्रकरण के अर्थ को विशद करनेवाले) चिन्हों से जो तात्पर्य का निर्णय करा देते हों, (सम्पूर्ण वाक्य पृथक् पृथक् स्वस्वार्थबोधक होते हुए भी अन्ततः एकार्थपरक ही हैं इस प्रकार) विशेषसामान्यतया जिनके वाक्य से सब शास्त्रवाक्यों की व्यवस्था हो जाती हो, ऋगादि वेद तथा मीमांसादि का विरोध परिहार करते हुए मोक्ष के मार्गभूत ज्ञान में प्रवेश, मतभेद का निर्णय, और अध्यात्मसम्प्रदाय का परिज्ञान, ये सब बातें संवाद आदि रूप में पूर्वोत्तरपक्षद्वारा जिनके वाक्य से हो जायँ, संसाररूपी समुद्र में डूबते हुए मुमुक्षुओं को ज्ञानरूपी नाव में चढ़ा कर पार उतारनेवाले ऐसे तत्त्वज्ञानी साधु केवटों का सेवन करना चाहिये ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥८॥

गीता में भी कहा है—हे अर्जुन ! उस ज्ञान और ज्ञेय के तत्त्व को नम्रता से, प्रश्नादि वार्त्ता से और उन ज्ञानियों की सेवा से जान लो। वे तत्त्वदर्शी लोग ही तुम्हें ज्ञान के साधनों का उपदेश करेंगे।

अथ समन्वयसरस्वती

अवगाह्या विशेषेण समन्वयसरस्वती ।
जायते मतभेदाख्यपङ्कप्रक्षालनं यया ॥१॥

हे शिष्य ! तुम्हें यह 'समन्वयसरस्वती' नामका प्रकरण विशेषतया विचारना चाहिये । इसके विचार से मतभेदरूप में प्रतीत होनेवाला सभी मल निवृत्त हो जायगा ।—

पदं पदार्थो वाक्यार्थस्तत्त्वानि मनसो यमः ।
महावाक्यार्थविज्ञानं साधनानि क्रमेण हि ॥२॥

(१) पद (२) पद का वाच्य तथा लक्ष्यरूप पदार्थ (३) वाक्यार्थ (४) प्रकृति पुरुष महदादि सात तथा षोडशविकार इस प्रकार ये पच्चीस तत्त्व (५) मन का निरोध नामक योग तथा (६) तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के जीवब्रह्मैक्यरूपी अर्थ का परिज्ञान ये क्रम से मोक्ष के छः प्रसिद्ध साधन माने गये हैं।

सर्वेषां तत्र तन्त्राणा मुपयोगो यथायथम् ।
वदामि तत्समासेन सर्वमेव यथायथम् ॥३॥

उन (छओं साधनों) में जिन समस्त शास्त्रों का जिस जिस प्रकार से उपयोग है वह सब मैं अब संक्षेप से वर्णन करता हूँ।

येषां दर्शनमात्रेण मोक्षे श्रद्धा विवर्धते ।
येषां च वाग्विलासेन संशयो विनिवर्तते ॥४॥
उपक्रमादितात्पर्यलिङ्गै स्तात्पर्यनिर्णयः ।
विशेषसामान्यतया शास्त्रार्थानां व्यवस्थितिः ॥५॥
वेदशास्त्राविरोधेन मोक्षमार्गप्रवेशनम् ।
सम्प्रदायपरिज्ञानं मतभेदविनिर्णयः ॥६॥
पूर्वोत्तराभ्यां पक्षाभ्यां येषां वाक्यादवाप्यते ।
ज्ञानिनः कर्णधारास्ते सेवितव्या हि साधवः ॥७॥

जिनके केवल दर्शन करने मात्र से मोक्ष में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती हो, जिनके वाग्विलास से सन्देह निवृत्त हो जाते हों, उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उपपत्ति आदि (प्रकरण के अर्थ को विशद करनेवाले) चिन्हों से जो तात्पर्य का निर्णय करा देते हों, (सम्पूर्ण वाक्य पृथक् पृथक् स्वस्वार्थबोधक होते हुए भी अन्ततः एकार्थपरक ही हैं इस प्रकार) विशेषसामान्यतया जिनके वाक्य से सब शास्त्रवाक्यों की व्यवस्था हो जाती हो, ऋगादि वेद तथा मीमांसादि का विरोध परिहार करते हुए मोक्ष के मार्गभूत ज्ञान में प्रवेश, मतभेद का निर्णय, और अध्यात्मसम्प्रदाय का परिज्ञान, ये सब बातें संवाद आदि रूप में पूर्वोत्तरपक्षद्वारा जिनके वाक्य से हो जायँ, संसाररूपी समुद्र में डूबते हुए मुमुक्षुओं को ज्ञानरूपी नाव में चढ़ा कर पार उतारनेवाले ऐसे तत्त्वज्ञानी साधु केवटों का सेवन करना चाहिये ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥८॥

गीता में भी कहा है—हे अर्जुन ! उस ज्ञान और ज्ञेय के तत्त्व को नम्रता से, प्रश्नादि वार्त्ता से और उन ज्ञानियों की सेवा से जान लो। वे तत्त्वदर्शी लोग ही तुम्हें ज्ञान के साधनों का उपदेश करेंगे।

अथ समन्वयसरस्वती

अवगाह्या विशेषेण समन्वयसरस्वती ।
जायते मतभेदाख्यपङ्कप्रक्षालनं यया ॥१॥

हे शिष्य ! तुम्हें यह 'समन्वयसरस्वती' नामका प्रकरण विशेषतया विचारना चाहिये। इसके विचार से मतभेदरूप में प्रतीत होनेवाला सभी मल निवृत्त हो जायगा।—

पदं पदार्थो वाक्यार्थस्तत्त्वानि मनसो यमः ।
महावाक्यार्थविज्ञानं साधनानि क्रमेण हि ॥२॥

(१) पद (२) पद का वाच्य तथा लक्ष्यरूप पदार्थ (३) वाक्यार्थ (४) प्रकृति पुरुष महदादि सात तथा षोडशविकार इस प्रकार ये पच्चीस तत्त्व (५) मन का निरोध नामक योग तथा (६) तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के जीवब्रह्मैक्यरूपी अर्थ का परिज्ञान ये क्रम से मोक्ष के छः प्रसिद्ध साधन माने गये हैं।

सर्वेषां तत्र तन्त्राणा मुपयोगो यथायथम् ।
वदामि तत्समासेन सर्वमेव यथायथम् ॥३॥

उन (छओं साधनों) में जिन समस्त शास्त्रों का जिस जिस प्रकार से उपयोग है वह सब मैं अब संक्षेप से वर्णन करता हूँ।

जायते शब्दशास्त्रेण पदव्युत्पत्तिरुत्तमा ।
व्युत्पत्तिश्च पदार्थानां न्यायवैशेषिकोक्तिभिः ॥४॥

शब्दशास्त्र (व्याकरण) से पदों का यथार्थ ज्ञान होता है। न्याय तथा वैशेषिक से पदार्थों का (यह अर्थ वाच्य है या लक्ष्य इस प्रकार का तात्पर्य) ज्ञान होता है।

मीमांसया च वाक्यार्थव्युत्पत्तिः परिनिष्ठिता ।
व्यक्तिः सांख्येन तत्त्वानां योगेन मनसो यमः ॥५॥

मीमांसाशास्त्र से वाक्यार्थ का ज्ञान परिपक्व हो जाता है। सांख्यशास्त्र से (प्रकृति आदि) तत्वों की पृथक् पृथक् प्रतीति होती है। योगशास्त्र से अन्तःकरण का निरोध हो जाता है।

महावाक्यार्थविज्ञानं वेदान्तै ब्रह्मनिष्ठया ।
इत्येवं सर्वतन्त्राणां ब्रह्मण्येव समन्वयः ॥६॥

ब्रह्मतत्व में यदि किसी का स्वाभाविक प्रेम हो तो वेदान्तों से (तत्वमसि आदि) महावाक्यों के (अभेदरूप) तात्पर्य का ज्ञान हो जाता है। अकेले वेदान्तविचार से महावाक्यार्थ का परिज्ञान नहीं होता। इस प्रकार सब शास्त्रों का ब्रह्म में ही समन्वय है।

अथाविरोधबोधः

प्रसंगादविरोधस्य बोधोप्यत्र निरूप्यते ।
व्यवहारे द्वैतसत्वं द्वैताद्वैतमते समम् ॥१॥

अब प्रसंग से सब मतों का अविरोध भी बताये देते हैं। व्यवहारकाल में द्वैत की सत्यता तो द्वैत और अद्वैत दोनों मतों में समान रूप से मानी गयी है। (वेदान्ती व्यवहारकाल

में द्वैत को मानता है, द्वैतवादी प्रतीति का विषय होने से द्वैत को मानता है। इस प्रकार दोनों मतों में परस्पर कोई विरोध नहीं है)।

अद्वैतकल्पितत्त्वं चाविरोधोऽतो मतद्वये।
विवदन्ति मुहु र्वादरसै स्तद्विवदन्तु ते ॥२॥

द्वैतवादी भी अद्वैत को कल्पित बताते हैं, और वेदान्ती भी सिद्धान्तरूप से अद्वैत को कल्पित ही मानते हैं, इस प्रकार इस मामले में भी दोनों मतों में विरोध नहीं है। तो भी जिन को केवल वादविवाद में ही रस आता है यदि वे लोग उस रस के कारण आपस में विवाद करते हैं तो किया करें (विवेकी या जिज्ञासु विवाद को छोड़ ही दें)।

यमास्त्वहिंसासत्याद्या नियमाः शुचितादयः।
सुखासने च संस्थानं प्रत्याहारस्तु सर्वतः ॥३॥
धारणा च तथा ध्यानं समाधानं च चेतसः।
योगाङ्गसप्तकं त्वेतत् सर्वेषामपि सम्मतम् ॥४॥

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये 'यम', शौच सन्तोष तप स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान ये 'नियम' सुख दायक 'आसन' से शरीर में स्थिरता, (अथवा सुखस्वरूप ब्रह्म में वृत्ति की स्थिरता) तथा सब विषयों से इन्द्रियों का 'प्रत्याहार' (संकोच) 'धारणा' (किसी विषय में चित्त का स्थापन), 'ध्यान' (किसी इष्ट वस्तु के विषय में चित्त को इस प्रकार लगाना कि किसी दूसरे पदार्थ का उस काल में ज्ञान ही न हो) तथा चित्त की 'समाधि' (जब ध्याता ध्येयमात्र होकर रहने लगे) योग के ये सातों अंग तो सब को ही सम्मत हैं।

लये मन्त्रे हठे राज्ञि भक्तौ सांख्ये हरे र्मते ।
मतैक्यमस्ति सर्वेषां ये बुधा मोक्षमार्गगाः ॥५॥

लययोग मन्त्रयोग हठयोग राजयोग भक्तियोग सांख्ययोग तथा श्रीकृष्ण के भागवत् धर्म में वेदान्तमत के साथ कोई भी विरोध नहीं है । इस बात का पता जिनको हो जाता है वे सीधे मोक्ष को पहुँच जाते हैं ।

लययोगप्रतिपादक शास्त्रों में लय को आत्मचिन्तन का उपाय बताया गया है । उस से वेदान्तियों का कोई विरोध नहीं, क्योंकि वह आत्मचिन्तन में उपयोगी है । मन्त्रयोग से देवता प्रसन्न होते हैं उस से ज्ञान हो कर मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार मन्त्रयोग से भी हमारा कोई विरोध नहीं । हठ योग से शिवशक्तिसमायोग होने से अन्तःकरण शुद्ध हो कर ज्ञान प्राप्त हो जाता है, इस लिये हठयोग से भी हमारा कोई विरोध नहीं । राजयोग तो स्वरूपावस्थितिरूप है उस से विरोध ही क्या ! भक्ति भी अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति करा कर मुक्ति को प्राप्त कराती है, उसका भी वेदान्त से कोई विंरोध नहीं । तत्वविवेचन के द्वारा पुरुष की असंगता का बोध करा कर 'त्वं' पदार्थ के शोधन करने में उपयोगी सांख्यों के साथ भी वेदान्त का कोई विरोध नहीं है। हरि भगवान् के "जो कुछ करते हो सब मुझे अपर्ण करो" इस धर्म से भी कर्तृत्व की बाधा होती है, सो तो वेदान्त के अनुकूल ही है। इस प्रकार सब शास्त्रों में कोई विरोध नहीं है।

हठिना मधिकस्त्वेकः प्राणायामपरिश्रमः ।
प्राणायामे मनःस्थैर्यं स तु कस्य न संमतः ॥६॥

हठयोगियों का प्राणायामपरिश्रम और सब मतों से पृथक् है । जिस प्राणायाम के सिद्ध हो जाने पर मन स्थिर हो जाता है वह प्राणायाम भला किस साधक को पसन्द न आयेगा ।

विमुक्ति र्वादिनां तस्मान्मतभेदो न कश्चन ।
कश्चित्कश्चिन्मते भेदस्त्वस्ति वेदान्तिनामपि ॥७॥

(फल में विरोध न होने से) सब मतवादियों की मुक्ति होने में कोई भी संशय नहीं रहा । इसलिये (क्योंकि एक ही मुक्तिस्वरूप फल सब को प्राप्त होना है) मतों में भी परस्पर कोई भेद नहीं मानना चाहिये । यों कोई कोई मत भेद तो वेदान्तियों में भी आपस में है (जैसे के कोई वेदान्ती एक-जीववादी है कोई अनेकजीववादी इत्यादि) ।

सांख्याञ्जनशलाका

नेत्रयो रञ्जनं कार्यं सांख्याञ्जनशलाकया ।
ततस्तिमिरनाशेन सूक्ष्मवस्तु विलोक्यते ॥१॥

सांख्यरूपी अञ्जन की शलाका से (प्रकृतिपुरुषज्ञानरूपी) नेत्रों में (असंगत्वज्ञानरूपी) अंजन लगाना चाहिये, उससे (अज्ञानरूपी) तिमिर का नाश होकर सूक्ष्म पदार्थ देखा जा सकेगा ।

कपिलेन मुकुन्देन देवहूती प्रबोधिता ।
सर्वतत्वविवेकेन तत्सांख्यमभिधीयते ॥२॥

कपिलरूपधारी मुकुन्द ने देवहूती (नामक अपनी माता) को प्रकृति पुरुष आदि सब तत्त्वों का विवेक जिस शास्त्र से कराया वह सांख्य शास्त्र कहाया ।

सर्वा विकृतयो यस्याः स्थलसूक्ष्माश्चराचराः ।
अस्ति काचिदनिर्देश्या प्रकृति स्त्रिगुणात्मिका ॥३॥

स्थूल सूक्ष्म भूत तथा ये जङ्गम स्थावर आदि सब ही जिसके विकार हैं, ऐसी कोई सत्व रज तम इन तीनों गुणोंवाली अनिर्वचनीय प्रकृति है (जिस के कारण से यह सब जगत् प्रतीत हो रहा है) ।

महत्तत्वमहंकारः पञ्चतन्मात्रकाणि च ।
प्रकृति विंकृतिश्चेति सप्तैतानि भवन्ति हि ॥४॥

महत्तत्व, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पाँच तन्मात्रा ये सातों कार्य भी होते हैं और कारण भी होते हैं।

स्वकारणानां विकृतिः, प्रकृतिः स्वोद्भवस्य यत् ।
एवमष्टौ प्रकृतय स्ततो विकृतयोऽभवन् ॥ ५ ॥

महत् आदि प्रत्येक अपने अपने कारणों के तो विकार (कार्य) हैं परन्तु अपने से उत्पन्न हुए कार्यों के प्रकृति (कारण) कहाते हैं। इस प्रकार मूल प्रकृति को साथ गिन कर सांख्यमत में आठ प्रकृति होती हैं। इन आठों से ही विकार (कार्य) उत्पन्न हो जाते हैं।

व्योमादि पंच भूतानि पंच ज्ञानेन्द्रियाणि च ।
कर्मेन्द्रियाणि पंचैव मनसा सह षोडश ॥ ६ ॥

आकाशादि पाँच भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन यह सोलह विकार कहाते हैं।

खंवायुरग्निस्तोयं भू र्भूतपञ्चकमुच्यते ।
शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धस्तेषां गुणाः क्रमात् ॥७॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पाँच 'भूत' कहाते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये पाँचों भूतों के क्रम से 'गुण' कहे जाते हैं।

श्रोत्रं त्वक् चक्षू रसनं घ्राणं ज्ञानेन्द्रियाणि च।
वाक्पाणिपादपाय्वादि पंच कर्मेन्द्रियाणि च ॥८॥

श्रोत्र, स्पर्श, चक्षु, रसना तथा घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वाणी, पाणि, पाद, गुदा तथा उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।

उभयात्मा मनस्तेन चतुर्विंशति रीरिता।
तत्त्वानां, तद्विकारस्तु सर्वं चैव जगत्त्रयम् ॥९॥

(संकल्पविकल्परूप) मन तो उभयात्मा है (अर्थात् यह मन ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों का साधनभूत है) इस प्रकार ये सब चौबीस तत्व हुए। यह त्रिभुवन इन ही तत्वोंका कार्य है।

प्रकृते स्त्रिगुणात्मत्वा त्सर्वं हि त्रिगुणात्मकम्।
रक्तश्वेतश्यामरूपा रजःसत्वतमोगुणाः ॥१०॥

(सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्थारूप) प्रकृति क्योंकि त्रिगुणात्मक है इसलिये उस का कार्य यह समस्त जगत् भी त्रिगुणात्मक ही है। सत्व, रज तथा तम ये तीनों गुण क्रम से श्वेत रक्त तथा कृष्णरूपवाले हैं।

रजश्चलं, तमःस्तब्धं, प्रकाश स्सात्विको मतः।
तमोऽधमं, रजोमध्यं, सत्वमुत्तममेव हि ॥११॥

रजोगुण का स्वभाव चंचल, तमोगुण का स्वभाव मूढ, तथा सत्वगुण का स्वभाव, प्रकाश है। तमोगुण नीच स्वभाववाला, रजोगुण मध्य स्वभाववाला, तथा सत्वगुण उच्च स्वभाववाला होता है।

लोभाद्यो रजोभावा स्तमसो जडतादयः ।
सुखप्रसादबोधाद्या भावाः सत्त्वस्य कीर्तिताः ॥ १२ ॥

लोभ तथा इन्द्रियचापल्य आदि रजोगुण के कार्य हैं। जडता मोह क्रोधादि तमोगुण के कार्य हैं । सुख, अन्तःकरण की निर्मलता, बोध तथा शमदमादि सत्वगुण के कार्य कहे गये हैं। (इस से यह निष्कर्ष निकाल लो कि यह जगत् प्रकृति के गुणों का कार्य है)।

देवादयः सात्विकाः स्यु नराद्या राजसाः स्मृताः ।
तामसाः पशुभूताद्या एवं सर्व विविच्यताम् ॥ १३ ॥

देवादि सत्वगुण से, मनुष्य आदि रजोगुण से, तथा पशु भूत कीट पतंग आदि तमोगुण से उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार सब पदार्थों में सात्विक राजस तामस का भेद समझ लेना चाहिये।

विरोधिन स्सहायाश्च मिथः कार्यं च कारणम् ।
मिलित्वा कार्यकर्तारो गुणा विषमचेष्टिताः ॥ १४ ॥

ये सत्व आदि गुण एक दूसरे के विरोधी भी हैं और (कार्योत्पत्ति में) परस्पर सहायक भी हैं । एक दूसरे के परस्पर कार्य भी हैं और कारण भी हैं । सत्व प्रकाशक हैं, रज चाञ्चल्य-रूप है, इस प्रकार इन सब का व्यवहार विषम अर्थात् एक दूसरे को नष्ट करनेवाला है, तो भी ये गुण एक दूसरे के साथ मिलकर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा नाश करते ही रहते हैं ।

विश्वं गुणात्मकं सर्वमात्मा निर्गुण एव हि ।
प्रकाशकतया तत्र प्रविष्ट इव भासते ॥ १५ ॥

यह समस्त विश्व गुणरूप है, परन्तु आत्मा तो निर्गुण ही है। वह इन समस्त गुणों के अन्दर तथा इस समस्त विश्व में प्रकाशकरूप से प्रविष्ट हुआ सा प्रतीत होने लगा है।

यथा द्वात्रिंशदन्तस्था रसज्ञा रसवेदिनी।
चतुर्विंशतितत्वान्तः स्वात्मज्ञ स्तत्त्वविक्तथा ॥१६॥

जिस प्रकार बत्तीस दाँतों के बीच में रहनेवाली केवल जिह्वा ही रस को पहचानती है (विचारे दाँत रस को नहीं पहचानते) इसी प्रकार अपने ज्ञान के प्रभाव से, चौबीसों तत्वों का अन्त कर देनेवाला अथवा चौबीस तत्त्वों के अन्दर रहने वाला आत्मदर्शी ही इन तत्वों के यथार्थ स्वरूप को समझता है (वही पुरुष कहाता है। इन चौबीसों तत्त्वों को आत्मतत्त्व का पता ही नहीं है आत्मा को तो केवल तत्त्वज्ञानी ही पहचानता है)।

एकमेव निजं नाथं माया विषयलम्पटा।
बहुरूपधरं कृत्वा वेश्येव खलु खेलति ॥१७॥

विषयों की लोभिन यह प्रकृति ही अपने अकेले नाथ को बहुरूपधारी बना लेती है और फिर वेश्या की तरह (उस [अनेक रूपधारी] के साथ यह जगद्रूप) क्रीडा किया करती है।

अपृथग्भावरूपेण मिलित्वा पुरुषेण हि।
विचित्राकाररूपैस्तं सन्नर्तयति नर्तकी ॥१८॥

यह मायारूपी नटनी पहले तो पुरुष के साथ अपनी सत्ता को बिलकुल मिला देती है और फिर विचित्र आकार तथा विचित्र रूपों से उस अपने मायामोहित पुरुष को नचाया करती है।

निर्दोषो निश्चलो नाथः सदोषा चञ्चला वधूः ।
दम्पत्यो रनयोर्नूनं रसभङ्गो भविष्यति ॥१९॥

यह जीव तो वस्तुतः निर्दोष और उपाधि से रहित है, निश्चल है (सदा एक रूप है) परन्तु प्रकृतिरूपी उसकी यह वधू तो दोषों से भरी है (यह अस्थिर है अनेकरूप है) इन दोनों के विरुद्ध स्वभाव को देख कर हमें तो यही निश्चय होता है कि इन (स्त्री पुरुषों) का रसभंग होकर ही रहेगा । इनकी अन्त तक निभेगी ही नहीं । अथवा यों समझो कि जगत्रूपी प्रजा की उत्पत्ति के लिये स्त्री और पुरुष के रूप में वर्त्तमान इन अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाले प्रकृतिपुरुषों का कभी न कभी अवश्य ही रसभंग (सुखनाश, दुःखोत्पत्ति) हो जायगा, अर्थात् उस से वैराग्य हो कर प्रकृति और पुरुष का विवेक हो कर रहेगा।

पृथक्त्वेन परिज्ञाता दुष्टरूपतयापि च ।
न मुखं दर्शयत्येषा सलज्जा म्रियतेऽपि च ॥२०॥

जब कि उस पुरुष को इस प्रकृति के विलक्षण स्वभाव तथा इसकी दुष्टरूपता का परिज्ञान हो जायगा (जब प्रकृति को यह पता चलेगा कि इसे मेरे दोषों का ज्ञान हो गया है) तब यह प्रकृतिरूपी वधू उस पुरुष को कभी मुँह न दिखायेगी और अन्त में तो लज्जा के बोझ को न सह कर मर भी जायगी।

प्रकृति विंकृतिर्नापि पुरुषो निश्चलात्मकः ।
शुद्धबुद्धस्वरूपोऽसाविति सांख्यविनिर्णयः ॥२१॥

पुरुष तो न किसी का कारण है और न किसी का कार्य है किन्तु वह तो निश्चल शुद्धबुद्धस्वरूप है ऐसा सांख्य का निर्णय है ।

अथातो योगदीक्षाया श्चिन्तामणि रुदीर्यते ।
तत्प्राप्त्याऽबोधदारिद्र्यं सर्वमेव विनश्यति ॥१॥

अब योगदीक्षा के चिन्तामणि का वर्णन करते हैं, उसे सुनो ! उस के प्राप्त हो जाने पर अज्ञानरूपी दरिद्रता समूल नष्ट हो जायगी ।

महायोगेश्वरः शम्भु र्महायोगेश्वरो हरिः ।
महायोगेश्वरो ब्रह्मा भवानी सिद्धयोगिनी ॥२॥

शंकर भगवान् सब योगों के प्रवर्त्तक आचार्य हैं, विष्णु भगवान् भी सर्वमान्य योगप्रवर्त्तक हैं, ब्रह्मा भी जगत्पूज्य योगेश्वर हैं, भवानी भी सिद्ध योगिनी है (केवल योग के कारण ही ये लोग सर्वजगत् में श्रेष्ठ बने हैं) ।

सनकाद्या वशिष्ठाद्याः कचदत्तशुकादयः
अरुन्धतीप्रभृतयो योगात्सिद्धिमुपागताः ॥३॥

सनकादि नैष्ठिक, वसिष्ठादिगृहाश्रमी, कच दत्त सुखदेव आदि परमहंस, अरुन्धती आदि स्त्रियें, ये सब लोग योग से ही अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त हुए हैं ।

आत्मज्ञानेन यो योगो जीवात्मपरमात्मनोः ।
स योगस्तस्यहेतुत्वाद्योगा बहुविधा मताः ॥४॥

आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने के कारण जीवात्मा तथा परमात्मा का जो योग (परमार्थिक एकपन) हो जाता है वही सच्चा योग कहाता है, शास्त्रों में जो कि अनेक प्रकार के योग बताये गये हैं वे तो इसी योग के साधन होने से योग कहाने लगे हैं । (मुख्य योग यही है वे गौण योग हैं) ।

विरोधिलक्षणान्याया दभद्रा भद्रिका यथा ।
सर्वदुःखवियोगस्तु योग इत्याह केशवः ॥५॥

भगवान् कृष्ण ने तो गीता में सम्पूर्ण आध्यात्मिक आदि दुःखों के वियोग को ही विरोधिलक्षणान्याय (जिस में जो धर्म न हो उस में उसी धर्म का कथन) से मुख्य योग कहा है, जैसे कि अभद्रा को भद्रिका नाम से कहा जाता है ।

अत्यन्तचपलस्यापि मनसो योगशक्तितः ।
निश्चलत्वं प्रजायेत विन्ध्यस्येव महागिरेः ॥६॥

जैसे कि अगस्त्य मुनि के योग से विन्ध्य महापर्वत अपनी वृद्धिरूप चञ्चलता को त्याग कर स्थिर हो गया था, इसी प्रकार योग की अपार शक्ति के कारण निरन्तर चञ्चल स्वभाव वाला भी यह मन स्थिर हो जाता है ।

तथा च भुशुण्डः—

नाभसीं धारणां बद्ध्वा तिष्ठामि विगतज्वरः ।
यावत्पुनः कमलजः सृष्टिकर्मणि तिष्ठति ॥७॥

मैं काकभुशुण्ड आकाश सम्बन्धी धारणा को धारण करके (अर्थात् वायु आदि भूत और भौतिक पदार्थों से रहित आकाशतत्व में पहुँचने पर वायु आदि के नाश की शंका न रहने के कारण) अपने नाश की चिन्ता से रहित हो कर, ब्रह्मा के दूसरी सृष्टि बनाने तक स्थिर हो कर बैठा रहता हूँ ।

चित्तवृत्तिनिरोधस्तु मुख्यः पातञ्जलो मतः ।
प्राणवृत्तिनिरोधस्तु गौण स्तत्साधनत्वतः ॥८॥

बाह्य विषयों से चित्तवृत्ति का निरोध ही पतञ्जलि मुनि

का कहा हुआ मुख्य योग है। शरीर में रहने वाले प्राण अपान आदि का निरोध तो चित्तवृत्ति के निरोध का ही साधन होने से गौण योग कहाता है।

तत्र सूत्रम् यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-
धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥

योगाङ्गों को बताने वाला यह पतञ्जलि का सूत्र है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये योग के आठ अंग हैं।

यमोऽस्तेयऋताहिंसाब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।
नियमः शौचसन्तोषतपःपाठेश्वरार्पणम् ॥९॥

अस्तेय, ऋत (सत्य) अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (योग-बाधक विषयों का असंग्रह) ये पाँच 'यम' कहाते हैं। बाह्य-शौच स्नानादि, आन्तरशौच रागत्यागादि, सन्तोष, तप (स्व-वर्णाश्रम विहित कर्म करते हुए क्लेश सहन) स्वाध्याय, तथा ईश्वरार्पण ये पाँच 'नियम' कहाते हैं।

आसनं स्थिररूपेण शरीरस्थिरता मता।
प्राणायामः प्राणदण्डः कुम्भपूरकरेचकैः ॥१०॥

जिस प्रकार के बैठने से जिस पुरुष को व्युत्थान न होता हो, या जिस आसन से अधिक काल तक आराम से बैठ सके वही 'आसन' कहा गया है। कुम्भक पूरक तथा रेचक से शरीर के वायु को दण्ड अर्थात् नियम में करना 'प्राणायाम' कहाता है।

प्रत्याहारस्त्विन्द्रियाणां चलानां प्रतिरोधनम्।
क्वचित्प्रदेशे चित्तस्य स्थापनं 'धारणा' मता ॥११॥

चञ्चल श्रोत्र आदि इन्द्रियों को अपने अपने विषय से रोक रखना 'प्रत्याहार' कहाता है। किसी अनाहतादि चक्र में या किसी प्रतिमा आदि बाह्य पदार्थ में मन की स्थिरता का सम्पादन कर लेना 'धारणा' कहाती है।

निरन्तर श्चित्प्रवाहो ध्येयस्य ध्यानमीरितम् ।
समाधिरष्टमो ज्ञेय स्तदात्मकतया स्थितिः ॥१२॥

जल की अखण्ड धारा के समान वृत्तियों का अपने ध्येय पदार्थ के सम्बन्ध में निरन्तर प्रवाह ही 'ध्यान' कहाता है (उस प्रवाह में ध्येय से पृथक् किसी भी विषय का चिन्तन नहीं रहता) चित्त का ध्येयाकार हो कर ठहर जाना (सविकल्प किं वा सम्प्रज्ञात) 'समाधि' कहाती है। यह योग का आठवाँ अंग है।

सम्प्रज्ञात स्तदन्यश्च समाधि र्द्विविधो हि सः ।
यमादि पंच बहिरंग मन्तरंगमथापरम् ॥१३॥

वह समाधि, 'सम्प्रज्ञात' और 'असम्प्रज्ञात' भेद से दो प्रकार की होती है। समाधि के यम आदि पाँच 'बहिरंग साधन' हैं तथा दूसरे 'अन्तरंग साधन' कहाते हैं।

वितर्केण विचारेणानदेनास्मितया तथा ।
अनुस्यूतः समाधिस्तु सम्प्रज्ञातश्चतुर्विधः ॥१४॥

एक 'वितर्कानुगत' दूसरी 'विचारानुगत' तीसरी 'आनन्दानुगत' और चौथी 'अस्मितानुगत' यों सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की होती हैं।

अपने अप्रत्यक्ष ध्येय पदार्थ को तर्क से चिन्तन कर के चित्त का तदाकार परिणाम कर लेना पहली 'वितर्कानुगत

समाधि' कहाती है। विचार से ध्येय को चिन्तन कर के चित्त का तदाकार परिणाम कर लेना दूसरी 'विचारानुगत समाधि' कहाती है। स्वानन्द की प्रतीति का आविर्भाव होने पर चित्त का तदाकार परिणाम तीसरी 'आनन्दानुगत समाधि' कहाती है। चित्त का ऐसा परिणाम कि जिस में केवल आत्मा के अस्मिता मात्र की प्रतीति होने लगे चौथी 'अस्मितानुगत समाधि' कहाती है।

यत्र न ज्ञायते किञ्चित्सोऽसंप्रज्ञात उच्यते।
द्विधा भवप्रत्ययवा नुपायप्रत्ययश्च यः ॥१५॥

जिस समाधि में ध्याता ध्यान ध्येय आदि किसी का भी ध्यान न हो, वह 'असंप्रज्ञात समाधि' कहाती है। वह दो प्रकार की है पहली 'भवप्रत्ययवान्' दूसरी को 'उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं।

मूढानामपि जायेत तपोदार्ढ्यान्मनोलयः।
प्रकृतौ वा महत्तत्वे भवप्रत्यय एव सः ॥१६॥

तप की दृढता (निरन्तर आचरण) से अज्ञानी लोगों को भी गुणसाम्यरूप प्रकृति में किं वा महत्तत्व (सत्वगुण वाले प्रकृति के एक विकार) में मनोलय हो जाता है। वह 'भव प्रत्यय' नाम की 'असम्प्रज्ञात समाधि' कहाती है।

त्रैलोक्यराज्यकामस्य हिरण्यकशिपोर्यथा।
शरीरं कृमिभिर्भुक्तं वल्मीकेनापि संवृतम् ॥१७॥

जिस प्रकार त्रिलोकी के राज की इच्छा करने वाले हिरण्य-कशिपु दैत्य के समाधिस्थ शरीर को कीड़ों ने खा डाला और वल्मीक ने उस पर अपना घर बना लिया था (उस को इन

दोनों बातों का कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ, यह समाधि 'भव-प्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि' थी)।

श्रद्धावीर्यस्मृतिप्रज्ञाकामवर्जनपूर्वकम् ।
मनोलयो मुनीन्द्राणा मुपायप्रत्ययस्तु सः ॥१८॥

श्रद्धा वीर्य (इन्द्रिय निग्रह में उत्साह, सांसारिक दुःख से अनुद्वेग, शीतादि का सहन) स्मृति (सुने हुए पदार्थ को याद रखना) प्रज्ञा (वैराग्यपूर्वक, शुद्धमहावाक्यार्थ का ज्ञान) तथा कामवर्जन (समाधान से भिन्न कामों की निवृत्ति) इन पाँच बातों के प्रभ व से मुनीन्द्र लोगों का जो मनोलय होता है वह 'उपायप्रत्यय नामक असम्प्रज्ञातसमाधि' कहाती है ।

उक्तं व्युत्थितचित्तानां समाधानमभीप्सताम् ।
तपश्च वेदपाठश्च सर्वकर्मार्पणं हरौ ॥१९॥

समाधि से व्युत्थान हो जाने पर फिर दुबारा समाधि की इच्छा वाले पुरुष को उचित है कि वह तप अर्थात् विचार करे, उपनिषदादि अध्यात्मग्रन्थों का पाठ करे, ब्रह्म में सब कर्मों का समर्पण करे (अर्थात् उससे अन्य न तो कोई द्रष्टा है और न कोई श्रोता है इस निश्चय से कर्तृत्व आदि का बाध करता रहे, व्यष्टि दृष्टि को दूर फेंककर समष्टि दृष्टि को जगाया करे) ऐसा करने से उसका चित्त क्रम क्रम से स्थिर होने लगता है।

क्लेशकर्मविपाकैश्च चित्ररूपैस्तदाशयैः ।
अपरामृष्ट एवैकः कश्चित्पुरुष ईश्वरः ॥२०॥

क्लेशों कर्मों विपाकों तथा इन की नाना प्रकार की वासनाओं से सर्वथा असंपृक्त रहनेवाला, एक पुरुषविशेष 'ईश्वर' कहाता है।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये पाँच 'क्लेश' कहाते हैं। संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण, योगियों के अशुक्लकृष्ण, औरों के अशुक्ल, कृष्ण तथा लोहित यह सात प्रकार के 'कर्म' कहाते हैं। कर्मफल के रूप में मिले हुए आयु, जाति तथा भोग ये तीन 'विपाक' कहाते हैं।

स सर्वज्ञः स्वभावेन प्रणव स्तस्य वाचकः।
तदयं भावनापूर्वं तज्जपो मोक्षसाधनम् ॥२१॥

वह विशिष्ट पुरुष स्वभाव से ही सर्वज्ञ है (अर्थात् सामान्य विशेष रूप से इस सब जगत् को जानता है) उस विशिष्ट पुरुष का वाचक मन्त्र प्रणव (ओम्) है। प्रणव के अर्थ को विचार करते हुए उसका प्रेम पूर्वक जप करना चाहिये, ऐसा करने से मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

यथा रोग स्तन्निदानं भेषजं चाप्यरोगता।
विवेचनीयभेदेन चिकित्सास्ति चतुर्विधा ॥२२॥

जैसे कि चिकित्सा शास्त्र के चार विभाग हैं, पहले रोग दूसरा रोग का मूलकारण, तीसरा औषध तथा चौथा नीरोगता, वैसे ही—

जन्मदुःखं तथा मोहो विज्ञानं च विमुक्तिता।
विवेचनीयभेदेन योगशास्त्रं चतुर्विधम् ॥२३॥

योग शास्त्र भी चार भागों में विभक्त हैं। पहले भाग में जन्म को दुःख बताया गया है, दूसरे भाग में मोह या मूलाज्ञान का प्रतिपादन किया गया है, तीसरे में विज्ञान और उसके साधनों का प्रतिपादन किया गया है, चौथे प्रकरण में विमुक्ति अर्थात् स्वस्वरूप में स्थिति का निरूपण आया है।

अविवेकः पुंप्रकृत्योः स मोहो मूलकारणम् ।
समत्वपुरुषान्यत्वख्यातिबोधेन नश्यति ॥२४॥

प्रकृति और पुरुष का अविवेक ही मोह है। वही मोह (जन्म मरणादि दुःखों का) मूलकारण होता है। सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है। पुरुष तो असंग नित्यानन्द स्वरूप है। इस प्रकार का भेदज्ञान जब (सांख्ययोग शास्त्र से) हो जाता है तब वह मोह स्वतः ही नष्ट हो जाता है।

योगाभ्यासप्रसक्तस्य सिद्धयो भोगदायिकाः ।
आयान्ति नादरः कार्यो ह्यन्तराया मतः यतः ॥२५॥

योगाभ्यास में लगे हुए साधक को भोगदायक (आकाश-गमन आदि अनेक) सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। योगी को उनमें प्रेम करना उचित नहीं, क्योंकि वे सिद्धियाँ योग के विघ्न हैं।

धारणाध्यानवैचित्र्या त्सिद्धिभेदो य ईरितः ।
अत्यन्तानुपयोगित्वा त्सतु नात्र निरूपितः ॥२६॥

पातंजल योग में धारणा तथा ध्यान की विचित्रता से (आकाशगमनादि) सिद्धियों की जो जो विलक्षणतायें बतायी गयी हैं, अत्यन्त अनुपयोगी होने से हमने उनका यहाँ वर्णन नहीं किया।

अथ शैवयोगः

योगः शैवो निरूप्यते................।
मन्त्रो लयो हठो राजयोगो योगश्चतुर्विधः ॥१॥

अब शिव के कहे हुए योग का प्रतिपादन करते हैं। उस

योग के मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग तथा राजयोग ये चार भेद हैं ।

नारायणाष्टाक्षरवासुदेवद्वादशाक्षरौ ।
नृसिंहरामगोपालमन्त्रास्ते तापिनीस्तुताः ॥२॥

ॐ नमो नारायणाय, ॐ नमो भगवते वासुदेवाय, इसी प्रकार नृसिंह, राम और गोपाल के जो मन्त्र हैं वे तापिनी उपनिषद् में बताये गये हैं ।

शिवपंचाक्षरी श्रेष्ठा दाक्षिणामूर्त्तिरुत्तमा ।
यतीनां तु महावाक्यं केवलः प्रणवस्तथा ॥३॥

शैव मन्त्रों में शिव पंचाक्षरी (ॐ नमः शिवाय) तथा दक्षिणामूर्त्ति की उपासना भी श्रेष्ठ है (क्योंकि इन उपर्युक्त मन्त्रों का सब आश्रम वालों को अधिकार है) "तत्त्वमसि" आदि महावाक्य केवल संन्यासियों के लिये हैं । अकेला 'ओम्' भी संन्यासी लोगों के लिये ही है ।

इत्यादयो महामन्त्राः पुरश्चर्यादिभिः क्रमैः ।
सिद्धा देवप्रसादेन सद्यो मुक्तिप्रदा मताः ॥४॥

इत्यादि महामन्त्र ध्यान पुरश्चरण आदि क्रम से सिद्ध (स्वाधीन) होकर आराध्य देव की कृपा होने पर तत्क्षण मुक्ति देने वाले हो जाते हैं ।

अथ हठयोगः

गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम् ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१॥

गंगा (इडा—वामनासिका में रहने वाली वायुवाहिनी नाडी)

और यमुना (पिंगला—दक्षिण नासिका में रहने वाली वायु-वाहिनी नाडी) के बीच में केश के बराबर सूक्ष्म, तथा प्रकाश-युक्त सुषुम्ना नाम की नाडी है। साधक को चाहिये कि प्राणायाम आदि के अभ्यास से उस सुषुम्ना को वश में करे। उस सुषुम्ना को अपने वश में कर लेना ही परमात्मा का परम पद है (सुषुम्ना का वशीकार ही हठयोग का फल है)।

तत्र गोरक्षः—एतद्विमुक्तिसोपान मेतत्कालस्य वंचनम्।
यद्व्यावृत्तं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि ॥२॥

जब कि मन विषयसुखों से हटकर परमात्मा में आसक्त हो जाता है तो बस यही मुक्ति का सोपान (सीढ़ी) है और यही मृत्यु को ठग लेना है (इस उपाय से मृत्यु भी जीता जा सकता है)।

परमं यदि वैराग्य माहारस्तु यथोदितः।
नित्यमेकान्तवासश्चे द्धठयोगो न दुर्लभः ॥३॥

यदि वैषयिक सुखों में (कव्वे की विष्ठा के समान) परम वैराग्य हो, शास्त्रोक्त विधि (पेट में दो भाग अन्न, एक भाग जल, चौथा भाग वायुसंचार के लिये छोड़ दे) से आहारविधि चलती हो, नित्य एकान्तवास रहता हो, तो हठयोग की सिद्धि दुर्भल नहीं है।

परन्तु गुरुदीक्षाभि र्लभ्यते नान्यथात्वयम्।
व्यतिक्रमे महान् दोषः क्रमलाभे महान्गुणः ॥४॥

यह हठयोग गुरुदीक्षा के बिना किसी को प्राप्त नहीं होता। (गुरु के न रहने पर) आहार विहार आदि का व्यतिक्रम होते ही कभी कभी मरणान्त कष्ट भी आ पड़ता है। क्रमपूर्वक करने से यह बड़ा गुण करता है।

अनन्तविस्तारमयो हठः प्रोक्तः पुरारिणा ।
सारं तु बन्धत्रितयं तावता सिद्धिराप्यते ॥५॥

त्रिपुर (स्थूल सूक्ष्म तथा कारण शरीररूपी त्रिपुर) के नाशक महादेव जी ने (इन ही त्रिपुरों के नष्ट करने के लिये) अनन्तविस्तारयुक्त हठयोग का वर्णन किया है। उसमें तीनों बन्ध सारभूत हैं इन से ही सिद्धि (मुक्ति या आकाशगमन आदि) प्राप्त हो जाती है ।

मूले तु मूलबन्धः स्यान्मध्ये स्यादुडियानकः ।
कण्ठे जालन्धरस्तेन सिद्धो भवति मारुतः ॥६॥

पहला मूलबन्ध मूलाधार में होता है, उड्डियानक बन्ध मध्य (स्वाधिष्ठानादि) में होता है । जालन्धर बन्ध विशुद्धिचक्रादि स्थान में होता है। इन तीनों बन्धों से वायु स्वाधीन हो जाता है।

कुण्डलिन्याः सुषुम्णायां प्रविष्टो ब्रह्मरन्ध्रतः ।
मूलस्थाने स्थिता शक्तिर्ब्रह्मस्थाने सदाशिवः ॥७॥

ऊपर के तीनों बन्धों से स्वाधीन हुआ वायु कुण्डलिनी में प्रवेश करने के पश्चात् सुषुम्ना नाडी में प्रवेश करके ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर जाता है । उस वायु के ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर हो जाने पर यह होता है कि मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी शक्ति तथा ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सदाशिव का समायोग होजाता है ।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
तस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥८॥

(श्वास प्रश्वास के साथ सदा स्वभावतः होने वाली) अजपा गायत्री (हंसः) के जप का यदि चिन्तन किया जाय तो यह गायत्री अभ्यासियों को संसार से मुक्त कर देती है। यह

प्राणी उस अजपा गायत्री के संकल्प मात्र से ही (रागद्वेषादि) समस्त पातकों से मुक्त हो जाता है।

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं तथैव च।
मणिपूरं तृतीयं स्याच्चतुर्थक मनाहतम् ॥९॥

मूलाधार (गुदस्थान में पृथिवी का) प्रथम चक्र है। स्वाधिष्ठान (मूत्राशय में जल का) दूसरा चक्र है। मणिपूरक (नाभि में अग्नि का) तीसरा चक्र है। अनाहत (वक्षःस्थल में वायु का) चतुर्थ चक्र है।

विशुद्धिः पंचमं चक्रमाज्ञाचक्रं तु षष्ठकम्।
सप्तमं ब्रह्मरन्ध्रं स्याद्भ्रमरस्य गुहा हि सा ॥१०॥

विशुद्धि (कण्ठ में आकाश का) पाँचवाँ चक्र है, आज्ञा-चक्र (भ्रुकुटी में प्रकाशस्वरूप) छटा चक्र है, सातवाँ चक्र ब्रह्मरन्ध्र है, उस को कहीं कहीं भ्रमर नामक परमात्मा की गुहा भी कहा गया है।

योनिस्थानक मङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव नियतं कृत्वा समं विग्रहम् ॥
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन्भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदनकरं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ ११ ॥

योनिस्थान के ऊपर एक पैर की एडी रक्खो, दूसरे (सीधे) पैर को खूब दबाकर योनि तथा गुदा की सीवन के बीच में रक्खो, फिर काया शिर तथा ग्रीवा को सम करके शरीर को तोल दो। बाह्य इन्द्रियों को बन्द करके ठूँठ के समान निश्चल हो जाओ, स्थिर दृष्टि से भ्रुकुटी के बीच में त्राटक करो, यही 'सिद्धासन' है। इसके सिद्ध होने से 'शिव शक्ति

समायोग' नामक मोक्ष के (मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक सातों चक्ररूपी) कपाट स्वतः ही खुल जाते हैं।

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वा तु सिद्धासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं ततश्चेतसि ।
वारं वारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सार्य सन्धारयन्
प्राणं मुंचति बोधयंश्च शनकैः शक्तिप्रबोधो भवेत् ॥१२॥

सिद्धासन को उक्त रीति से सिद्ध कर लेने के पश्चात् हाथों की मुट्ठी बाँध कर (पैरों पर रखकर) ठोडी को गले में नीचे छाती के ऊपर मध्य में रखकर उसे ज़ोर से दबाने के पश्चात् चित्त में ध्येय का ध्यान करके अधोदेश के अपान वायु को बार बार ऊपर को खेंचता हुआ कुण्डलिनी को शनैः शनैः जगाता हुआ प्राणवायु को धीरे धीरे छोड़ा करे। ऐसा करने से शक्ति का जागरण हो जायगा।

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तां प्रबोधयेत् सुधीः ।
निद्रां विहाय सा शक्ति रूर्ध्वमुत्तिष्ठते बलात् ॥१३॥

बुद्धिमान पुरुष (गुरु की बतायी विधि से) सोती हुई कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार में से संकल्प के द्वारा पकड़ कर जगा दे। (अर्थात् उसको संसार से विमुख कर दे) तब वह कुण्डलिनी शक्ति (निद्रा को छोड़कर बड़े वेग से) ऊपर (को मुँह करके ब्रह्मरन्ध्र) की तरफ़ चल पड़ती है।

ऊर्ध्वं निलीनप्राणस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ।
योगेन सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥१४॥

अभ्यास करते करते जब कि प्राण ऊपर (ब्रह्मरन्ध्र में) जाकर

विलीन होने लगता है, तब संसार के सब कार्य अपने आप ही छूटने लगते हैं, ऐसे पुरुष को (शिवशक्तिसमायोग नामके) योग के प्रभाव से (जीवन्मुक्तिरूप) स्वाभाविक अवस्था स्वतः ही प्राप्त होती है ।

ज्ञानं कुतो मनसि जीवति देवि यावत्
प्राणो न नश्यति मनो म्रियते न तावत् ।
प्राणो मनो द्वयमिदं प्रलयं प्रयाति
मोक्षं स गच्छति नरो न कदाचिदन्यः ॥१५॥

हे पार्वति ! मन के जीवित रहते हुए आत्मज्ञान कैसे हो सकता है । और हे देवि ! वह मन भी तो जब तक नष्ट नहीं हो सकता जब तक कि (जीवका उपाधि भूत, तथा मनकी चंचलता का कारण) प्राणवायु नष्ट न हो जाय, इसलिये हम तो इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्राण तथा (प्राण के जीवन का कारण) मन ये दोनों ही जिस योगाभ्यासी के नष्ट हो जाते हैं वही पुरुष मोक्ष (मोक्ष के साधनज्ञान) को प्राप्त होता है। जिसके तो ये मन और प्राण लय को प्राप्त नहीं हुए हैं वह तो कभी भी ज्ञान को नहीं पा सकता ।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरिदं पश्यन्नपश्यन्नपि ।
मुद्रेयं किल शाम्भवी भगवती या स्यात्प्रसादाद् गुरोः।
शून्याशून्यविलक्षणं मृगयते तत्त्वं पदं शाम्भवम् ॥१६॥

जब कि अन्दर (जीवब्रह्मैक्यरूपी या शिवशक्तिसमायोग रूपी) लक्ष्य में योगी के मन तथा प्राण दोनों विलीन हो जाते

हैं और जब कि वह अपनी निश्चेष्ट दृष्टि से बाहर को देखता हुआ भी न देखता हुआ सा हो जाता है (अर्थात् जब कि योगी की दृष्टि स्वभाव से ही लक्ष्यशून्य हो कर पदार्थों पर पड़ने लगती है) तब वह शाम्भवी मुद्रा कहाती है। यह मुद्रा किसी सद्गुरु की कृपा से प्राप्त हुआ करती है। इस मुद्रा के प्रभाव से योगी लोग सदसद्विलक्षण शिव के वास्तविक स्वरूप को ढूँढ किंवा शुद्ध कर लेते हैं।

प्राणवृत्तौ विलीनायां मनोवृत्ति र्विलीयते ।
शिवशक्तिसमायोगो हठयोगेन जायते ॥१७॥

इस हठयोग के कारण प्राणवृत्ति के विलीन हो जाने के अनन्तर मन का व्यापार भी बन्द हो जाता है, यों तब हठयोग से (मूलाधार स्थित) शक्ति तथा (ब्रह्मरन्ध्रस्थित) शिव की परस्पर एकता हो जाती है।

गोरक्षचर्पटिप्राया हठयोगप्रसादतः ।
वञ्चयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डं विचरन्ति हि ॥१८॥

इस ही हठयोग के साधन से गोरक्ष तथा चर्पटी आदि महात्मा काल के मृत्युरूप दण्ड से बच कर इसी ब्रह्माण्ड में, निर्भय होकर विचरण कर रहे हैं (जिसमें कि मृत्यु का ही अखण्ड साम्राज्य छा रहा है)।

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा, शक्तिं मानसमध्यगाम् ।
शिवशक्तिसमायोगं कुर्वन्ति हठयोगिनः ॥१९॥

हठयोगी पहले तो मन को शक्ति के अन्दर लगा देते हैं, प्रतिक्षण उसी का चिन्तन करते रहते हैं) फिर (अभ्यास के पक जाने पर तो) शक्ति को ही मन के अन्दर कर देते हैं (मन और

शक्ति की एकता को अनुभव करने लगते हैं) यों करते करते शिव और शक्ति का समायोग (अभेद) कर डालते हैं।

अथ शिवशक्तिपराक्रमः

अथ वक्ष्ये स्तुतिव्याजा च्छिवशक्तिपराक्रमम्।
शोधिते सूक्ष्मया दृष्ट्या यस्मिन्निर्विस्मयो भवेत् ॥१॥

हठयोग के निरूपण करने के पश्चात् अब प्रसङ्गवश स्तुति करने के मिष से परमात्मा की जगदुत्पादन शक्ति के चरित्र का वर्णन करूँगा। क्योंकि सूक्ष्म विचार से इस शिवशक्ति के पराक्रम को समझ लेने पर फिर इस विचित्राकार जगत् को देखकर भी आश्चर्य उत्पन्न नहीं होगा।

तां द्वैतरूपिणीमेव द्वैताद्वैतस्वरूपिणीम्।
अद्वैतरूपिणीं शक्तिं स्मरामि परमात्मनः ॥२॥

(लौकिक व्यवहार करते समय) जो द्वैत (जगद्रूपकार्य या सत्य) रूप से प्रतीत होती है (साधन काल में) जो द्वैताद्वैत रूप से प्रतीत होने लगती है, तथा जो कि (समाधि या मोक्ष अवस्था में) केवल अद्वैत (किं वा अखण्ड) रूप से ही भासने लगती है, परमात्मा की ऐसी उस अद्भुत शक्ति का चिन्तन करता हूँ।

केयं कस्य कुतः केन कस्मै कं प्रति कुत्र वा।
कथं कदेत्यनिर्णीता तां वन्दे शक्तिमद्भुताम् ॥३॥

यह कौन है ? किसकी है ? कहाँ से आयी है ? किसने की है ? किस उद्देश्य से की है ? कहाँ की है ? कैसे की है ? और कब की है ? यह कुछ भी निर्णय जिसके विषय में नहीं हो पाता, उस अद्भुत शक्ति की मैं केवल वन्दना ही करता हूँ।

आज तक के सम्पूर्ण विद्वानों की, शक्ति के रूप के निर्णय करने की इस पराधीनता को देखकर हमसे तो केवल यही करते बनता है कि हम मौन होकर उस अद्भुत आश्चर्यरूप शिवशक्ति को प्रणाम ही कर लें, और अपने मूक नमस्कारों की ऐसी झड़ी लगा दें कि जिससे वह अपने स्वरूप को हम पर प्रकट करने के लिये रीझ जाय।

शिवः कर्ता शिवो भोक्ता शिवोवेत्ता शिवः प्रभु।
उपसर्जनमात्रं या तां वन्दे शक्ति मद्भुताम् ॥४॥

(जगत् की उत्पत्ति आदि सब क्रियाओं का) कर्ता भी शिव है, (भोगों का) भोगनेवाला भी शिव है, ज्ञाता भी शिव है इस सब जगत् को नियम में रखनेवाला भी शिव है (क्योंकि बिचारी जडशक्ति में कर्तृत्व आदि धर्म नहीं रह सकते) जिस शक्ति की सहायता से उस असंग परमात्मा में ये सब कर्तृत्व आदि धर्म प्रतीत होने लगते हैं, जो शक्ति केवल निमित्तमात्र हो जाया करती है। ऐसी उस अद्भुत शक्ति को (जिसने कि निमित्तमात्र होकर भी अपने प्रभाव से असंग आत्मा को कर्ता बना डाला है) हम केवल वन्दन ही करते हैं।

स्वयं कर्त्री स्वयं भोक्त्री स्वयं वेत्री स्वयं प्रभुः।
साक्षिमात्रं शिवो यस्या स्तां वन्दे शक्ति मद्भुताम् ॥५॥

जो स्वयं करनेवाली, स्वयं भोगनेवाली, स्वयं जाननेवाली, और स्वयं ही परमेश्वरी बनी बैठी है, शिव तो जिसका केवल साक्षी ही हो रहा है, उस अद्भुत शक्ति को मैं प्रणाम निवेदन कर रहा हूँ।

स्वलक्षणे महादेवे स्वलक्षणतया स्थिताम् ।
वित्तां स्वलक्षणैरेव तां वन्दे शक्ति मद्भुताम् ॥६॥

स्वलक्षण (अर्थात् अपरिच्छिन्न स्वरूपवाले) महादेव में जो शक्ति , अपने अपरिच्छिन्न रूप से ही विद्यमान रहती है तथा साधकों से जो अपने ही (स्वरूपभूत अपरिच्छिन्न आदि) लक्षणों के द्वारा पहचानी जाती है उस अद्भुत शक्ति को हम प्रणाम करते हैं।

सलक्षणे महादेवे सलक्षणतया स्थिताम् ।
वित्तां सलक्षणैरेव तां वन्दे शक्ति मद्भुताम् ॥७॥

उपासकों के लिये साकार महादेव में साकाररूप से विद्यमान रहने वाली तथा साधक मुमुक्षुओं से अपने (शक्ति के) ही साकाररूप से पहचानी हुई उस अद्भुत शक्ति को हम प्रणाम करते हैं ।

विलक्षणे महादेवे विलक्षणतया स्थिताम् ।
वित्तां विलक्षणैरेव तां वन्दे शक्ति मद्भुताम् ॥८॥

विलक्षण अर्थात् निर्गुण महादेव में निर्गुणरूप से विद्यमान रहती हुई तथा मुमुक्षुओं से लक्षणों के विना ही (लक्षणवृत्ति से) पहचानी हुई उस अद्भुत शक्ति को हम प्रणाम करते हैं ।

अचेत्यचित्स्वरूपत्वा दचेतन इव स्थिते।
चैतन्ये चेतनाहेतुस्तां वन्दे शक्ति मद्भुताम् ॥९॥

कल्पना करो कि एक ऐसा चेतन है जो चेत्य पदार्थों से रहित है वह बिचारा अचेतन सा ही तो पड़ा होगा। अचेतन के समान पड़े हुए उस चेतन में चेतना को पैदा करने वाली उस अद्भुत शक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ ।

विषयों के प्रकाशन के विना आत्मा की स्थिति अचेतन लोष्ठ आदि के समान रहती है क्योंकि उस समय चिति से जानने योग्य कोई भी पदार्थ नहीं रहता, उस समय अचेतन के समान प्रतीत होते हुए उस आत्मा में जिस शक्ति के कारण विषयों को प्रकाश करने वाली चेतना उत्पन्न हो जाती है (जिस के कि होने पर संसारी लोगों को भी उस आत्मा के चेतन होने का निश्चय हो जाता है) उस विस्मयकारिणी शक्ति को हम केवल प्रणाम ही करते हैं।

चेतिता चेतनेनेति सविकल्पस्वरूपतः।
चैतन्ये चेतनाहेतु स्तां वन्दे शक्ति मद्भुताम् ॥१०॥

सविकल्प स्वरूप वाला चेतन ही उस शक्ति को प्रकाशित किया करता है, यों चैतन्य में चेतना आने का कारण जो शक्ति है उसे हम वन्दन करते हैं।

आत्मा का निर्विकल्पक स्वरूप तो किसी का भी प्रकाश करने में उपयोगी नहीं हो सकता, इसलिये वह शक्ति स्वयं सविकल्प स्वरूप चेतन से ही प्रकाशित होती है (उस शक्ति को प्रकाशित करने से प्रथम प्रकाशयितव्य पदार्थों के विद्यमान न होने से उस चेतन की अवस्था किसी शून्य घर में जलते हुए निष्फल प्रकाश-वाले दीपक की सी हुआ करती है। इसलिये उस समय वह आत्मा चेत्य पदार्थों से रहित चिन्मात्ररूपी ही रहता है) जो शक्ति उस चिन्मात्ररूप आत्मा में व्यावहारिक विषयों को प्रकाशित करने वाली चेतना को उत्पन्न कर देती है, उस आश्चर्यकारिणी शिवशक्ति को भक्तिनत होकर हम केवल प्रणाम ही किये लेते हैं।

शक्तिरेव न यस्यास्ति सोऽशक्तः किं करिष्यति ।
शक्त्या यया शिवः शक्तस्तां वन्दे शक्ति मद्भुताम् ॥११॥

जिस शिव के पास शक्ति ही नहीं है ऐसा अशक्त शिव कर ही क्या सकता है ? जिस शक्ति के सहारे से यह (असंगसुख-चित्स्वरूप) आत्मा अपने कार्यों को करने में समर्थ हुआ है उस अद्भुत शक्ति को केवल प्रणाम ही करते हैं ।

शक्ता नूनं हि कार्येषु शक्तिः शक्तिमति स्थिता ।
शिवाश्रयादृतेऽशक्ता तां वन्दे शक्ति मद्भुताम् ॥१२॥

जो शक्ति शक्तिवाले पदार्थ में रहकर ही अपने कार्यों के करने में समर्थ रहती है, शिवरूपी आश्रय को छोड़ते ही जो असमर्थ होकर क्षणभर में जगद्व्यापार को वन्द कर देती है (शिवकी अनन्यभक्त) उस शक्ति को प्रणाम करते हैं ।

शक्तिशक्तिमतो र्यस्मिन्निर्विकल्पे न वस्तुता ।
सामरस्यं शिवे याता तां वन्दे शक्ति मद्भुताम् ॥१३॥

निर्विकल्प आत्मस्वरूपके प्राप्त होते ही न तो कोई शक्ति रहती है तथा न कोई शक्तिमान् (अव्याकृत नामक शवल आत्मा) ही रहता है, जो उस निर्विकल्प अवस्था के आने पर शिव में समरसता (एकता) को प्राप्त हो जाती है, समरसता को प्राप्त हुई उस अद्भुत शक्ति को हम प्रणाम करते हैं ।

भाविते भावुकै रेवं शिवशक्तिपराक्रमे ।
स्वय मुल्लसति स्वान्ते सामरस्यरसार्णवः ॥१४॥

आत्मप्रेमी भावुक लोग जब इस प्रकार शिवशक्तिपराक्रम का विचार करेंगे तब उनके हृदय में स्वभाव से ही सामरस्य (अखण्डानन्द) का समुद्र उमड़ पड़ेगा ।

भक्ते भक्तिमयीं पशौ पशुमयीं विद्वत्सु विद्यामयीं।
सृष्टौ ब्रह्ममयीं स्थितौ हरिमयीं कल्पात्पुरश्चिन्मयीम्।
जीवे वृत्तिमयीं जडे जडमयीं शक्तिं शिवस्याद्भुतां
तां ध्यायामि पदे परात्परतरे स्वानन्दलीलामयीम्॥१५॥

भगवद्भक्त में भक्ति के रूप में निवास करनेवाली, मूढ पुरुष में अज्ञान रूप से रहने वाली, आत्मज्ञानियों में आत्मविद्यारूप में विद्यामान रहती हुई, जगदुत्पत्ति की क्रिया में ब्रह्माके रूप में प्रकट होने वाली, जगत् की स्थिति में हरि रूप को धारण करने वाली, जगदुत्पादन के संकल्प से प्रथम केवल चैतन्य स्वरूप में रहने वाली, जीव में उन उन विषयों की वासना के रूप में विद्यमान रहती हुई, जड काष्ठादि में घोराज्ञानरूप में दृष्टिगोचर होने वाली, शिव की उस अद्भुत शक्ति के इन संसारी रूपों का ध्यान कर चुकने पर अब मैं उस अद्भुत शक्ति को ध्यान में लाता हूँ, जो कि शक्ति अव्याकृत से परे जो कि अधिष्ठानचैतन्य बताया जाता है उससे भी परे जो कि शुद्ध निर्विकार परमपद है उस परमपद में पहुँच कर अपनी आनन्दलीला करने लगती है।

आनन्दानपि संविहाय विषयानन्दानमन्दादरा-
दादानार्थिभि रर्थितानपि जडैरानन्दलेशानमून्।
आनन्दोपनिषत्प्रमाणपठिता मानन्दसीमाशिखा-
मानन्दामृतवाहिनीं भगवती मानन्दरूपां भजे॥१६॥

ग्रहणार्थी मूर्ख पामर लोग जिन्हें चाहा करते हैं, जो पूर्णानन्द के अति तुच्छ कण हैं ऐसे इन विषयानन्द नाम के सम्पूर्ण आनन्दों को बड़ी लापरवाही से छोड़ कर ब्रह्मानन्द के स्वरूप को बताने वाली उपनिषत् में वर्णित, आनन्द की सीमा की पर-

मावधि बनी हुई आनन्द रूप में तन्मय हुई उस भगवती शक्ति का ही भजन करता हूँ।

अथ लययोगः

चंचलं हि न जानाति मनो निश्चलतासुखम्।
तद्विचिन्तयितुं तस्मै मुनिभि र्दर्शितो लयः ॥१॥

इस बिचारे चंचल मन को निश्चलता के सुख का अभी तक कुछ ज्ञान ही नहीं है। उसी निश्चलता को अनुभव कराने के लिये मुनि लोगों ने लययोग का प्रतिपादन किया है।

आख्याताः शम्भुना गौर्यै ह्यसंख्याता लयक्रमाः।
केन ज्ञेयाः केन वर्ण्याः किञ्चित्तु कथयाम्यहम् ॥२॥

शिव महाराज ने पार्वती को लययोग के अनगिनत उपाय बताये हैं, हम स्वल्पवीर्यबुद्धि वाले पुरुष उन सब को न तो जान ही सकते हैं और न वर्णन ही कर सकते हैं, मैं तो उन में से कुछ एक का वर्णन करूँगा।

निद्रादौ जागरस्यान्ते, निद्रान्ते जागरोदये।
लयो भवति चित्तस्य कार्यं तत्रात्मचिन्तनम् ॥३॥

जब कि जागरण समाप्त होता और निद्रा प्रारम्भ होती है या निद्रा समाप्त होकर जब जाग्रत अवस्था प्रारम्भ होती है तब चित्त का लय (नाश) हुआ करता है, तब आत्मा का चिन्तन करना चाहिये। उस समय यह बार बार चिन्तन करना चाहिये, कि यह जो इस समय मेरी निर्मनस्क अवस्था है यही आत्मा की स्वाभाविक स्थिति है क्योंकि आत्मा स्वयं निर्व्यापार है वह तो चित्त के अध्यास के कारण ही सदा व्यापार वाला सा प्रतीत होता है)।

यदा शिथिलतां याति भारं त्यक्त्वेव भारिकः।
आत्मादरेण कर्तव्यं तदैव शिवपूजनम् ॥४॥

सिर के बोझे को उतार कर जैसे बोझा ढोनेवाला हल्का हो जाता है, इसी प्रकार संसार के व्यवहाररूपी बोझे को छोड़ कर जब आत्मा संसार की तरफ़ से शिथिल या उदासीन हो जाय, तब बड़े प्रेम से आत्मा का ध्यान करना चाहिये।

यदा यदा शिथिलतां याति चित्तं तदा तदा।
चिन्तनीयो महेशान स्तदेव शिवपूजनम् ॥ ५ ॥

अकस्मात् भी जिस जिस समय तुम्हारा चित्त शिथिल हो (जब जब चित्त में संसार से घृणा होने लगे) उसी समय परमेश्वर का चिन्तन करना चाहिये, इसी को 'शिवपूजा' या 'आत्मचिन्तन' कहा है।

सर्वेष्टानिष्टभावाना मिष्टत्वेनैव भावनात्।
नीरागद्वेषता चित्ते या सैव शिव पूजनम् ॥६॥

संसार के सम्पूर्ण इष्टानिष्ट पदार्थों को केवल इष्टरूप समझने से जो रागद्वेषराहित्य की अवस्था का उदय होता है उसे ही सुखरूप 'आत्मा की पूजा' समझनी चाहिये।

पीडैव परमा पूजा यथा चरणपीडनम्।
दुःखमेव परा पूजा रूक्षमुद्वर्तनं यथा ॥७॥

जिस प्रकार चरणसंवाहन (पैर दबाना) देखने में कुछ कष्टकारक होता हुआ भी परिणाम में सुखकारक होता है, इसी प्रकार पीडा को ही श्रेष्ठ पूजा समझना चाहिये (क्योंकि भोग द्वारा नष्ट होती हुई पीडा पुण्य करने के विचार को उत्पन्न किया करती है उस से मनुष्य की पुण्य कार्यों में प्रवृत्ति होती है

और सुख मिल जाता है। जब कि भोग द्वारा वह पीडा नष्ट हो चुकती है तब तो सुखरूप हो ही जाती है इस प्रकार ऐसे सुखदायक [पीडारूपी] मित्र से कभी भी घबराना उचित नहीं प्रत्युत ऐसे दुःखों का स्वागत करना चाहिये) जिस प्रकार कि आमले या चने आदि के चून से शरीर का उबटन किया जाता है वह देखने में दुःखरूप है परन्तु उससे शरीर का मैल दूर होता है और कान्ति बढ़ती है इसी प्रकार दुःख से भी पापरूपी मल भोग द्वारा निवृत्त होकर अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, यों सुख का कारण तथा स्वयं सुखस्वरूप सिद्ध होने से दुःख को भी 'आत्मपूजा' ही समझना चाहिये।

खेद एव परा पूजा खेदे चिति मनोलयः।
भयं हि परमा पूजा भीषास्मादिति च श्रुतेः ॥८॥

खेद भी 'आत्मपूजन' ही है क्योंकि खेद के समय हमारा मन चैतन्य में लीन हो जाता है। भय भी 'आत्मपूजन' ही है क्योंकि श्रुति ने भय का कारण आत्मा को ही बताया है।

जब किसी कार्य को करते करते हमारे चित्त में खेद भय किंवा विकलता उत्पन्न हो जाय और हम सहसा उस काम से ऊब उठें उस समय हम निर्विकल्प स्थिति में गये होते हैं। तब हमको आत्मचिन्तन करना चाहिये। क्योंकि ये भयादि तो हमको उस कुमार्ग से हटाने के लिये अन्तर्यामी की प्रेरणा है। जब कि हम इस खेद या भय के कारण को ढूँढने लगते हैं तब हम उस खेदकारक और भयदायक आत्मा तक पहुँच जाते हैं। इसलिये खेद किंवा भय को 'आत्मपूजन' ही समझना चाहिये। खेद या भय के आते ही हमारा मन चेतना में

लीन हो जाता है उस निर्विकल्प अवस्था में हम कुछ भी नहीं सोच पाते। मूर्ख लोग उस समय किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं। परन्तु बुद्धिमान पुरुषों को इसका रहस्य आत्मरूप में प्रकट हो जाना चाहिये। बुद्धिमान लोग उस समय सब काम छोड़कर 'आत्मपूजन' करने के लिये उद्यत हों।

दानं तु परमा पूजा दीयते परमात्मने।
अदानं परमा पूजा यदि चित्त प्रसीदति ॥९॥

(दान से अन्तःकरण की शुद्धि होती है, तथा आत्मा प्रसन्न हो जाता है अतः) दान भी आत्मदेव की पूजा ही है क्योंकि जो कुछ भी किसी को दिया जाता है वह साक्षात् परमात्मा को ही दिया जाता है। (यह तो भ्रान्त विचार है कि हम किसी दूसरे को देते हैं, असल में तो हम अपने आपको ही देते हैं, यदि उस समय हम किसी को न दें, तो हमारे अन्दर बेचैनी हो जाती है, जिससे देने पर ही छुटकारा होता है, यों हम आत्मा को ही देते हैं। आत्मा को देने का एक यह भी कारण है कि उससे पृथक् तो अन्य कोई दान को देने किंवा ग्रहण करनेवाला ही इस संसार में नहीं होता। यों जब अपने कर्तृत्त्व की बाधा कर दी जायगी तथा प्रतिग्रहीता का भी कहीं पता न चलेगा तो ऐसा सात्विक दान साक्षात् परमात्मा तक पहुँचकर 'आत्मपूजन' हो जायगा) इसी प्रकार यदि किसी अनधिकारी को दान न देने से ही तुम्हारे अन्तःकरण में प्रसन्नता का अनुभव होता हो तो तुम उस अदान को भी आत्मपूजन ही समझ लो।

रोगा एव परा पूजा रोगैः पापक्षयो यतः।
आरोग्यं परमा पूजा नैरोग्यं मुक्तिसाधनम् ॥१०॥

जब हमारे शरीर में कोई रोग हो जाता है तो उससे (भोग के द्वारा) हमारे पापों का क्षय हो जाता है इसलिये रोग भी 'आत्मपूजन' ही है (संसार के लोग रोगी हो जाने पर ही परमात्मा को याद किया करते हैं) इसी प्रकार आरोग्य को भी 'परमपूजन' ही समझना चाहिये। क्योंकि नीरोग शरीर से ही मुक्ति के (श्रवणमननादि) साधनों का उपार्जन होता है।

क्रिया तु परमा पूजा शिवार्थं क्रियतेऽखिलम्।
अक्रियैव परा पूजा निश्चला ध्यानरूपिणी ॥११॥

क्रिया को भी 'परमपूजा' ही समझना चाहिये क्योंकि जो भी कुछ किया जाता है वह सब अपने आत्मशिव की तृप्ति के लिये ही किया जाता है (इसी अभिप्राय से बृहदारण्यक में कहा गया है कि 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इस आत्मशिव की इच्छा का साधन होने से ही सब कुछ प्रिय हो जाता है। वृद्ध लोगों ने भी कहा है कि—'यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्' हे शम्भो! मैं जो भी कुछ करता हूँ वह सभी कुछ तुम्हारा आराधन ही तो है) यदि क्रियाओं को त्याग दिया जाय और निश्चल ध्यानावस्था का उदय हो जाय तो वह भी 'आत्मपूजन' ही है (क्योंकि उस क्रियात्याग में आत्मस्थिति को भंग करने वाली चंचलता नहीं होती। इसी कारण से वह क्रियात्याग भी चिन्तनरूप हो जाता है)।

सत्संगः परमा पूजा सत्संगो मोक्षसाधनम्।
असत्संगः परा पूजा यत्र मोहः परीक्ष्यते ॥१२॥

सत् अर्थात् जीवन्मुक्त लोगों का संग करना भी 'आत्मपूजन' ही है क्योंकि उससे मोक्ष मार्गों का ज्ञान हो जाता है। इसी

प्रकार असत्संग को भी 'आत्मपूजा' ही समझना चाहिये क्योंकि वहाँ अपने शेष रहे अज्ञान की परीक्षा हो जाती है। (जब वे लोग अपने साथ कोई बुरा बर्ताव करते हैं तब यदि हममें कुछ अज्ञान शेष रहा होता है तो हम भी उनकी तरह कटुभाषणादि व्यवहार करने पर उतारू हो जाते हैं, इस प्रकार हमारे मोह की परीक्षा हो जाती है)।

धैर्यं तु परमा पूजा धीरो ह्यमृतमश्नुते।
अधैर्यं परमा पूजा शीघ्रं कार्यविमोक्षतः ॥१३॥

(सुख दुःखों से क्षुब्ध न होने वाला) धीर पुरुष ही मोक्ष पाता है इस लिये धैर्य भी 'आत्मपूजन' ही है। इसी प्रकार अधैर्य भी आत्मपूजन हो जाता है क्योंकि (संसार के कामों से घबराकर जब कोई अधिकारी अधीरता से झटपट सब कामों को टूटा फूटा समाप्त करके किंवा अधूरा ही छोड़कर श्रवणादि उपाय कर लेता है तो) उससे शीघ्र ही सब कामों से छुट्टी मिल जाती है, और उसे आत्मदर्शन हो जाता है।

स्तुतिरेव परा पूजा स्तुतौ देवः प्रसीदति।
निन्दैव परमा पूजा सुहृदां गालयो यथा ॥१४॥

आत्मस्तुति को भी आत्मपूजन ही समझना चाहिये क्योंकि अपनी बड़ाई सुनकर सब का ही देव (आत्मा) प्रसन्न हो जाता (किंवा निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त कर लेता) है। इसी प्रकार आत्मनिन्दा को भी (अपनी भावना के बल से) 'आत्म-पूजन' ही समझना चाहिये। (जैसे कि लोक में अपने श्याल आदि सम्बन्धियों की दुःखदायक गालियों को भी लोग सुख-दायक समझने लगते हैं इसी प्रकार भावना से निन्दा भी सुख-दायक हो सकती है)।

तृष्णैव परमा पूजा देवार्थं बहु कांक्षते ।
सन्तोषः परमा पूजा देवः सन्तोषलक्षणः ॥१५॥

विषयतृष्णा को भी 'आत्मपूजन' ही समझना चाहिये क्योंकि विषयी मनुष्य भी तो अपने आत्मदेव (को ही किसी न किसी प्रकार तृप्त करने) के लिये तृष्णा के आवर्त में फँसा है। इसी प्रकार सन्तोष भी 'आत्मपूजन' ही है क्योंकि वितृष्णता किंवा सन्तोष ही आत्मदेव का सच्चा स्वरूप कहा जाता है।

यात्रा हि परमा पूजा देवस्यैतत्प्रदक्षिणम् ।
आसनं परमा पूजा स्वासनं योग उत्तमः ॥१६॥

(आत्मा सर्वव्यापक है इसलिये) अपने चलने को भगवान् की प्रदक्षिणा समझ कर 'आत्मपूजन' समझो। अपने आसन अर्थात् बैठे रहने को भी 'आत्मपूजन' ही समझो क्योंकि स्वरूप में आसन लगा देना ही तो उत्तम 'योग' कहाता है।

भोजनं परमा पूजा देवनैवेद्यरूपतः ।
अभोजनं परा पूजा ह्युपवासप्रियो हरिः ॥१७॥

आत्मदेव का नैवेद्य होने से भोजन भी 'परमपूजा' ही है और अभोजन भी 'परा पूजा' ही है क्योंकि हरि को उपवास प्यारा है।

यह हमारा आत्मदेव ही एक सत्य अग्नि है उसमें हम सदा भोजनरूपी नैवेद्य का होम किया करते हैं, ऐसी भावना से भोजन को भी 'आत्मपूजन' ही समझना चाहिये। इसी प्रकार अभोजन किंवा उपवास भी 'आत्मपूजन' ही है क्योंकि संसार में भोजन की इतनी विपुल सामग्री उत्पन्न करके भी इस आत्महरि ने किसी पदार्थ का भोजन न करने का ही दृढ निश्चय कर

रक्खा है। वह अनादिकाल से लेकर अनन्त काल तक के लिये उपवास किये बैठा है सदा ही उपवास में रहने का उस आत्म-देव का स्वभाव हो गया है ।

स्थितत्वं परमा पूजा तदुपस्थानमात्मनः ।
पतनं परमा पूजा नमस्कारस्वरूपिणी ॥१८॥

स्थिति भी परमात्मा का उपस्थान रूप होने से 'आत्मपूजन' ही है (जब हम चलते चलते थक कर कुछ काल के लिये स्थित हो जाते हैं तथा कुछ काल के लिये निर्विकल्प दशा में पहुँचते हैं तो उस समय हम निश्चल परमात्मा के समीप हो जाते हैं ऐसी भावना को नमस्कार समझ कर उसे भी 'आत्मपूजन' ही समझ लेना चाहिये) पतन अर्थात् कहीं गिर पड़ना भी 'आत्मा की पूजा' ही है क्योंकि पतन तो एक प्रकार का नमस्कार है ।

भाषणं परमा पूजा सर्वं स्तुतिमयं हरेः ।
मौनं तु परमा पूजा मौनं व्याख्यानमस्य तत् ॥१९॥

भाषण अर्थात् कुछ भी बोलना आत्मा की 'परमपूजा' है (जिससे आत्मा सन्तुष्ट हो वही आत्मा की स्तुति है संसार के लोग गाली आदि तक देकर भी अपने आत्मदेव को सन्तुष्ट किया करते हैं इसलिये) तत्त्व विचार करने पर इस जगत् का सम्पूर्ण वाग्व्यवहार आत्महरि का पूजन ही है। मौन भी आत्मा का पूजन ही है क्योंकि मौन ही आत्मा का सम्पूर्ण व्याख्यान है (आत्मरूपी बालक को यदि कभी उत्पन्न हुआ माना जाय और उसका नामकरण किया जाय तो मौन ही इस आत्मा का राशिनाम होता है। श्रुति में भी कहा है 'यतो वाचो निवर्तन्ते' जहाँ से वाणी और मन, उसका वर्णन करने में असमर्थ होने

के कारण चुपचाप लौट आते हैं अर्थात् वर्णन करने का असामर्थ्य ही आत्मदर्शन का शुभ लक्षण होता है। इसीलिये श्रुति ने उसे निषेध मुख से 'नेति नेति' करके वर्णन किया है)।

चेष्टैव परमा पूजा चेष्टते तत्प्रकाशतः।
अचेष्टा हि परा पूजा जोषमास्वेति वेदवाक्॥२०॥

मन बुद्धि तथा इन्द्रिय आदि की ये सब चेष्टायें उस प्रकाशस्वरूप आत्मा की कृपा से ही हो रही हैं। इस प्रकार ये सब चेष्टायें 'आत्म देव की एक प्रकार की पूजा' ही हैं। इसी प्रकार चुपचाप निर्व्यापार होकर बैठे रहना भी 'आत्मपूजा' ही है क्योंकि वेद में आत्म-दर्शन के लिये चुप रहने का विधान है।

जन्मैव परमा पूजा सोऽवतारो हरेः सतः।
जीवनं परमा पूजा जीवन्कार्याणि साधयेत्॥२१॥

जन्म भी 'आत्मपूजन' ही है वह जन्म हरि की एक विभूति है (क्योंकि जन्म के बिना उस निराकार का पूजन ही कैसे होता) इस प्रकार पूजोपयोगी होने से यह जन्म भी 'आत्मपूजन' है। इसी प्रकार जीवन भी 'आत्मपूजन' ही कहाता है क्योंकि जीवन काल में ही (आत्म-दर्शन के लिये श्रवण आदि) कार्य किये जा सकते हैं।

दीर्घायुः परमा पूजा योगिनो दीर्घजीविनः।
स्वल्पायुः परमा पूजा सद्यो ह्यस्माद्विमुच्यते॥२२॥

दीर्घजीवन भी (श्रवण आदि का उपयोगी होने से) 'आत्मपूजन' ही है, योगी लोग दीर्घजीवी होते हैं। इसी प्रकार थोड़ी आयु भी 'आत्मपूजन' ही है क्योंकि प्रारब्ध के समाप्त होजाने पर वह इस संसारदुःख से शीघ्र ही छूट जाता है।

मरणं परमा पूजा निर्माल्यत्यागरूपिणी ।
शोको हि परमा पूजा शोको वैराग्यसाधनम् ॥२३॥

(जब किसी देवप्रतिमा का पूजन करते हैं तब पहले दिन की पुष्पादि पूजासामग्री उस पर से हटा देते हैं वही निर्माल्यत्याग कहाता है, उसी प्रकार) आत्मदेव को नया दूसरा देह देने के लिये इस पुराने देह का त्याग कर रहा हूँ ऐसा समझ कर यदि किसी का मरण हो तब तो वह 'आत्मपूजन' ही है। यदि मरते समय शोक होता हो तो उसे भी 'आत्मपूजन' ही समझना चाहिये क्योंकि (उस समय विषयों की अस्थिरता और उन के साथ अपने सम्बन्ध की क्षणिकता से सभी के मन में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है इस प्रकार) वैराग्य का कारण होने से शोक भी आत्मपूजन ही है ।

हर्ष एव परा पूजा हृष्टरूपः सदा हरिः ।
पुष्टिस्तु परमा पूजा स्वस्थचित्तो हि पुष्टिमान् ॥२४॥

परमात्मा हरि सदा ही हृष्टरूप (सुखरूप) रहते हैं इस प्रकार देव का स्वरूप होने से हर्ष (आनन्द) भी आत्मदेव का पूजन ही कहाता है (तात्पर्य यह है कि किसी विषय के मिल जाने पर यदि तुम कुछ काल के लिये प्रसन्न होते हो तो उस प्रसन्नता का गुप्त कारण तुम्हारा कुछ काल के लिये निर्विकल्प स्थिति में पहुँच जाना ही होता है, इस प्रकार वह हर्ष भी 'आत्मपूजन' ही कहाता है) पुष्टि (स्वस्थता) भी 'आत्मा का पूजन' ही है क्योंकि स्वस्थ मनुष्य ही प्रसन्न चित्त रहते हैं ।

कृशत्वं परमा पूजा कृशगात्रा हि योगिनः ।
लाभ एव परा पूजा लाभः सन्तोषकारणम् ॥२५॥

योगी लोग दुबले पतले हुआ करते हैं इस प्रकार गात्र की कृशता भी (योग का साधन होने से) 'आत्मदेव का पूजन' कहाता है । लाभ होने से सन्तोष किंवा तृप्ति हो जाती है (जो कि विचार करने पर आत्मा की सहजावस्था ही है) इससे लाभ को भी 'आत्मदेव का पूजन' ही समझना चाहिये ।

हानिरेव परा पूजा तस्मादेव विमुच्यते ।
गुणा एव परा पूजा साधूनां संमतो गुणी ॥२६॥

(जब किसी को किसी व्यापार से हानि होती है तब वह उस व्यापार को छोड़ देता है अथवा किसी पदार्थ की हानि हो जाने पर उस पदार्थ की रक्षा आदि से मुक्ति मिल जाती और उस का आत्मा स्वस्थ रहने लगता है इस प्रकार) हानि भी 'आत्म पूजन' ही है क्योंकि उससे उसे छुट्टी मिल जाती है सज्जन लोग गुणी पुरुष का मान करते हैं (जिस से उस गुणी का आत्मा प्रसन्न होता है) इसलिये विद्या आदि गुणों का उपार्जन करना भी एक तरह का 'आत्मपूजन' ही है ।

दोषा एव परा पूजा निरहंकारता यतः ।
मान एव परा पूजा मान्यते परमेश्वरः ॥२७॥

(लोक में जब किसी पर कोई लाञ्छन लगा दिया जाता है तब उसका अहंकार [घमण्ड] दब जाता है इस प्रकार) अहंकार को दबाने के कारण दोष भी 'आत्मपूजन' ही होजाता है। सब लोग परमात्मा का ही मान करते हैं (लोक में और भी जिस किसी का मान किया जाता है तब उसका कारण यह होता है कि उस में परमात्मा के किसी माननीय गुण का विकास हो रहा है) इस प्रकार मान भी 'आत्मपूजन' ही है। (जब किसी का मान

हो तब उसे आत्मदेव का पूजन समझ कर निरहंकार हो जाना चाहिये। उस मान को अपने पास न रख कर परमात्मा तक पहुँचा देना चाहिये। उस समय मूर्खों की तरह अकड़ में आना कदापि ठीक नहीं होता)।

अपमानः परा पूजा योगी सिद्ध्ये दमानतः।
धनं हि परमा पूजा धनं धर्मस्य साधनम् ॥२८॥

(सत्कार पाया हुआ योगी दुही हुई गाय की तरह निकम्मा हो जाता है) योगी लोग अनादर पा कर ही योग सिद्धि को पाते हैं (अन्यथा आदर में फँसने से शिष्यपंक्ति की चिन्ता में पड़ कर योगभ्रष्ट हो जाते हैं) इसलिये (आत्मप्राप्ति का साधन होने से) अपमान 'आत्मपूजन' ही समझना चाहिये। धन धर्म का साधन होता है इस प्रकार धन होना भी 'आत्मपूजन' ही है। (अर्थात् धनी होना भी आत्मदर्शन में बाधक नहीं होता।)

निर्धनत्त्वं परा पूजा ब्रह्म प्राप्तमकिञ्चनैः।
अप्रमादः परा पूजा अप्रमत्तो हि सिद्ध्यति ॥२९॥

निर्धन (अर्थात् जिन लोगों ने संसार के सब धन धान्य आदि का परित्याग कर दिया है वे) लोग ही भूमानन्द ब्रह्म को प्राप्त हुए हैं इस प्रकार जिस निर्धनता से ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है वह भी तो 'आत्मदेव का पूजन' ही है। जो लोग कभी प्रमाद नहीं करते वे ही अपने कार्य को सिद्ध किया करते हैं इस लिये अप्रमाद (आत्मदेव को सदा स्मरण रखना) भी 'आत्मपूजन' ही है (क्योंकि उसीसे अधिकारी को आत्मदर्शन प्राप्त हो सकता है)

प्रमादः परमा पूजा कर्तव्यं विस्मरेद्यतः।
सुषुप्तिः परमा पूजा समाधिर्योगिनां हि सः ॥३०॥

जिस प्रमाद के होने पर अपने कर्तव्यों से विमुखता उत्पन्न हो जाय ऐसा प्रमाद भी (आत्मदर्शन का साधन होने से) 'आत्मपूजन' ही कहाता है, योगी लोग जब निर्विकल्प समाधि में रहते हैं तब उनकी अवस्था सुषुप्ति की सी रहती है संसारी लोग सुषुप्ति के दृष्टान्त से ही उस अवस्था को कुछ कुछ जान सकते हैं इस प्रकार (आत्मदेव की स्वाभाविक अवस्था का अनुमान करा सकने से) सुषुप्ति भी 'आत्मपूजन' ही है।

कर्मयोगः परा पूजा कर्म ब्रह्मार्पणं हरौ।
भक्तियोगः परा पूजा यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥३१॥

जब हम अपने सम्पूर्ण कर्मों को ("नान्योतोस्ति द्रष्टा" के अनुसार) अखण्ड एक रस आत्मरूप में बाधित कर देते हैं किंवा आत्मा से पृथक् कुछ भी न होने से ब्रह्मार्पण कर देते हैं तब हमारा वह 'कर्मयोग' भी आत्मदेव का पूजन हो जाता है। गीता में कहा है जो मेरा भक्त है वही मुझे प्रिय है इसलिये भक्तियोग भी 'आत्मपूजन' ही है।

ज्ञानयोगः परा पूजा ज्ञाना त्कैवल्यमश्नुते।
तुरीयं परमा पूजा साक्षात्कारस्वरूपिणी ॥३२॥

ज्ञान से कैवल्य पद प्राप्त हो जाता है इसलिये ज्ञानयोग (ज्ञानरूपी योग) आत्मदेव का श्रेष्ठ पूजन है। तुरीयावस्था तो आत्मा का साक्षात्कार ही है इसलिये वह भी 'आत्मा की परम पूजा कहाती है।

श्रवणं परमा पूजा श्रूयते परमेश्वरः।
मननं परमा पूजा मननं ध्यानसाधनम् ॥३३॥

श्रवण में परमात्मा ही श्रवण का लक्ष्य रहता है इसलिये

श्रवण को भी 'परम पूजन' ही माना है। श्रवण करने के पश्चात् उसी पदार्थ की युक्ति के कारण संभावना करना 'मनन' कहाता है वह मनन भी ध्यान (विजातीय विचारों से रहित एकजातीय विचारों की धारा को 'ध्यान' कहते हैं) का साधन होने से 'आत्मपूजन' ही है।

मद्गुरोः सदृशः कश्चिद्गुरुः कर्णेलगेद्यदि।
सर्वमेव तदा पूजा देवस्य लयरूपिणी ॥३४॥

यदि मेरे गुरु जैसा कोई गुरु किसी के कान को लग जाय तो संसार की सभी खटपट 'आत्मदेव की लयरूप पूजा' ही हो जाय। तब संसार का खाना पीना, सोना, उठना, जागना, बोलना, आत्मविचार करना या कामादि षड्वर्ग के वशीभूत होना, मेरु के समान सम्पत्ति इकट्ठा करना, यह सब कुछ उसी अखण्डानन्दैक-रस परमात्मा में समतारूप लय को प्राप्त हो जाते हैं और यह सब उसकी पूजा ही हो जाती है।

लयानामपि सर्वेषां विश्वविस्मृतिहेतुतः।
श्रेष्ठं नादानुसन्धानं नादो हि परमो लयः ॥३५॥

जितने भी लय के साधन बताये गये हैं उन सब में संसार को भुला देने वाला होने से अनाहत नाद का श्रवण करना सब से श्रेष्ठ साधन है (जब संसार के मधुर गायन [या वाद्यों] को सुनने वाले मनुष्य भी खाने पीने, सोने आदि तक को भूल जाते हैं) तब नादश्रवण से संसार के विस्मरण में आश्चर्य ही क्या है।

मकरन्दं पिबन्भृङ्गो यथा गन्धं न कांक्षति।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नाभिकांक्षति ॥३६॥

जिस प्रकार पुष्प के मधु का पान करता हुआ भौंरा (उसी

पुष्प के) गंध की कुछ भी परवाह नहीं करता इसी प्रकार संसार के बाजों में या अनाहत नाद में आसक्त पुरुष भी फिर उस नाद के अतिरिक्त किसी विषय की भी परवा नहीं करता।

अथ भक्तिरसायनम्

अथ सिद्धान्तसर्वस्वं शृणु भक्तिरसायनम् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिभेषजं तद्रसायनम् ॥१॥

हे शिष्य सम्पूर्ण सिद्धान्तों के निष्कर्ष (निचोड़) 'भक्ति-रसायन' नामक इस प्रकरण को सुन लो। यह भक्तिरूपी साधन जन्म मृत्यु जरा तथा रोग आदि विकारों को निवृत्त करनेवाली एक महौषधि है।

धर्मार्थकाममोक्षाणां ज्ञानवैराग्ययोरपि ।
अन्तःकरणशुद्धेश्च भक्तिः परमसाधनम् ॥२॥

धर्म अर्थ काम मोक्ष ज्ञान वैराग्य तथा अन्तःकरण की शुद्धि का श्रेष्ठ साधन 'भक्ति' ही है।

ययात्र रक्त्या जीवोऽयं दधाति ब्रह्मरूपताम् ।
साधिता सनकाद्यैः सा भक्तिरित्यभिधीयते ॥३॥

जिस राग रूप वृत्ति के कारण यह जीव (अपने कल्पित जैव रूप को छोड़ कर अपनी स्वाभाविक) ब्रह्मरूपता को धारण कर लेता है जिसको सनक सनन्दादि ने सिद्ध किया है वही 'भक्ति' कहाती है।

सर्वा साधनसंपत्तिरस्ति भक्तिस्तु नास्ति चेत् ।
तर्हि साधनसंपात स्तुषकण्डणवद्वृथा ॥४॥

प्रेमलक्षण भक्ति के विना मोक्ष के कारण नित्यानित्यवस्तु

विवेक आदि सकल साधनों का उपार्जन करना तो चावलों की भूसी को मूसल से कूटने के सामान निष्फल है।

यद्यन्यत् साधनं नास्ति भक्तिरस्ति महेश्वरे।
तदा क्रमेण सिध्यन्ति विरक्तिज्ञानमुक्तयः ॥५॥

अगर तुम में महेश्वर के लिये केवल भक्ति ही विद्यमान हो फिर चाहे अन्य साधन न भी हों तो भी क्रम से वैराग्य ज्ञान तथा मोक्ष ये तीनों सिद्ध हो ही जायँगे।

नहि कश्चिद्भवे न्मुक्त ईश्वरानुग्रहं विना।
ईश्वरानुग्रहादेव मुक्तिरित्येष निश्चयः ॥६॥

ईश्वर के अनुग्रह के बिना इस अपार संसार को कोई पार नहीं कर सकता। ईश्वर के अनुग्रह से (दैशिक [आचार्य] के मिलने पर) ही मुक्ति होती है।

ईश्वरः परिपूर्णत्वान्न तु किंचिदपेक्षते।
प्रीत्यैवाशु प्रसन्नः सन् परं कुर्यादनुग्रहम् ॥७॥

परिपूर्ण (और आप्तकाम) होने से ईश्वर किसी वस्तु की भी अपेक्षा नहीं करता, वह तो केवल प्रीति से ही शीघ्र प्रसन्न होकर महान् अनुग्रह करता है।

यज्ञादि करने वालों की भी प्रेमवृत्ति को बिना देखे वह अनुग्रह नहीं करता तथा उनको सांसारिक फल देकर टाल भी देता है। परन्तु यदि केवल शुद्ध भक्ति ही हो तब तो उस को ज्ञान की प्राप्ति का कारण परम अनुग्रह करना ही पड़ता है जिससे उस भक्त को सद्गुरु की भेंट होकर मोक्ष का मार्ग ज्ञात हो जाता है।

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥८॥

अज्ञानी लोग सांसारिक स्त्री पुत्रादि भोगों में जिस अव्यभिचारिणी (कभी न टलने वाली) भक्ति को बड़े परिश्रम से और जिस प्रकार बनाये रखते हैं, उस ही वृत्ति और उस ही प्रेम (लगन) से सदा तेरा ही चिन्तन करते हुये मेरे हृदयभवन में तेरी वही अव्यभिचारिणी भक्ति सदा बनी रहे ।

(पिछले आधे का दूसरा अर्थ) अथवा हे माप ! हे लक्ष्मी पते ! तेरा स्मरण करते हुए वैसी विषयभक्ति मेरे हृदयभवन को तुम्हारे निवास के लिये सूना करके चली जाय ।

तथा च शाण्डिल्यं सूत्रं 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' । इति

शाण्डिल्य मुनि कहते हैं कि परब्रह्म में जो निरतिशय प्रेम है वही भक्ति है ।

परमात्मनि विश्वेशे भक्तिश्चेत्प्रेमलक्षणा ।
सर्वमेव तदा सिद्धं कर्तव्यं नावशिष्यते ॥९॥

विश्वेश्वर परमात्मा में यदि प्रेमलक्षणा भक्ति उत्पन्न हो गयी हो तो समझो कि सब कुछ सिद्ध हो चुका अब कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा ।

अपरोक्षानुभूतिर्या वेदान्तेषु निरूपिता ।
प्रेमलक्षणभक्तेस्तु परिणामः स एव हि ॥१०॥

वेदान्तों में जिस प्रत्यक्ष अखण्डानुभव का वर्णन किया गया है वह इस निरतिशय प्रेमरूप भक्ति का ही तो परम फल है ।

शास्त्रार्थः संपरिज्ञातो जातं प्रेम महेश्वरे ।
प्रेमानन्दप्रकारेण द्वैतं विस्मरणं गतम् ॥११॥

वेदान्तादि शास्त्रों का तात्पर्य जानने के अनन्तर महेश्वर परमात्मा में जब प्रेम उत्पन्न हो जाता है तब प्रेम से आनन्द का उल्लास होने पर द्वैत की विस्मृति हो ही जाती है।

क्योंकि निरतिशय प्रेम द्वैत को भुलाने वाला होता है तथा ज्ञान स्वयं अद्वैत रूप है ही, इसलिये ज्ञान के द्वारा साधक जिस परिणाम पर पहुँचता है भक्ति भी साधक को वहीं पहुँचा देती है।

वासुदेवमयं सर्वं वासुदेवात्मकं जगत्।
इत्थंद्वैतरसाढ्यस्य ज्ञानं किमवशिष्यते ॥१२॥

(यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाश्य है वासुदेव इसका प्रकाशक है इस प्रकार पदे पदे वासुदेव की प्रधानता होने से) यह जगत् 'वासुदेवमय' है (वासुदेव के भान से ही, इस जगत् का भान हो रहा है इसलिये) यह जगत् 'वासुदेवात्मक' है। इस प्रकार के द्वैत के आनन्द के धनी पुरुष के लिये कुछ भी ज्ञान शेष नहीं रह जाता।

अर्थात् ज्ञान से प्रापणीय पद पर एकान्तभक्त भी अपना अधिकार जमा ही लेते हैं।

वासुदेवः परंब्रह्म, परमात्मा परात्परः।
अन्तर्बहिश्चतत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥१३॥

भक्त लोग उसे वासुदेव, परब्रह्म, परमात्मा, परात्पर और अन्दर बाहर इस सबको व्याप्त करके स्थित रहनेवाला नारायण कहते हैं।

सम्पूर्ण सत्ताओं का निर्वाहक, सर्व भूतनिवास तथा सर्व-व्यापक आदि गुणों को स्मरण करके भक्त 'वासुदेव' नाम से

भगवान् का स्मरण करता है। किसी देश, किसी काल तथा किसी वस्तु से भी जगत् का वह परम कारण परिच्छिन्न नहीं होता, इस अर्थ को चिन्तन करके 'परब्रह्म' नाम से भगवान् का स्मरण किया जाता है। न वह किसी का कार्य है और न किसी का कारण है किन्तु असंग शुद्ध चैतन्य है इस भाव से 'परमात्मा' यह नाम लिया जाता है। जिसको हम जगदारोप का मूल कारण समझते हैं इसीलिये जो 'पर' है परन्तु जब कि इस आरोप्य के भी मिथ्यात्त्व का निश्चय हो जाता है उस समय सकल के बाध का साक्षी या सर्वलयावशेषरूप से जो शेष रह जाता है वह तो 'परात्पर' इस नाम से स्मरण किया जाता है। इस सम्पूर्ण कार्यकारणात्मक प्रपंच को अन्दर बाहर व्याप्त करके जीवों का प्राप्तव्य होके जो 'नारायण' नाम से स्मरण किया जाता है।

अणुर्बृहत्कृशः स्थूलो गुणभृन्निर्गुणो महान्।
इत्यादिवचनै भक्तो वैष्णवः स्तौति केशवम् ॥१४॥

'अणु' भी वही है देश काल आदि की इयत्ता (हद) में न आने से 'बृहत्' भी वही है, सबसे अधिक सूक्ष्म होने से 'कृश' यह शब्द मुख्यवृत्त्या उस ही में चरितार्थ होता है वह अपने संकल्प से 'स्थूल' भी हो गया है वह 'सगुण' भी है, साथ ही गुणों के मिथ्या होने से 'निर्गुण' भी है, सर्वजगत् का पूज्य होने से 'महान्' भी है, इत्यादि प्रकार से विष्णु का भक्त केशव की स्तुति करता है।

शिवः कर्ता शिवो भोक्ता शिवः सर्वेश्वरेश्वरः।
शिव आत्मा शिवो जीवः शिवादन्यन्न विद्यते ॥१५॥

शिव (कूटस्थ चैतन्य) ही कर्ता होता है वही शिव भोक्ता हो जाता है । सकल जगत् के ईश्वरों (ब्रह्मा विष्णु महेश आदि) का भी नियमन करनेवाला वह शिव ही है, वही शिव आत्मा है वही शिव जीव हो जाता है, इस प्रकार शिव (आत्मा) से भिन्न इस संसार में कुछ भी नहीं है (वह अकेला ही शैलूष [नट] की तरह नाना उपाधियों के कारण आपातदृष्टि वाले लोगों को अनेक सा प्रतीत हो रहा है)।

खवायुतेजोजलभूक्षेत्रज्ञार्केन्दुमूर्तिभिः ।
अष्टाभिरष्टमूर्तिं च शांभवः स्तौति शंकरम् ॥१६॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि, जीव, सूर्य तथा चन्द्रमा इन आठ स्वरूपों से शिव का भक्त अष्टमूर्ति शिव की स्तुति करता है ।

इदं यदा परिणतं प्रेम तज्ज्ञानमेवहि ।

जब यह भजन प्रेमरूप में परिणत होता है तब उसको ज्ञान शब्द से कहने लगते हैं (अर्थात् भगवद् भजन ही कालान्तर में भगवत्प्रेम बनकर भगवज्ज्ञान हो जाता है) ।

अथ युक्त्यन्तरम्—

बालकस्तात तातेति जनकं प्रतिभाषते ।
न पुनस्तातशब्दार्थं स तु जानाति किंचन ॥१७॥

बालक अपने पिता को 'तात' 'तात' ऐसा कहता तो रहता है परन्तु उसको यह मालूम नहीं रहता कि किस अभिप्राय से यह 'तात' शब्द बोला जाता है।

यदा तातपदार्थस्य व्युत्पत्तिं यात्यसौ क्रमात् ।
तदा तु सत्यमेवायं तात इत्येति निश्चयम् ॥१८॥

परन्तु समय के प्रभाव से जब कि वह सयाना होने लगता है तो वह तात पद के पितृरूप अर्थ को ध्यान में लाने लगता है। तब तो वह मेरा यही पिता है इस दृढ निश्चय को पहुँच जाता है।

तथा भक्तो भजन्देवं वेदशास्त्रोदितैः क्रमैः ।
व्युत्पत्तिं परमां प्राप्य मुक्तो भवति हि क्रमात् ॥१९॥

इसी प्रकार (प्रारम्भावस्था में भगवान् के स्वरूप को न जाननेवाला) भक्त वेद तथा शास्त्रों में बतायी हुई विधियों से ईश्वर का भजन करता है तो अन्तःकरण के परिमार्जित हो जाने पर क्रम से (यथार्थ ज्ञान को पाकर धीरे धीरे ज्ञान के स्थिर होते ही) मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ।

किंच लक्षणभेदो हि वस्तुभेदस्य कारणम् ।
न भक्तज्ञानिनो दृष्टा शास्त्रे लक्षणभिन्नता ॥२०॥

लक्षणों के भेद होने से पदार्थों में भेद हुआ करता है किन्तु मैंने शास्त्र में भक्त तथा ज्ञानी के एक ही से लक्षण देखे हैं

विरागश्च विचारश्च शौच मिन्द्रियनिग्रहः ।
वेदे च परमा प्रीतिस्तदेकं लक्षणं द्वयोः ॥२१॥

संसार के आपातमात्रमधुर विषयों में वितृष्णता, नित्या-नित्यवस्तुओं का विवेक, बाह्य तथा आभ्यन्तर शुद्धि, इन्द्रियों का (ज्ञान के साधनों से भिन्न विषयों से) निग्रह, अध्यात्मशास्त्रों में प्रगाढ प्रीति, इन पाँचों लक्षणों से भक्त तथा ज्ञानी दोनों ही पहचाने जाते हैं।

अध्याये भक्तियोगाख्ये गीतायां भक्तिलक्षणम् ।
यदुक्त मष्टभिः श्लोकै दृष्टं ज्ञानिषु तन्मया ॥२२॥

गीता के भक्तियोग नामक बारहवें अध्याय में 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' इत्यादि आठ श्लोकों से पुरुषों की भगवद्भक्ति पहचानने के लिये जो जो चिह्न बताये हैं, वे ही चिह्न मैंने गीता के तेरहवें अध्याय के 'अमानित्त्वमदम्भित्त्वम्' इत्यादि पौने पाँच श्लोकों में तत्त्वज्ञानियों के भी देखे हैं (इसलिये ज्ञान तथा भक्तियोग में कोई अन्तर नहीं)।

तवास्मीति भजत्येकस्त्वमेवास्मीति चापरः ।
इति किञ्चिद्विशेषेपि परिणामः समो द्वयोः ॥२३॥

भक्त का तो भगवान् के प्रति 'मैं तेरा हूँ तेरा सेवक हूँ' ऐसा भाव रहता है । इसके विपरीत ज्ञानी की सदा यह दृष्टि रहती है कि 'मैं तूही हूँ'। इतना कुछ परस्पर भेद होने पर भी परिणाम दोनों का तुल्य ही है (इसलिये ज्ञानी और भक्त एक ही हैं)।

अन्तर्बहिर्यदा देवं देवभक्तः प्रपश्यति ।
दासोऽहं भावयन्नेव दाकारं विस्मरत्यसौ ॥२४॥

भगवान् के भक्त को 'दासोऽहं' अर्थात् मैं आपका दास हूँ, इस प्रकार भजन करते करते भजन की परिपाकावस्था आने के कारण जब अन्दर बाहर देव के ही अखण्ड दर्शन होने लगते हैं, तब वह अपने (दासोऽहं) इस पूर्वाभ्यास में से 'दाकार' को भूलकर 'सोहं' 'सोहं' करने लगता है ।

दृष्टमेकान्तभक्तेषु नारदप्रमुखेषु तत् ।
किञ्चिद्विशेषं वक्ष्यामि त्वमेकाग्रमनाः शृणु ॥२५॥

भगवान् के अनन्य भक्त नारदादि पहले 'दासोहं' ऐसी भावना करते करते 'दा' को भूलकर अन्त में 'सोहं' इस

निश्चय पर पहुँच गये थे, इसलिये ज्ञानी और भक्त परिणाम में एक ही हैं। अब मैं ज्ञान से भक्ति की कुछ अधिकता भी बताता हूँ तुम एकाग्र हो कर सुनो।

यदीश्वररसी भक्त स्तदीश्वररसी बुधः।
उभौ यद्यप्येकरसौ तथापीषद्विलक्षणौ ॥२६॥

जिस (अक्षय्यसुखसमुद्र) ईश्वर में भक्त को रसास्वाद मिलता है, वही ईश्वर ज्ञानी का भी रस है। इस प्रकार यद्यपि दोनों एक ही सुख के रसिक है तो भी दोनों में कुछ थोड़ी सी विलक्षणता पायी जाती है।

बुद्धा बोधरसादन्यरसनीरसतां गताः।
तथाधिकप्रेमरसान्न तु भक्ताः कदाचन ॥२७॥

जिस प्रकार ज्ञानियों के लिये ज्ञान सुख से अतिरिक्त अन्य सब वैषयिक सुख नीरस हो जाते हैं, भक्त को ऐसा कभी नहीं होता। क्योंकि भक्तों को ज्ञानियों के ज्ञानरस की अपेक्षा भक्ति का प्रेमरस और अधिक होता है (अर्थात् भक्त लोग ज्ञानियों से दूना आनन्द भोगते हैं)।

अथ प्रश्नाः

ननु ज्ञानं विना मुक्तिर्नास्ति युक्तिशतैरपि।
तथा भक्तिं विना ज्ञानं नास्त्युपायशतैरपि ॥२८॥

सैकड़ों उपाय करने पर भी ज्ञान के बिना मुक्ति कभी भी नहीं हो सकती, वैसे ही सैकड़ों उपाय कर डालने पर भी भक्ति के बिना ज्ञान का होना सम्भव नहीं।

भक्ते र्ज्ञानं ततो मुक्तिरिति साधारणक्रमः।
ज्ञानिनस्तु वसिष्ठाद्या भक्ता वै नारदादयः ॥२९॥

एवमादिव्यवस्थायाः कारणं किं निरूप्यताम् ।
अत्रोच्यते विचित्रं यत्कारणं तन्निशामय ॥३०॥

भक्ति से भगवान् के सन्तुष्ट हो जाने के अनन्तर ज्ञान का उदय होता है तब कहीं ज्ञान से मुक्ति मिलती है। यद्यपि मुक्ति का सामान्य क्रम यही है तो भी वसिष्ठादि ज्ञानी ही और नारदादि भक्त ही क्यों कहलाते हैं ? हे गुरो ! इत्यादि व्यवस्था का कुछ कारण बताना चाहिये। हे शिष्य ! इस व्यवस्था का विचित्र मूलकारण मुझसे सुनो ।

कथयामि सदृष्टान्तं येनार्थः स्फुटतां व्रजेत् ।
स्यात्तापस्य च पापस्य गंगास्नानेन हि क्षयः ॥३१॥

मैं इस बात को उदाहरण सहित बताता हूँ जिससे इसका रहस्य प्रकट हो जायगा। देखो ! गंगा के स्नान से शरीर का ताप और पाप दोनों नष्ट हो जाते हैं।

यस्तु स्यात्तापशान्त्यर्थी तस्यापि स्यादघक्षयः ।
यस्तु स्यादघशान्त्यर्थी तापस्तस्यापि नश्यति ॥३२॥

केवल शीतलता चाहनेवाले पुरुष का भी गंगा स्नान करने से पाप नष्ट हो ही जाता है। जो कि पाप की निवृत्ति के लिये गंगा में स्नान करता है उसका ताप भी नष्ट हो ही जाता है।

तापपापक्षयौ स्नानं त्रयमेतत् समं द्वयोः ।
तथाप्येकस्तु शैत्यार्थी शुद्ध्यर्थी तु द्वितीयकः ॥३३॥

ताप की निवृत्ति, पाप का क्षय, तथा स्नान ये तीनों बातें दोनों (पापक्षयार्थी, तापशान्त्यर्थी) में तुल्य हैं तो भी उनमें से लोक में एक को शैत्यार्थी ही कहा जाता है और दूसरे को शुद्ध्यर्थी ही माना जाता है।

यथैव भावभेदेन नामभेदस्तयोरभूत् ।
एवमेव बुधैर्यस्तु देवो मुक्त्यर्थमाश्रितः ॥३४॥
भक्त्या ज्ञान मवाप्यैव ये मुक्ता ज्ञानिनो हि ते।

जिस प्रकार कि वासना के भिन्न भिन्न होने से व्यवहार में दोनों के पृथक् पृथक् दो नाम पड़ गये हैं इसी प्रकार जिन विवेकी पुरुषों ने मुक्ति के उद्देश्य से परमात्मा का आश्रय लिया वे विवेकी लोग अपनी भक्ति से ज्ञान को प्राप्त होकर मुक्ति को प्राप्त हुए, वे (भक्ति तथा ज्ञान का एक सा ही अनुशीलन करने पर भी) सदा ज्ञानी ही कहलाये ।

यैस्तु संसारविरसै र्भक्त्यर्थं हरिराश्रितः ॥३५॥
ततो भक्तिप्रभावेन स्वभावाज्ज्ञान मुद्गतम् ।
तज्ज्ञानं प्राप्य मुक्ता ये ते भक्ता इति वर्णिताः ॥३६॥

जिन्होंने ऐहिक तथा आमुष्मिक भोगों म दोषदृष्टि के कारण विरक्त होकर (ज्ञान तथा मोक्ष की कुछ परवाह न करते हुए) केवल भक्ति के लिये हरि का आश्रय लिया उस भक्ति के प्रताप से (रागादि मलों के निवृत्त होते ही स्वरूपानुभव हो जाने पर) जिन्हें अखण्ड ज्ञान का उदय हो गया इस क्रम से उस ज्ञान को प्राप्त होकर जो लोग मुक्ति को प्राप्त हुए वे सदा भक्त ही कहलाये ।

विरक्तिभक्तिविज्ञानमुक्तयस्तु समा द्वयोः ।
तथापि भावभेदेन नामभेदस्तयोरभूत् ॥३७॥

यद्यपि ज्ञानी और भक्त में वैराग्य भक्ति ज्ञान तथा मोक्ष ये चारों समान रूप से रहते हैं तो भी वासना के भिन्न भिन्न होने से दोनों के पृथक् पृथक् नाम हो गये हैं ।

मुक्ति र्मुख्यफलं ज्ञस्य भक्तिस्तत्साधनत्वतः ।
भक्तस्य भक्ति र्मुख्यैव मुक्तिः स्यादानुषङ्गिकी ॥३८॥

ज्ञानी के लिये मुख्य फल मुक्ति है, भक्ति तो मुक्ति का साधन होने से उसे स्वीकार करनी पड़ती है। परन्तु भक्त की दृष्टि में भक्ति ही मुख्य होती है, मुक्ति को तो वह आनुषङ्गिक (सहचारी) फल समझता है।

रीत्यानयापि सुमते वरिष्ठा भक्तिरीश्वरे ।

हे सुमते, इस रीति से भी ईश्वर में भक्ति करना ही अधिक श्रेष्ठ मार्ग है। अब दूसरे प्रकार से भक्ति की महिमा निरूपण करते हैं।

अथान्योपि महिमा

परमानन्दरूपोसौ परमात्मा स्वयं हरिः ॥३९॥
शिवभक्तिं पुरस्कृत्य भुङ्क्ते भक्तिरसायनम् ।
सनकाद्या वसिष्ठाद्या नन्दिस्कन्दशुकादयः ॥४०॥
भुञ्जते तत्पदं प्राप्ता अपि भक्तिरसायनम् ।

अब दूसरे प्रकार से भक्ति की महिमा का निरूपण करते हैं—यद्यपि वह परमात्मा हरि स्वयं परमानन्दस्वरूप है तो भी वह शिवभक्ति के मिष से भक्तिरूपी रसायन का भोग लेता ही रहता है (भावार्थ यह है कि स्वयं परमात्मास्वरूप होने से ज्ञान तो निर्विषय है परन्तु भक्ति में [जो कि एक उच्च प्रकार की प्रेमलक्षणा वृत्ति है] सम्पूर्ण विषयानन्द भी अन्तर्भूत हो जाते हैं उसमें सम्पूर्ण दुःखों का अभिभव हो जाता है तथा प्रेमातिशय होने से वह परमानन्द स्वरूप भी होती है, यों इस द्विगुणित आनन्द के लोभ से हरि भगवान् भी शिवभक्ति में प्रवृत्त हो

गये हैं) इस ही लोभ में आकर सनक सनन्द व्यास वसिष्ठ नन्दिस्कन्दशुकादि, उस अद्वैत पद को प्राप्त करके भी भक्तिसुख का अनुभव करते ही जा रहे हैं।

द्वैतं विना कथं भक्तिरिति तत्रोत्तरं शृणु ॥४१॥

यहाँ पर शंका होती है कि द्वैत के बिना भक्ति कैसे हो सकेगी ? इसका उत्तर सुनो।

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥४२॥

ज्ञान से पूर्वकाल का द्वैत मोह में डाल सकता है। परन्तु बोध के अनन्तर तो अपनी इच्छा से भक्ति के लिये कल्पना किया गया द्वैत, दुगुना आनन्द देने के कारण सामान्य एकरूप अद्वैत से भी सुन्दर होजाता है।

तथा चोक्तंभागवते—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहेतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥४३॥

भागवत् में भी कहा है कि—जिनको क्रीडा या रमण (जी लगाने) के लिये किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रहती जो केवल आत्मा में ही रमण करते हैं, मनन के लिये भी जिन्हें शास्त्र की सहायता अपेक्षित नहीं है, ऐसे निरपेक्ष मुनि लोग भी उस उरुक्रम भगवान् की, फलासक्ति से रहित होकर श्रवण कीर्तन आदि रूप से भक्ति करते रहते हैं। भगवान् हरि में ऐसे अपरिमित गुण विद्यमान हैं जिनके कारण निरपेक्ष मुनि लोग भी उसकी भक्ति में प्रवृत्त हो ही जाते हैं।

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दंपत्यो र्जीवात्मपरमात्मनोः ॥४४॥

परस्पर अत्यन्त प्रेमवाले दम्पतियों का द्वैत भी जिस प्रकार आनन्ददायक होता है ऐसे ही समरस आनन्द निर्बाध रूप से जब उत्पन्न हो जाता है तब जीवात्मा तथा परमात्मा का केवल भक्ति के लिये कल्पना किया हुआ द्वैत (पार्थक्य) भी मुक्तिसुख के साथ तुलना करने योग्य हो जाता है।

हृदये वसति प्रीत्या लोकरीत्या च लज्जते।
यथा चमत्कारमयी नित्यमानन्दिनी वधूः ॥४५॥

जिस प्रकार पति के आनन्द को बढ़ाती हुई चमत्कारवाली पत्नी, अपने पति के प्रेम की अनुवृत्ति को देखकर उसके हृदय पर भी बैठती है साथ ही लोक (की सत्कार करने की रीति से) लज्जा भी करती जाती है।

पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिश्चेत्सा तु मुक्तिशताधिका ॥४६॥

पारमार्थिक रूप से तो अद्वैत को ही अंगीकार किया जाय और भजन के लिये द्वैत की कल्पना कर ली जाय, ऐसी यदि किसी की भक्ति हो तब तो वह सैकड़ों मुक्तियों से भी अधिक आनन्ददायिनी होती है।

प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या।
पदयुगपरिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ।
ननु भजनविधौ वा तद्द्वयं तुल्यमेव ॥४७॥

प्यारी स्त्री चाहे तो अपने प्रियतम के वक्षःस्थल पर खेले, या चरणों को दबाती रहे। इसी तरह तत्त्वज्ञानी पुरुष तत्त्वज्ञान के अनन्तर चाहे तो निर्विकल्प समाधि में गोते लगाता रहे किंवा भजन करता रहे ये दोनों बातें परिणाम में तुल्य ही हैं।

विश्वेश्वरस्तु सुधिया गलितेपि भेदे।
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेपि चित्ते।
चैलांचलव्यवहितेन निरीक्षणीयः ॥४८॥

सेव्यसेवकादि भ्रम के मिटजाने पर भी सुधी पुरुष को उचित है कि भक्तिसहित प्रेम से परमेश्वर की पूजा किया ही करे। अन्तःकरण मिल जाने पर भी बुद्धिमती स्त्री को उचित है कि अपने प्राणेश्वर को घूँघट का व्यवधान करके ही देखा करे।

भक्तिरसमाश्रित्य श्लोकः—

भक्तिरस विषयक प्राचीन श्लोक भी लिखते हैं—

योगे नास्ति गतिर्न निर्गुणविधौ सम्भावनादुर्गमे।
नित्यं नीरसया धिया परिहृते द्वे ऐहिकामुष्मिके।
गोपः कोपि सखा कृतः स तु पुनर्नानाङ्गनासङ्गवा—
नस्माकं पदमर्थयन्ति मुनयश्चित्रं किमस्मात्परम् ॥४९॥

अष्टांग योग तथा दुष्प्राप्य वेदान्त शास्त्र में तो हमारी गति नहीं, इस लोक के माला चन्दनादि भोग तथा परलोक के अमृतादि भोगों को नीरस समझ कर हमने परित्याग कर दिया है। अन्त में हमने सोच विचार कर अनेक अङ्गनाओं के सङ्गी किसी गोप को अपना मित्र बना लिया है। इससे बड़ा आश्चर्य और

क्या होगा कि बड़े बड़े मुनिजन भी हम गोपालभक्तों के पद को पाने की प्रार्थना करते हैं।

रोमाञ्चेन चमत्कृता तनुरियं भक्त्या मनो नन्दितम्।
प्रेमाश्रूणि विभूषयन्ति वदनं कण्ठं गिरो गद्गदाः॥
नास्माकं क्षणमात्रमप्यवसरः कृष्णार्चनं कुर्वतां।
मुक्तिर्द्वारि चतुर्विधापि किमियं दास्याय लोलायते॥५०॥

भगवान् कृष्ण का अर्चन करते हुए हमारे शरीर पर रोमांच (रोंगटे) हो गये। भक्ति से मन आनन्दित हो गया। प्रेमातिशय के कारण उत्पन्न हुए हर्षाश्रुओं ने तो हमारे मुखमण्डल को तथा गद्गद वाणियों ने हमारे कण्ठ को सुशोभित कर दिया है, अब तो हमें थोड़ा सा भी अवकाश नहीं है कि हम किसी भी अन्य विषय को स्वीकार कर सकें। पर तो भी सायुज्य आदि चारों प्रकार की मुक्ति हमारे द्वार पर खड़ी हुई हमारी दासता को स्वीकार करने के लिये बड़ी ही आतुर हो रही है।

घनः कामोऽस्माकं तव तु भजनेऽन्यत्र न रुचि—
स्तवैवांघ्रि द्वन्द्वे नतिषु रतिरस्माकमतुला॥
सकामे निष्कामा सपदि तु सकामा पदगता।
सकामास्मान्मुक्ति र्भजति महिमायं तव हरे॥५१॥

हे हरे! हमारा तो केवल तेरे ही भजन में प्रगाढ प्रेम है। ज्ञान आदि किसी भी अन्य पदार्थों में हमारी प्रीति नहीं है। तेरे चरणयुगल को प्रणाम करने में ही हमें अतुल प्रेम है। हे भगवन् तुम्हारी कुछ ऐसी अपार महिमा है कि वह बिचारी मुक्ति जब सकाम (विषयार्थी) लोगों को नापसन्द कर डालती है, तो तत्क्षण ही अपने को निराश्रय सा देखकर बड़ी उत्सुकतापूर्वक

हम भक्तिकामी लोगों के चरणों को चिपट जाती है और हमारी चरणशुश्रूषा करने लग पड़ती है ।

इति भक्तिरसायनार्थप्रकाशस्त्रयोदशः

राजयोगे भूमिकाभेदभास्करः

भूमिकाभेदमारभ्य यावद्ग्रन्थसमापनम् ।
अगाधबोधसारेऽस्मिन् राजयोगो निरूप्यते ॥१॥

(अज्ञानियों तथा ज्ञानियों की चौदह) भूमिकाओं के भेद को बतानेवाले इस प्रकरण से लेकर ग्रन्थ की समाप्तिपर्यन्त अगाधबोधसार नामक इस ग्रन्थ में राजयोग का ही निरूपण किया जायगा ।

अथायं हृदिकर्तव्यो भूमिकाभेदभास्करः ।
यस्य प्रसादमात्रेण तमो हार्दं विलीयते ॥२॥

अब 'भूमिकाभेदभास्कर' नामक प्रकरण को भले प्रकार समझ लो । जिसके समझते ही हृदय का अज्ञान नष्ट हो जाता है ।

अज्ञानभूमिकाः सप्त, सप्तैव ज्ञानभूमिकाः ।
बीजजाग्रत्तथा जाग्रन्महाजाग्रत्तथैव च ॥३॥
जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तकम् ।
इति सप्तविधो मोह स्तेषां विवरणं शृणु ॥४॥

अज्ञान की सात अवस्थायें हैं इसी प्रकार (अज्ञाननिवर्तक) ज्ञान की सात ही अवस्थायें होती हैं। बीजजाग्रत्, जाग्रत, महाजाग्रत्, जाग्रत्स्वप्न, स्वप्न, स्वप्नजाग्रत्, तथा सुषुप्त, अज्ञान के ये सात भेद हैं उनका विस्तार हम से सुन लो ।

कुसूले संस्थितं बीजं तत्र सर्वो यथा द्रुमः ।
तथा यत्र स्थितं विश्वं न तु व्यक्तिमुपागतम् ॥५॥
बीजरूपं स्थितं जाग्रद्बीजजाग्रत्तदुच्यते ।
संसारप्रथमावस्था महामोहः स एव हि ॥६॥
तदेवाज्ञानमित्युक्तं यत्स्वबोधेन लीयते ।

कृषक लोग अगले वर्ष में बोने के लिये (कुसूल) कुठले में चने आदि के बीज रख देते हैं। जिस प्रकार भावी वृक्षों के पत्र पुष्प फल तथा स्कन्ध (गुद्दे) आदि उन ही बीजों में समाये रहते हैं इसी प्रकार जिस (मायाशबलित ब्रह्म) में यह सम्पूर्ण संसार, बीज (कारण) रूप में स्थित होने पर भी प्रकट नहीं हो पाता, उस अवस्था में जाग्रत् शव्द का वाच्य (मायाशबलित) ब्रह्म बीज रूप में विद्यमान रहता है इसीलिये उसे 'बीजजाग्रत्' अवस्था कहते हैं। उसी को किसी शास्त्र में संसार की प्रथमावस्था (गर्भस्थिति) महामोह (किंवा मूलज्ञान) कहा जाता है। उसी बीजजाग्रत् नामक अज्ञान को वेदान्त सिद्धान्त में ज्ञान का विरोधी भाव पदार्थ माना गया है क्योंकि वह स्वबोध (उस अज्ञान के बोध हो जाने या आत्मा के बोध हो जाने) से नष्ट हो जाया करता है।

कूसूले संस्थितं बीजं क्षेत्रे निक्षिप्यते यदा ॥७॥
अंकुरोन्मुखतां याति सावस्था जाग्रदुच्यते ।
इदमेव महत्तत्त्वमिति सांख्यै निंरूप्यते ॥८॥
ईक्षणं चेति वेदान्तैः सामान्याहंकृतिस्तथा ।
आनन्दमयकोशश्च तत्साक्षी त्वीश्वरः स्मृतः ॥९॥

कुसूल में रक्खे चने आदि के बीजों को भूमि में बोने पर जब कि उनमें अंकुर फूटने को तैयार होता है, मायाशबलित ब्रह्म में भी जब ऐसी ही जगदंकुरता उत्पन्न होती है उस दूसरी अवस्था को 'जाग्रत्' कहा जाता है। सांख्यमतानुयायी लोग इसी को 'महत्तत्त्व' कहते हैं, उपनिषदों में इसी को 'ईक्षणं', 'समष्टि अहंकार' तथा 'आनन्दमय कोष' कहा गया है। इस 'जाग्रत्' अवस्था के साक्षी को 'ईश्वर' कहा जाता हैं।

विशेषाहंकृतिः सूक्ष्मांकुरवद्व्यावहारिकी ।
महाजाग्रद् बुधै प्रोक्ता व्यष्ट्यवस्थात्रये तु सा ॥१०॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्येऽवस्था जाग्रदिति स्मृता।

जब कि बोये हुए धान्यों के अंकुर बाहर फूट आते हैं जिससे कि उनके जौ चने आदि होने की पहचान पड़ने लगती है, जाग्रत् की जब ऐसी व्यवहारयोग्य अवस्था हो जाती है जिसके प्रभाव से मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं काणा हूँ, मैं बहरा हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ इस प्रकार का विशेषाहंकार उत्पन्न हो जाता है उस तीसरी अवस्था को 'महाजाग्रत्' कहा गया है। यहाँ तक समष्टि की तीन अवस्थायें वर्णन की गईं। व्यष्टि जीव की भी ये ही तीनों अवस्थायें होती हैं परन्तु तब इनको जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति कहा जाता है। उनमें से यह 'महाजाग्रत्' नाम की तीसरी अवस्था व्यष्टि की 'जाग्रत्' अवस्था कहाती है।

जाग्रदेव यदा जीवो मनोराज्यं करोति हि ॥११॥
जाग्रतः स्वप्न इव यत् स जाग्रत्स्वप्न उच्यते।

जब कि जीव (अधिष्ठानसहित बुद्धि में पड़ा हुआ चिदाभास) जागते समय ही मनोराज्य करने लगता है या मानसिक

संस्कार बनाने लगता है तब वह मनोराज्य जागरण काल का स्वप्न होता है इसलिये उसे 'जाग्रत्स्वप्न' कहा जाता है ।

लोकप्रसिद्धो यः स्वप्नः स स्वप्न इति कथ्यते ॥१२॥

सर्वलोक प्रसिद्ध स्वप्न को ही पाँचवीं 'स्वप्न' अवस्था कहा गया है ।

जातेपि जागरे जन्तोः स्वप्नदृष्टार्थभासनम् ।
प्रत्यक्षमिव संस्कारात्स्वप्नजाग्रत्तदुच्यते ॥१३॥

स्वप्नकाल के अनुभव किये हुए नदी, पर्वत आदि पदार्थ संस्कारों की प्रबलता के कारण याद आने पर जाग्रत् में भी प्रत्यक्ष से प्रतीत होने लगते हैं, इसलिये उस अवस्था को 'स्वप्न-जाग्रत्' कहा जाता है। वह छठी अवस्था है ।

षडवस्थापरित्यागे सुषुप्तिः सप्तमी मता ।
अज्ञानभूमिकास्त्वेताः शृणु विज्ञानभूमिकाः ॥१४॥

जिस समय ऊपर कही हुई कोई भी अवस्था नहीं रहती तब वह सातवीं 'सुषुप्ति' अवस्था कही जाती है । अज्ञान की ये सात अवस्थाएँ हमने बतायीं । अब विज्ञान की सात अवस्थाओं का वर्णन करेंगे उन्हें सुनो—

अथ ज्ञानभूमिकाः

जिज्ञासाथ विचाराख्या ततस्तु तनुमानसा ।
सत्वापत्तिरसंसक्तिः पदार्थाभावनी तथा ॥१॥
सप्तमी तुर्यमित्युक्ता तुर्यातीतमतः परम् ।

जिज्ञासा, विचारा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी, तथा तुर्य नाम की सात ज्ञानभूमिका कहाती हैं । इन भूमिकाओं से परे 'तुर्यातीत' पद का निवास माना गया है ।

आसामेव नामान्तराणि—इन भूमिकाओं के नाम भी बताये जाते हैं (कि जिससे नाम का भेद देखकर भ्रम की सम्भावना न रहे)।

मुमुक्षा च समक्षा च परीक्षा च परोक्षका: ॥२॥
अपरोक्षा महादीक्षा पराकक्षेति सप्त ताः ।

मुमुक्षा, समक्षा (समीचीन विचार), परीक्षा (मनन), परोक्षा (ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान), अपरोक्षा (साक्षात्कार), महादीक्षा ('अहं ब्रह्म' ऐसा दृढ निश्चय), पराकक्षा (ब्रह्मप्राप्ति का द्वारभूत) ये सात नाम भी उन्हीं भूमिकाओं के हैं।

प्रथमा त्वधिकाराख्या द्वितीया श्रवणात्मिका ॥३॥
तृतीया मननप्राया निदिध्यासश्चतुर्थिका ।
साक्षात्कारः पञ्चमी स्यात् षष्ठी परिणतिः स्मृता ॥४॥
सप्तमी तु पराकाष्ठा सैव तुर्यमितीरिता ।

अधिकारित्व पहली, श्रवणस्वरूपा दूसरी, मननबहुला तीसरी, निदिध्यास चौथी, साक्षात्कार पाँचवी, परिणति षष्ठी तथा पराकाष्ठा सातवीं अवस्था है, इसी सातवीं को तुर्य भी कहते हैं। ये सातों नाम भी उन्हीं अवस्थाओं के हैं।

प्रथमायां तु विद्यार्थी द्वितीयायां पदार्थवित् ॥५॥
निःसंशयस्तृतीयायां चतुर्थ्यां पण्डितो भवेत् ।
प्राप्तानुभूतिः पञ्चम्यां षष्ठ्यामानन्दघूर्णितः ॥६॥
सप्तमी सहजा तुर्या तुर्यातीतमतः परम् ।

उन सात भूमिकाओं में आरूढ पुरुषों के लक्षण संक्षेप से बताये जाते हैं—'जिज्ञासा' नाम की प्रथम भूमिका में आरूढ

पुरुष 'विद्यार्थी', 'विचार' नाम की द्वितीय भूमिका में 'पदार्थवित्' 'तनुमानसा' नामक तृतीय भूमिका में 'निःसंशय' 'सत्वापत्ति' नामक चतुर्थ भूमिका में 'पण्डित' किंवा 'समबुद्धि, असंसक्ति' नामक पञ्चम भूमिका में 'प्राप्तानुभूति', 'पदार्थाभावनी' नामक षष्ठ भूमिका में 'आनन्दघूर्णित' हो जाता है। 'तुर्य' नामक सप्तमी भूमिका में आरूढ हुआ पुरुष सहजानन्द स्वभाव होता है। इस तुर्य नामक सातवीं भूमिका से परे अत्यन्त उत्कृष्ट तथा इन अवस्थाओं से सर्वथा असंपृक्त तुर्यातीत पद है (वही ज्ञेय भी है)।

भूमिकात्रितयं पूर्वं त्वत्र जाग्रदिति स्मृतम् ॥७॥
जिज्ञासोरत्र संसारो यथापूर्वं यतः स्थितः।
चतुर्थी स्वप्न इत्युक्ता स्वप्नाभं यत्र वै जगत् ॥८॥
सुषुप्तिः शिथिला गाढा द्विविधाऽऽद्यातु पंचमी।
षष्ठी गाढसुषुप्तिः स्यात् सप्तमी तुर्यमुच्यते ॥९॥

ज्ञान की इन सात भूमिकाओं में से (जिज्ञासा, विचारा, तनुमानसी) भूमिकायें मिलकर 'जाग्रत्' कहाती हैं। क्योंकि जिज्ञासु की दृष्टि में अभी तक अज्ञानावस्था की तरह ही (दृश्य दर्शन द्रष्टारूप) यह संसार प्रतीत होता रहता है। परन्तु चौथी अवस्था को 'स्वप्न' कहते हैं क्योंकि इस भूमिका में यह संसार स्वप्नतुल्य प्रतीत होने लगता है (ज्ञान का साधन होने से यह अवस्था ज्ञानरूप होती है। स्वप्न देखकर जगे हुए पुरुष को जिस प्रकार स्वप्न के पदार्थ मिथ्या प्रतीत होते हैं यह जगत् इस भूमिकावाले को स्पष्ट दीखने पर भी उस समय उसी तरह मिथ्या प्रतीत होने लगता है)। सुषुप्ति दो प्रकार की होती है—पहली

'शिथिल सुषुप्ति', दूसरी 'गाढ सुषुप्ति'। 'असंसक्ति' नाम की पाँचवीं भूमिका 'शिथिल सुषुप्ति' है। 'पदार्थाभावनी' नाम की षष्ठी भूमिका 'गाढ सुषुप्ति' कहाती है। सप्तमी भूमिका को 'तुर्यावस्था' कहते हैं। इसी अवस्था को समझाने के लिये पहली छः अवस्थाओं को जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में बाँट दिया गया है। पहली छः अवस्थाओं को यदि तीन श्रेणियों में विभक्त करें तो यह अवस्था तुर्य अर्थात् चौथी कहाती है। परन्तु यदि उन छओं अवस्थाओं को ज्ञानरूप होने से तुर्य ही माना जाय तब तो इस सातवीं अवस्था को 'तुर्यतुर्या' अवस्था कहा जायगा।

अत्र प्रश्नः—संसारमेव यो वेत्ति मोक्षमार्गं न वेत्ति यः।
तस्य संसारिणः पूर्वं मुमुक्षा जायते कथम् ॥१०॥
यादृशो यस्य संस्कारस्तादृशी तस्य वासनाः।
संसारसंस्कारवतो मुमुक्षा जायते कथम् ॥११॥
मोक्षे तु विषयो नास्ति सुखं न विषयै विंना।
इति मूढधियां पूर्वं मुमुक्षैव कथं भवेत् ॥१२॥

उन पहली सात अज्ञानभूमिकाओं में से निकल कर ज्ञानभूमिका में प्रवेश होने के कारण को मालूम करने के लिये अब प्रश्न किया जाता है—जो अज्ञानी पुरुष केवल इस दृश्य जगत को ही जानता है, जिसने कभी मोक्ष का नाम नहीं सुना, ऐसे संसारी को मोक्ष की इच्छा ही किस प्रकार उत्पन्न हो जाती है। क्योंकि जिस पुरुष को जैसे संस्कार होते हैं उसको वासनायें भी वैसी ही हुआ करती हैं। संसार के संस्कारवाले पुरुष को मोक्ष की इच्छा ही किस प्रकार हो सकती है? मोक्ष में तो

किसी का विषय (सुख का साधन) नहीं होता, और विषयों के बिना सुख भी नहीं मिलता, इसलिये मूढ अविवेकी पुरुषों को पहले पहल मुमुक्षा ही किस प्रकार हो सकती है? (अर्थात् यह प्राणी अज्ञानभूमिकाओं में से ज्ञानभूमिकाओं में क्योंकर उतर पड़ता है)।

अत्रोत्तरम्—निष्कामा वा सकामा वा भक्तिर्विष्णोः शिवस्य वा।
सप्रेम हृदये जाता मुमुक्षाकारणं हि तत् ॥१३॥

विष्णु या शिव की जब सकाम या निष्काम भक्ति प्रेमपूर्वक हृदय में बैठ जाती है तो बस यही मुमुक्षा का कारण बन जाती है।

विषयों का उपार्जन करते करते मनुष्य के मार्ग में कभी कभी ऐसी दुःसाध्य कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं कि जिनका हटाना मनुष्य शक्ति के बाहर होता है। उस समय किसी की सहायता की आवश्यकता हुआ करती है। तब किसी और सहारे को न देखकर जब मनुष्य परमेश्वर की सकाम भक्ति करने लगता है, और उस भक्ति के प्रभाव से जब उसके कार्य सिद्ध हो जाते हैं तब तो और भी अधिक श्रद्धा के उत्पन्न हो जाने के कारण जो निष्काम रूप से प्रेमसहित भक्ति करने लग पड़ता है, उस का यह भक्तिरूप थोड़ा सा भी उपकार भगवान् को सहन नहीं होता, उसकी भक्ति का बदला उसको स्वात्मरूप बनाकर चुकाने के लिये भगवान् आतुर हो जाते हैं और तब उस भक्त के हृदय में मुमुक्षा को उत्पन्न कर देते हैं।

कदाचिच्छुद्धभावेन गंगातीरे तपः कृतम्।
तत्पुण्यपरिपाकेन मुमुक्षा जायते सताम् ॥१४॥

गंगा के किनारे या किसी अन्य पुण्यक्षेत्र में इस जन्म वा पूर्वजन्म में स्ववर्णाश्रमविहित कर्मानुष्ठान से (उसके बदले के रूप में) शुद्धान्तः करणवाले लोगों को मुमुक्षा उत्पन्न हो ही जाती है।

विदुषां वीतरागाणा मन्नपानादिसेवया ।
सङ्गत्या प्रणयेनापि मुमुक्षाऽऽकस्मिकी भवेत् ॥१५॥

वीतराग ज्ञानियों की अन्नपानादि की सेवा, दर्शन, संभाषण, समागम किंवा नमस्कारादि से अचानक भी मुमुक्षा उत्पन्न हो जाती है।

तदुक्तम्—मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥१६॥

गीता में भी कहा है (शास्त्रीय ज्ञान तथा शास्त्रीय कर्म करने की योग्यता रखनेवाले) हजारों मनुष्यों में से कोई एक ज्ञान की उत्पत्ति के लिये प्रयत्न करता है। ऐसे उन यतमान साधकों में भी कोई कोई ही मुझ ईश्वर को तत्त्वरूप से जान पाता है।

तथा च वसिष्ठे—

चलार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवाप्रवेशवत् ।
अनेकजन्मनामन्ते विवेकी जायते पुमान् ॥१७॥

लहरों के बीच में बैठा हुआ कछवा लहरों के उन थपेड़ों से दुखी होकर जैसे अपनी गरदन सकोड़ लेता है, ऐसे ही यह जीव भी अनेक जन्मों के अनन्त जनन मरण और उनमें भोगे हुए अनेक सुख दुःखों से त्रस्त होकर, जब अन्त में उन सब विषयों को छोड़कर कछवे की तरह अन्तर्मुख हो जाता है, तब कहीं विवेक की उत्पत्ति होती है।

सोपास्तीनां कर्मणां तु चित्तशुद्धिः फलं मतम् ।
वेदनेच्छा वेदनं वा चित्रा सत्कर्मणां गतिः ॥१८॥

उपासनासहित अपने वर्णाश्रमविहित कर्मों का अनुष्ठान करने से यद्यपि सांसारिक अन्य फल भी प्राप्त होते हैं, परन्तु उनका मुख्य फल तो चित्तशुद्धि ही होता है। उन कर्मों का अनुष्ठान करते करते जब चित्त अत्यन्त पवित्र हो जाता है तब उन्हीं कर्मों के प्रताप से उनके फलस्वरूप आत्मज्ञानेच्छा उत्पन्न हो जाती है। क्रमशः अन्तःकरण के और अधिक परिमार्जित होने पर तो उनसे साक्षात् ज्ञानरूपी फल ही उपलब्ध होता है। कामनापूर्वक किंवा निष्कामभाव से किये गये सत्कर्मों की गति ऐसी ही आश्चर्यकारक है (जो कर्म मनुष्य को बन्धन में डालते हैं उन्हीं से मनुष्य को ज्ञानरूपी परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार उपासनाओं तथा कर्मों से मुमुक्षा उत्पन्न हो जाती है। इसीलिये मुख्यतया ज्ञान का ही प्रतिपादन करने वाले वेदान्तशास्त्र ने जिज्ञासु के लिये [अन्तःकरण को शुद्ध करके ज्ञानेच्छा को दृढ करने के प्रयोजन से स्ववर्णाश्रमोचित नित्य, नैमित्तिक तथा प्रायश्चित्त] कर्मों को स्वीकार किया है)।

श्रद्धा, चित्तस्य शान्तिश्च, दान्तिश्चोपरमस्तथा ।
मुमुक्षासाधनानां तु संपत्प्रथमभूमिका ॥१९॥

वेदान्त तथा गुरु के वाक्यों में विश्वास, चित्त की शान्ति, बाह्येन्द्रियों का निग्रह, सब विषयों में विरसता तथा मुमुक्षा के साधनों का उपार्जन, यह ज्ञान की प्रथम भूमिका कहाती है।

गुरूपसदनं पूर्वं कर्तव्यं हि मुमुक्षुणा ।
गुरुमेवाभिगच्छेच्च विज्ञानार्थमिति श्रुतिः ॥२०॥

मुमुक्षु को उचित है कि सबसे प्रथम वेदान्तवक्ता गुरु के समीप (अन्तेवासी धर्म को ग्रहण करके) उपस्थित हो। श्रुति ने कहा है—ज्ञानप्राप्ति के लिये ज्ञानवक्ता गुरु की ही शरण में जाना चाहिये।

तल्लक्षणानि—

मोक्ष एव ममास्त्वीश मास्तु संसारदर्शनम्।
इति यः सुदृढो भावो मुमुक्षालक्षणं हि तत् ॥२१॥

अब जिज्ञासा के चिन्ह बतलाते हैं—हे अन्तर्यामी परमात्मन्! अब तो मुझे केवल मुक्ति ही मिलनी चाहिये। अब मुझे इस संसार का कभी भी दर्शन (भान) न हो। इस प्रकार का निश्चय हो जाना ही मुमुक्षा का चिन्ह है।

पुण्यक्षेत्रेषु या बुद्धिः पुण्यतीर्थेषु या रुचिः।
मोक्षधर्मेषु या श्रद्धा मुमुक्षालक्षणं हि तत् ॥२२॥
यतः कुतश्चिदानीय ज्ञानशास्त्राण्यवेक्षते।
चिन्तयंस्तस्य तात्पर्यं मुमुक्षालक्षणं हि तत् ॥२३॥

पुण्यक्षेत्रों तथा पुण्यतीर्थों में प्रीति, मोक्ष के साधनभूत निष्कामधर्मों में विश्वास, जहाँ कहीं मिलें वहीं से लाकर ज्ञान-शास्त्रों का विचार तथा उनके तात्पर्य का चिन्तन ये भी मुमुक्षा के चिन्ह बताये गये हैं।

महतापि प्रयत्नेन कुर्यात्पण्डितसंगतिम्।
संस्थापयित्वा मूर्धानं तेषां चरणपङ्कजे ॥२४॥
प्रश्नान्मनोगतान्पृच्छेत्स्वाज्ञानं च प्रकाशयेत्।
तेषामुत्तरवाक्यानां तात्पर्यं हृदि भावयेत् ॥२५॥

मुमुक्षु को चाहिये कि बड़े भारी प्रयत्न से विवेकी पुरुषों का संग करे। तब उनके चरणों में अपना सिर झुका कर अपने मनोगत प्रश्नों को पूछे। (जिस प्रकार रोगी अपनी दुर्बलता तथा रोग के कारण आदि को वैद्य के सामने प्रकट करता है इसी तरह) अपने अज्ञान को उन गुरुओं के सामने स्पष्ट खोल कर कह दे (जिससे कि वे उसके प्रतिकार की विधियें बता सकें) फिर जो कुछ वे उत्तर दें उनके तात्पर्य को बार बार हृदय में विचार किया करे।

नाधर्मो रोचते यस्य यस्य धर्मे सदा रुचिः।
काम्यधर्मे न च श्रद्धा मुमुक्षालक्षणं हि तत् ॥२६॥
रागद्वेषमदक्रोधलोभमत्सरवृत्तिषु।
स्वभावाद् ग्लानिमाप्नोति मुमुक्षा लक्षणं हि तत् ॥२७॥

जिस पुरुष की अधर्म में रुचि न होती हो, किन्तु (सम्पत्ति या आपत्ति दोनों समय) केवल धर्मानुष्ठान में ही प्रीति रहती हो, काम्यधर्मों में जिसे श्रद्धा न रही हो अर्थात् उनसे सुखी किंवा कृतार्थ होने की भावना जिसकी नष्ट हो चुकी हो, राग (स्त्र्यादिप्रेम) द्वेष, मद (देहादि में अहंकार के कारण अपने को ही सर्वोत्कृष्ट समझना) क्रोध, लोभ तथा मत्सर (परवृद्धि का असहन) इन भावों में जिसको स्वभाव से ही ग्लानि उत्पन्न हो गई हो, यह भी मुमुक्षु का चिन्ह कहाता है।

तत्र श्लोकः—प्रेक्षितुं न विजानाति प्रेक्षणे कुरुते मनः।
लज्जां जहाति नैवेयं वयः सन्धिरयं किल ॥२८॥

यह कोई नायिका अपने प्रियपति को दृष्टि (निगाह) भर कर देखना तो नहीं जानती, परन्तु उसे देखने के लिये इस

के मन में बार बार संकल्प विकल्प उठ रहे हैं (जो लज्जा इसके पति को अतृप्तनेत्रों से देखने में बाधक हो रही है उस) लज्जा को भी यह नहीं छोड़ती, यह अवस्था उस नायिका की बाल्य तथा यौवन काल की सन्धि कहाती है।

मुमुक्षा की ओर को चली हुई बुद्धि का भी यही हाल होता है क्योंकि प्रारम्भ में वेदान्तप्रतिपाद्य अर्थ को जानने का सामर्थ्य उस बुद्धि में नहीं रहता। मूढता, लज्जालुता, तथा लोककृत हास्य की शंका आदि ही इस असामर्थ्य के कारण होते हैं। उसको वेदान्तवक्ता गुरु तथा वेदान्तादि शास्त्रों के कथनानुसार आत्मा के दर्शन करने को बार बार संकल्प उठा करता है, जिस लज्जा आदि दोष के कारण अभेद ज्ञान में बाधा पड़ रही है, उस दोष को अभी यह बुद्धि छोड़ भी नहीं रही है, यही अज्ञान तथा ज्ञान अवस्था का सन्धिकाल कहाता है।

चलिता स्वामिगेहाय वधूः खिद्यति रोदिति।
इदमत्र समाधानं पदमग्रे दधाति यत् ॥२९॥

सद्योविवाहिता नववधू पतिगृह को जाने के लिये, पिता के घर से निकलते ही पूर्व प्रेमवश दुःखी होने और रोने पर भी रथ में बैठने के लिये पैर आगे को बढ़ाती ही चली जाती है। पैर आगे बढ़ाने से उसके माता पिताओं का समाधान हो जाता है कि यह प्रसन्नतापूर्वक जा रही है।

इसी प्रकार यह बुद्धिरूपी वधू जीवरूपी स्वामी के निर्विकार आत्मस्वरूप घर को जाने के लिये, अनादि काल से लेकर अब तक अपने पालनेवाले मोहरूपी पिता के तीनों देहों किंवा महा मोह रूपी घर से निकलते ही पूर्वस्नेह के संस्कारों के कारण कभी कभी खिन्न भी हो जाती है, रोदन भी करती है, परन्तु

उत्तरभूमिकाओं की ओर को बराबर बढ़ती चली जाती है, इसी से उसके आचार्य को उसके ब्रह्मप्राप्ति के विषय का सन्देह नष्ट हो जाता है।

अथ द्वितीया—

जिज्ञासा नाम की प्रथम भूमिका का निरूपण करने के अनन्तर अब विचार नाम की दूसरी भूमिका का निरूपण किया जाता है—

प्रकृतेर्लक्षणं त्वेतदिदं विकृतिलक्षणम्।
स्वरूपं पुरुषस्येदं तद्विचारस्य लक्षणम् ॥१॥

जो अधिकारी प्रकृति तथा विकृति के लक्षणों को पृथक् पृथक् जानता तथा असङ्ग उदासीन पुरुष के प्रकाश किंवा असङ्ग रूप को पहचानता है यही विचार का लक्षण कहाता है।

इदं सत्यमिदं मिथ्या त्विदं चेत्यमियं हि चित्।
इदं ब्रह्म त्वियं माया तद्विचारस्य लक्षणम् ॥२॥

तीनों कालों में अबाधित सत्य आत्मा का स्वरूप यह है (प्रकृति विकृति रूप) मिथ्या पदार्थ यह है, चेतना का विषय यह है, असंग कूटस्थस्वरूप चेतन वस्तु यह है, (देशकाल तथा वस्तुकृत परिच्छेदरहित सच्चिदानन्दस्वरूप) ब्रह्म यह है तथा (अघटित घटनाओं को उत्पन्न करने में समर्थ) माया यह है, इस प्रकार साक्षात् जान लेना विचार का लक्षण कहाता है।

कस्मिन्निदं कुतश्चेदं किमिदं केन वा कृतम्।
कथमेतद्विलीयेत तद्विचारस्य लक्षणम् ॥३॥

यह जगत् किसमें है ? किस कारण से यह उत्पन्न हुआ

है ? यह जगत् कैसा है ? इसे किसने बनाया है ? यह क्यों कर विलीन हो सकेगा ? ऐसे ऐसे विचारों का उठने लगना विचार कहाता है।

क ईश्वरश्च को जीवः का मुक्तिः किन्तु बन्धनम्।
किं द्वैतं कथमद्वैतं तद्विचारस्य लक्षणम् ॥४॥

ईश्वर कौन है ? जीव कौन है ? मुक्ति क्या है ? बन्धन कैसा होता है ? द्वैत क्या है ? अद्वैतपद कैसे मिलता है ? ये विचार उठें तो समझो विचार आ गया।

जब कोई अधिकारी इन निर्णयों पर पहुँच जाता है तो ये ही विचार के चिन्ह कहाते हैं।

नित्यानित्यविवेकेन नित्यवस्तुनि वस्तुता।
अनित्ये तुच्छता बुद्धिस्तद्विचारस्य लक्षणम् ॥५॥

नित्य तथा अनित्य पदार्थों को पृथक् पृथक् भले प्रकार जान कर नित्य आत्मवस्तु को ही सत्य समझ लेना, तथा जगत् के अनात्म पदार्थों में उदासीनता धारण कर लेना विचार का लक्षण कहाता है।

एवमभ्यासयोगेन विदुषां मनसा सह।
जायते ब्रह्मवादो यः सा तु प्रौढविचारणा ॥६॥

विवेकी पुरुषों को इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करते करते मन के साथ जब ब्रह्म के विषय में बातचीत होने लगती है (जब यही एक धुन चित्त पर सवार हो जाती है) तो यही प्रौढ विचार कहाता है।

स्वयंप्रकाशरूपोयं पृष्टः कोसीति संवदेत्।
अहमज्ञो न जानामि मामहं कोहमित्युत ॥७॥

वस्तुतः यह जीव स्वयंप्रकाशस्वरूप ही है परन्तु यदि कोई ज्ञानी उससे पूछे कि तू कौन है ! तेरा क्या रूप है ! तो उसको वह उत्तर देता है कि मैं कौन हूँ यह मैं नहीं जानता इसलिये मैं तो अज्ञानी हूँ यही उत्तर दे बैठता है ।

आत्मभानादृते नाहमज्ञ इत्युक्तिसंभवः ।
आत्मानमेव नो वेत्ति तर्ह्ययं जड एव हि ॥८॥

यदि उसको आत्मभान भी न माना जायगा तो उसका 'मैं अज्ञ हूँ' यह कहना ही ठीक नहीं हो सकेगा । वह आत्मा को सर्वथा ही नहीं जानता ऐसा यदि कहोगे तो उसको भी घटादि की तरह जड ही मानना होगा ।

जडत्वाच्च घटादीनि कथमेव प्रकाशयेत् ।
तस्मादयं स्वमात्मानं जानात्येवेति निर्णयः ॥९॥

वह आत्मा जड हो तो घटादि जड पदार्थों को किस प्रकार प्रकाशित कर सकेगा (लोक में देखते हैं कि जड कहे जानेवाले घटादि, दूसरे जड पदार्थों का प्रकाश नहीं कर सकते) ऐसी अवस्था में यही सिद्धान्त मानना चाहिये कि यह जीव अपने स्वरूप को जानता ही है ।

अथात्मानमसौ वेत्ति परन्तु न हि वेत्ति यत् ।
विशेषं स्वगतं तस्मात्स्वरूपाज्ञानवानयम् ॥१०॥

इन सब कारणों से यही मानना होगा कि यह आत्मा अपने स्वरूप को जानता हुआ भी अपने विशेष स्वरूप को नहीं जानता (अपनी विशेषताओं को नहीं पहचानता) है। इसका कारण यह है कि उस आत्मा में अज्ञान आ गया है इसलिये यह अपने असङ्ग अद्वितीय स्वप्रकाश चिन्मात्ररूप विशेषता को भूलकर अज्ञानी सा होगया है ।

अत्र ब्रूमो विशेषोत्र नास्त्यवाच्ये तु चिद्धने।
निर्विशेषस्वरूपेऽत्र विशेषं यदि वेत्ति सः ॥११॥
वेद्यत्वात् कल्पितः स्वस्मिंस्तेन किं तद्विचारणैः।

इस पर हमारा कहना है कि अवाच्य चिद्धन और निर्विशेष स्वरूप आत्मा में विशेष (अज्ञान) तो है ही नहीं, यदि कोई किसी विशेष (अज्ञानरूप) को देखता या जानता है तो वह प्रतीत होनेवाला विशेष वेद्य होने से कल्पित ही होगा उस (के स्वरूप तथा कार्य) का विचार करने से क्या लाभ होना है। (तब तो केवल बाध दृष्टि कर लेने मात्र से ही कार्य सिद्ध हो जायगा, उसका विचार करना आवश्यक नहीं रहेगा)।

निर्विशेषतया ज्ञातो निर्विशेषस्वरूपवान् ॥१२॥
पूर्णबोधस्तर्हिजातो जिज्ञासैव निरर्थिका।

यदि तो निर्विशेष स्वरूप वाले अविद्यारहित को निर्विशेष किंवा अविद्यारहित रूप से जान लिया जाय तब तो कहना होगा कि उसी समय उसे पूर्ण ज्ञान हो गया। ऐसी अवस्था में भी विशेष विचार निरर्थक ही हो जाता है।

किंजातीयः किंगुणोऽसौ किंचेष्टो नाम तस्य किम् ॥१३॥
किं प्रकारः किमाकारः किंविकारश्च पृच्छसि।

उस आत्मा की जाति क्या है ? उसमें गुण कौन से हैं ! उसकी चेष्टायें कौनसी हैं ? उसका नाम क्या है ? उसका स्वभाव (प्रकृति) और आकार कैसा है ? उससे उत्पन्न हुए विकार (पदार्थ) कौन कौन से हैं ? यदि तू ये प्रश्न करे तो सुन—

न जाति निर्गुणस्यास्य निश्चेष्टो नाम तस्य न।
निष्प्रकारो निराकारो निर्विकारः स निश्चितः ॥१४॥

(गुणवाले पदार्थ में जाति हुआ करती है) उस आत्मा में कोई गुण नहीं इसीलिये उसकी कोई जाति भी नहीं। वह आत्मा निश्चेष्ट किंवा निर्व्यापार है। किन्हीं क्रियायों किंवा व्यापारों के कारण नाम पड़ा करते हैं इसीलिये उसका नाम भी कुछ नहीं होता। (जाति गुण क्रिया तथा नाम से रहित होने से ही) उपनिषदों में उस आत्मा को निष्प्रकार (निःस्वभाव) निराकार तथा निर्विकार निश्चित कर दिया है।

सच्चिदानन्दरूपेण जिज्ञास्य इति चेद्वदेत् ॥१५॥
सच्चिदानन्दरूपेण ज्ञात एवायमेव हि।

यदि कहा जाय कि (आत्मा सामान्य रूप से ज्ञात होने पर भी) सत् चित् तथा आनन्द रूप से जिज्ञासा का विषय होगा सो भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रत्येक प्राणी अपने स्वरूप को सच्चिदानन्दरूप से ही तो अनुभव किया करते हैं।

अस्य विवरणम्—

अयमात्मा स्वमात्मानं सद्रूपेण न वेत्ति किम् ॥१६॥
अहमस्मीति जानाति नाहमस्मीति तद्वद।
अहमस्मीति जानाति पश्चाद्विज्ञेय आत्मनः ॥१७॥
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च यतते स्वयम्।
तस्मात्सद्रूपतायां तु नास्त्येवाज्ञानमात्मनः ॥१८॥

आत्मा अपने आप को सच्चिदानन्द रूप से जानता है यह बात अगले सन्दर्भ से खोलकर दिखाई जाती है—क्या यह आत्मा अपने आप को सद्रूप (विद्यमानरूप) से नहीं जानता है? यदि यह कहा जाय कि नहीं जानता तो बताओ वह अपने आपको 'मैं हूँ' ऐसा जानता है या 'मैं नहीं हूँ' ऐसा जानता

है ? विचार करने पर यही निश्चित होता है कि प्रथम 'मैं हूँ' 'मैं विद्यमान हूँ' इस प्रकार अपने आपको जानने के पश्चात् ही अपने विज्ञेय धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष के लिये प्रयत्न किया करता है। यदि उसे अपने आत्मा की सत्ता का ज्ञान न हो तो कोई किसी काम में प्रवृत्त ही क्योंकर हो। इसलिये आत्मा को अपनी सद्रूपता के विषय में कोई सन्देह नहीं है यह बात तो निश्चित हो गई।

चेतनोहं विजानामि घटादीनीति यो वदेत्।
स्वस्य चिद्रूपतायां तु तस्याज्ञानं न विद्यते ॥१९॥

जो आत्मा 'मैं चेतन हूँ घटपटादि वस्तुओं को जानता हूँ' इस प्रकार कहता है क्या उसको कभी अपनी चिद्रूपता के विषय में कोई सन्देह हो सकता है ?

सर्वं प्रियं स्वकामाय तस्मात्प्रियतमः स्वयम्।
तेनात्मनस्तु सा युक्ता स्पष्टैवानन्दरूपता ॥२०॥
तेनात्मनस्तु सा व्यक्ता सच्चिदानन्दरूपता।

सब कुछ अपने लिये होने से प्रिय होता है इसलिये कहते हैं कि स्वयं तो वह प्रियतम होना ही चाहिये। जब कि सब लोग सुख को ही प्रिय समझते हैं तो इससे आत्मा की सुखरूपता तो अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। यों आत्मा की सच्चिदानन्द रूपता यहाँ तक स्पष्ट हो चुकी। अब जिज्ञासा का क्या काम रहा ?

तस्मा त्स्वयंप्रकाशेस्मिन् सच्चिदानन्दरूपिणि ॥२१॥
आकाशे नीलिमा यद्वत्तोयं मरुमरीचिषु।

जले च नैल्यमन्येन चेतनेन प्रकाल्पितम् ।
अज्ञानं चित्स्वरूपेण स्वयं स्वास्मिन् प्रकाल्पितम् ॥२२॥

इसलिये (यही मानना होगा कि) सच्चिदानन्दरूप इस स्वयंप्रकाश आत्मा में, आकाश में दूसरों की कल्पित नीलिमा की तरह या मरुभूमि की सूर्यकिरणों में अन्यों से कल्पित जल की तरह अथवा श्वेत जल में परकल्पित नीलता की तरह ज्ञानैक-स्वरूप आत्मा ने अपने ही में अज्ञान पदार्थ की कल्पना कर डाली है।

मोहस्यापि स्वभावोऽयं विश्वरूपेण भासनम् ।
विद्यया नाशिते मोहे तत्स्वभावो न भासते ॥२३॥

अज्ञान का तो यह स्वभाव ही है कि वह जगद्रूप से प्रतीत हुआ करता है। विद्या से इस अज्ञान का नाश कर डालें तो अज्ञान का स्वरूप यह जगत् भी प्रतीत होना बन्द होजाता है।

जीवचैतन्यभास्यानां वृत्तीनां प्रलये लयः ।
वृत्तीनां प्रलयादेव न भासन्तेऽत्र वृत्तयः ॥२४॥
तत्पुनर्जीवचैतन्यं यथापूर्वं हि वर्तते ।
न पुनर्वृत्तिभासात्मा जीव स्तत्र विनश्यति ॥२५॥

प्रलय अर्थात् कारणरूप अज्ञान में अन्तःकरण का लय हो जाने पर जीवचैतन्य से प्रकाशित होनेवाली (कामादि) वृत्तियों का भी लय हो जाता है। वृत्तियों के प्रलय हो जाने से ही वृत्तियों का भास रुक जाता है। परन्तु वृत्तियों का प्रकाशक वह जीव चैतन्य तो पहले जैसा ही रहता है। वृत्तियों का प्रकाशक वह बिचारा जीव तब कुछ नष्ट नहीं हो जाता।

आत्मचैतन्यभास्थस्य मोहस्य प्रलये तथा ।
मोह एव निवर्तेत यथापूर्वं लसत्यसौ ॥२६॥

ठीक इसी प्रकार आत्मचैतन्य से प्रकाशित होने वाले अज्ञान के (ज्ञान द्वारा) विलीन हो जाने पर भी वह सच्चिन्मात्रस्वरूप आत्मा तो वैसा का वैसा ही प्रकाशित होता रहता है, वहाँ से केवल वह अज्ञान ही नष्ट हो जाता है ।

दीपप्रभाया मायातौ श्वेतकृष्णपटौ यथा ।
तौ तया काशितौ पश्चात्तन्नाशे सा यथास्थिता ॥२७॥
आत्मभायां समायातौ मोहबोधौ यथाक्रमात् ।
तया प्रकाशितौ पश्चात्तन्नाशे सा यथास्थिता ॥२८॥

दीपक के प्रकाश में श्वेत और कृष्ण दो वस्त्र लाये जाते हैं वह प्रकाश उन दोनों विरुद्ध रंगवाले वस्त्रों को प्रकाशित कर देता है, जब वे दोनों कपड़े वहाँ से हटा दिये जाते हैं तब वह प्रकाश फिर जैसे का तैसा ही रह जाता है । इसी प्रकार अनादि काल से लेकर यह अखण्ड आत्मज्योति जगमगा रही है उसके सामने अचानक ही कभी अज्ञान आजाता है और कभी ज्ञान आजाता है, वह उन दोनों को प्रकाशित कर देती है, काल चक्र से वह मोह तथा वह ज्ञान दोनों नष्ट हो जाते हैं, वह आत्म ज्योति तो फिर भी पहले जैसी निर्विकार ही शेष रह जाती है ।

जिस प्रकार अग्नि सब ईंधन को जलाने के पश्चात् स्वयं भी नष्ट हो जाती है इसी प्रकार ज्ञानाग्नि अपने विरोधी भाव रूपी अज्ञान को नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाती है फिर केवल आत्म मात्र शेष रह जाता है ।

वेदांन्तसंप्रदायेन कृत इत्यादिचिन्तने ।
असम्भावनया युक्ता विपरीतत्वभावना ॥२९॥
सा नश्यति द्वितीयायां प्रज्ञातैक्ष्ण्यं च वर्धते ।
'दृश्यते त्वग्रचया बुद्धचा' सा बुद्धिस्तस्य जायते ॥३०॥

वेदान्त सम्प्रदाय के अनुकूल इस प्रकार बार बार विचार करने पर इस (जीवब्रह्मैक्यरूपी) अर्थ की असम्भव बुद्धि नष्ट हो जाती है (अर्थात् वह इसे अंगीकार कर लेता है) साथ ही इस असंग अद्वितीय आत्मा को ससंग और सद्वितीय समझना भी छोड़ देता है अर्थात् उसकी विपरीतभावना भी नष्ट होजाती है। उसकी बुद्धि में तीक्ष्णता आने लगती हैं (जिससे अज्ञान का नाश करने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है)। श्रुति ने भी कहा है कि "सूक्ष्म बुद्धि से उस आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है" इस द्वितीयभूमिकावाले पुरुष को वैसी सूक्ष्म बुद्धि प्राप्त हो जाती है ।

सक्षारै रग्निसंस्कारै र्विहिते हेमशोधने ।
श्यामिका क्षयमायाति केवलं हेम तिष्ठति ॥३१॥
सतर्कै र्बोधसंस्कारै र्विहिते ब्रह्मशोधने ।
अविद्या क्षयमायाति केवलं ब्रह्म तिष्ठति ॥३२॥

जब कि सौने को सुहागा आदि क्षार डालकर अग्नि में तपा कर शुद्ध कर लिया जाता है तब उसकी मलिनता नष्ट होकर केवल शुद्ध सुवर्ण ही शेष रह जाता है। इसी प्रकार अनुकूल-तर्कसहित ज्ञान के दृढ संस्कारों से, असंगसच्चिदानन्द ब्रह्म पद के शुद्ध (विविक्त) हो जाने पर, यह अविद्या नटी मर जाती है इस भूमिकावाले की दृष्टि में तब केवल ब्रह्म ही शेष रह जाता है ।

अथ तृतीयभूमिकानिर्णयः

भूमिकाद्वितयाभ्यासा त्तृतीया तनुमानसा ।
मननापरपर्याया भवेत्तल्लक्षणं शृणु ॥१॥

जिज्ञासा तथा विचार नाम की पहली दो भूमिकाओं के अभ्यास करने से 'तनुमानसा' नाम की तृतीय अवस्था स्वयमेव आने लगती है जिसको 'मनन' भी कहा जा सकता है उसका लक्षण सुन लो—

सान्धकारगृहस्थस्य पर्यालोचनया चिरम् ।
सूक्ष्मोऽर्थो भासते यद्वत्तृतीयायां तथा मुनेः ॥२॥

अन्धेरे घर में बैठा हुआ मनुष्य जब बहुत काल तक घर में ढूँढता है तो फिर उसे सूक्ष्म वस्तुयें भी दीखने लग पड़ती हैं। तृतीया भूमिका में भी मुनि की यही अवस्था होती है।

जब मनुष्य (बाहर प्रकाश में से आकर) किसी अन्धेरे घर में कुछ पदार्थ लेने के लिये प्रवेश करता है तो उसको थोड़ी देर चुपचाप खड़ा रहना पड़ता है, जब आँखों में भरी हुई बाहर की ज्योति धीरे धीरे निकल जाती है तब चारों ओर देखने पर वे सूक्ष्म पदार्थ भी दीखने लगते हैं (जो कि पहले उसकी दृष्टि में नहीं आते थे) इसी प्रकार कुछ काल पर्यन्त प्रथम द्वितीय भूमिका के अभ्यास के अनन्तर तृतीय भूमिका में चिरकाल तक ठहरने पर मनन करने से जीवब्रह्मैक्यरूपी सूक्ष्म अर्थ भी उस अधिकारी को भासने लग पड़ता है। इसकी आँखों में से संसार की चकाचौंध (जो कि आत्मदर्शन में विघ्न कर रही थी) निकल जाती है।

बालस्य शूद्रकल्पस्य गायत्र्या उपदेशतः ।
यथा द्विजत्वमायाति तथा जात्यन्तरं मुनेः ॥३॥

जब तक बालक का यज्ञोपवीत संस्कार तथा वेदारम्भ नहीं होता तब तक वह शूद्रतुल्य रहता है परन्तु गायत्री का उपदेश करते ही उसमें द्विजत्वरूपी दूसरी जाति उत्पन्न हो जाती है, इसी प्रकार तृतीय भूमिका में आ जाने पर मुनि में मुनित्व रूपी दूसरी जाति उत्पन्न हो जाती है अर्थात् वह मुनि हो जाता है ।

दृष्ट्वा लोकस्थितिं लोलां सविस्मय इव स्थितः ।
अन्तरेव विषीदेत तृतीया लक्षणं हि तत् ॥४॥

वह मुनि संसार की चंचल स्थिति को देखकर चकित सा रह जाता है । उसके मन में (केवल एक ही) विषाद रहने लगता है (कि कहीं ज्ञानपरिपाक से प्रथम ही मेरा यह शरीर नष्ट न हो जाय) यही तनुमानसा नाम की तृतीय भूमिका का लक्षण कहाता है ।

दिनं गतं गता रात्रि र्गतमायु र्गतं वयः ।
कदा स्थास्यामि निष्ठायां यत्र मोहो न बाधते ॥५॥

तृतीय भूमिकारूढ पुरुष को सदा यही चिन्ता रहती है कि यह दिन भी व्यर्थ गया, यह रात्रि भी निष्फल गयी, यह युवावस्था भी व्यर्थ चली गयी, अब तो यह जीवन भी व्यर्थ ही जा रहा है, मुझे ऐसी निष्ठा अर्थात् ऊँची अवस्था कब प्राप्त होगी जब कि मुझे यह अज्ञान दुखी न कर सकेगा ।

गतेह्नि शोचति मुहु र्गतेनाह्ना किमर्जितम् ।
गतायां च तथा रात्रौ किं मे रात्र्यानयार्जितम् ॥६॥

तृतीय भूमिकावाला मुनि दिन के बीतने पर शोक करता है कि ओह! इस पिछले दिन मैंने (परमार्थ के लिये) कुछ भी नहीं कमाया, रात के बीतने पर वह फिर शोक करने लगता है कि ओह! मेरी पिछली रात भी तो निष्फल ही गई है (उसमें भी तो मोक्ष की तरफ को मैं एक पैर भी नहीं बढ़ा सका हूँ)।

अनिषिद्धेषु भोगेषु प्राप्तेष्वपि यदृच्छया ।
निषिद्धानिव तान्पश्येत् सा स्थितिस्तनुमानसा ॥७॥

'तनुमानसा' भूमिका में जाने पर अधिकारी की ऐसी कुछ अवस्था हो जाती है कि जो भोग प्रारब्धवश उसे प्राप्त होवें जिन को भोगने को न शास्त्र ही निषेध करता है और न लोकाचार से ही वे बुरे समझे जाते हैं, तो भी वह उन्हें निषिद्ध सा समझता है (ऐसी उदार स्थिति जब आजाय तो समझ लेना कि 'तनुमानसा' आगयी)।

बहिर्मुखजनस्तुत्या लज्जते निन्दितो यथा ।
परमार्थिजनस्तुत्या प्रसादमधिगच्छति ॥८॥

बहिर्मुख लोग जब उस मुनि की बड़ाई करते हैं तो वह उसे निन्दा सी समझ कर लज्जित होता है, परमार्थी लोगों की स्तुति से ही उसको प्रसन्नता का लाभ होता है।

तत्र श्लोकः—

अस्यै तु पतिरात्मानं दातु मुत्कण्ठितः सदा ।
आदातुं न विजानाति नित्यमुत्कण्ठितापि सा ॥९॥

अब श्रृंगार रस के तीन श्लोकों द्वारा तृतीय भूमिका के पुरुष के अद्भुत लक्षण बताये जाते हैं।

उसका पति उसको अपना आपा देने को सदा उत्सुक

रहता है, उधर वह वधू भी उत्कण्ठित तो है परन्तु वह बिचारी उस (पति) का स्वीकार करना नहीं जानती।

इसी प्रकार तृतीय भूमिकारूढ पुरुष की अवस्था रहती है। इस तृतीय भूमिका तक चढ़ी हुई मोक्षेच्छावाली बुद्धि ही स्त्री है, सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा ही उसका पति है, वह अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को इस बुद्धि के भोग के लिये देना चाहता है, उधर इस मुमुक्षुबुद्धि को भी सदा इसके पाने की ही उत्कण्ठा लगी रहती है, परन्तु संसार के लोकैषणा आदि बन्धनों से रुक रुक कर यह बुद्धि उस सच्चिदानन्द का भोग नहीं ले सकती।

सौभाग्यकामिनी नारी नायको रतिदायकः।
परन्तु मुग्धभावेन किंचित्कालं विलम्बनम् ॥१०॥

स्त्री को भी सौभाग्य की इच्छा है और पति भी उसे भोग सुख देने को तैयार है। फिर भी मुग्धता के कारण कुछ विलम्ब स्वभावतः हो ही जाता है।

यहाँ पर वैराग्यादिसम्पन्न पुरुष की प्रपंच से विरक्त हुई बुद्धि ही स्त्री है, उसको असंग अद्वितीय स्वरूप को प्राप्त करके सौभाग्य पा लेने की बड़ी इच्छा है, विवेक ही यहाँ पर नायक पुरुष है, वह भी यह चाहता ही है कि बुद्धि को किसी तरह जीव ब्रह्म की एकतारूपी रति प्राप्त हो जाय। इस प्रकार साधन-सम्पन्न बुद्धि तथा विवेक इन दोनों के होने पर भी, जब तक ज्ञान के प्रतिबन्धक पापों का सर्वथा नाश नहीं हो जाता, तब तक विलम्ब हुआ ही करता है।

इदमेव कथं नु स्यादिति क्लिश्यति चात्मना।
भूयः कटाक्षकलहं करोति स्वामिना सह ॥११॥

पति के भोग से न मालूम कैसा सुख होता होगा यही

विचार विचार कर उसके न मिलने पर उसका अपने पति के साथ बार बार कटाक्षकलह चलता है अर्थात् पति के साथ बार बार दो दो आँखें होती ही हैं।

प्रकरण में तो साधनसम्पन्न मुमुक्षुबुद्धि (प्रपंचदुःख से रहित केवल) आत्मसुख न मालूम कैसा आनन्ददायक होता होगा, यह विचार विचार कर दुखी होती रहती है, अर्थात् आत्मसुखसाधनों में क्लेश को अनुभव करती है। भाव यह है कि जब उसे भोगेच्छा होती है तब तो मोक्षसुखसाधनों में क्लेश मानती है और जब उसे आत्मसुखेच्छा उत्पन्न होती है तो भोगसाधनों से विरक्त हो जाती है। ये दोनों अवस्थायें बार बार साथ साथ ही चलती रहती हैं। वह मुमुक्षुबुद्धि मूढता के कारण वैषयिकसुखों को सर्वात्मना त्याग नहीं सकती इसलिये आत्मसुख की इच्छा होने पर भी आत्मसुख का अनुभव उसे नहीं हो पाता। परन्तु उस मुमुक्षाबुद्धि में सुखप्राप्ति की इच्छा के विद्यमान होने का यही एक चिन्ह है कि वह अपने स्वामी आत्मदेव की तरफ़ को प्रेमभरी दृष्टि से बार बार निहारती है, मूढता के कारण कभी कभी विरुद्ध विचार भी उसमें उदय होते ही रहते हैं।

अथ चतुर्थभूमिकानिर्णयः

तृतीयभूमिकाभ्यासा न्नाशमेति रजस्तमः।
सत्वापत्ति श्चतुर्थी स्या न्निदिध्यासनरूपिणी ॥१॥

तनुमानसा नाम की तृतीय भूमिका के अभ्यास से जब रज तम (और इनके कार्य राग तथा मूढता) नष्ट हो जाते हैं तब

निदिध्यासन (निश्चय) रूपिणी 'सत्वापत्ति' नामक चतुर्थ भूमिका स्वतः ही प्राप्त हो जाती है।

अथाक्षेपपरिहारः—

भोगार्थमेव देवत्वं प्राप्ता देवा न मुक्तये।
मुमुक्षाविरहात्तेषां सत्वापत्तिर्न मुक्तिकृत् ॥२॥

यदि कोई पूछे कि—सत्वापत्ति होने पर भी देव लोग मुक्त क्यों नहीं हुए ? तो इसका उत्तर दिया जाता है—सत्वगुणप्रधान देवपद को उन लोगों ने केवल भोगों के लिये प्राप्त किया है मुक्ति के लिये नहीं, मुमुक्षा न होने से उनकी सत्वापत्ति उन्हें मोक्ष नहीं दिला सकती।

देवेष्वपि तथा शक्रकुवेरवरुणादयः।
ये मुमुक्षां गतास्तेषां मुक्तिप्राप्तिः किमद्भुतम् ॥३॥

देवों में भी जिन शक्र, कुवेर वरुण आदि को मुमुक्षा उत्पन्न हो गयी, वे शक्रादि देव लोग तो मुक्ति को प्राप्त हो ही गये हैं इसमें आश्चर्य ही क्या है!

अर्थात् मुक्ति की इच्छा रखते हुए सत्वापत्ति यदि हो जाय तो मुक्ति मिल सकती है। भोगेच्छा रखते हुए यदि सत्वापत्ति होगी भी तो भी उससे मुक्ति का लाभ न हो सकेगा।

अथ लक्षणानि—

एकान्ते मुक्तिगाथानां गानं रोदनमेव च।
रोमांचो गद्गदः कण्ठे सत्वापत्तेस्तु लक्षणम् ॥४॥

किसी निर्जन स्थान में बैठकर मुक्तिगाथाओं का पठन करते करते (उनको पढ़ने से अपने शरीरबन्धन को स्मरण कर

करके) कभी रोने लगना, कभी रोमांच होना तथा कभी कण्ठ का गद्गद् हो जाना ये चतुर्थभूमिका के लक्षण कहाते हैं।

स्वमतमाह—

वेदान्ताः सम्यगभ्यस्ता अथ ध्येयो महेश्वरः।
प्राप्तातिसौरभे भृंगे रसपानं गुणाधिकम् ॥५॥

ग्रन्थकार अपने मत से सत्वापत्ति का चिन्ह बताता है—मुमुक्षु बार बार यही विचार करता है कि मैंने वेदान्तों का अभ्यास तो भले प्रकार कर लिया, अब मुझे ग्रन्थाभ्यास छोड़कर महेश्वर (ईश्वरों के भी ईश्वर) का ध्यान करना चाहिये, क्योंकि भ्रमर को पुष्प का सुगन्ध ले चुकने के बाद रसपान ही अधिक आनन्ददायक होता है।

नित्योस्मि शुद्ध एवास्मि क्काज्ञानं क्क च बन्धनम्।
एवमादिचमत्कारः सत्त्वापत्तेस्तु लक्षणम् ॥६॥

मैं तो नित्य हूँ, मैं तो शुद्ध ही हूँ, मेरा वह अज्ञान कहाँ चला गया, उस अज्ञान का पुत्र बन्धन भी अब कहाँ है इस प्रकार की अन्तःस्फूर्ति सत्वापन्न पुरुष को बार बार हुआ करती है।

यथा निजकथा स्तद्वच्छृणोत्युपनिषत्कथाः।
यथान्यस्य कथा स्तद्वच्छृणोति जनसंकथाः ॥७॥

जिस प्रकार (संसारी) लोग (खुशामदियों के मुख से) अपनी गुणस्तुति सुनते सुनते हर्षाविर्भाव से फूलने लगते हैं इसी प्रकार यह चतुर्थभूमिकावाला पुरुष आत्मतत्व का प्रकाश करनेवाली उपनिषद्वार्ताओं को सुन सुनकर हर्षनिर्भर हो जाता है। अपने शत्रु के गुणकीर्तन को जिस प्रकार लापरवाही

लौकिक लोग सुनते हैं इसी प्रकार वह भी अपनी जन्मगाथाओं को बड़ी उपेक्षादृष्टि से सुना करता है।

देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्ध्यहंकारचेतसाम् ।
निरीक्ष्य विविधाश्चेष्टा आस्ते विस्मितवन्मुनिः ॥८॥

वह मुनि तो देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त की नाना चेष्टाओं को देख देखकर चकित सा बैठा रह जाता है कि यह सब क्या हो रहा है ?

ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वजन्ममृत्युजरादिकान् ।
भावानन्यस्य जानाति तदन्यं भावमात्मनः ॥९॥

सत्वापन्न पुरुष ज्ञत्व, कर्तृता, भोक्तृता तथा जन्म, मृत्यु, जरा आदि विकारों को अपने से भिन्न चिदाभास के ही जानता है। अपने स्वरूप को तो वह इन सब विकारों से रहित ही निश्चय किये रहता है।

मोहजालाद्विनिर्गत्य जालादिव विहङ्गमः ।
खेचरत्व मनुप्राप्तो धन्यतामनुविन्दति ॥१०॥

भाग्यवश किसी जाल से छुटकर आकाश में स्वच्छन्द उड़ने में जो आनन्द या जो कृतकृत्यता किसी पक्षी को प्राप्त होती है यह सत्वापन्न पुरुष भी उसी तरह अज्ञानरूपी मोहजाल से छुटकर धन्यता को अनुभव करने लगता है।

दरिद्र इव संप्राप्य निधानं विस्मयं गतः ।
ईश्वरानुग्रहो जात इति नृत्यति हृष्यति ॥११॥

किसी निधि को पाकर जिस प्रकार कोई दरिद्र चकित हो जाता है नाचने और प्रसन्न होने लगता है इसी प्रकार सब सुखों के निधान परमानन्दस्वरूप आत्मा का दर्शन करके आश्चर्य से

पूर्ण होने के अनन्तर 'ओहो ! ईश्वर का अपार अनुग्रह मुझ पर हो गया है यह समझ कर' वह मुनि कभी तो नाचने लगता है और कभी प्रसन्न हो जाता है।

विषयैः शब्दसंस्पर्शगन्धरूपरसैर्न यः।
प्रियैरपि भवेत्तादृक्सात्विकानन्दमागतः ॥१२॥

इस सत्वापन्न पुरुष को ऐसा उत्तम आनन्द आता है कि वैसा आनन्द प्यारे से प्यारे शब्दादि विषयों से भी आ ही नहीं सकता।

व्यतिरिक्तमिवात्मानं पश्यन्भावेषु सन्नपि।
चाण्डालीमिव यो मायां न स्पृशन्दूरवत्स्थितः ॥१३॥

चतुर्थ भूमिका वाला मुनि भावों में रहता हुआ भी उनसे अपने आपको पृथक् सा देखता रहता है, वह माया के स्पर्श से अपने आपको ऐसा बचाता है जैसे कोई ब्राह्मण आदि चाण्डाल के स्पर्श से बचते हों।

औदासीन्येन यः पश्ये त्स्वप्नाभं जागरे जगत्।
सत्वापत्तिपरीपाकलक्षणं तदुदाहृतम् ॥१४॥

जब चतुर्थभूमिकारूढ मुनि जाग्रत अवस्था में भी उदासीन (निष्प्रयोजन) होकर इस जगत् को इस प्रकार देखने लगा है जैसे कोई स्वप्नकाल के जगत् को तुच्छ समझ कर देखता है तब वह उसकी परिपाकावस्था कही जायगी।

अत्रश्लोकः—

भावः सम्यक् परिज्ञातो ग्रहणेपि मनः कृतम्।
आदानमवशिष्टं हि कृत्वा भूषणमात्मनः ॥१५॥

चतुर्थी के लक्षणों को शृंगार श्लोकों से बताया जाता है— स्त्री पुरुषों ने परस्पर का भाव भी भले प्रकार जान लिया, शरीर

को सजाकर परस्पर अंगीकार करने का संकल्प भी कर लिया, अब तो केवल किसी शंका के कारण अंगीकार करना ही शेष रह गया है।

प्रकृत में इसी प्रकार मुमुक्षाबुद्धि ने आत्मा के भाव (सत्ता) को भले प्रकार जान लिया, साधनचतुष्टयरूपी अलंकार भी पहन लिये, आत्मत्वाङ्गीकार करने का निश्चय भी कर लिया अब तो किसी प्रतिबन्ध के कारण केवल अङ्गीकार करना ही शेष रह गया है।

अहं त्वनूढा तरुणी न कस्यापि परिग्रहः।
एनमेव वरिष्यामि पतिं को वा हसिष्यति ॥१६॥

मेरा तो अभी तक किसी से विवाह नहीं हुआ, मैं तो अब युवती भी हो गई, अभी तक मैं किसी की भी नहीं हूँ, मैं तो इस को ही वरण करूँगी, इसके साथ विधिपूर्वक विवाह करने पर फिर मुझे कौन हँसेगा! (अर्थात् विधिपूर्वक विवाह करने पर हँसी भी न होगी और शंकारहित भोगसुख भी प्राप्त होगा)।

मुमुक्षाबुद्धि की भी ऐसी ही अवस्था होती है वह भी मोह आदि किसी वर से अस्पृष्ट होती है, मोक्षसुख का अनुभव कर सकने की योग्यता रूप यौवन भी उस बुद्धि में होता है, वह किसी अहंकारादि के वश में आई हुई नहीं होती, परन्तु बिना किसी पवित्र आधार के ऐसी वृत्ति का स्थिर रहना महाकठिन हो जाता है, इसलिये वह इस सच्चिदानन्दरूप आत्मा को ही अभेदरूप से अंगीकार करने को तैयार रहती है। श्रुति के बताये हुए आत्मतत्व को साक्षात् करने पर उसे कौन हँस सकता है।

हतः कामी कटाक्षेण कयाचिन्मृगचक्षुषा।
व्यसनित्वमवाप्नोति तथायं मुक्तिकान्तया ॥१७॥

किसी मृगाक्षी सुन्दरी के कटाक्षों से जिस प्रकार कामी विह्वल हो जाता है और वह उसका व्यसनी बन जाता है इसी प्रकार यह सत्वापन्न पुरुष भी मुक्तिरूपी स्त्री के ब्रह्माभेदरूपी कटाक्षों से विद्ध होकर मुक्तिरूपी सुख का व्यसनी बन जाता है (फिर उसे मुक्ति सुख के अतिरिक्त और सुख अच्छे नहीं लगते)।

गुञ्जद्भृङ्गिध्वनिं श्रुत्वा गुञ्जन्कीटो यथा बिले।
ब्रह्मास्मीति तथैवायं भवितुं ब्रह्म गुञ्जति ॥१८॥

भृंगी की ध्वनि को सुनकर वह कीड़ा भी गुञ्जारने लगता है और गुञ्जारता हुआ ही वह उसी की सूरत का बन जाता है। इसी प्रकार यह सत्वापन्न पुरुष स्वदेहरूपी बिल में ठहर कर उस देह के सामने बैठे गुरुरूपी भ्रमर के 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्य की ध्वनि को सुनकर मैं ही ब्रह्म हूँ इस प्रकार आवृत्तिरूप में गुंजारने लगता है।

अथ पंचमभूमिका

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसक्तिस्तु पंचमी ।
सुषुप्ति प्रथमावस्था साक्षात्कारनवांकुरा ॥१॥

चारों भूमिकाओं का अभ्यास करने से असंसक्ति नाम की पाँचवी अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस अवस्था को सुषुप्ति की प्रथम अवस्था अर्थात् शिथिल निद्रा माना गया है। इस अवस्था में से साक्षात्कार रूपी नये अंकुर का जन्म होता है।

सापरोक्षा नैव निशा शृणु तस्यास्तु लक्षणम् ।
प्रथमः स्वचमत्कारः स्वरूपानन्दलक्षणः ॥२॥

उस अवस्था के लक्षण सुनो! उस अवस्था के आते ही ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। (इस अवस्था के आने पर विषय

रूपी द्वैत का प्रकाश बन्द हो जाता है इस अर्थ में रात्रि के तुल्य होने पर भी इस में ब्रह्म का प्रत्यक्ष हुआ रहता है) इसलिये उसे रात्रि नहीं कहा जा सकता। इसके आते ही आत्मचमत्कार का प्रथमानुभव हो जाता है। यह अवस्था आत्मानन्द का चिन्ह कहाती है।

ब्रह्मत्वसंस्मृतिः सैव सैव जीवत्वविस्मृतिः।
तदेवाज्ञानमरण मममृतत्त्वं तदेव हि ॥३॥

इस पंचम अवस्था के आने पर पारमार्थिक ब्रह्मत्व की दृढ स्मृति उत्पन्न होजाती है, अपने में आरोपित जीवत्व का उस समय विस्मरण होजाता है, इस अवस्था के आने पर महामोह का नाश होजाता है। इसीको अमरपद किंवा मोक्ष कहा गया है।

आविर्भूता तु सा नैव नाविर्भूतत्वभाक् पुनः।
कथं भूयो भ्रमत्येष भ्रान्तिरेव गता यदि ॥४॥

इस अवस्था का जब एक बार अविर्भाव होजाता है तब संसार का व्यवहार करते हुए भी फिर इसका अभिभव कभी नहीं होता (अर्थात् फिर इस वृत्ति के नष्ट होने का डर नहीं रहता, फिर यह वृत्ति साधक को स्वयं ही नहीं छोड़ती) क्योंकि इसका भ्रम जब एक बार निवृत्त होगया है तो फिर उसे भ्रान्ति उत्पन्न ही कैसे हो ?

यथा वर्तुलपाषाणा गिरेः शिखरतश्च्युताः।
ध्वंसन्त्येव न तिष्ठन्ति विकारास्तद्वदत्र हि ॥५॥

पर्वत के शिखर पर से गिरे हुए गोल पत्थर जिस प्रकार बीच में कहीं नहीं रुकते और गिरते ही गिरते नष्ट हो जाते हैं,

इसी प्रकार पंचमभूमिका वाले पुरुष के रागद्वेषादि विका[र] उस ज्ञानी का ग्रन्थिभेद हो जाने के कारण निर्बल होकर) न[ष्ट] ही हो जाते हैं (फिर वे विकार उस ज्ञानी में कभी भी स्थि[र] नहीं रह सकते)।

मुनिरर्धकटाक्षेण यं विकार मवेक्षते।
सद्यः पतत्यसौ पृथ्व्यां नोत्तिष्ठति यथा पुनः ॥६॥

जिस कामादि विकार को यह मुनि अर्धकटाक्ष (ईषद्विवे[क] वृत्ति) से भी देख लेता है वह विकार बुद्धिरूपी पृथिवी प[र] उसी समय गिर पड़ता है फिर वह विकार (पहले की त[रह] आत्मा का धर्म बनकर) उत्पन्न नहीं हो सकता। प्रारब्ध भो[ग] तक प्रतीत होनेवाले भी वे विकार उस ज्ञानी को बुद्धि में [ही] प्रतीत होते हैं।

गीता भी कहती है कि—

'गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।'

ज्ञानी पुरुष यह समझ कर संसार में सक्त नहीं हो[ता] कि ये बुद्धि इन्द्रिय आदि अपने अपने विषयों में व्यवहार क[र] रहे हैं मुझ आत्मा का तो इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

अविगीते न तुष्येत्तु विगीते न विषीदति।
विस्मरत्यखिलं कार्यं रमते स्वात्मनात्मनि ॥७॥

लोगों को प्रसन्न करनेवाली बातों से तो उसे कुछ प्रसन्न[ता] नहीं होती, तथा रुष्ट करनेवाले प्रसंग से उसे कुछ विषाद [भी] नहीं होता। संसार के संपूर्ण कार्यों को वह भूल जाता है, [वह] तो अपने आप से अपने आप में ही रमण करने लगता [और] आत्माराम हो जाता है।

भूताविष्ट इवाकस्मा द्वर्णाश्रमविधिक्रमम् ।
प्रेरितः पूर्वसंस्कारैः करोति न करोत्यपि ॥८॥

यह ज्ञानी भूताविष्ट की तरह वर्णाश्रमविहित कर्मों को पूर्वसंस्कारों की प्रेरणा से करता तो है परन्तु अपनी दृष्टि में कर्तृत्व के बाधित हो जाने से वह वस्तुतः कुछ भी नहीं करता ।

यथैव लौकिकज्ञाने प्रमाणं चक्षुरादयः ।
ब्रह्मज्ञानस्य विषये तथैवोपनिषन्मता ॥९॥

लौकिक पदार्थों के ज्ञान के लिये चक्षुरादि इन्द्रियाँ जैसे परमावश्यक हैं इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान के लिये उपनिषद्विचार ही परमावश्यक माना गया है ।

यत्साक्षित्वा त्प्रमाणानि तानि कस्तत्रसंशयः ।
विधिकिङ्करतां त्यक्त्वा ह्यकिञ्चित्करतां गतः ।
अकिंचनत्व मापन्नो न चिन्तयति किञ्चन ॥१०॥

पंचमभूमिकारूढ़ पुरुष को अपने आत्मा की इस शुद्ध स्थिति में कुछ भी सन्देह नहीं रहता कि ये लौकिक चक्षुरादि तथा वैदिक उपनिषदादि प्रमाण मेरे साक्षीपने से ही प्रमेय का प्रकाशन करने में समर्थ हो रहे हैं । वह तो विधि की दासता को छोड़कर अकिञ्चित्कर हो जाता हैं (क्योंकि उसे तो आत्मा के अकर्तृत्व का दृढ़ निश्चय प्राप्त हो चुकता है) इस प्रकार वह अकिञ्चन ब्रह्मपने को प्राप्त होकर किसी का भी चिन्तन नहीं करता) ।

संलग्ने प्यातपे भानो र्हिमाचलशिलेव यः ।
बहिरन्तश्च संपूर्णः शीतलत्वं न मुञ्चति ॥११॥

हिमालय की बृहत् शिला जिस प्रकार सूर्य के ताप के लगने पर भी बाहर और भीतर परिपूर्ण हुई अपनी शीतलता को नहीं

छोड़ती, इसी प्रकार पंचमभूमिकावाला पुरुष अहंकाररूपी सू
के दुःखरूपी ताप लगने पर भी अन्दर बाहर सुखरूप से संपूर्ण होने
के कारण अपनी शीतलता किंवा संपूर्णता को कभी नहीं छोड़ता।

स्फटिकः स्फटिकत्वज्ञः सलिलं सलिलत्ववित्।
गगनं गगनत्वज्ञं यदि स्यात्सा दशा चितः ॥१२॥

स्फटिक पत्थर को यदि अपने निर्मलत्व का भान होता,
जल को यदि अपने शीतल रूप का ज्ञान होता, आकाश को यदि
अपने असंग रूप की प्रतीति होती तो इन उदाहरणों से इस
पंचमभूमिकावाले पुरुष की दशा को बताया जा सकता था
(अर्थात् अभूतोपमा से वह तो निरुपम ही है)।

बुधो यथा न मुह्येत नानारङ्गगृहेष्वपि।
तथा मुह्यति नात्मायं नानारंगग्रहेष्वपि ॥१३॥

नाना रंगोंवाले घर में रहता हुआ भी चतुर पुरुष जिस प्रकार
मोह को प्राप्त नहीं होता इसी प्रकार नाना प्रकार के ग्रहों (इन्द्रियों)
में व्यवहारदृष्टि से रहता हुआ भी यह ज्ञानी पुरुष अपने सत्
स्वरूप को कभी नहीं भूलता। वह इन इन्द्रियों के धोके में
कभी नहीं आता।

योगी क्रीडति निद्राति हसत्यपि वदत्यपि।
बहिर्मुखैरपि जनैः पिशाचैरिव शंकरः ॥१४॥

जैसे शंकर भगवान् पिशाचों के साथ क्रीडा करते हुए भी
अपने स्वभाव से च्युत नहीं होते इसी प्रकार योगी भी बहिर्मुख
लोगों के साथ खेलता भी है, सोता भी है, हँसता भी है तथा
संभाषण भी करता रहता है (परन्तु इससे उसका योगित्व नष्ट
नहीं हो जाता)।

न प्राप्तपरमार्थस्य तुलामर्हति वासवः ।
वासव स्तत्पदाकांक्षी न स वासवताप्रियः ॥१४॥

जिस पुरुष को परमार्थ पा गया है उसकी बराबरी इन्द्र भी नहीं कर सकता। क्योंकि इस पंचमभूमिकावाले पुरुष के पद को इन्द्र भी प्राप्त करना चाहता है परन्तु उसे तो इन्द्र बनने की कभी स्वप्न में भी इच्छा नहीं होती।

वन्हिपक्कं यथा मांसं पूर्ववात्स्थित मस्थिषु ।
संसक्त मप्यसंसक्तं स्वशरीरे तथा मुनिः ॥१६॥

अस्थिसन्धियों किंवा अस्थियों में लगा हुआ मांस बटलोई आदि में पकाने पर फिर उन हड्डियों में लगा तो रहता है परन्तु पहले की तरह चिपटा नहीं रहता। इसी प्रकार यह पंचमी-भूमिकावाला मुनि अपने देह में आसक्त सा तो दीखा करता है परन्तु अहंकारादि का बाध कर देने से वस्तुतः पहले की तरह आसक्त नहीं रहता।

तत्र श्लोका:—

इयं पराङ्मुखीभूय पतिं प्रत्यगवेक्षते ।
प्रेमप्रसन्नया दृष्ट्या ह्यस्या यौवन मागतम् ॥१७॥

यह नायिका पति की ओर से मुँह फेर कर उधर से ही प्रेमभरी दृष्टि से अपने पति को देखती है यह इसके यौवन (भोग-समर्थ अवस्था) के आने का चिन्ह है।

प्रकृत में यह पंचम्यारूढ बुद्धि ही नायिका है, व्यवहार काल में अहंकारादि शरीरान्त पदार्थों में संसक्त हो जाना ही आनन्ददायक आत्मा की ओर से 'मुँह फेर लेना' है, परन्तु व्यवहार करते हुए भी अन्तर्मुख होकर आत्मचिन्तन करते रहना ही 'उधर से देखना' कहाता है। यही उस बुद्धि की प्रौढावस्था

आजाने का चिन्ह है। स्वात्मसुख के अनुभव करने की सामर्थ्य ही उसका 'यौवन' अथवा प्रौढावस्था कहाती है।

न खेलति वयस्याभिः शिथिला गृहकर्मणि।
रहः पश्यति चिन्हानि प्राप्ता प्राणपतेः सुखम् ॥१८॥

जब कि यह नायिका अपनी समानवयस्क कन्याओं के साथ खेलना बन्द कर देती है, अपने घर के संमार्जन तथा लेपनादि कामों में भी ढील करने लगती है, और एकान्त में अपने यौवन के चिन्हों को देखा करती है, तब यही अनुमान होता है कि इसको प्राणपति का भोगसुख प्राप्त हो चुका है।

प्रकृत में यह पंचम भूमिकारूढ बुद्धि ही नायिका है। शान्ति, दान्ति, तितिक्षा, उपरति आदि इसकी समवयस्क कन्यायें हैं। आत्मसुखरूप अपने प्रयोजन का लाभ हो जाने पर अब निष्फल समझ कर इसने उनके साथ खेलना बन्द कर दिया है। स्ववर्णाश्रमविहित कर्म तथा भोजनादिक ही इस शरीररूपी घर के संमार्जन तथा लेपन आदि कर्म माने गये हैं उनमें अब यह ढीलढाल करती ही रहती है। दूसरों की बातें आदि बड़ी लापरवाही से सुनती है। एकान्त निर्जनस्थान में बैठ कर अपनी आत्मविषयक स्थिरता किंवा अस्थिरता अथवा आत्मा के ही सत्, चित् तथा आनन्द आदि लक्षणों को विचारा करती है। तब यही अनुमान होता है कि इस पंचम्यारूढ बुद्धि को अवश्य ही आत्मसुख प्राप्त हो चुका है।

न वेषो विहितः कश्चिन्न वा वचनचातुरी।
किन्तु प्रेमातिसातत्या द्वालया लालितो हरिः ॥१९॥

बाला राधादेवी ने न तो कुछ शृंगार ही बनाया और

वाणी का कौशल ही दिखाया, किन्तु केवल लगातार प्रेम की झड़ी से श्रीकृष्ण को वश में कर लिया था।

प्रकृत में पंचमभूमिकारूढ सूक्ष्मबुद्धि ही बाला है। संन्यास धारण कर लेना ही उसका श्रृंगार है। पाण्डित्योपार्जन करना ही उस वाणी का कौशल है। सो उसने ये दोनों उपार्जन नहीं किये हैं। किन्तु केवल गाढ स्नेह के निरन्तर प्रवाह से ही आत्मस्वरूप हरि को वश में कर लिया है। किंवा साक्षात् कर लिया है।

नालंकृता नो कुलीना न विदग्धा न सुन्दरी।
यस्यां तु रमते स्वामी सा सौभाग्यवती वधूः ॥२०॥

गहनों से सजी हुई, श्रेष्ठकुल में उत्पन्न हुई, चतुर किंवा सुन्दरी होने से ही स्त्रियें सौभाग्यवती नहीं हो जाती हैं, सौभाग्यवती तो वही होती है जिसमें कि स्वामी रमण करता हो।

प्रकृत में यदि बुद्धिरूपी वधू श्रृंगारादि रसों को भी जानती हो, संन्यास आदि वेष किंवा शान्ति आदि वृत्तियों से सजी भी हो श्रेष्ठकुलोत्पन्न भी हो, लौकिकपाण्डित्यवाली भी हो, निर्मल भी हो, तो भी उसे आत्मदर्शनरूप सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु जिस निरतिशयप्रेमवाली बुद्धि में वह आत्मदेव अपने सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप को देकर अपने स्वाभाविक रूप से प्रकट हो जाते हैं, अद्वैत का साक्षात् करनेवाली वही बुद्धिरूपी वधू नित्यतृप्त किंवा मुक्त हो जाती है।

यस्मिन् देशे सिता नास्ति तद्देश्यो वेत्ति किं सिताम्।
स एव वेद माधुर्यं येनैवास्वादिता सिता ॥२१॥

जिस देश में मिसरी ही नहीं होती उस देश के मनुष्य

मिसरी को क्या जानें कि वह कैसी होती है ? किन्तु जिसने मिसरी की डली चखी हो वही उसकी मधुरता जान सकता है। इसी प्रकार जिसने आत्मसुख को कभी अनुभव ही नहीं किया वह बिचारा आत्मसुख को क्या जान सकता है ? उसे तो वही जान सकता है जिसने कभी आत्मसुख का भोग लिया हो।

तृष्णां विहाय तुच्छेभ्यो मुनि र्निःशल्यतां गतः।
स्वरसायनतृप्तात्मा दिनानुदिन मेधते ॥२२॥

यह पंचमभूम्यारूढ जातसाक्षात्कार मुनि तुच्छ विषयों की भोगाभिलाषाओं को—जो कि पहले उसके हृदय में शल्य की तरह गड़ी रहती थीं—छोड़ देने से अब निःशल्य हो गया है। अब तो वह आत्मरसायन का उपभोग कर लेने से तृप्त होकर प्रतिदिन बलवान् होता चला जा रहा है।

अथ षष्ठी भूमिका

भूमिकापंचकाभ्यासा त्पदार्थाभावनी भवेत्।
षष्ठी घनसुषुप्तिः स्यान्महादीक्षेति सा भवेत् ॥१॥

पूर्व पाँच भूमिकाओं का अभ्यास करते करते अन्त में "पदार्थाभावनी" नामक छठी भूमिका—जिसमें कि नाम रूप का पारमार्थिक स्फुरण समाप्त हो जाता है—प्राप्त हो जाती है। उसको ज्ञानी की गाढनिद्रा किंवा 'महादीक्षा' भी कहा जाता है।

महानिद्रेति सा प्रोक्ता यस्यामानन्दघूर्णिता।
पदार्थविस्मृतिः सैव प्रोक्ता परिणतिश्च सा ॥२॥

(पंचमी भूमिका को शिथिल निद्रा कहा गया है) यह छठी भूमिका तो विषयों की स्फूर्ति के सर्वथा बन्द हो जाने के कारण

'महानिद्रा' कहाती है। इस अवस्था में सर्व दुःखों की प्रतीति बन्द होकर केवल आनन्दमात्र की ही व्याप्ति रह जाती है। इस ही अवस्था में आकर मुनि लोगों को पदार्थों (नाम तथा रूप) का विस्मरण हो जाता है। इस के आने पर सब कुछ आत्मरूप में परिणत हो जाने के कारण इस अवस्था को 'परिणति' भी कहते हैं।

तल्लक्षणानि—

नरवाहनसंरूढाः सुप्ता एव यथा नृपाः।
चलन्ति तद्वत्स्वानन्दे सुप्त एव चलत्यसौ ॥३॥

पालकी पर चढ़े हुए धनी लोग जिस प्रकार सोते हुए ही चलते फिरते रहते हैं इसी प्रकार यह षष्ठ्यारूढ पुरुष स्वानन्द का अनुभव करता हुआ संसार के विषय में सुप्त सा रहता है (इसकी शरीररूपी पालकी को इसके अहंकारादि भृत्य ही चलाते रहते हैं)।

ध्यानाध्वरविधौ यस्य पशवश्चक्षुरादयः।
स्वयमेवोपतिष्ठन्ति रन्तिदेवमखे यथा ॥४॥

पुराणों के वर्णन के अनुसार इक्ष्वाकुवंश का रन्तिदेव राजा बड़ा ही दयाशील था। ऋषियों ने उसे यज्ञ कराना चाहा उसने यज्ञ में पशुहिंसा के भय से उसे स्वीकार नहीं किया। तब उन ऋषियों ने ऐसा विधान किया था कि पशु आमन्त्रित होते ही अपने अपने अंगों को काटकर उन उन देवताओं को भेंट दे गये थे। इसी प्रकार यह षष्ठ्यारूढ पुरुष भी आत्मध्यानरूपी यज्ञ करता रहता है इन्द्रियरूपी पशु उस यज्ञ में अपनी भेंट लेकर प्रत्याहारादि प्रयत्न के बिना ही उपस्थित होते रहते हैं (वे

ज्ञानी के ध्यानयज्ञ में कोई विघ्न नहीं करते। उसके ध्यानयज्ञ में अपनी इच्छा से ही अपनी भेंट चढ़ा देते हैं)।

पूर्णे बोधे समुत्पन्ने मनोबुद्धीन्द्रियादयः।
अपूर्णाः पूर्णतां यान्ति का वाच्या तस्य पूर्णता ॥५॥

आनन्द से परिपूर्ण यह आत्मज्ञान जब उदय होता है तब अपूर्ण भी ये मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा देहादि स्वभावतः ही पूर्णता को प्राप्त हो जाते हैं (अर्थात् बाह्यसुख की ओर से निर-पेक्ष हो जाते हैं) तब उस सर्वदा परिपूर्ण षष्ठ्यारूढ पुरुष में पूर्णता उत्पन्न हो जाय, (वह आत्मसुख से अतिरिक्त अन्य सुखों में निरपेक्ष हो जाय) इस का तो कहना ही क्या है।

तत्सर्वममृतं तस्य यत्खादति पिबत्यपि।
यत्र तिष्ठति सा काशी स जपो यत्प्रजल्पति ॥६॥

वह षष्ठ्यारूढ पुरुष जो खाता या जो पीता है, वह सब अमृत हो जाता है। वह जहाँ बैठ जाता है, वही काशी हो जाती है। वह जो कुछ बोलता है, वही जप होता है।

वह मुनि एक बड़ा भारी ज्ञानयज्ञ कर रहा है वह जो अन्नादि खाता और जलादि पीता है वह उस यज्ञ के हवि हैं अमृत हैं क्योंकि उनके भोजन से अमर किंवा जन्ममरण के बन्धन से रहित होता जा रहा है। वह षष्ठ्यारूढ पुरुष जहाँ कहीं रहता है वही स्थान काशीधाम हो जाता है। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैवभवति" षष्ठ्यारूढ पुरुष ज्ञानी होने से ब्रह्म है, वह तो साक्षात् ईश्वर है, उसका जहाँ वास होता है, वहीं काशी होती है। जो पुरुष उसके संसर्ग में पहुँच जाता है, उसको भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है, इसलिये ज्ञानी का वासस्थान ही काशी माना जाता है।

वह जो कुछ स्वभाव से बोल उठता है वही जप होता है, क्योंकि जप से जिस प्रकार अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञान प्राप्त होता है, उसी प्रकार उस ज्ञानी के भाषण को सुनकर ही श्रोताओं के अन्तःकरण शुद्ध हो जाते हैं और विवेक का उदय हो जाता है, इसलिये उसका बोलना जप के तुल्य माना गया है।

संचार स्तीर्थसंचारः समाधिः शयनं मुनेः।
यं पश्यति स विश्वेशः शृणोत्युपनिषच्च सा ॥७॥

ज्ञानी स्वभाव से जहाँ जाता है वही उसका तीर्थगमन हो जाता है (ज्ञानी ब्रह्मरूप होने से ईश्वर है, ईश्वर के चरण जहाँ पड़ते हैं वहीं तीर्थ बन जाते हैं) उस मुनि को सदा आत्मसुख का भान तथा सम्पूर्ण द्वैत का अभाव रहता है इसलिये उसका शयन भी समाधि ही होती है। ज्ञानी जिस घटपटादि पदार्थ को देखता है वही पदार्थ आत्मरूप होने से विश्वेश्वर हो जाता है। वह ज्ञानी जिस किसी लौकिक या वैदिक वाणी को सुनता है, वही उपनिषद् हो जाती है (क्योंकि वह उस वाणी के साक्षीरूप से ब्रह्म को ही देखा करता है। उपनिषदों का काम भी ब्रह्मदर्शन कराना ही है)।

पीयते प्रेमपीयूषं श्लिष्यते परमा कला।
भुज्यते परमानन्दो योगिना न स भोगिना ॥८॥

जीव ब्रह्मैक्यज्ञानवाला योगी (सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखने के कारण) प्रेमरूपी अमृत का पान करता रहता है वह सदा ही परमब्रह्म को आलिङ्गन किये रहता है। वह तो परमानन्द का सदा ही भोग लेता रहता है। संसारासक्त पुरुष तो उस निरतिशय आनन्द का भोग ले ही नहीं सकते (वे तो प्रपंच के सुख-

दुःख का ही अनुभव करते रहते हैं, उन्हें उस परमानन्द की कल्पना भी कभी नहीं होती)।

संप्राप्ते परमानन्दे न शोचति गतं वयः।
भूतं भवद्भविष्यच्च सर्वमानन्दतां गतम् ॥९॥

षष्ठ्यारूढ पुरुष निरतिशय सुख के प्राप्त हो जाने पर अपनी व्यतीत आयु पर शोक नहीं करता, उसके तो भूत वर्तमान तथा भविष्यत् काल (तथा इनमें प्राप्त होने वाले सुख दुःख) सब ही आनन्दरूप हो जाते हैं।

अथ सप्तमी

ततः षष्ठी मतिक्रम्य तुरीयां याति सप्तमीम्।
महाकक्षेति सैवोक्ता सैव गूढसुषुप्तिका ॥१॥

'पदार्थाभावनी' नाम की षष्ठी भूमिका को अतिक्रमण कर चुकने के बाद योगी तुरीय अवस्था को प्राप्त हो जाता है। जाग्रत् स्वप्न आदि की अपेक्षा तो यह तुरीय तथा पूर्व छः अवस्थाओं की अपेक्षा यह सप्तमी अवस्था कहाती है। निरावरण आत्मा की प्राप्ति के लिये द्वारभूत होने से उसको 'महाकक्षा' भी कहा जाता है। कोई कोई उसे 'गूढसुषुप्तिका' भी कहते हैं।

योगनिद्रेति सा प्रोक्ता पराकाष्ठेति सा स्मृता।
अनुत्तरं च सहजं स्वरूपस्थितिरित्यपि ॥२॥

यही 'योगनिद्रा' कहाती है। इसी को 'श्रेष्ठस्थिति' कहते हैं। इसके उत्तर कोई अवस्था न होने से यही 'अनुत्तर' अवस्था कही जाती है। यही आत्मा की स्वाभाविक अवस्था मानी गयी है (इसके प्रादुर्भूत होने पर कृत्रिम जीवभाव नष्ट हो जाता है इसी से) इसको 'स्वरूपस्थिति' भी कहते हैं।

मौनमेवावलम्बन्ते यस्यां हरिहरादयः ।
सा तु वर्णयितुं शक्या न केनापि कदाचन ॥३॥

विष्णु या शिव आदि से यदि इस सप्तमी भूमिका के लक्षण पूछे जायँ तो वे भी मौन ही कर जायँ। फिर भला सामान्य अल्पशक्ति मनुष्यों में तो उसके वर्णन करने का सामर्थ्य ही कहाँ ?

चिदङ्गे कोमले लग्नो दैवादज्ञानकण्टकः ।
तं बोधकण्टकेनायं विनिवार्य सुखं स्थितः ॥४॥

बस इतना ही कहा जा सकता है कि इस चैतन्यस्वरूप कोमल आत्मा में काकतालीय न्याय से अचानक एक अज्ञान-रूपी दुःखप्रद कण्टक लग गया था, इस सप्तमभूम्यारूढ मुनि ने उस अज्ञानरूपी कण्टक को ("कण्टकेनैव कण्टकम्" काँटे से ही काँटे को निकालना चाहिये, इस न्याय के अनुसार 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस) बोधरूपी कण्टक की सहायता से निकाल डाला है। इसीलिये अब वह मौज कर रहा है।

अमृतजलधौ यस्मिन् वार्ता न मीनतरंगयो-
र्न च परिचयः पारावारस्थितेरपि कुत्रचित् ॥
समरसपरब्रह्मानन्दप्रणुन्नविकल्पनः ।
सहजगलितद्वैतजालः स भाति महामुनिः ॥५॥

वह सप्तमभूमिकारूढ पुरुष अमृत का समुद्र हो जाता है इस अद्भुत ज्ञानिसमुद्र में (द्वैतभाव के नष्ट हो जाने के कारण) मीन किंवा तरंग का प्रसंग भी नहीं रहता (यहाँ पर मीन का अभिप्राय जीव से [क्योंकि मीयते आम्रियते मीनो जीवः] और तरंग का अभिप्राय गुरु से [क्योंकि तरं तारकं महावाक्यं गायति उपदिशति तरंगो महावाक्योपदेष्टा गुरु] है) इस अमृत-

सागर में पारावार का भी कुछ भान नहीं रहता, क्योंकि सर्वत्र समरूप ब्रह्मानन्द के प्राप्त हो जाने से (पारावार को बतानेवाला) उसका विकल्पन अर्थात् अज्ञान ही नष्ट हो जाता है। इसी लिये अज्ञानकाल में उसको बांध रखनेवाला द्वैतरूपी जाल भी गल जाता है। अब तो उस मुनिरूपी समुद्र की कुछ वर्णनातीत ही आभा हो गयी है।

बंधध्वंससमभीप्सुना सुमनसा जिज्ञासया तीव्रया।
ज्ञाते ब्रह्मणि, बाधिताक्षविषये बोधे चमत्कुर्वति॥
स्वान्तर्मन्तृविमानमान्यविवृतिव्यावृत्तिनिर्भङ्गको।
भाति ज्ञानसुखात्मकः स्वयमयं योग्यापगानां पतिः॥६॥

अपने (अज्ञानरूपी) बन्ध को नष्ट कर डालने की इच्छा से जब किसी साधनसंपन्न अधिकारी को तीव्र जिज्ञासा के प्रादुर्भाव हो जाने पर, अनन्त आत्मवस्तु का साक्षात् अनुभव मिल जाता है, बाह्यविषयों का भान बन्द कर देनेवाले ज्ञान की ज्योति जगमगा उठती है, तब अपने अन्दर के 'यह प्रमाण है, यह प्रमाता है, यह प्रमिति है' इत्यादि सभी भ्रम एकपदे ही निवृत्त हो जाते हैं। पूर्वोक्त योगीरूपी नदियों का पति (समुद्र) वह सप्तमीभूमिकावाला मुनि इन सब बातों के परिणामस्वरूप निस्तरंग तथा ज्ञानसुखस्वरूप होकर चमकने लगता है।

वाचा मौनमयी, गतिः स्थितिमयी, निद्रामयो जागरो।
निद्रा बोधमयी, निशा दिनमयी, नक्तंमयो वासरः॥
कर्म ब्रह्ममयं, जगत्सुखमयं, किंचिन्न किंचिन्मयम्।
दुर्लङ्घ्यं गुणवर्त्म लंघितवतो वार्ता कथं वर्ण्यताम्॥७॥

जिसकी वाणी मौनरूप हो जाती है जिसकी गति स्थिति-रूप हो रहती है, जिसका जागना निद्रारूप होता है, जिस की नींद बोधरूप बन जाती है, जिसके लिये रात भी दिनरूप हो जाती है, जिसकी दृष्टि में यह दिन भी रात्रि हो जाता है, जो कर्मों को ब्रह्मरूप समझने लगता है, जो जगत् को सुखमय जान लेता है, जो किसी को कुछ भी नहीं समझता, इस प्रकार अनुल्लंघनीय गुणों के राज्य को लाँघकर पार चले जानेवाले मुनि की महत्ता को हम कैसे बता दें।

यह संसार जिन सत्व आदि गुणों के आवर्त में फँसकर दिनरात चक्कर खाता हुआ उनका पार नहीं पा रहा है, उन सत्वादिगुणों को पलक मारते ही पार कर जानेवाले उस सप्तम्यारूढ मुनि के असंसारी चरित्र का वर्णन इन संसारी शब्दों से सफलता के साथ क्योंकर किया जाय। क्योंकि वर्णन करनेवाले शब्द भी इन्हीं सत्वादि गुणों के मिश्रण से बने हैं। उन विचारों के पास इनकी हद से पार गये हुए मुनि की बात को जानने का साधन ही क्या है ? उसका चरित्र तो वर्णन की शैली से बिल्कुल ही विरुद्ध प्रतीत होने लगता है। शब्दों की इसी अपूर्णता और असामर्थ्य को देखकर ही श्रुति ने 'नेति नेति' करके उसके वर्णन का ठीक ही उपक्रम किया है। देखो तो सही, जिसको हम लोग बोलचाल की भाषा में बोलना कहते हैं वह तो उसका 'मौन' है—अर्थात् यदि हम बोलते हैं तो वह मौन कर जाता है। जिस आत्मसन्तोष को संसारी लोग बोलकर उपार्जन करना चाहते हैं वह तो उसे मौनसाधन से प्राप्त हुआ रहता है। अज्ञानी अवस्था में शब्दव्यवहार करना बोलना कहाता है, ज्ञानावस्था के प्राप्त होने पर तो मौन रहना ही बोलना कहाता है। अगर सूक्ष्मदृष्टि से विचार करें तो हम संसारी लोग भी

अपनी संसारवासनाओं को बाहर निकाल फेंकने के लिये ही बोलते हैं। उसके परिणामस्वरूप कुछ क्षण के लिये वासनाओं से रहित हो जाने पर हमें भी मौनावस्था प्राप्त हो जाती है, आनन्द तो हमें भी तभी प्राप्त होता है। परन्तु हम अभागे लोगों को इस उत्तम 'मौन' की अवस्था का भान नहीं होता। वह सप्तमीभूमिकावाला मुनि तो बिना किसी साधन के ही उस भूमानन्द का भोग केवल मौन होकर ले लेता है। संसारी लोग भी सुख किंवा दुःख का अनुभव करते समय मौन किंवा निःशब्द हो गये होते हैं। उसके बाद अपने अनुभव को दूसरों पर प्रकट करने के लिये शब्द अथवा संकेतादि का सहारा लेते हैं, यही 'बोलना' कहाता है। तत्वज्ञानी की दृष्टि में तो दूसरा कुछ रहता ही नहीं। वह तो सब को आत्मस्वरूप जानता है। तब भला वह अपने आत्मानुभव को किन शब्दों से प्रकट करे और किस पर प्रकट करे। इसलिये ब्रह्मानुभव लेते हुए उसे तो मौन ही रहना होगा। मौन रहना ही समता का चिन्ह है और ब्रह्म भी सर्वत्र मौन होकर समरूप से विराज रहा है। निष्कर्ष यही है कि समब्रह्मरूप को विषम वाणी के द्वारा प्रकट ही किस प्रकार किया जा सकता है। इसीलिये कहा है कि 'न किंचिच्चिन्तनादेव तस्य सिद्धिरवाप्यते' अर्थात् कुछ न सोचने से ही उसके दर्शन होते हैं। उस समय मन वाणी आदि सब वस्तु के स्वरूप हो जाते हैं इसी मौन में से जब जब इच्छा उत्पन्न होती है, तब तब सब वाणियों और मनों का उदय हुआ करता है। इसलिये ये संसारी वाणियें तो अपारमार्थिक हैं, असली वाणी तो यह मौन ही है।

शरीरमात्र पर अभिमान रखनेवाले हम लोग अपने से भिन्न पदार्थों की प्राप्ति के लिये आना जाना आदि नाना प्रकार

की क्रियायें किया करते हैं। भेदाध्यास के रहते हुए अपनी अपूर्णता को बाह्यविषयों की सहायता से पूर्ण करने के ये सब प्रयत्न आवश्यक ही होते हैं। सप्तमीभूमिका तक पहुँचा हुआ वह मुनि अपने इस शरीरपरिच्छेद को छोड़कर व्यापक ब्रह्म ही स्वयं हो जाता है (अर्थात् वह अपनी व्यापक स्थिति को साक्षात् कर लेता है) बस यही उसकी गति है। फिर चाहे इसे स्थिति कहा जाय किंवा गति ही कह दिया जाय। हम लोगों की गति गमनादिरूप है उसकी गति तो सर्वत्रस्थिति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इसीलिये श्रुति कहती है "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" अर्थात् उसके हाथ नहीं परन्तु सकल संसार को ग्रहण किये हुए है, पैर नहीं परन्तु अत्यन्त वेगशाली पदार्थों से भी परे रहने से अत्यन्त तेज़ दौड़नेवाला माना जाता है।

हम लोग तो जागरण अवस्था में अनेक प्रकार के व्यवहार करते हैं परन्तु सोते समय हमें किसीका भी भान नहीं रहता। उस मुनि को जागरणकाल में भी हमारी नींद की तरह इस भेद का भान शेष नहीं रहता। यों वह मुनि जागता हुआ भी सोता रहता है।

जिसे हम लोग उसकी निद्रा कहते हैं वह भी ज्ञानमय होती है क्योंकि उसे 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' अर्थात् निद्रा में ब्रह्मभाव हो जाता है ऐसा निश्चय रहता है। अथवा—वह जब आँख बन्द करके लोगों को सोता सा दीख पड़ता है वह तो उस समय भी गहरा आत्मानुसन्धान ही करता रहता है। इस प्रकार वह सोता हुआ भी जागता है।

संसारी लोग रात्रि में प्रकाश न रहने के कारण अपने अपने कामकाज बन्द कर देते हैं यह मुनि तो नित्य प्रकाश-

स्वरूपता को प्राप्त हो जाता है। जो आत्मज्योति उस रात्रि अन्धकार को भी प्रकाशित करती रहती है उसके प्रताप उसे रात्रि में भी दिन सा ही निकला रहता है—अर्थात् स्वयंज्योति मुनि का आत्मनिरीक्षण रात को भी चलता रहता है। यों उसकी रात्रि दिनमय होती है।

यह जो हम संसारी लोग व्यवहार कर रहे हैं यह कालान्तर में अपने कारण में लय हो जानेवाला है। इसीलि इसको 'मिथ्या' कहते हैं इसको सत्य नहीं कहा जाता। क्योंकि सत्य तो त्रिकालाबाधित वस्तु को ही कह सकते हैं, व्यवहार की प्रतीति भी इसीलिये मिथ्या है। उस समय सूर्यप्रकाश आदि भी मिथ्या है। इस प्रकार जिसको प्रकाशमान समझते हैं वह दिन भी उस मुनि की दृष्टि में अन्धकारमय होता है।

जिस निष्क्रिय ब्रह्मरूप को उसने प्राप्त किया है उस कर्त्रादि भाव कुछ भी नहीं है। इस मुनि के भी उनके पारमार्थिक विचार नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार जहाँ अन्य पदार्थ ब्रह्ममय हो जाते हैं वहाँ उसके कर्म का तो कहना क्या? अर्थात् उसके कर्म भी ब्रह्मरूप ही होते हैं।

जबकि उसकी दृष्टि में जगत् ही मिथ्या है तब जगत् दुःख भी मिथ्या ही हो जाता है। सत्य तो केवल ब्रह्म ही है उस ब्रह्म के सुखमय होने से जिसे हम बड़ा दुःख समझते उसे वह सुखरूप ब्रह्म ही समझता है। जबकि वह दुःख सुखमय समझता है, तब सुखों को ब्रह्मरूप समझने की तो ब ही क्या है! इस प्रकार हम लोगों की दृष्टि में यह जो सुख दुःखमय जगत् प्रतीत हो रहा है उस समदृष्टि मुनि के विचार में वह सब सुख (ब्रह्म) मय ही हो जाता है।

हम लोगों को कर्तृकरणादि रूप में, सुखदुःखादि रूप में किंवा स्थितिगति रूप में यह जो विषमता प्रतीत हो रही है, यह सब कुछ उस सर्वत्र समरूप ब्रह्म को देखनेवाले, सर्वदा मूल कारण पर ही दृष्टि रखनेवाले सप्तम्यारूढ मुनि की दृष्टि में कुछ भी नहीं होता। जैसे जौहरी सोना ख़रीदता हुआ सोने के कटक कुण्डल आदि किसी भी भेद को नहीं देखता, वह तो केवल सुवर्णमात्र पर दृष्टि रखता है, उसी का मोल तोल करता है, इसी प्रकार उसकी दृष्टि भी सर्वदा ब्रह्म ही में रहती है, जोकि सबका मूलकारण है। वह मुनि तो इस संसाररूपी वणिग्-वीथी (बाज़ार) का एक उत्तम जौहरी है।

अत्यन्तहीनो बलपौरुषाभ्यामकिंचनो यो गलिताभिमानः।
तेनैव नीता रिपवो विनाशं न ये हतास्तात महेन्द्रमुख्यैः ॥८॥

जिन कामादि शत्रुओं को इन्द्रादि भी नाश नहीं कर सके उन दुर्दान्त कामादि शत्रुओं को, शरीर से अत्यन्त निर्बल, तथा पुरुषार्थहीन, अकिञ्चन, तथा अभिमानरहित इस मुनि ने परास्त कर डाला है, यह एक आश्चर्य तो देखो।

ब्रह्मविद्ब्रह्मविद्यायां भवान्यां पुत्रतां गतः।
निजाङ्के लालयत्येनं परमात्मा सदाशिवः ॥९॥

ज्यों ही यह सप्तमीभूमिकावाला ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मविद्या नाम की भवानी का पुत्र हो जाता है (जिस प्रकार नन्हा बालक एक क्षण भी मातृदर्शन के बिना नहीं रह सकता, इसी प्रकार ज्यों ही यह अपने शरीर आदि के योगक्षेम की तरफ़ से भी उदासीन होकर सर्वदा आत्मनिरीक्षण करने लगता है) त्यों ही परमात्मा सदाशिव इस ब्रह्मज्ञानी का पालन अपने अंग (विराट् हिरण्य-गर्भ किंवा अन्तर्यामी) के द्वारा कराने लगते हैं।

(कोई ग्वाला यदि किन्हीं गौओं को चराना छोड़ दे तो भी उन गौओं का स्वामी उन्हें नहीं छोड़ देता, वह उनका दूसरा कोई प्रबन्ध करता है। इसी प्रकार ये सब व्यष्टि शरीर उस विराट् की गौओं के तुल्य है। अहंभाव के कारण इन शरीरों की रक्षा का भारी बोझ हम शरीरधारियों ने व्यर्थ ही अपने ऊपर ले लिया है। जब कोई साधक इस शरीर में से अहंभाव हटा लेता है, और इसकी सेवाशुश्रूषा से मुँह मोड़ बैठता है, और यदि इस शरीर का प्रारब्ध भी शेष रहा होता है, तो वह सदाशिव परमात्मा इसके पालन पोषण की ज़िम्मेदारी अपने कन्धों पर ले लेता है, इसकी रक्षा का कोई दूसरा प्रबन्ध कर देता है अब तक वह हमारे मन के द्वारा इस शरीर का प्रबन्ध कर रहा था। अब उस तत्व की ओर से किन्हीं लोगों के मन में उन्हें भोजनाच्छादनादि देने और उनकी सेवा कर देने की अन्तःप्रेरणा हो जाती है, यों उनकी शरीरयात्रा ईश्वर के द्वारा चलती जाती है)।

अथ भूमिकाशास्त्रार्थनिर्णय:

भूमिकात्रितयं जाग्रच्चतुर्थी स्वप्न उच्यते।
तावती साधकावस्था तारतम्येन योगिनाम् ॥१॥

जिज्ञासा, विचारा तथा तनुमानसा नाम की पहली तीन अवस्थायें जाग्रत् कहाती हैं। सत्वापत्ति नाम की चतुर्थी भूमिका को 'स्वप्न' कहा गया है। साधक योगियों की ये चारों अवस्थायें मिलकर न्यूनाधिकरूप से साधकावस्था ही कहाती हैं।

पंचमीं तु समारभ्य सिद्धावस्थैव सा त्रिधा।
तिसृणामप्यवस्थानां दृष्टान्तोऽत्र निरूप्यते ॥२॥

पंचमी भूमिका से लेकर (सब भूमिकाओं में ही आत्म-साक्षात्कार रहता है इसलिये इन) अगली तीनों को ही सिद्धा-वस्था कहा जायगा—वह सिद्धावस्था तीन प्रकार की होती है। अब उन तीनों भूमिकाओं के उदाहरण कहे जाते हैं।

सुषुप्तेः प्रथमावस्था तस्यां यत्सुखमाप्यते।
सुषुप्तेर्या घनावस्था तस्यामपि तदेव हि ॥३॥

लौकिक सुषुप्ति की प्रथम शिथिलावस्था में जो सुख होता है घनसुषुप्ति (कुछ गहरी सुषुप्ति) में भी उतना ही सुख प्रतीत होता है।

सुखं घनसुषुप्तौ तत्सुखं गाढसुषुप्तके।
त्रिविधायामपि निद्रायामानन्दानुभवः समः ॥४॥

उस घनी निद्रा में जो सुख होता है घोर निद्रा में भी वैसा ही सुख होता है। इस प्रकार (शिथिल, घन तथा गाढ) इन तीनों प्रकार की निद्रा में आनन्दानुभव एक ही प्रकार का माना गया है।

तथा य एव पंचम्यां षष्ठ्यामपि स एव हि।
तुर्यायामपि सप्तम्यां ब्रह्मानन्दः स एव हि ॥५॥

जो ब्रह्मानन्द पंचमभूमिका में होता है, पदार्थाभावनी नाम की षष्ठी भूमिका में भी वही आनन्द होता है तथा जो ब्रह्मा-नन्द षष्ठी में होता है, तुर्या नाम की सप्तमी भूमिका में भी वही आनन्द पाया जाता है।

अभ्यासतारतम्येन तारतम्ये चिरस्थितौ।
अपरोक्षानुभूतेस्तु तारतम्यं मनाङ् न हि ॥६॥

अभ्यास (विवेक की आवृत्ति) की न्यूनाधिकता के कारण

केवल ऐसा तो होता है कि कोई सिद्ध अधिक काल तक आनन्दाकार रहता है तथा कोई न्यून काल तक। परन्तु प्रत्यक्षानुभव में तो किसी प्रकार की भी न्यूनाधिकता नहीं होती।

नास्वादिता सिता यावत्तावन्नास्वादितैव सा।
एकदास्वादिता चेत्सा नैव नास्वादिता भवेत् ॥७॥

मिसरी को जब तक खाया नहीं तब ही तक वह अनास्वादित रहती है, परन्तु यदि कोई एक बार भी उसे खा लेता है तब वह अनास्वादित कभी नहीं रह सकती। (एक बार खाने किंवा बार बार खाने में स्वाद तो एकसा ही रहता है।)

जाता चेत्सा तु जातैव जातु नाजातताँ भजेत्।
कथं भूयो भ्रमत्येष भ्रान्तिरेव गता यदि ॥८॥

इसी प्रकार यदि एक बार प्रत्यक्ष अनुभव उत्पन्न हो जाय तब वह कभी भी अनुत्पन्न (नष्ट) नहीं हो सकता। जब कि पंचमभूमिका में आते ही भ्रम निवृत्त होकर साक्षात्कार हो जाता है तब वह ज्ञानी फिर भ्रान्ति में किस प्रकार पड़ सकता है।

अथ कश्चिद्विशेषः—

तुरीया प्रथमाभासे विद्युदाभासलक्षणा।
ततश्चञ्चलदीपाभा ततो निश्चलदीपवत् ॥९॥

जब प्रथम ही प्रथम तुरीया का साक्षात्कार होता है तब वह विद्युत् की चमक की तरह कुछ ही क्षण ठहरता है। अभ्यास करते करते छठी भूमिका के आने पर वायु से हिलते हुए दीपक की तरह उस (साक्षात्कार) की अवस्था होती है। षष्ठी अवस्था में उसकी स्थिति निवात स्थान पर रक्खे हुए शान्त दीपक की सी हो जाती है।

सूर्यप्रभावच्च ततः सप्तमी चिरवर्तिनी ।
उदयास्तविहीना सा दिनपक्षर्तुवत्सरम् ॥१०॥
पुष्कला निश्चला पूर्णा परमानन्दसुन्दरी ॥११॥

उसके अनन्तर सप्तमी अवस्था का प्रादुर्भाव होता है। तब वह प्रत्यक्षानुभव सूर्य के प्रकाश के समान बहुत काल तक स्थिर रहने लगता है। दिन पर दिन, पक्ष पर पक्ष, ऋतु पर ऋतु, तथा वर्ष पर वर्ष बीतने लगते हैं, परन्तु फिर इस अवस्था का कभी उदय किंवा अस्त नहीं होता। फिर तो उस ज्ञानी की यही अवस्था स्थिर हो जाती है, पुष्कल हो जाती है, तथा पूर्ण हो जाती है। उसकी यह अवस्था निरतिशय सर्वातिशायी तथा सुखरूप होने से नितान्त ही कमनीय हो जाती है।

येषां ध्यानकलायां च लीयन्ते गुणपङ्क्तयः ।
येषां कृपाकटाक्षेण सद्यो मुक्तिरवाप्यते ॥१२॥
पंचमी मथवा षष्ठीं सप्तमीं वा समाश्रिताः ।
न तेषां पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि ॥१३॥

जिन प्रत्यक्षानुभव करनेवाले मुनियों का थोड़ा सा भी ध्यान करने से अन्य जिज्ञासुओं के सत्वादिगुण (तथा कामादि विकार) नष्ट हो जाते हैं, अथवा जो ध्यान की पलक मारते ही गुणों से उत्पन्न सब संसार को लीन कर लेते हैं, जिनकी दया-दृष्टि होते ही जिज्ञासु लोग तत्क्षण मुक्त हो जाते हैं, वे पांचवीं छठी, अथवा सातवीं भूमिकावाले मुनि लोग कभी भी फिर इस जन्ममरणरूपी संसार में नहीं आते।

पूर्वावस्थाचतुष्के ये स्थिता देहं विहाय ते ।
पुनर्देहान्तरं प्राप्य ब्रह्माभ्यासं प्रकुर्वते ॥१४॥

प्रथम चार भूमिकाओं में से ही जो अधिकारी शरीर छोड़ कर चले जाते हैं, वे दूसरा देह धारण करने के अनन्तर फिर भी ब्रह्माभ्यास ही करने लगते हैं।

योगभ्रष्टास्त उच्यन्ते क्रमेण ब्रह्मगामिनः।
योगिनो योगसिद्धाश्च दत्ताद्या जनकादयः ॥१५॥

इन ही प्रथम चार भूमिकावालों को (गीता आदि में) योगभ्रष्ट कहा है। वे क्रम से (ब्रह्मलोकपर्यन्त उत्तरोत्तर लोकों को प्राप्त होते होते अन्त में) ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं। ब्रह्म आदि योगी तथा दत्तात्रेय जनक आदि योगसिद्ध लोग प्रथम चार भूमिकाओं का अभ्यास करते करते दूसरे जन्मों में स्वतः ही इन अन्तिम तीन भूमिकाओं को प्राप्त होकर मुक्ति को प्राप्त हो चुके हैं।

ईश्वरानुग्रहं प्राप्ता अर्वाचीनाश्च केचन।
स्वरूपानुभवं प्राप्ता मुक्तास्ते सर्व एव हि ॥१६॥

आज कल भी बहुत से अधिकारी लोग ईश्वर के अनुग्रह से इन भूमिकाओं को प्राप्त होकर मुक्ति को प्राप्त हो चुके हैं क्योंकि उन्होंने सच्चिदानन्दघनस्वरूप का साक्षात् कर लिया है।

सुषुप्तौ केचिदाश्वस्ताः केचिद्घनसुषुप्तके।
केचिद्गाढसुषुप्तौ च सर्वेषाममृतं समम् ॥१७॥

इनमें से बहुत से शिथिलसुषुप्ति में ही ठहर गये, बहुत से घनसुषुप्ति तक पहुँचकर रह गये, कुछ तो गाढसुषुप्ति तक जा पहुँचे, परन्तु मोक्षसुख तो तीनों को एकसा ही मिला (इससे तीनों सिद्धावस्था हुई)।

पंचम भूमिकावाले कभी कभी स्वतः ही प्रपंच को सत्

समझकर प्रवृत्त हो जाते हैं, षष्ठी भूमिकावाले दूसरे के उठाने पर प्रपंच को विद्यमान समझकर व्यवहार में प्रवृत्त हुआ करते हैं, सप्तम वाले तो स्वतः या परतः किसी प्रकार भी प्रपंच को विद्यमान नहीं समझते, इसलिये व्यवहार में प्रवृत्त ही नहीं होते।

अथावस्थाव्यवस्था

अथावस्थाव्यस्थाख्यं किंचित्प्रकरणं शृणु ।
यस्मिन् परीक्षिते सम्यक्परीक्ष्यं नावशिष्यते ॥१॥

(हे शिष्य) इसके अनन्तर 'अवस्था व्यवस्था' नामक एक प्रकरण सुनो जिस प्रकरण को विचार कर चित्त में बैठा लेने के पश्चात् अन्य कुछ भी परीक्षणीय पदार्थ शेष नहीं रहेगा।

जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तिश्च तथा मूढसमाधिता ।
मूर्च्छा मृत्युस्तुरीयं चेत्यवस्थाः सप्त कीर्तिताः ॥२॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूढसमाधि, मूर्च्छा, मृत्यु तथा तुर्य (अन्तःकरण की) ये सात अवस्थायें होती हैं।

जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तिश्च व्यक्ता मूढसमाधिता ।
मूर्च्छा मृत्युस्तुरीयं च व्यक्ता नित्यानुभूतितः ॥३॥

जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति ये तीनों अवस्थायें तो नित्यप्रति सब के अनुभव में आती ही हैं (अतः इनका निरूपण व्यर्थ है) मूढसमाधि, मूर्च्छा, मृत्यु तथा तुरीय ये चारों अवस्थायें भी नित्यानुभूतिस्वरूप आत्मचतन्य से ही प्रकाशित होती हैं।

उक्तं मूढसमाधानं भवप्रत्ययसंज्ञकम् ।
पुराऽसंप्रज्ञातनामसमाधे र्भेदवर्णने ॥४॥

योगदीक्षाचिन्तामणि नामक प्रकरण में असंप्रज्ञात समाधि

के भेद का वर्णन करते हुए २०६ श्लोक में भवप्रत्यय नामक मूढसमाधि का वर्णन आचुका है। (उसमें बीजरूप से संसार का अनुभव रहता है)।

तत्समाधिस्थिता जित्वेन्द्रादीन् स्वर्गेशतां ययुः।
मृत्यु मूर्च्छा प्रसिद्धेति तुरीयमभिधीयते ॥५॥

भवप्रत्यय नामक समाधि को सिद्ध करनेवालों (हिरण्य-कशिपु आदि) ने इन्द्र आदि को वश में कर लिया था और स्वर्ग पर अधिकार जमा लिया था (इसी से कहते हैं कि इस मूढसमाधि में बीजरूप से संसारप्रत्यय रहता ही है) मृत्यु और मूर्च्छा भी प्रसिद्ध हैं इसलिये अब केवल मुमुक्षुओं के उपयोग में आने वाली तुरीयावस्था का ही निरूपण किया जाता है।

वेदान्तसंप्रदायेन निदिध्यासनदार्ढ्यतः।
परमात्मनि चित्तस्य लयस्तु तुर्यमुच्यते ॥६॥
तत्र साक्षात्कृतं ब्रह्म मूलाविद्याविनाशकृत्।

उपनिषदों में प्रतिपादित परिपाटी के अनुकूल निदिध्यासन (ब्रह्म के अखण्डचिन्तन) के दृढ हो जाने पर जब चित्त परमात्मा में लीन हो जाता है तब उसको 'तुर्य' कहा जाता है। उसके प्राप्त होने पर जब ब्रह्म का साक्षात्कार होता है तब (द्वैतप्रतीति का मूलकारण) मूलाज्ञान ही नष्ट हो जाता है।

तत्र प्रश्नः—

स्वप्नजागरयोस्तुल्यः संसाराडम्बरो मुने ॥७॥
तर्हि केन विशेषेण संज्ञाभेद स्तयोर्वद।

इन अवस्थाओं के विषय में शिष्य प्रश्न करता है कि हे मुने

स्वप्न तथा जागरणकाल में यह संसाररूपी घटाटोप तो तुल्य ही है (अर्थात् दोनों अवस्थाओं में सुखदु:खप्रतीति तो समान ही होती है) तब किस विशेषता के कारण एक को जागरण और दूसरी को स्वप्न कहा जाता है।

अत्रोत्तरम्—

जानीहि प्रथमं तात भेदं विस्मृतिबोधयोः ॥८॥
स्वप्नजागरयो र्भेदं पश्चाज्ज्ञास्यसि तं शृणु।

हे शिष्य, इस प्रश्न का उत्तर सुनो—पहले तुम विसरण तथा बोध के भेद को जान लो, फिर स्वप्न तथा जागरण के भेद को स्वयं ही जान जाओगे।

विस्मृतिर्यन्न भासेत, बोधो मिथ्यात्वनिश्चयः ॥९॥
जागरानन्तरं निद्रा तत्र स्वप्नो यदा भवेत्।
स्वप्ने स्या ज्जागराभानं न तु जागरबोधनम् ॥१०॥

जब कि किसी भी पदार्थ की प्रतीति न हो तब वह 'विस्मृति' कहाती है। पदार्थों को मिथ्या समझ लेना 'बोध' कहाता है (यही विस्मृति तथा बोध की विलक्षणता है)। जागरण के पश्चात् निद्रा आती है, उस निद्रा में जब स्वप्नदर्शन होता है तब जाग्रत् अवस्था की विस्मृति तो हो जाती है, परन्तु उसका बोध (किंवा मिथ्यात्वनिश्चय) नहीं होता।

जागरोयं तु मिथ्येति बुद्धिः स्वप्ने न वर्तते।
किन्तु जागरविस्मृत्या स्वप्ने स्वप्नार्थदर्शनम् ॥११॥
स्वप्नस्यैतन्निजं रूपं जागरस्याधुना शृणु।

"यह जाग्रत्प्रपंच मिथ्या है" इस तरह का कोई भी विचार स्वप्न देखते समय नहीं रहता। किन्तु उस समय जागरण को

२२

भूलकर, स्वप्न के प्रातिभासिक पदार्थ ही दीखते रहते हैं (स्वप्न में जागृति से यही विलक्षणता है कि उसमें जाग्रत्प्रपंच मिथ्या प्रतीत नहीं होता, तथा वह भासता भी नहीं)। यही स्वप्न का अपना स्वरूप है। अब तुम जागरण के स्वरूप को हमसे सुनो—

स्वप्नस्यानन्तरं तात जागरो हि यदा भवेत् ॥१२॥
स्वप्नमिथ्यात्वबुध्यात्मस्वप्नबोधस्तदा भवेत्।

हे शिष्य, स्वप्नावस्था के समाप्त हो जाने पर जब मनुष्य जागता है, तब वह अपने स्वप्नबोध को मिथ्या ही समझता रहता है (अर्थात् जाग्रत् अवस्था में स्वप्न की विस्मृति नहीं होती किन्तु उसका बोध [मिथ्यात्वनिश्चय] हो जाता है)।

अन्यच्च—

स्वप्ने तु यादृशी तात भवेज्जागरविस्मृतिः ॥१३॥
जागरे तादृशी नास्ति स्वप्नसंसारविस्मृतिः।
जागरे स्मर्यते स्वप्नस्तस्य मिथ्यात्वदर्शनम् ॥१४॥
स्वप्ने न स्मर्यते जाग्रन्न तन्मिथ्यात्वदर्शनम्।
अनेनातिविशेषेण स्वप्नजागरयो भिंदा ॥१५॥

स्वप्न तथा जाग्रत् के दूसरे लक्षण बताते हैं—हे शिष्य स्वप्न देखते हुए जिस प्रकार जागरण का विस्मरण हो जाता है, वैसी जागरणकाल में स्वप्न के संसार (सुपने के सुखदुःख जन्म-मरणादि) की विस्मृति नहीं होती। दूसरी बात यह है कि जागरणकाल में स्वप्न के पदार्थ भी स्मरण रहते हैं परन्तु उनको उस समय मिथ्या समझा जाता है। इस तरह स्वप्नकाल में

न जाग्रत् की स्मृति ही रहती है और न उनको मिथ्या ही समझा जाता है, इन विशेषताओं से स्वप्न तथा जाग्रत् का भेद हो जाता है।

अथ प्रश्नान्तरम्—

ननु मूढसमाधौ च मूर्च्छामृत्युसुषुप्तिषु ।
तुरीये च न दृश्यश्री स्तर्हि तेषां भिदा कुतः ॥१६॥

अब प्रश्नान्तर किया जाता है—मूढसमाधि, मूर्च्छा, मृत्यु, सुषुप्ति तथा तुरीय इन पांचों अवस्थाओं में ही दृश्य का भान नहीं रहता तब फिर इनके परस्पर भेद का कारण क्या है ?

अत्रोत्तरम्—

सिद्धिकामनया यै स्तु तप उग्रं कृतं महत् ।
देहोपि विस्मृत स्तैस्तु कृमिकीटादिभक्षितः ॥१७॥
नेयं मूर्च्छा न रोगोयं, न मृत्यु र्जीवनादयम्।
सुषुप्तानन्दविरहा न्न सुषुप्तिरिति स्फुटम् ॥१८॥
स्वरूपलाभविरहा न्मूढत्वा न्न तुरीयकम् ।
दृश्यभानं तु नास्त्यासु तावता न कृतार्थता ॥१९॥

जिन हिरण्यकशिपु आदियों ने सिद्धियों की कामना को लेकर उग्र तप किया, वे लोग अपने तप की उग्रता के कारण अपने देह को भी भूल गये थे, क्योंकि उनके देह को कीड़ों ने खा लिया था। यह अवस्था मूर्छा भी नहीं थी, रोग भी नहीं था, प्राणधारण रहने से इसे मृत्यु भी नहीं कहा जा सकता, निद्रा का आनन्द भी उस समय नहीं रहता इसलिये इस अवस्था को सुषुप्ति भी नहीं कह सकते। उनके इस देहविस्मरण में स्वप्रकाश-चिन्मात्र आत्मा का साक्षात्कार भी नहीं होता प्रत्युत मूढता बनी रहती है, इसलिये इसे तुरीयावस्था भी नहीं कहा जा सकता।

सारांश में इसको मूढसमाधि ही कहते बनता है (तात्पर्य यह है कि मूढता के शेष रहते रहते तपःक्लेश से देहादि को भूल जाना 'मूढसमाधि' है। रोगादि के कारण देह को भूल जाना 'मूर्छा' है। प्राणादि के निकल जाने से देह को भूल जाना 'मृत्यु' है। सुखानुभव भी होता रहे और अज्ञान भी शेष रहे उस अवस्था में देह को भूलना 'सुषुप्ति' कहाती है। स्वयंप्रकाश आत्मा के दर्शन हो जायँ और मूढता सर्वथा नष्ट हो जाय उस अवस्था को 'तुर्या' कहते हैं।) इन चारों अवस्थाओं में दृश्य का भान तो बन्द हो जाता है परन्तु इतने मात्र से कृतार्थता (नित्य-तृप्ति) की प्राप्ति तो नहीं हो जाती।

व्युत्थानानन्तरं तेषां संसारोपि यदा स्थितः।
यदात्मदर्शनं नास्ति संसारोऽबाधितस्ततः ॥२०॥

व्युत्थान के अनन्तर देह व्यापार में लगने पर उन लोगों को फिर भी संसार का वैसा ही भान होने लगता है, क्योंकि इन चारों अवस्थाओं में आत्मा के दर्शन नहीं होते इसलिये संसार पहले की तरह ही अबाधित रहता है (संसार का भान न होने मात्र से किसी को सिद्धि प्राप्त नहीं होती किन्तु उसका बाध कर देने से सिद्धि प्राप्त होती है तभी मुक्ति मिलती है)।

कथयाम्यत्र दृष्टान्तं सावधानमनाः शृणु !
स्वप्ने तु विस्मृतं जाग्रज् जाग्रत्स्वप्ने न बाधितम् ॥२१॥
तस्मादनन्तरं जाग्रत्स्वप्नस्य च यथास्थितम्।
जागरे बाधितः स्वप्नस्तेन मिथ्यात्व मागतः ॥२२॥

इसी बात को स्पष्ट करने के लिये दृष्टान्त बताया जाता है उसे सावधान होकर सुनो! देखो! स्वप्न देखते समय जाग्रत्

(के व्यापार) को भूल तो ज़रूर जाते हैं परन्तु उस समय उस को बाधित (असत्य) नहीं समझा जाता। इसीलिये स्वप्न के अनन्तर जाग्रत् तो फिर वैसा का वैसा ही तैयार रहता है। इस के विपरीत स्वप्नव्यवहार जाग्रत्काल में बाधित हो जाता है (अर्थात् उसे असत्य समझा जाता है) इसीलिये उसे मिथ्या कह दिया गया है।

तथा मूढसमाधौ तु विस्मृतं सकलं जगत्।
व्युत्थानानन्तरं पश्चा द्यथापूर्व मवस्थितम् ॥२३॥
तुरीये बाधितं विश्वं तस्मा न्मिथ्यात्व मागतम्।
व्युत्थानेपि मुने स्तात तन्मिथ्यैव न वास्तवम् ॥२४॥

इसीप्रकार मूढसमाधि के प्राप्त होने पर जगत् का विस्मरण तो हो जाता है (परन्तु जगत् की बाधा नहीं होती) इसीलिये उन लोगों की समाधि के अनन्तर फिर वैसा का वैसा ही संसार खड़ा हो जाता है। तुरीयावस्था में तो संसार की बाधा हो जाती है (विस्मृति नहीं होती) इसीलिये वह जगत् उसकी दृष्टि में मिथ्या हो जाता है, इसीकारण तुरीय से व्युत्थान हो जाने के अनन्तर भी वह जगत् मिथ्या ही रहता है।

रज्जुसर्पं यथा दृष्ट्वा कश्चि देशान्तरं गतः।
यदा पुनः समायाति तदा तस्मा द्विभेत्यसौ ॥२५॥
नायं सर्प इति ज्ञात्वा यदि देशान्तरं गतः।
यदा पुनः समायाति तदा तस्मा द्विभेति न ॥२६॥

यदि कोई मनुष्य अँधेरे में रज्जुसर्प को देखकर स्थानान्तर को चला जाता है, तो फिर लौटकर भी वह उस रज्जुसर्प से पहले की तरह डरने ही लगता है। परन्तु यदि उस सर्प-

भ्रान्ति को (दीपक आदि की सहायता से) दूर करके 'यह सांप नहीं है' ऐसा निश्चय करने के पश्चात् स्थानान्तर को जाता है, तब तो फिर वहां से लौटने पर भी उसको उससे भय नहीं लगता।

तथा मूढसमाधानाद्गतः संसारविस्मृतिम् ।
यदा व्युत्थानमाप्नोति तदा संसारजं भयम् ॥२७॥
यदि विद्वत्समाधाना द्गतः संसारविस्मृतिम् ।
यदा व्युत्थान माप्नोति बाधितत्वा द्बिभेति न ॥२८॥

इसी तरह मूढसमाधि से संसार की विस्मृति किंवा अभान हो जाने पर फिर जब कभी व्युत्थानावस्था आती है, तब फिर संसार का (सुखदुःखादि रूप) भय उनको पूर्ववत् हो ही जाता है, परन्तु यदि किसी को ज्ञानपूर्वक समाधि से संसार की विस्मृति होती है तब तो व्युत्थानावस्था आने पर (किंवा पूर्व-संस्कारवश प्रपंच की प्रतीति होने पर) भी असत्वनिश्चय के कारण फिर वह (सुखदुःखरूप) भय को प्राप्त नहीं होता।

यदि विस्मरणादेव मुक्ति र्भवति देहिनः ।
सुषुप्ति र्जायते नित्यं तया मुक्तो न किं भवेत् ॥२९॥

यदि ज्ञान के बिना केवल संसार को भूल जाने मात्र से कोई मुक्त हो सकता तब तो साधारण लोग भी सुषुप्तिकाल में नित्य ही संसार को भूल जाते हैं, उन्हें मुक्ति की प्राप्ति क्यों नहीं होती?

तस्मात्तुरीया सर्वासा मुत्तमा च विलक्षणा ।
षडप्यवस्था एतस्याः कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥३०॥

इसलिये तुरीयावस्था इन सब अवस्थाओं से श्रेष्ठ भी है और विलक्षण भी है। पूर्व की छओं अवस्थायें तो इस अवस्था के पासिंग भी नहीं हैं।

आब्रह्मकल्पं गरुडो यदि धावेत्सवेगतः ।
न चाप्नोति तथाप्येनं दूराद्दूरतरैव सा ॥३१॥
श्रद्धा यद्यस्ति वेदान्ते तीव्रा यदि मुमुक्षुता ।
ध्यानाभ्यास स्तथा गाढः सर्वत्र सुलभैव सा ॥३२॥

(श्रद्धा आदि साधनों के बिना तो) द्रुतगामी गरुड यदि अपने पूरे वेग से ब्रह्मकल्पपर्यन्त लम्बे काल तक भी (इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये) दौड़ लगाये तो भी यह तुरीयावस्था उसे प्राप्त नहीं हो सकती। यह तो इतने परिश्रम के बाद भी अभी तक दूर से भी दूर बनी रहती है। परन्तु यदि किसी पुरुष को वेदान्तों में श्रद्धा हो, तीव्र मुमुक्षा हो, ध्यान का गाढ़ अभ्यास हो, तब तो यह अवस्था सब जगह सुलभ हो जाती है।

मृत्युर्मूर्च्छा सुषुप्तिश्च न तपस्तेन निष्फलाः ।
रूढमूढसमाधानं तप उग्रं महाफलम् ॥३३॥

मृत्यु, मूर्च्छा तथा सुषुप्ति ये तीनों अवस्थायें तप नहीं हैं इसलिये ये तीनों अवस्थायें तो अत्यन्त निष्फल मानी गई हैं। सांसारिक फल चाहनेवाले लोग जब मूढसमाधि को सिद्ध कर लेते हैं तब उसका महाफल प्राप्त होता है, उससे राज्यादि भी प्राप्त हो सकते हैं। इस मूढसमाधान को उग्र अवस्थाओं में माना गया है क्योंकि उससे शाप देने किंवा अनुग्रह करने का सामर्थ्य भी उत्पन्न हो जाता है (इसलिये वह मुमुक्षुओं के काम की नहीं है)।

विद्या विद्वत्समाधिस्तु तेन मोक्षप्रदो हि सः ।
सप्तानामप्यवस्थाना मेवंरूपा व्यवस्थितिः ॥३४॥

ज्ञानी लोगों की समाधि तुर्या तो ज्ञानरूप ही है, ज्ञानरूप

होने से ही वह मोक्ष सरीखा उत्तम फल देने में समर्थ हो गई है (मुमुक्षुओं को तो इसी का आदर करना चाहिये)। सातों अवस्थाओं की मर्यादा को हमने खोलकर दिखा दिया है।

सप्तावस्था इमाः सन्ति चित्तस्यैव चितेस्तु न।
अवस्थाभवनं चित्त मवस्थासाक्षिणी तु चित् ॥३५॥

उपर्युक्त सातों अवस्थायें अन्तःकरण की ही अवस्थायें हैं। सब अवस्थाओं के साक्षी चिन्मात्र आत्मा से इन अवस्थाओं का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि इन अवस्थाओं का निवासभवन चित्त ही है चैतन्य तो (दीपक की तरह) इन अवस्थाओं का साक्षिमात्र है।

अवस्थानां व्यवस्थेयं यदि भूयो विभाव्यते।
अवस्थानां तदा साक्षी साक्षा त्प्रत्यक्षमीक्षते ॥३६॥

उक्त अवस्थाओं की मर्यादा को यदि बार बार विचारा जाय तो इन जाग्रदादि अवस्थाओं का साक्षी प्रत्यक्ष दीखने लग पड़ता है।

अवस्थाव्यवस्थार्थप्रकाशः पंचदशः

अथ मुनीन्द्रदिनचर्या

विचित्राक्षरविन्यासैः पवित्रार्थकथारसैः।
पावयामि निजां वाणीं मुनीन्द्रदिनचर्यया ॥१॥

अब मैं विचित्र अक्षरों से युक्त पवित्र कथाओं से मिश्रित मुनीन्द्र लोगों की दिनचर्या के वर्णन के मिष से अपनी वाणी को पवित्र करता हूँ।

गौरीं महेश्वरः प्राह चिदानन्दमयीं स्थितिम्।
वदामि तन्मतच्छायां दिनचर्यापदेशतः ॥२॥

महादेव ने पार्वती से चिदानन्दमयी स्थिति का वर्णन किया है। मुनीन्द्र लोगों की दिनचर्या (आचार) के वर्णन करने का मिष लेकर मैं भी अब उसी का अंशतः वर्णन करूँगा।

यस्मिन् जागरणे प्राप्ते पुनर्निद्रा न जायते।
सुमङ्गलं मुनीन्द्राणां प्रातर्जागरणं हि तत् ॥३॥

मुनि लोगों का प्रभात जागरण तो वही कहाता है जिस जागरण के एक बार उदय हो जाने पर फिर (आत्मविस्मरण-रूपी) निद्रा का कभी उदय ही नहीं होता। जिसके आने पर कि मुनि लोगों को मोक्षरूपी मंगल प्राप्त हो जाता है।

चैतन्य सूर्य के उदय होने पर 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस वृत्ति का उदय हो जाना ही मुनि लोगों का प्रभातकाल का जागरण होता है। यो जागार तमृचः कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति, यो जागार तमयं सोम आह—तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः। ब्रह्म-विद्यानामक पर जागरणरूपी महाभाग्य जिसको प्राप्त होता है ऋचायें उसकी कामना करती हैं, साम उसकी स्तुति करते हैं और सोम भी उसके सख्य में अपना सौभाग्य समझता है।

इति जागरणार्थप्रकाशः

अथ शौचनिर्णयार्थप्रकाशः

देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्ध्यहंकारचेतसि।
अशुचावात्मभावोसा वशुचित्वस्य कारणम् ॥१॥

देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त आदि अशुचि पदार्थों को आत्मा मान लिया जाता है, तब इस परम शुद्ध आत्मा में अशुद्धता उत्पन्न हो जाती है।

साक्षित्व भावनातोयै स्तथा वैराग्यमृत्स्नया।
गन्धलेपक्षयकरं शौचं कुर्यादतन्द्रितः ॥२॥

साक्षित्वभावनारूपी जलों से तथा वैराग्यरूपी मिट्टी से विषयवासनरूपी गन्ध और लेप को हटानेवाला शौच सावधान होकर करलेना चाहिये।

मुनि को (भी) बड़ी सावधानता से देहादि पदार्थों के साथ अपने अखण्ड सच्चिदानन्द आत्मा का निरन्तर अनुसन्धान करते रहना चाहिये कि मैं तो इन देहादियों का प्रकाशक हूँ, इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीको साक्षित्व भावना कहते हैं। मुनि की शुद्धि के लिये तो ऐसे ही जल की आवश्यकता है। क्योंकि इसीसे सम्पूर्ण मल धुल जाते हैं। इसीप्रकार देहादि अनात्म पदार्थों में प्रतिक्षण अपने वैराग्य को जगाते रहना चाहिये। इस वैराग्यरूपी मिट्टी से मांजने पर अनादिकाल की विषयवासनायें जोकि मलगंध की तरह चित्त में बस गयी हैं निवृत्त हो जायँगी।

एवं विधेन विधिना यत्सर्वं मंगलार्जनम्।
एतदेव मुनीन्द्राणां प्रातः शौचं विशुद्धिकृत् ॥३॥

उस ज्ञानी का प्रातः शौच भी कुछ विचित्र ही होता है। वह तो ऊपर कही विधि से सब भेदभाव को भूलकर केवल सर्वानुगत सर्वानुस्यूत ब्रह्म के ही दर्शन करता है (यही उसका मंगलार्जन कहाता है) यही मुनि लोगों का विशुद्धि करनेवाला प्रातः शौच कहाता है।

ज्ञानयोगप्रसन्नानां मुमुक्षा मुखमुच्यते।
श्रद्धाजलेन तच्छुद्धि मुखप्रक्षालनं हि तत् ॥४॥

वैराग्यपूर्वक ज्ञान योगाभ्यास से ही प्रसन्न रहनेवाले ब्र

लोगों का मुख तो मुमुक्षा होती है, श्रद्धारूपी जल की सहायता से इस मुमुक्षारूपी मुख को वे बार बार धोते रहते हैं (जिसका स्वभावतः यह परिणाम होता है कि उस मुमुक्षा में से धुलते धुलते मोक्ष ही शेष रह जाता है। श्रद्धापूर्वक विचारादि करते करते मोक्षेच्छा में से इच्छा के निवृत्त होजाने पर उन्हें अपने नित्य-मुक्तत्व का निश्चय हो जाता है) यही ज्ञानियों का मुखप्रक्षालन कहाता है।

इति शौचनिर्णयार्थप्रकाशः

अथ प्रातःस्मरणम्

प्रातः स्मरन्ति मुनयो देवस्य सवितुर्महः।
वरेण्यं तद्धियः साक्षि तदेवास्मीति संततम् ॥१॥

ये पंचम्याद्यारूढ मुनि लोग तो ज्ञान का उषःकाल होने पर (जब कि इनको ज्ञानसूर्य की लालिमा दिखाई देने को होती है तब) निरन्तर इसी ज्ञानगायत्री का स्मरण किया करते हैं, इस संपूर्ण जगत्प्रपंच के कारण बने हुए, स्वयंप्रकाशमान देव का, वेदादि में वर्णित वरण करने योग्य सुखस्वरूप वह तेज (जिसके लिये प्रतिक्षण लालायित रहते हुए भी समस्त प्राणी दुर्भाग्यवश उसे नहीं जान पाते, जो कि समष्टि तथा सम्पूर्ण व्यष्टि बुद्धियों का एकमात्र साक्षी है) वह मैं ही तो हूँ।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
यदेकं केवलं ज्ञानं तदेवाहमहं हि तत ॥२॥

जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति में अन्वयव्यतिरेक से जो एक केवल ज्ञान सिद्ध होता है वही (सर्वानुगत) ज्ञान मैं हूँ, मैं ही वह ज्ञान हूँ।

तात्पर्य यह है कि जागरण का ज्ञान, स्वप्न का ज्ञान तथा सुषुप्ति का ज्ञान इनमें से जागरण, स्वप्न तथा सुषुप्तिरूपी तीनों उपाधियों को निकाल दिया जाय तो केवल ज्ञान ही शेष रह जाता है। जागरणज्ञान होते समय स्वप्न तथा सुषुप्ति का ज्ञान नहीं होता, स्वप्नज्ञानकाल में जागरण तथा सुषुप्ति के ज्ञान नहीं होते। परन्तु ज्ञान तो सदा ही रहता है। जागरण आदि अवस्थायें आती जाती रहती हैं, ज्ञान तो समान रूप से बना रहता है। ज्ञान में स्वभावत: कोई भेद नहीं है। सब कालों में रहनेवाले इसी ज्ञान को "सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म" इस श्रुति में ब्रह्मतत्त्व कहा है, यही अनन्त ज्ञान 'मैं हूँ' परन्तु अपने अविवेक से देहों को साथ लेकर चिदाभास बन रहा हूँ। यदि मैं ज्ञानस्वरूप इन अवस्थाओं का मध्यवर्ती न होता तो इन जड अवस्थाओं का प्रकाश ही कैसे हो पाता? इन तीनों अवस्थाओं के बदलते रहने पर भी माला के पुष्पों में सूत्र की तरह जो एक केवल ज्ञान अनुगत हो रहा है वही अनुगत ज्ञान मैं हूँ, मैं ही तो वह ज्ञान हूँ। (ज्ञान के अतिरिक्त मेरा और रूप ही क्या है?)

ज्ञानाज्ञाने तद्विषयौ तदहंकार एव च।
प्रकाश्यन्ते येन भूम्ना तदहं ह्यहमेव तत् ॥३॥

ज्ञान तथा अज्ञान, ज्ञान और अज्ञान के विषय तथा उन विषयों का अहङ्कार ये सब पदार्थ जिस भूमा चैतन्य से प्रकाशित हो रहे हैं वही मैं हूँ, मैं ही वह हूँ।

दीपक की अखण्डज्योति की तरह आत्मज्योति सदा सर्वत्र तथा सर्वरूप होकर विद्यमान है। सर्वत्र सम है, उसमें कभी कभी विषमता प्रतीत होने लगती है—अर्थात् कभी

आत्मज्योति की चुम्बक पत्थर की सी निश्चेष्ट सहायता से ज्ञान और अज्ञान, ज्ञान और अज्ञान के विषय, तथा ज्ञान और अज्ञान के (मैं ज्ञानी हूँ मैं अज्ञानी इस प्रकार के) अहंकार प्रतीत होने लगते हैं। ये जिस व्यापक चैतन्य से प्रकाशित होते हैं वह तो मैं हूँ ही, और मैं ही वह हूँ। तात्पर्य यह है कि—एक क्षण ऐसा होता है कि हमें वाह्य विषय का ज्ञान होता है, एक क्षण ऐसा होता हैं कि हमें किसी बाह्य पदार्थ का ज्ञान नहीं रहता इन ज्ञान और अज्ञान की दोनों अवस्थाओं का प्रकाश (भान, या प्रतीति कुछ भी कहो) केवल आत्मज्योति की ही सहायता से हो रहा हैं। इतना ही नहीं, ज्ञान और अज्ञान की इन दोनों अवस्थाओं के बीच में एक क्षण भर ऐसा समय भी रहता है जब कि हमें ज्ञान किंवा अज्ञान कुछ भी नहीं रहता। वह ज्ञानाज्ञान की सन्धि कहाती है। उस समय क्या आत्मज्योति बुझ जाती है ? नहीं, उस समय भी आत्मज्योति रहती ही है। उसी ने तो उस सन्धि को भी प्रकाशित किया है। इसी प्रकार ज्ञाताज्ञात विषय तथा इनकी सन्धि, ज्ञानाज्ञान का अहंकार तथा इनकी सन्धि को जो व्यापक चैतन्य प्रकाशित कर रहा है, वही मैं हूँ। ध्यान देने योग्य बात यह है कि—वह चैतन्य जब समष्टि अहं बनता है तब तो उससे सकल जगत् का प्रकाश होने लगता है, व्यष्टि अहं बनने पर वही केवल अहंकारादि को प्रकाशित कर सकता है। इस प्रकार उपाधियों के भेद से इतना सा भेद प्रतीत होने पर भी प्रकाशकता तो दोनों में समान ही है, वह दोनों में अनुगत है। उपाधि का त्याग कर दें तो उपहित दोनों ज्ञान एक ही हैं। वही ज्ञान आत्मा है, वही मैं हूँ।

विश्वश्च तैजसः प्राज्ञो नास्म्यहं सत्स्वरूपतः ।
यतस्ते तु प्रकाश्यन्ते तदहं नास्मि चेतरत् ॥४॥

न तो मैं विश्व हूँ, न मैं तैजस हूँ, न मैं प्राज्ञ हूँ । ये तो सब असत् पदार्थ हैं । ये आज हैं कल को नष्ट हो जायँगे। मैं तो सत्स्वरूप हूँ । मैं सदा इसी रूप में बना रहता हूँ। ये तीनों जिससे प्रकाशित हो रहे हैं वही मैं हूँ । इन प्रकाश्य पदार्थों में से तो मैं कोई सा भी नहीं हूँ ।

जाग्रत्काल में स्थूल देह के साथ तादात्म्य करने पर मुझे विश्व कहा जाता है, स्वप्नकाल में लिंगशरीर के साथ तादात्म्य करने से तैजस कहा जाता है, सुषुप्तिकाल में अज्ञान के साथ तादात्म्य हो जाने पर प्राज्ञ कहा जाता है, परन्तु मैं विश्व, तैजस किंवा प्राज्ञ कुछ भी नहीं हूँ । देखो जाग्रत्काल में तैजस तथा प्राज्ञ नहीं होते परन्तु मैं रहता हूँ। स्वप्नकाल में विश्व तथा प्राज्ञ नहीं होते मैं फिर भी होता हूँ । सुषुप्तिकाल में विश्व तथा तैजस नहीं होते मैं तो वहां भी रहता हूँ । मैं तो इन तीनों अवस्थाओं के संधिकाल में भी रहता हूँ । जब कि ये तीनों ही अवस्थायें नहीं होतीं उस समय मुझको 'तुरीय' कहा जाता है। ये विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ जिस निर्विकार चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं वही मैं हूँ। मैं विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ, वैश्वानर हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर, व्यष्टि स्थूल लिंग तथा कारण, समष्टि स्थूल लिंग तथा कारण कुछ भी नहीं हूँ । देखो ये सब ही पदार्थ आने जाने वाले किंवा काल पाकर नष्ट हो जाने वाले हैं । आत्म-ज्योति कभी बुझने वाली वस्तु नहीं है । वह तो नित्य निर्विकार व्यापक सच्चिदानन्दैकरस है, वही मैं हूँ।

ज्ञानाज्ञानप्रपंचेऽस्मि ञ्ज्ञानाज्ञानेन नाशिते ।
यत्सच्छिष्टं परं ब्रह्मं ह्यहं तन्नेतरत्स्मरेत् ॥५॥

ज्ञान और अज्ञानमय यह प्रपंच जब (सुन्दोपसुन्द्न्याय से) ज्ञान और अज्ञान से (आपस में ही) मार काट डाला जायगा, तो जो सत्पदार्थ शेष रहेगा वही परब्रह्म नामक तत्त्व होगा। वही परब्रह्म तत्त्व मैं हूँ। मैं उस तत्त्व से भिन्न नहीं हूँ। यह बात सदा ही याद रखने की है।

मुझ चैतन्य से प्रकाश पानेवाला यह प्रपंच स्वभाव से दो रूप धारण किया करता है। पहले को ज्ञान तथा दूसरे को अज्ञान कहते हैं। जाग्रत् तथा स्वप्न में तो यह प्रपंच ज्ञानरूप हो जाता है तथा सुषुप्तिकाल आते ही अज्ञान-रूप को धारण कर लेता है। जिस समय हमें ज्ञान होता है (अर्थात् जब हम जाग्रत् या स्वप्नावस्था में विषयों का दर्शन कर रहे होते हैं) तब वह ज्ञान उस सुषुप्ति काल के अज्ञानप्रपंच को नष्ट कर देता है। इसके विपरीत जब हमें अज्ञान होता है (अर्थात् जब हम घोर निद्रा में पड़े होते हैं) तब वह अज्ञान हमारे जाग्रत् तथा स्वप्नकाल के ज्ञानप्रपंच को नष्ट कर डालता है उस समय जो सत् (त्रिकाल में भी बाधित न होनेवाला) तत्व शेष रह जाता है उसे ही परब्रह्म कहते हैं, वही मैं हूँ। उस कूटस्थ चैतन्य से भिन्न मैं कुछ भी नहीं हूँ यही अनुसन्धान करता रहे।

अथ स्नानकालनिर्णयः

अरुणकिरणग्रस्तां प्राची मवलोक्य स्नायादिति स्नानम् ॥१॥

बोधायन स्मृति में कहा है कि—प्राची दिशा में जब कुछ

कुछ प्रकाश चमकने लगे तब स्नान करना चाहिये।
तथाहि—

नश्यन्त्यां मोहनिद्राया मन्धकारे गलत्यथ।
आरोहति विचाराद्रिशिखरे ज्ञानभास्करे ॥२॥
दिक्षु किञ्चित्प्रकाशासु दिङ्मोहे गलिते सति।
संदेहकौशिके नष्टे जाते प्रागरुणोदये ॥३॥

अब मुनियों के स्नान का समय बताया जाता है—(आत्म को भुलाकर प्रपंचरूपी सुपना दिखानेवाली) अज्ञाननिद्रा ज नष्ट हो जाय, (आत्मदर्शन को रोक रखनेवाला अज्ञानरूपी) अन्धकार भी जब नष्ट होने को तत्पर हो, ज्ञानरूपी सूर्य ज दृढ विचाररूपी उदय पर्वत पर चढ़ने की तैयारी कर रहा हो जब (अन्तःकरण की वृत्तिरूपी) दिशाओं में कुछ कुछ ब्रह्म स्फूर्तिरूपी अलौकिक प्रकाश की झलक दिखाई पड़ने लगे दिग्भ्रम (दिशाओं के होने का भ्रम) भी जब नष्ट होने उद्यत हो रहा हो (मैं देह से भिन्न हूँ किंवा अभिन्न हूँ? भि होने पर भी सविकार हूँ किंवा निर्विकार हूँ? निर्विकार होने पर भी मैं ब्रह्म से भिन्न हूँ किंवा अभिन्न हूँ? आत्मविषय इत्यादि) सन्देहरूपी अन्धकारविहारी तथा अमंगलरूप उल्लू जब कहीं जा छिपे हों, तब चित्सूर्योदय से प्रथमकाल में अग प्रकरण में बताई हुई स्नानविधि को करे।

अथ स्नाननिर्णयः

ज्ञानगंगाह्रदे शुद्धे मग्नोनखशिखावधि।
यः स्नाति मूलमंत्रेण सर्वदैव स निर्मलः ॥१॥

निरन्तर बहनेवाली ज्ञानरूपी गंगा के निर्विकल्प समाधि-रूपी ह्रद में नखशिख समेत ऐसी डुबकी लगानी चाहिये कि देहाभिमान नष्ट हो जाय, जगत् के मूल का निर्देश करनेवाले (ओम्, सोहं, किंवा अहं ब्रह्मास्मि इन) मूलमन्त्रों का चिंतन करते हुए जो महापुरुष ऐसा (आत्मानुसन्धानरूपी) स्नान करता है वह तो सदा ही निर्मल है।

अथ वस्त्रधारणम्

अथ भक्तिप्रसादाख्ये परिधायांशुके मुनिः।
यत्रोदयः सैव पूर्वा काष्ठा तस्याश्च सन्मुखः ॥१॥

उपर्युक्त प्रकार का स्नान करने के पश्चात् मुनि भक्ति (आत्मविषयक प्रेम) तथा प्रसाद (चित्त की स्थिरता) नाम के दो कपड़े पहन कर जिस किसी वृत्ति में (चैतन्यरूपी सूर्य का) उदय हो अर्थात् जिस वृत्ति में चिन्मात्रस्वरूप आत्मा के दर्शन हों उसी वृत्ति को पूर्वदिशा समझे। मुनि को उचित है कि उस पवित्र वृत्ति की ओर को ही अपना ध्यानरूपी मुख फेर दे।

अथ पवित्रादि धारणनिर्णयः

पवित्राः सूक्ष्मशास्त्रार्था स्तीक्ष्णाग्रा हरिताश्च ये।
शातना कुत्सितस्यैते कुशा इति निरूपिताः ॥१॥

अज्ञान तथा संशयादि को हटाने में समर्थ होने से पवित्र, अज्ञान को वेधन करने में समर्थ होने तक पहुँचने के कारण तीक्ष्णाग्र वाले हरित कुशाओं की तरह सदा ही नये रूप से बुद्धि में स्फुरित होने वाले, अशुभ संसाररूपी बन्ध को काटने वाले शास्त्रों के गम्भीर तात्पर्यरूपी ये शास्त्रार्थ ही इस दिनचर्या के असली कुशा कहाते हैं।

तत्पवित्रकरो भूत्वा मुनिः सव्येन वर्त्मना ।
वेदान्तसूत्रं यत्सूत्रं यस्याथर्व शिखा शिखा ॥२॥
जिज्ञासा दीर्घतिलको ब्रह्मकर्म समारभेत् ।

उन (शास्त्रार्थरूपी) कुशाओं से अपने (सांख्ययोग नामक) दोनों हाथों को (वेदान्तानुकूल) पवित्र करके, (अद्वैतरूपी) सव्य पद्धति से वेदान्तसूत्ररूपी यज्ञोपवीत को धारण करे। अथर्व शीर्ष आदि गुह्य मंत्र ही उस ज्ञानी की शिखा कहे जाते हैं। अर्थात् उन गुह्य मन्त्रों का पाठरूपी शिखाबन्धन करे। ज्ञानी पुरुष को जिज्ञासारूपी लम्बा तिलक भी लगाना चाहिये। इतना करने के अनन्तर (स्मृति में बताये 'ब्रह्मार्पणम् ब्रह्महविः' आदि पद्धति से) ब्रह्मकर्म को प्रारम्भ कर दे।

अथाचमननिर्णयः

जडं करतले कृत्वा समुद्रमिव कुंभजः ।
यदाचमति योगीन्द्र स्तदाचमन मुत्तमम् ॥१॥

अब योगीन्द्रों की आचमनविधि बतायी जाती है—

जिस प्रकार अगस्त्य मुनि ने इतने बड़े समुद्र का आचमन कर डाला था इसी प्रकार इस जडप्रपंच को आचमनीय जल की तरह (आत्मानात्मविवेकरूपी) हथेली पर रखकर उसका आचमन कर लिया जाय (अर्थात् इस जड जगत् को अपने से अभिन्न समझकर अपने में ही लय कर दिया जाय) तथा इस लय चिन्तन के द्वारा केवल स्वयं ही शेष रहा जाय। जब इस दृश्यमान जड संसार का कोई भी चिन्ह शेष न रह जाय तो यही योगीन्द्र का उत्तम आचमन हो।

अथ प्रातःसन्ध्यानिर्णयः

अब मुनियों का उपयोगी प्रातःसन्ध्या निर्णय कथन करते हैं—

अथोपयुक्तः क्रियते प्रातःसंध्याविनिर्णयः ।
मनोजन्म जगज्जन्म मनोनाशो जगल्लयः ॥१॥
तस्योन्मेषनिमेषाभ्या मुदयप्रलयौ यतः ।

मन का जन्म ही जगत् का जन्म है एवं मन का नाश ही जगत् का लय होना है, क्योंकि मन के उन्मेष (संकल्प) और निमेष (संकल्पों से विमुखता) से ही जगत् के उत्पत्ति और प्रलय होते रहते हैं ।

समाध्यभ्यासशीलस्य पूर्वसंस्कारकारणात् ॥२॥
यदुत्त्थानं समाधानात् ससंधिः संधिरत्रहि ।

समाधि (मन की उत्पत्ति और मनोनाश के प्रकाशक चैतन्य के आकार का ही मन को कर देने) का अभ्यास करने वाले पुरुष का जब कि पहले संस्कारों की प्रबलता के कारण समाधि से व्युत्त्थान हो जाता है। (अर्थात् जब आत्मनिरीक्षण बन्द होकर प्रपंच की स्फूर्ति [प्रतीति] होने लगती है) यही इस दिनचर्या में (मनोलय और मनोजन्म की किंवा प्रपंच लय तथा प्रपंच के जन्म की) सन्धि होती है मुनि लोगों को उस समय में सन्ध्या का अनुष्ठान करना चाहिए।

तत्रापि प्राप्ततत्त्वानां गुरूणामुपदेशतः ।
खण्डितं नानुसन्धानं सा सन्ध्ये त्युच्यते बुधैः ॥

अनुभवी गुरुओं के उपदेश से आत्मतत्व का दर्शन कर लेने वाले लोगों का जब समाधि से व्युथान हो जाय, तब भी

जब कि आत्मस्वरूप की स्फूर्ति बन्द नहीं हो तो इसी को विद्व लोग मुनियों की सन्ध्या कहते हैं।

अथ प्राणायामनिर्णयः

शरीराभ्यन्तरो वायुः प्राणापान इतीरितः।
स एव गतिभेदेन संज्ञादशकमागतः ॥१॥

शरीर के अन्दर का वायु प्राण तथा अपान कहाता है, परन्तु गतिभेद से उसी वायु के (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनंजय ये) दश नाम हो गये हैं।

ऊर्ध्वाधोगतिमुख्यं द्विरूपं तस्य गतिद्वयम्।
ऊर्ध्वं गच्छन् भवेत् प्राण स्त्वपानः स्यादधश्चलन् ॥२॥

उस प्राण की दो गति ही मुख्य हैं एक ऊर्ध्वगति दूसरी अधोगति। ऊपर (अन्दर) को जाता हुआ वह प्राण कहाता है तथा नीचे बाहर को जाता हुआ अपान हो जाता है।

अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
अनयोः शृंखला देहे तेन जीवो न निश्चलः ॥३॥

(आरा खेंचने वाले दो काष्ठ शिल्पियों के समान) प्राण को तो अपान खींचता है तथा अपान को प्राणनामक वायु खींचता रहता है। इस देह में इन दोनों की परस्पर शृंखला (के समान एक ग्रन्थि) लग रही है इसी के कारण यह जीव कभी निश्चल नहीं हो पाता है। (अभ्यास के द्वारा इस शृंखला को नष्ट कर डालने से ही जीव निश्चल हो सकता है। इसी से चित्त की स्थिरता के लिये प्राणापान को रोकना आवश्यक होता है)।

चले वाते चलं चित्तं, निश्चले निश्चलं भवेत् ।
चित्ते चले चलः प्राणो, निश्चले निश्चलो भवेत् ॥४॥

जब प्राण चलता है तो चित्त चंचल हो जाता है। प्राण के निश्चल हो जाने पर चित्त स्वयमेव निश्चल हो जाता है। दूसरे कहते हैं कि काम क्रोधादि के समय चित्त में जब संकल्प विकल्प उठने लगते हैं तब प्राण भी चंचल हो जाता (अर्थात् तीव्रगति से चलने लगता) है तथा मन के निश्चल हो जाने पर (जब कि वह अपने संकल्प विकल्पों को छोड़कर स्थिर हो जाता है तब) प्राण स्वयं ही निश्चल हो जाता है ।

कश्चित् प्राणजयेनैव मनोनिश्चलतां भजेत्,
कश्चिन् मनोजयेनैव प्राणनिश्चलतां भजेत् ॥५॥
कश्चिद् द्वयजयेनैव मनोनिश्चलतां भजेत्,
इति योगगतिज्ञानां त्रिविधा योगिनां गतिः ॥६॥

किन्हीं (हठयोगियों) के विचार में प्राण को वश में करने से ही मन की निश्चलता हो जाती है। किन्हीं (सांख्य तथा पातंजल) के मतानुसार अन्तःकरण को जीत लेने से ही प्राण निश्चल हो जाता है। किन्हीं (राजयोगियों वेदान्तियों) के मतानुसार तो प्राण तथा मन दोनों ही को जीतने से मन (आत्मविषय में) निश्चल हो जाता है, इस प्रकार योग की गति को जाननेवाले योगियों के साधन तीन प्रकार के देखे जाते हैं।

प्राणद्वारा मनः साध्यं मतं हि हठयोगिनाम् ।
मनसैव मनः साध्य मिति विज्ञानयोगिनाम् ॥७॥

प्राणायाम के द्वारा मन को स्वाधीन करना चाहिये ऐसा मत

हठयोगियों का है। पातंजल तथा सांख्य तो ऐसा मानते हैं कि (मन के दो अंश हैं एक विवेकरूप दूसरा संकल्पविकल्परूप उनमें) विवेकरूप मनोंश की सहायता से संकल्पविकल्परूप मनोंश को वश में कर लिया जाय।

(हठयोगियों का तात्पर्य यह है कि केवल विवेक से मन की स्थिरता नहीं हो सकती, किन्तु प्राणावरोध से ही मन स्थिर हो सकता है। मन की स्थिरता केवल हठयोगी ही कर सकते हैं। इसके विपरीत सांख्य तथा योग का भाव यह है कि—केवल प्राणायाम से यदि प्राण को वश में कर के मन को रोक भी लिया जायगा तो भी मूढमन बीजरूप से शेष रह ही जायगा। जैसे कि सुषुप्ति किंवा मूर्च्छा में शेष रह जाता है। इसलिये ऐसा मनोलय कर लेना कोई पुरुषार्थ नहीं होगा। किन्तु विवेक करते करते जब मन्तव्य पदार्थ पूरी तरह मिथ्या प्रतीत होने लगेंगे तब मन स्वतः ही शिथिल होकर लीन हो जायगा। ऐसे मनोलय को ही पुरुषार्थ कहा जा सकता है क्योंकि इस प्रकार लीन हुआ मन फिर उत्पन्न नहीं होगा)।

मनःप्राणद्वययुज स्ते तु श्रेष्ठतराः स्मृताः।
चेच्छुष्कहठिनो मूढा स्ते भण्डा न तु योगिनः ॥८॥

जो तो मन तथा प्राण दोनों को ही (लय चिन्तन के द्वारा सर्व कारण) आत्मा में लीन कर लेते हैं वे (राजयोगी) ही सब में श्रेष्ठ योगी कहाते हैं। शुष्क हठी (गुरु से योगविद्या को सीखे बिना पुस्तकें देखकर किंवा किसी योगविद्या को न जानने वाले से ही कुछ सुनकर जो लोग हठयोग का अभ्यास करते हैं वे) लोग तो योगविद्या के विदूषक हैं योगी नहीं।

ते त्वर्धयोगिनः प्रोक्ताः क्षुद्रसिद्ध्यर्थयोगिनः ।

अपने गुरु से हठयोग की दीक्षा लेकर भी जो लोग केवल परकायप्रवेश आकाशगमन तथा अन्तर्धान आदि क्षुद्र सिद्धियों के लिये योगसाधन करते हैं वे लोग अर्धयोगी कहाते हैं।

पिङ्गलेडा सुषुम्णा च मुख्या स्तिस्र स्तु नाडिषु ॥९॥
इडा वामा पिङ्गलान्या सुषुम्णा मध्यवर्तिनी ।
वामदक्षिणमार्गेण सदा वहति मारुतः ॥१०॥
यदा द्वावपि रुध्येते प्राणमार्गौ सुयोगिना ।
तदान्यत् सर्पवत् प्राणो रन्ध्र माविशति स्वयम् ॥११॥

(देह की बहत्तर हज़ार) नाडियों में इडा, पिङ्गला तथा सुषुम्णा ये तीनों मुख्य नाडियें हैं। वामभाग में रहनेवाली इडा या (चन्द्र नाडी) कहाती हैं दाहिने भाग में रहने वाली नाडी पिङ्गला (सूर्य नाडी) कहाती है तथा मध्यभाग में रहने वाली नाडी को सुषुम्ना (किंवा ब्रह्म [मोक्ष] नाडी) कहते हैं। शरीर का वायु स्वभावतः ही वाम तथा दाहिने भाग से चला करता है जब कि योगाभ्यासी अपने योगाभ्यास से प्राण के दोनों मार्गों को रोक देता है, तब सब छिद्रों के बन्द हो जाने पर वह प्राण वायु (घबराये हुए) सांप की तरह उन दोनों मार्गों से भिन्न सुषुम्णा नामक तीसरे छिद्र में अपने आप ही प्रवेश कर जाता है।

स्थिता कुण्डलिनी मूले जीवशक्तिरनुत्तमा ।
तामुत्थाप्य तया सार्धं सुषुम्णां प्राण आविशेत् ॥१२॥

मूलाधार चक्र में एक सर्वोत्तम जीवशक्ति निवास करती

है जिस को कुण्डलिनी कहते हैं उसको उठाने के अनन्तर उसे को साथ लेकर वह प्राणवायु सुषुम्णा नाम की ब्रह्मनाडी में प्रवेश कर जाता है।

सुषुम्णावाहिनि प्राणे ब्रह्मरन्ध्रं गते सति।
तत्र निश्चलतां याते मनो निश्चलतां व्रजेत् ॥१३॥

उस (ब्रह्मनाडी) सुषुम्णा में प्रवेश करने के अनन्तर जब वह प्राण ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचता है, तब वहाँ पहुँचते ही (वहाँ की अलौकिक शीतलता पाने पर) निश्चल हो जाता है उसका यह प्रभाव होता है कि संकल्पविकल्परूपी मन भी स्वतः ही निश्चल हो जाता है।

जब कोई योगी पूर्वोक्त अभ्यास करता है तो प्राणायाम तथा आसन आदि की गरमी से यह कुण्डलिनी शक्ति जागती है और जागते ही प्राण के साथ सुषुम्णा में प्रवेश कर जाती है वह सुषुम्णा नाडी शरीर के वामदक्षिण भागों के बीचोंबीच होकर ब्रह्मरंध्र तक गई है। उसी सुषुम्णा मार्ग से यह शक्ति प्राण के साथ ही ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाती है ब्रह्मरन्ध्र में परम शिव निवास करते हैं यह शक्ति मूलाधार में रहती है इस विधि से जब यह दोनों मिलते हैं तो इसे ही 'शिवशक्तिसमायोग' कहा गया है। हठयोग से मनोलय करने की विधि यही है।

मनो यदि निरुध्येत केवलं ज्ञानयोगिना।
प्राणापानौ नश्यतस्तु मनोनाशेन तत्क्षणात् ॥१४॥
तस्मात्सिद्धान्त एवैको हठविज्ञानयोगिनोः।

सांख्ययोग प्रक्रिया से (विवेक के द्वारा) केवल मन के ही रोका जायगा तो मनोनाश हो जाने से प्राण तथा अपान

नामक वायु तत्क्षण ही नष्ट हो जायँगे (निद्रा तथा मूर्च्छा में भी मनोलय तो होता है परन्तु वहां विवेक से संकल्पविकल्परूप मन लीन नहीं होता इसलिये प्राणापान चलते रहते हैं) इस प्रकार हठयोगी तथा विज्ञानयोगी ये दोनों मनोलय को ही साध्य बताते हैं इसलिये इन दोनों का अन्तिम सिद्धान्त एक ही है।

शास्त्रोक्तमिति विज्ञाय निर्णयं प्राणचेतसोः ।
प्राणायामं मुनिः कुर्या न्मनोलयसमन्वितम् ॥१५॥

मुनियों को उचित है कि वे वेदान्त शास्त्र में कहे हुए प्राण तथा मन के निर्णय को जानकर प्राणावरोध भी करें, और साथ ही मनोलय का अभ्यास भी किया करें।

केवल प्राणायाम करने से प्राण स्थिर तो हो जाता है परन्तु विवेक न होने के कारण मन के बीज का नाश नहीं होता इसलिये मन पहले की तरह बना ही रहता है। यदि केवल विवेक से मन को नष्ट कर दिया जाय और उसके दूसरे साथी प्राण को जीवित छोड़ दिया जाय तो भी प्राणावरोध न होने से वह फिर फिर मन को उत्पन्न कर ही देता है। इसलिये मन के मैल को हटाने के लिये प्राणायाम आवश्यक है। प्राणस्थैर्य के अनन्तर उत्पन्न हुए विवेक से जो मनोलय होगा वही स्थायी मनोलय होगा, वैसा मनोलय ही मोक्ष का साधक हो सकता है। यही इस विषय में विशेष ज्ञातव्य बात है।

अथार्घदानम्

पूर्णाञ्जलिमया स्व्यर्घा भावनागांगवारिणा ।
सर्वपापविशुद्ध्यर्थं प्रदेयाः कर्मसाक्षिणे ॥१॥

प्राणायाम के पश्चात् मुनि लोगों की अर्घदानविधि बताई

जाती है—पूर्ण ब्रह्म ही "रसोवै सः' इस श्रुति के अनुसार श्रुति के अर्घदान में जल होता है। सांख्य तथा योग को परस्पर अविरोधी समझने से ही सांख्ययोगरूपी हाथों की अंजलि बन जाती है। गीता में भी कहा है कि "एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति" अर्थात् सांख्य और योग को जो एक समझ सकता है वही तत्वज्ञानी है। पूर्ण ब्रह्मरूपी जल को सांख्ययोग की एकार्थतारूपी, अंजलि बनाकर, भावनारूपी गंगाजल से भर कर, (सर्व दुःखों के मूलकारण द्वैतरूपी) सर्व पापों को हटाकर, (ब्रह्मताप्रतीतिरूपी) विशुद्धि के लिये, समस्त कर्मों के साक्षी चिदादित्य को, तीन ही अर्घ देने चाहियें। (अधिक अर्घ देने की कोई आवश्यकता नहीं होती)।

इदं दृश्यमहं द्रष्टा प्रथमोर्घो मनीषिणाम्।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या द्वितीयोर्घस्ततः परः ॥२॥

अहंकार से लेकर इस देह तक तथा इस देह से लेकर अनादि माया तक यह सभी संसार मेरा दृश्य है तथा मैं कूटस्थ इसका एकमात्र द्रष्टा (प्रकाशक) हूँ। ज्ञानियों का तो यही 'पहला अर्घ' कहाता है। ब्रह्म ही केवल सत्य पदार्थ है, यह जगत् तो अवास्तव ही है, ऐसी विचारमाला ही चिदादित्य को दिया हुआ 'दूसरा अर्घ' कहाता है।

नेदमस्त्यहमेवास्मि तृतीयोर्घः परात्परः।
एवंविधार्घदानेन चिदादित्यः प्रसीदति ॥३॥

यह दृश्य संसार वास्तव में कुछ है ही नहीं किन्तु सर्वत्र केवल मैं ही मैं हूँ, यही ज्ञानियों का 'तीसरा अर्घ' कहाता है। ऐसे अर्घों के देने से (उसके साथ अपना अभेद समझने से)

चैतन्य सूर्य निर्मल होकर चमकने लगता है (साक्षात्कार बढ़ने लगता है)।

अथ गायत्रीजपनिर्णयः

अखण्डमण्डलाकारं देवं ज्योतिर्मयं स्मरन्।
उपदेशात्सदाऽऽवृत्ति रितिवेदान्तसूत्रतः ॥१॥
तिष्ठेज्जपेच्च गायत्री मष्टोत्तरशतत्रयम्।
गायन्तं त्रायते यस्माद्गायत्री तेन सा स्मृता ॥२॥

सदा एकरस बिम्ब ही जिसका स्वरूप हैं ऐसे चिन्मात्र-रूप स्वयंप्रकाश आत्मा को सदा ही स्मरण करता रहे वेदान्त में कहा है कि 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' जिस दिन गुरुमुख से आत्मज्ञान का उपदेश प्राप्त हो तब से लेकर नित्य ही जीवब्रह्म की एकता का बार बार अनुसन्धान करता ही रहे। प्रतिदिन तीन सौ चौबीस बार गायत्री का भी जप किया करे। यह गायत्री अपने गाने वाले का त्राण करती है। उसे (भयरूपी द्वैतसागर में डूबने से) बचाती है। इसीलिये गायत्री कहाती है।

अन्तर्यामिस्वरूपेण सर्वधीवृत्तिनोदकम्।
सवितृमण्डले ध्येयं गायत्र्यर्थपरं महः ॥३॥

जो अन्तर्यामी सम्पूर्ण बुद्धि वृत्तियों का प्रेरक है, जो कि गायत्री का प्रतिपाद्य मुख्य अर्थ है जो कि सर्वप्रकाशक चिन्मात्र तेज है उसी तेज का चिन्तन सकल जगदुत्पादक अन्तर्यामी के बिम्बरूपी मण्डल में करना चाहिये। (अर्थात् उपाधियों को त्याग कर उपहितमात्र में ही सदा ज्ञानी की दृष्टि रहनी चाहिये)।

चतुर्विंशत्यक्षरया गायत्र्या ब्रह्मविद्यया ।
चतुर्विंशतितत्त्वानां लयकृद् ब्राह्मणः शुचिः ॥४॥

चौबीस अक्षरों वाली गायत्रीरूप ब्रह्मविद्या के द्वारा सांख्य के चौबीस तत्त्वों का लय कर देनेवाला (और इस प्रकार अपने आप को ही सर्वबाधावशेष असंग ब्रह्म जान लेने वाला) ब्राह्मण निर्मल हो जाता है। (लय करने योग्य इन चौबीस तत्वों के अनुसार ही गायत्री छंद चौबीस अक्षरों का होता है)।

अथोपस्थाननिर्णयः

अब गायत्री जप के अनन्तर उपस्थान का निर्णय बताया जाता है—

मुनिः प्रसार्य सरलौ प्रलम्बौ सपवित्रकौ ।
सांख्ययोगौ निजौ बाहू उपतिष्ठेत भास्करम् ॥१॥

मुनि को उचित है कि (विरोधहीन सूक्ष्म शास्त्रतात्पर्यरूपी) कुश पवित्रों को अपने लम्बे (जीव ब्रह्म की एकता किंवा आत्मज्ञान पर्यन्त फैल सकने वाले) हाथों में पहनकर, अपने सांख्य-योग नाम के दोनों हाथों को (अनात्मत्याग तथा आत्मग्रहण के लिये) प्रथम तो पूरा फैला दे। फिर (वेदान्त में श्रद्धा के कारण) उन दोनों को ही सरल किंवा शिथिल (ढीला) छोड़ दे, अर्थात् उनमें विशेष प्रयत्न फिर न करे। उसके पश्चात् जगद्भासक चैतन्य सूर्य का अगले श्लोक में कही विधि से उपस्थान किया करे। "उपतिष्ठेत भास्करं" इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" उसी आत्मज्योति के प्रकाश को लेकर ही सूर्यादि पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं। इस श्रुति के कहे अनुसार सत्यस्वरूप चिदात्मारूपी भास्कर के समीप पहुँचे,

अर्थात् व्यावहारिक चिदाभास की बाधा करके परमार्थभूत आत्मा का ही चिन्तन निम्नविधि से किया करे।

नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे।
जगत्प्रसूतिस्थितिनाशहेतवे॥
त्रयीमयाय, त्रिगुणात्मधारिणे।
विरिञ्चिनारायणशंकरात्मने॥२॥

सविता अर्थात् माया तथा माया के कार्यों को किंवा इस सकल जगत् को ही उत्पन्न करने वाले, जगत् के एकमात्र चक्षु अर्थात् एकमात्र प्रकाशक, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, तथा प्रलय के मूल कारण, सत्वादि तीन गुणों को धारण करने वाले, ब्रह्मा, विष्णु, तथा महेश के भी अन्तर्यामी किंवा इनके रूप में यदा तदा प्रकट होने वाले, त्रयीमय अर्थात् तीनों वेदों में वर्णि[illegible] और तीनों वेदों का उत्पादक होने से सर्वज्ञत्वादि लक्षण [illegible] आत्मदेव को हमारा नमस्कार हो।

अथ सांगहोमनिर्णयः

अब उपस्थान के निर्णय के पश्चात् होम के यज्ञशाला तथा प्रायश्चित्तादि अंगों का निर्णय किया जाता है—

एवं समाप्य विधिना प्रातः सन्ध्याविधिं मुनिः।
होमस्यावसरं ज्ञात्वा यज्ञशालां ततो विशेत्॥१॥

इस प्रकार प्रातःकाल की सन्ध्याविधि को समाप्त करने के अनन्तर मुनि को उचित है कि (जब अहन्ता और ममता का बाध होने लगे तब) होम का सुअवसर जानकर वक्ष्यमाण यज्ञशाला में (आत्मपूजन के लिये) प्रवेश करे।

यज्ञशाला भूमिका स्या त्तृतीया तनुमानसा।
सव्याहीन्सव्यतः कुर्यादसव्याहानसव्यतः ॥२॥
संचरेत तथा नैव प्रायश्चित्तीयते यथा।

(जिस अवस्था के आने पर मनोधर्म संकल्प विकल्प तथ रागद्वेषादि सूक्ष्म पड़ जाते हैं वह) तनुमानसा नामक तृतीय भूमिका ही ज्ञानी के यज्ञ की यज्ञशाला कहाती है। (लौकिक यज्ञ शाला में जाकर दक्षिण भाग में स्थापनीय होमसामग्री को दक्षिण भाग में रखना और वामभाग में रखने योग्य को वामभाग में रखना होता है, ऐसी सावधानी से यज्ञ करना पड़ता है कि विधिभ्रंश होकर प्रायश्चित्त का भागी न बने) इस ज्ञानियज्ञ में भी यज्ञशाला में घुसने के बाद ज्ञानी को चाहिये कि मोक्ष के साधन विवेकादियों को अद्वैतात्मा की तरह इष्ट समझे यह उनको दक्षिण स्थान में रखना कहाता है तथा जन्ममरणादि गति देने वाले यज्ञादि साधनों को द्वैतरूप संसार की प्राप्ति का कारण समझ कर वामभाग में रक्खे—अर्थात् उन्हें त्याज्य समझ ले। इस प्रकार द्वैत और अद्वैत के साधनों का पूर्ण विचार करता हुआ योगी ऐसा आचरण करे कि (प्रायः नैव चित्तीयते यथा) जिससे अधिकता से (ज्यादातर) चित्त के आचरण की तरह आचरण करनेवाला न हो जाय अर्थात् प्रतिसमय द्वैत संसार विषयक चित्त की वृत्तियें ही न करता रहे (किन्तु केवल आत्म प्राप्ति के साधनों में ही प्रवृत्त रहे)।

अथ कर्मातिपातः स्याद् दुर्गत्वाद् ब्रह्मकर्मणः।
प्रायश्चित्तविधिं ज्ञात्वा तच्च सद्यः समाचरेत् ॥३॥

समाधिरूपी ब्रह्मकर्म के अति दुःसाध्य होने के कारण यदि

कभी कर्मातिपात (किसी कारण से समाधि से व्युत्थान) हो जाय तो प्रायश्चित्त अर्थात् आगे बतायी हुई चित्त के नाश की विधि को जानकर तत्क्षण ही प्रायश्चित्त करले। उपेक्षा या देर कदापि न करे। (क्योंकि 'प्रमादे जम्भृते माया' प्रमाद करने से अज्ञान की बेल बढ़ने लगती है)।

कर्मातिपाते प्रायश्चित्तं तत्कालमिति वचनात्प्रायश्चित्तानि॥४॥

कर्म के विघात हो जाने पर तत्काल ही प्रायश्चित्त करे ऐसा बौधायन मुनि का वचन है।

अथ प्रायश्चित्तानि

अब लौकिक प्रायश्चित्तों से विलक्षण मुनियों के प्रायश्चित्त बताये जाते हैं—

क्षमयैव जयेत् क्रोधं सत्येनैवानृतं जयेत्।
अश्रद्धां श्रद्धया जित्वा दानैः कृपणतां जयेत् ॥५॥

क्रोध को क्षमा से ही जीते, अनृत को सत्य से ही विजय करे, अश्रद्धा को श्रद्धा से ही पराजित करे, तथा कृपणता को दान से ही परास्त कर दे।

यदि क्रोध के उत्पन्न हो जाने से आत्मा की स्वाभाविक स्थिति का भंग हो तो उसे क्षमा से ही नाश करना चाहिये सत्य से अनृत का संशोधन करना चाहिये। गुरु या वेदान्त वाक्यों में यदि अश्रद्धारूपी विघ्न उत्पन्न हो तो उसे विश्वास से विजय करे। सत्पात्रों को दान देने में उदार होकर कृपणता किंवा अनुदारता को नष्ट करे। समाधिरूप ब्रह्मकर्म के अतिपात हो जाने पर इस विधि से प्रायश्चित्त किया करे)।

इतीमे सेतुसामोक्ता श्चत्वारः सेतवो दृढाः ।
उपलक्षणमेवैतदन्यानपि तथा जयेत् ॥६॥

'सेतूँस्तरेत्' इस सामवेद में कर्मातिपात को पार करने के लिये ये ही चार दृढ सेतु बनाये गये हैं इसी प्रकार और भी दोषों को विजय करे। साम में कहा है कि "हाउ सेतूँस्तर दुस्तरान् दानेनादानं हाउ अक्रोधेन क्रोधं हाउ श्रद्धयाश्रद्धां हाउ सत्येनानृतं हाउ" दुस्तर सेतुओं को पार करो कृपणता को दान से, क्रोध को क्षमा से, अश्रद्धा को विश्वास से तथा अनृत को सत्य से पार करो।

उत्थानेन जयेन्निद्रां कामं संकल्पवर्जनात् ।
सन्तोषेण जयेल्लोभं मोहं बोधदृशा जयेत् ॥७॥
मदमत्सरमुख्यांश्च सर्वभूतात्मभावनात् ।
अन्यानपि जयेद्दोषा न्नित्यानित्यविचारणात् ॥८॥

नींद को आसन से उठ कर टहल कर जीते, काम को संकल्पपरित्याग से विजय करे, लोभ को सन्तोष से हटा दे मोह को आत्मस्मरणरूपी ज्ञानदृष्टि से जीत ले, मद मत्सर आदि को सर्वभूतात्मभावना से नष्ट कर दे, और भी जो दोष उत्पन्न हों उन सब को नित्यानित्यविचार से परास्त कर डाले।

यदि समाधि का अभ्यास करते हुए निद्रा के कारण समाधि कर्म का अतिपात हो जाय तो कुछ टहल कर उसका निवारण कर दे। यदि मन में कोई अभिलाषा उत्पन्न हो तो संकल्प को त्याग कर उसे विजय करे। सन्तोष से लोभ को विजय करे, मोह को (जिससे कि आत्मसाक्षात्कार में बाधा पड़ती हो) आत्मस्मरणरूपी बोधदृष्टि से नष्ट कर दे। मुझ में ही सकल गुण सबसे अधिक हैं ऐसा विचार 'मद' कहाता है दूसरे

की वृद्धि को न सहना 'मत्सर' कहाता है इन दोनों को तथा काम क्रोधादिकों को विजय करने का सर्वोत्तम साधन यह है कि जिनको देखकर मद मत्सर आदि उत्पन्न होते हों उन सबमें आत्मभावना करे (अर्थात् जब कि आत्मा एक ही है तब ये भी तो मैं ही हूँ। फिर इनसे मद मत्सर करना तो अपने आत्मा से ही मद मत्सर करना होगा। इस प्रकार इन मद मत्सर आदि को विजय किया करे)। इन दोषों के अतिरिक्त आत्म-साक्षात्कार में और भी जो विघ्न आया करें उन सबको नित्या-नित्य पदार्थों के विचार से नष्ट करता रहे।

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयात् समप्राप्तं न चालयेत् ॥९॥

चित्त का लय होने लगे तो उसे जगाना चाहिये, चित्त विक्षिप्त होने लगे तो उसे फिर फिर शान्त करना चाहिये, इस समय चित्त में कषाय हो रहा है यह भी चतुर साधक को पह-चानना ही चाहिये। एवं जब मन समता में आ जाय तो फिर उसे हिलाना डुलाना नहीं चाहिये।

समाधि करते करते जब कि मन विषयों में जाना बन्द कर देता है तब कभी कभी निद्रा आने लगती है यही लय कहाता है, उस समय (निद्रा आने के कारणों को हटाकर) चित्त को ललकार कर जगाना चाहिये। पूरी नींद न सोने, पेट में अजीर्ण रहने, अधिक भोजन तथा श्रम करने से योगाभ्यास करते हुए निद्रा आ जाती है। इन कारणों को हटा कर मन को जागृत करके फिर ध्यान में लगा दे। निद्रा से जगाए हुए चित्त में यदि अनादिकाल के अभ्यास से विक्षेप उत्पन्न हो जाएँ (किंवा

काम भोगों में चित्त घूमने लगे) तो उसको विषयों के दो
दिखाकर किंवा सर्वदुःखहीन सकलसुखसागर आत्मा के दर्श
का लोभ देकर (इस प्रकार के विचारों से) शान्त करे (कि
हे मन ! इन भोग्य पदार्थों में अनन्त दुःख भरे पड़े हैं। ये
भोग तो विष मिले हुए भोजन के तुल्य हैं। इनके चिन्त
से तुझे क्या प्राप्त होना है ? तुझे तो जन्मादिविकाररहित अद्विती
सत्यस्वरूप आत्मवस्तु का ही चिन्तन किंवा अनुसन्धान कर
चाहिये। इस प्रकार लय और विक्षेप को जीत लेने पर भी समा
करते हुए कभी यह होता है कि—वैसे तो चित्त समाहित
प्रतीत हुआ करता है, परन्तु उस चित्त को रागद्वेषादि की सू
वासनायें व्याप्त किये रहती हैं। तब चित्त अन्दर ही अन्दर खि
किंवा प्रसन्न सा रहता है उस समय अत्यन्त खेद या अति प्रसन्न
से भी मनोलय हो जाता है, परन्तु वह समाधि नहीं है।
को समाहित चित्त से पृथक् पहचान लेना चाहिये कि यह चि
इस समय समाधि में नहीं है। ऐसी पहिचान हो जाने प
उस रागद्वेषादिवासना का प्रतीकार करे। ऐसा न हो
समाधि के भ्रम से उस कषायावस्था में ही ठहरा रहे।
प्रकार ब्रह्म में विषमता को उत्पन्न करनेवाले लय विक्षेप
कषायों से बचकर ज्यों ही वह मन समरूप ब्रह्म को प्राप्त
जाय (अर्थात् जब चित्त ब्रह्माकार हो जाय) तो फिर
वहां से न हटाना चाहिये क्योंकि वह परमगति को प्राप्त
चुका है।

नास्वादयेत् सुखं तत्र निःसंगः प्रज्ञया भवेत्।
विशेदेकाग्रया बुद्ध्या सिद्धिमेव मवाप्नुयात् ॥१०॥

मन जब समता में पहुँच जाय तो यहां सुखास्वाद लेने का प्रयत्न न करना चाहिये अपितु बुद्धि के सहारे से निःसंग रहने का यत्न करना चाहिये। एकाग्रबुद्धि के सहारे से यों ही आत्मधाम में घुसते चले जाना चाहिये। ऐसा करेगा तो सिद्धि को पाकर ही छोड़ेगा।

'उस समय आनन्द का आस्वादन न करे', इसे यों समझें— गरमी के दिनों में गंगा के शीतल जल में डुबकी लगाये हुए जिस शैत्यसुख को स्नान करने वाला पुरुष अनुभव करता है उस सुख को जल से बाहर निकलने पर ही कहा जा सकता है। गोता लगाये हुए उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। किंवा जैसे सोते हुए पुरुष को अविद्यावृत्तियों से जिस निद्रासुख का अनुभव होता है उसे क्या वह जाग्रत्काल के सविकल्प अन्तःकरण से कभी वर्णन किंवा ग्रहण कर सकता है। उसका स्मरण किंवा वर्णन तो जागने पर ही हो सकता है इसीप्रकार समाधि काल में भी चित्तवृत्ति बन्द हो जाती है और संस्कारमात्र चित्त सूक्ष्मावस्था में रह जाता है। वह सूक्ष्मचित्त ही उस समाधि-काल में सुखानुभव करता है। उस सुख को 'ओहो मैं तो बड़ा भारी सुख अनुभव करता हूँ' इस प्रकार वृत्ति की चादर उढ़ा कर एकदेशी तथा क्षणकालिक बना लेना न चाहिये। ऐसा करने से तो उस सुख की पूर्णता ही नष्ट हो जायगी। वह सुख अपूर्ण किंवा खण्डित होजायगा। उस समय तो प्रत्येक विवेकी को प्रज्ञा से निःसंग रहना चाहिये—अर्थात् उस आनन्द के विषय में सविकल्प ज्ञानों को उत्पन्न न होने देना चाहिये। अथवा उस समाधिसुख को अनुभव करना किंवा मानस शब्दों

के सांचे में उसे ढालने के जैसे छोटे भाव उदय नहीं होने दे चाहिये। उस समय उस समाधिरूप वृत्ति से असंग होकर केवल अपने सर्वसम्बन्धहीन शुद्धचिन्मात्र आत्मरूप का ध्यान करना चाहिये, क्योंकि समाधि भी तो चित्त का ही एक धर्म होता है। इस विधि से प्रत्येक अभ्यासी उस अवस्था में असंग रहने का प्रयत्न करे। उस निश्चयात्मक एकाग्रबुद्धि की सहायता से ब्रह्म में प्रतिदिन अधिकाधिक प्रविष्ट किंवा लीन होता चला जाय। उसके इस महान् आत्मत्याग को देखकर पतिव्रता बुद्धि भी अपने चिदाभास के साथ ही ब्रह्म में लीन हो जाती है। इस विधि के अनुसार पूर्वोक्त ब्रह्मकर्म की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं।

उद्धृते गार्हपत्याग्नौ तत्त त्संस्कारसंस्कृते।
सत्यरूपः स्वयं यज्वा श्रद्धा पत्नी पतिव्रता ॥११॥

गार्हपत्य नामक अग्नि को बाहर निकालने पर तथा उन (शम, दम, उपरति आदि) संस्कारों से शुद्ध कर लिये जाने पर, सत्यस्वरूप वह शुद्धजीव ही होमकर्ता होता है। (सुखमय आत्मा का सदा स्मरण रखनेवाली) पतिव्रता श्रद्धा ही उस होम करनेवाले की पत्नी कहाती है।

गृहं देहः पतिर्जीव श्छादितो मोहभस्मना।
जीवस्य गार्हपत्याग्ने स्तदुद्धरण मुत्तमम् ॥१२॥

यह देह ही घर है, जीव ही इसका गृहपति है उस पर मोहरूपी भस्म जम गयी है, उस भस्म को यदि कोई हटा दे और उस जीवरूपी अग्नि को देख ले तो बस यही जीवरूपी गार्हपत्याग्नि का बढ़िया उद्धरण हो जाय।

यह शरीर ही गृह कहाता है क्योंकि इसे ही लोगों ने आ

के धोखे में ग्रहण कर रक्खा है। अपनी सत्ता देकर इस शरीररूपी गृह का पालक होने से वह जीव गृहपति कहाता है। अचानक ही वह जीवरूपी अग्नि मोहरूपी भस्म से ढक सा गया है। उस जीव-रूपी गार्हपत्य अग्नि को मोहरूपी राख में से निकाल लेना ही उत्तम उद्धरण कहाता है। (तत्वज्ञान से इस शरीररूपी घर को जला डालने के कारण उस जीव को अग्नि माना गया है)।

द्वे आहुती जुहोत्येते अग्निहोत्रविधानतः।
ममतां प्रथमं हुत्वाऽहन्तां च जुहुयात्ततः ॥१३॥

अग्निहोत्र की विधि के अनुसार मुनि तो केवल दो ही आहुतियें अपनी गार्हपत्याग्नि में हवन करता है। प्रथम तो ममता का होम कर देता है उसके अनन्तर अहन्ता का होम कर डालता है।

हुते चेदाहुती एते सर्वमेतद्धुतं भवेत्।
श्रद्धापत्नीसमेतानां मुमुक्षागृहवासिनाम् ॥१४॥
अग्निहोत्रमिदं नित्यमकृत्य प्रत्यवैति यत् ॥१५॥

यदि उक्त प्रकार की दो आहुतियें उक्त प्रकार की गार्हपत्य अग्नि में डाल दी जायँ तो हम समझते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् ही उस अग्नि में भस्म हो जाय (फिर तो उस मुनि की पवित्र दृष्टि में केवल आत्मचैतन्य ही शेष रह जाय)। श्रद्धा-रूपी पत्नी के साथ मुमुक्षारूपी मंदिर में निवास करनेवाले मुनियों के (नित्यकर्म) ज्ञानाग्निहोत्र का वर्णन यहाँ तक किया गया। इस अग्निहोत्र को न करें तो ज्ञानी लोग भी पातकी हो जाते हैं।

अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ।
इति पंचाङ्गुलिमयो यमनामा तु सत्करः ॥१॥
शौचं सन्तोषः स्वाध्यायस्तप ईश्वरधारणा ।
इति पंचाङ्गुलिमयो नियमो नाम सत्करः ॥२॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा योगप्रतिकूल विषयों का असंग्रह इन पाँच अँगुलियोंवाला मोक्ष के लिये उपयोगी यम नाम का मोक्षदायक प्रथम हाथ कहाता है। शौच सन्तोष अध्यात्मविषयक ग्रन्थों का स्वाध्याय तप (स्ववर्णाश्रमविहित कर्मों का अनुष्ठान तथा आत्मप्राप्ति के लिये क्लेशसहन) तथा ईश्वरधारणा (अस्ति भाति और प्रिय इन तीनों रूपों का सब पदार्थों में दृष्टिगोचर होना) पाँचों अँगुलियों के समान इन पाँचों से मिलकर बना हुआ यम नाम का दूसरा मोक्षोपयोगी हाथ कहाता है।

संपुटीकृत्य हस्तौ द्वौ मुनि र्नियमसंयमौ ।
ब्रह्मस्तुतिमयं साक्षाद् ब्रह्मयज्ञं समाचरेत् ॥३॥

(द्वैतत्याग तथा अद्वैतग्रहण के साधन) नियम और संयम नाम के इन दोनों हाथों को (इस प्रकार) मिलाकर (कि जिससे ये दोनों एक दूसरे की सहायता करते हुए अखण्डैकरस आत्म-वस्तु को प्राप्त करा सकें) सच्चिदानन्द ब्रह्म की प्रशंसा करने वाले वाक्यों का अनुशीलन करता रहे। यही ब्रह्मयज्ञ कहाता है।

तदुक्तं पातंजले—

'स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।
योगस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते' इति ॥४॥

इस ब्रह्मयज्ञ को पतंजलि मुनि ने अपने योगशास्त्र में भी प्रतिपादन किया है कि—अभ्यासी को प्रथम अध्यात्मशास्त्र का पाठ करना चाहिये या प्रणवादि का जप करना चाहिये। जब उससे चित्त हटने लगे तब चित्तवृत्तियों का निरोध करना प्रारम्भ करे। वहाँ भी यदि कालान्तर में चित्त उदासीन हो जाय किंवा किसी प्रकार का संदेह उत्पन्न हो जाय तो उस उदासीनता तथा सन्देह को हटाने के लिये फिर उन्हीं अध्यात्मग्रन्थों का अनुशीलन किंवा अभीष्ट मन्त्र का जप करने लगे। इस प्रकार पर्याय से कभी चित्तवृत्ति को रोकने और कभी स्वाध्याय करने से अखण्ड एकरस आत्मा स्वयं ही दर्शन दे देता है।

वेदशास्त्रपुराणेषु यद्यत्पुण्यफलं स्मृतम्।
सर्वस्मादपि संप्रोक्तं ब्रह्मयज्ञफलं महत् ॥५॥

वेदान्तादि शास्त्रों तथा पुराणादियों के विचारपूर्वक पढ़ने पर उनसे पृथक् पृथक् जितने पुण्यफल प्राप्त होते हैं आत्मप्राप्तिरूपी फलवाले ब्रह्मयज्ञ से तो उन सबसे बड़ा फल प्राप्त हो जाता है।

अथ तर्पणनिर्णयः

देवर्षिपितृभूतेभ्यो दत्तो येन जलाञ्जलिः।
ब्रह्मैवासीति मन्त्रेण तर्पणं तत्सुतर्पणम् ॥१॥

ब्रह्मयज्ञ के निरूपण के पश्चात् अब मुनीन्द्र का तर्पण बताया जाता है—यदि कोई मुनीन्द्र 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस महामन्त्र से (इन्द्रियों के अधिष्ठाता) देव, (ब्रह्मादि) ऋषि, (अग्निष्वातादि) पितर, स्वपितर (आकाशादि) भूत तथा

सम्पूर्ण प्राणियों के उपभोग के लिये सम्पूर्ण जडभाग को अञ्जलि के रूप में मिलाकर दे दे (अर्थात् सांख्ययोग नामक दोनों हाथों को ब्रह्मरूपी एक अर्थ में पर्यवसान [गतार्थ] करके छोड़ दे)। तो यह उत्तम तर्पण ही ज्ञानी की नित्यतृप्ति कर सकता है।

तात्पर्य यह है कि मुनीन्द्र यह समझ लेता है कि यह जडभाग तो देव ऋषि पितर तथा भूतों का है जो कि द्वैतसागर में डूबे हुए हैं वे ही इसे बहुत उच्च मानते हैं। मुझ अद्वैत आत्मा का तो इस जडभाग से कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिये मैं तो इस जडभाग की अञ्जलि इन्हीं को दिये देता हूँ)।

अथ देवपूजाचतुर्दशी

मायाशक्तिविलासतो नगणितब्रह्माण्डभाण्डोदरे
क्रीडाकौतुकसंभ्रमात्मकमपि प्रत्यक्प्रकाशात्मकम्।
ध्यात्वा किंचिदचिन्त्यचिद्घनरसं स्वानन्दसत्ताद्वयं
सिद्धान्तस्वरसेन पूजनविधिं वक्ष्यामि विश्वात्मनः॥१॥

माया जैसी बड़ी शक्ति जिस अनन्त के अज्ञात एक देश में विलास कर रही है, विलास करने के कौतुकावेश में आकर अगणित ब्रह्माण्डरूपी बर्तनों को ही जिसने अपनी क्रीडाभूमि बना लिया है, (इतने उत्पात और प्रपंच करने के अनन्तर भी) जो प्रत्यक्प्रकाश स्वरूप ही है अर्थात् सबका अन्तर्यामी होकर सबका प्रकाशक और शुद्ध अनन्त चैतन्यस्वरूप ही है (जिसने अपनी प्रत्यक्प्रकाशता में लेशमात्र भी विकार नहीं आने दिया है) जो अचिन्त्य है, जो चिद्घन है अर्थात् जो नमक के ढेले की तरह ऊपर नीचे आगे पीछे, इधर उधर, तथा अन्दर बाहर केवल चैतन्य से ही परिपूर्ण रहता है, जिसको सदा ही स्वात्मानंद प्राप्त हुआ रहता

है, जो कभी भी अपने अद्वैतस्वरूप से च्युत नहीं होता, मैं अपने उसी इष्ट देव का (अति गम्भीरभाव से नहीं किन्तु) लेशमात्र ध्यान करके (जिससे कि इस ग्रन्थनिर्माणरूपी द्वैत का निर्वाह कर सकूँ, यदि मैं गहरा ध्यान करूँगा तो इस ग्रन्थ का निर्माण नहीं कर सकूँगा) वेदान्त सिद्धान्त के अनुकूल उस जगदात्मा शिव की पूजनविधि का (यत्किंचित्) वर्णन करूँगा।

सेव्यः श्रीगुरुवेदवाक्यजनित श्चिद्बोध आवाहनं।
सर्वव्यापकताविनिश्चयमतिः पूर्णं पवित्रासनम् ॥
त्वत्तो नान्यदवैमि किंचिदिति तत्पुण्याम्बु पादोदकं।
त्वय्येवास्त्वचला ममेश मति रित्यर्घोस्तु ते सुन्दरः ॥२॥

आचार्य के उपदेश तथा श्रुतिवाक्यों के श्रवण से उद्बुद्ध हुए चैतन्यरूप आत्मा का जब अंगीकार कर लिया जाता है, तो ऐसा अंगीकार ही ज्ञानिपूजा में 'आवाहन' नाम का उपचार कहाता है। सब पदार्थों में उसी शिवात्मा को व्यापक समझ लेना ही उस देव के बैठने के लिये पूर्ण तथा निर्मल 'आसन' कहाता है। हे सच्चिदानन्दरूप आत्मदेव! मुझे तो तुमसे अन्य कुछ भी नहीं भासता (सब जगह तुम ही तुम नज़र आरहे हो) ऐसा दृढ निश्चय ही इस पूजा में देव के पैर धोने का पवित्रपादोदक (पवित्र जल) है। (इस जल से धोने से अन्तःकरण के सभी मल निवृत्त होजाते हैं)। हे शिव! मैं चाहता हूँ कि यह मेरी मननरूपी वृत्ति (जो मुझको सदा ही तुमसे अलग रखती चली आरही है) केवल अखण्डैकरस तुममें ही सदा के लिये लीन हो जाय? (मैं तुम रूप ही हो जाऊँ!) इस प्रकार की प्रार्थनायें ही तुम आत्मशिव के लिये सुखजनक सुन्दर 'अर्घ्य' कहाता है।

शीतोष्णं कटुतिक्तमम्लमधुरं क्षारं विचित्रं रसै
र्यत्तस्यास्य समत्वभावमधुना पर्कः कृतश्चेद्यदि।
मुख्योयं मधुपर्क उत्तमरसस्तेनामुना सादरं
पूज्यानामपि पूज्य एष परमो देवः सदा पूज्यताम्॥३

नाना प्रकार के विषयों के कारण अनेक तथा चित्रित र
वाले अन्तःकरण में समत्वभावनारूपी मधु मिलाकर यदि मधुप
तैयार किया जाय तो उत्तम रस से परिपूर्ण यह मधुपर्क ही मुख
'मधुपंर्क' कहाता है। सर्वलोकपूज्य ब्रह्मादिक भी जिस की पू
करते हैं पूज्यों के भी पूज्य उस आत्मदेव को सदा ही ऐसे उत्त
मधुपर्क से पूजते रहना चाहिये।

यह मन सदा ही स्वभाव से शीत उष्ण, मान अपमा
हानि लाभ आदि नाना प्रकार के सुखदुखद्वन्द्वों के रूप
परिणत होता रहता है। उस मन और उसके साक्षी
मिलाकर समता की भावना साधक को करनी चाहिये। क्यों
अस्ति भाति तथा प्रियरूप से वह जगदात्मा सब में समरूप
विद्यमान है। शीतोष्णादि द्वन्द्व भी उस आत्मा से भिन्न नहीं
क्योंकि कार्य कभी भी कारण से भिन्न नहीं होता। इस प्र
की भावना करने से जगत् के सम्पूर्ण विषय और उन विष
कारों में परिणत मन भी समता को प्राप्त हो जायँगे। मानाप
नादि विषमतायें भी वैसे आत्मचिन्तन से नष्ट होजायँगी। आन
दायक ब्रह्मरूपता भी तभी प्राप्त हो सकेगी। गीता में कहा है कि
'निर्विशेषं परं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म में कुछ भी विषमता नहीं है
वह तो सर्वदा सर्वत्र तथा सब वस्तुओं में सम है, क
करते जब ये विचार मधु के समान आनन्ददायक प्रतीत हों

लगें तब उससे स्वात्मशिव का चिन्तनरूपी लेप किया जाय तो वह 'मधुपर्क' कहाता है । इसी को मुनियों का उत्तम रस भी कहते हैं ।

सर्वाङ्गीणसुखावहं मुहुरहो यज्जन्मनो मज्जनं ।
शुद्धे बोधसुखाम्बुधौ शुचितरे स्नानं विशुद्धिप्रदम् ॥
आभानं स्फुरति द्वितीयमिव यत्तत्सर्वमाचम्यता—
मित्युक्तो गुरुभिस्तदेष विधृतश्चित्ते स एवाचमः ॥४॥

स्वरूपानन्दरूपी पवित्रतम ज्ञानसुखसमुद्र में बार बार अवगाहन करने से जो सर्वाङ्गीण सुख प्राप्त होता है वह तो कुछ अद्भुत ही विशुद्धिकारक स्नान कहाता है । यदि अभ्यास करते हुए जगत् का भान करानेवाला चिदाभास कभी परात्मा किंवा आत्मसत्ता से पृथक् होकर भासने लगे (अपना कल्पनाजाल फैलाने लगे और व्युत्थान करादे) तो उस सब का आचमन कर जाओ (अर्थात् स्वरूपसुखसमुद्र में उसको लय कर डालो आत्मा से पृथक् कुछ नहीं है इस ब्रह्मास्त्र से उस आभास का वध कर डालो) । यदि किसी के आचार्य लोग इस रहस्य को किसी को समझादें और वह भी इस बात को अपने चित्त में पूर्णतया धारण करले तो इस पूजा में यही बढ़िया 'आचमन' कहा जाता है ।

श्रद्धा निर्ममता विरागशुचिता निःसंगता पूर्णता ।
भक्तिप्रेमरसप्रसादपरमानन्दादयो ये गुणाः ॥
वस्त्रालंकरणानि तत्र विदुषा देयानि विश्वम्भरे ।
सोहंभावमनोहरेण विधिना यद्यद्यथा रोचते ॥५॥

गुरुवेदान्तवाक्यों में श्रद्धा, निर्ममता, वैराग्यपूर्वक अन्तः

करण की निर्मलता, निःसंगता, व्यापकतानिश्चय, भक्ति, सर्वा-
धिक प्रिय आत्मा ही में स्नेह, प्रसन्नता, तथा आत्मसुखानुभव
आदि जो जो सात्विक वृत्तियें हैं, ज्ञानी को उचित है कि आत्मा
का अनुभव कराने के कारण मनोहर 'सोहं' इस मंत्र से उन सब
को अपनी अपनी रुचि के अनुसार विश्वेश्वर को, विधिपूर्वक
समर्पण करदे ।

अद्वैतप्रतिपत्ति रात्मविषया, सा सामरस्याश्रिता।
गात्रालेपनचारुचन्दनमिदं देवस्य देयं प्रियम् ॥
शान्तिः क्षान्ति रलोलता सरलता निर्मत्सरत्वादयः।
शास्त्रार्था यदि न क्षताश्च वितुषाः शुद्धास्त एवाक्षताः ॥६॥

अखण्ड एकरस आत्मा का आत्मविषयक अद्वैतानुभव
यदि सदा एकस्वरूप ही रहता चला जाय तो बस इसी को
(सच्चिदानन्द घन) आत्मस्वरूप पर दूर से लगाने योग्य चन्दन
कहा जायगा। इस तरह का यह चन्दन चित्स्वरूप आत्मदेव
को बड़ा प्यारा होगा, इसलिये इस चन्दन को उस आत्मदेव को
समर्पण कर देना चाहिये। शान्ति (वासनाराहित्य) सहनशीलता
अन्तःकरण की स्थिरता, सरलता, निर्मत्सरता (परेर्ष्याविमुखता)
तथा अक्रोधादि गुणों की जिनका वेदान्तादि में प्रतिपादन किया
गया है पूर्णरूप से आराधना की गई हो (किंवा विकार के
कारणों के आने पर भी यदि ये गुण खण्डित नहीं हो सके हों)
तो ये ही गुण इस पूजा के तुषरहित शुद्ध अक्षत कहाते हैं।

संफुल्लै र्निजभावशुद्धिकुसुमैः सद्वासनासुन्दरैः।
संपूज्यो हि महेश्वरः सुमनसां सा धन्यता वर्णिता॥
कर्मज्ञानमयो यदिन्द्रियगणः क्षिप्तो विरागानले।
देवस्यास्य दशाङ्गदाहसुरभि र्धूपः सदा वल्लभः ॥७॥

शुद्धान्तःकरण वाले पुरुषों को तो सत् आत्मवस्तु की वासना के कारण ही जिनको सुन्दरता प्राप्त हुई है, तथा प्रफुल्लता के कारण ही जिनको विकास का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, ऐसे भाव-शुद्धि किंवा आत्मतादात्म्यरूपी पुष्पों से महेश्वर की पूजा करनी चाहिये (अर्थात् महेश्वर के साथ अपने तादात्म्य का दृढ निश्चय कर डालना चाहिये) ऐसी अद्भुत पूजा को ही शास्त्र में निर्मल मन वालों की कृतकृत्यता (धन्यता) कहा गया है। इसके अनन्तर अपने ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों को वैराग्यरूपी अग्नि में झोक डालने से जो दशाङ्गदाह की सुगन्धवाला 'धूप' उठता है (जिससे कि द्वैतजाल के भस्म हो जाने तथा केवल सदात्मा के शेष रह जाने की सूचना मिल जाती है) वह धूप तो इस देव को सदा ही प्यारा लगता है।

यस्मिन्नुज्ज्वलिते न तिष्ठति तमो बाह्यं न चाभ्यन्तरं।
सोयं ज्ञानमयः प्रकाशपरमो दीपः समुज्ज्वाल्यताम् ॥
यद्भक्ष्यं प्रियमस्य यस्य परमा तृप्तिर्भवेद्भक्षणे।
द्वैतं तत्तु निवेदनीय ममितं नैवेद्यमत्युत्तमम् ॥८॥

जिस ज्ञानरूपी दीपक के जल उठने पर बाह्य (ब्रह्म किंवा जगद्विषय में) तथा आन्तर (जीवात्मा तथा अहंकारादि के विषय में) कोई भी अज्ञान शेष नहीं रह जाता, प्रकाश के कारण श्रेष्ठ ज्ञानरूपी ऐसा 'दीपक' ही इस देव की पूजा के लिये जलाना चाहिये। उससे अन्दर और बाहर दोनों जगह का अन्धकार नष्ट हो जायगा। जिस द्वैत को यह चिन्मात्र आत्मा बड़ी रुचि से भक्षण करता है, जिसे निगल चुकने (खा लेने) पर इस आत्मदेव की बड़ी ही तृप्ति होती है, उस अपरिमित अनन्त

द्वैत को ही 'नैवेद्य' रूप में अर्पण कर देना चाहिये। (
नैवेद्य इस पूजा में अति उत्तम उपचार माना गया है)।

पश्चादाचमनीयमत्र विहितं सद्यो विशुद्धिप्रदं।
सन्तोषामृतमेव पूजनविधौ पानीयमानीयताम्।
यन्मैत्र्यादिचतुष्टयं मुनिमते पातंजले वर्णितं।
ताम्बूलं वदनप्रसादजनकं देवाग्रतः स्थाप्यताम्॥

नैवेद्य के पश्चात् इस आत्मशिव की पूजा में तत्काल
करनेवाले आचमनीय का विधान किया गया है। सन्तोष
अमृत को ही 'आचमनीय' जल की जगह लाना चाहिये (आ
सुख मिलने पर स्वभावतः विषयेच्छा उत्पन्न नहीं होती।
आत्मा के पूर्णकाम होने तथा विषयों में अधिक दुःख होने
विषयों के प्रति जो अलंबुद्धि उत्पन्न हो जाती है उसे ही 'सन्तो
कहते हैं) आनन्द का भोग लेने में समर्थ, शुद्धचित्तरूपी मु
मण्डल पर प्रसन्नता और सुन्दरता को उत्पन्न करने वाले, मै
करुणा मुदिता तथा उपेक्षा नामक चारों भावों को ही जिनका
कि मुनिसंमत पातंजल दर्शन में विस्तार सहित वर्णन आ
है, 'ताम्बूल' समझ कर आत्मशिव के आगे रख दे
चाहिये।

अपने समान ज्ञानियों से मित्रता, अपने से न्यून जि
सुओं पर दया, अपने से अधिक ज्ञानी को देखकर प्रसन्न
अपने कथन पर विश्वास न लाने वालों की उपेक्षा करते हु
अपने आत्मा को प्रसन्न रक्खे। ऐसे ताम्बूलों को खाने
आत्मा के आनन्द को भोगने के साधन चित्तरूपी मुखपर अ
न्त शोभा आजाती है। तात्पर्य यह है कि आत्माकार

निर्मल होती चली जाय और सदा ही आत्मस्फूर्ति बनी रह सके, वैसा प्रयत्न बारम्बार करता रहे।

निष्कामोत्तमधर्मसंभ्रमजुषां जन्मावलीनां फलं।
भक्तिः सा परमेश्वरस्य पदयो रावेदनीया मया॥
सर्वस्वं मम तत्किलेति स मया क्लृप्तस्य पूजाविधेः।
पूर्णत्वाय निवेदितो निजमनश्चिन्तामणि र्दक्षिणा।१०।

जिन अनेक जन्मों में बड़े उल्लास के साथ निष्काम भाव से उत्तमोत्तम धर्मों का मैंने पालन किया, उन अनन्त पवित्र जन्मों के फलरूप में मुझे जो यह ईश्वरभक्ति प्राप्त हुई है उसे मैं फिर परमेश्वर के ही (आरोप और अपवादरूपी कल्पित) चरणों में निवेदन (करके एक सर्वस्वयाग) कर रहा हूँ। क्योंकि यह भक्ति तो मेरी अनेक जन्मों की पवित्र कमाई का सार होने से मेरा सर्वस्व ही है। (अब तो इस याग की दक्षिणा देने को भी मेरे पास कुछ शेष नहीं रहा है 'हतो यज्ञस्त्वदक्षिणः' दक्षिणा-रहित यज्ञ अपूर्ण ही रहता है अतः) इस अपनी पूजाविधि की पूर्णता करने के लिये अपने मनरूपी चिन्तामणि को ही मैं दक्षिणा-रूप मैं निवेदन कर रहा हूँ। (मन को दे देने से अनन्तकाल से खोयी हुई मेरी पूर्णता मेरे हाथ लगेगी)।

यावन्त्येव भुवां रजांस्यगणितब्रह्माण्डकोटिस्पृशां।
तावद्भी रजसां गणै र्गणयितुं शक्या गुणा यस्य न॥
त्वं तादृग्गुणवां स्तथापि मुनिभि र्यन्निर्गुणः स्तूयसे।
तत्किं स्तौमि महेश हे शिव भवद्रूपं विदूरं धियाम्॥११॥

अनगिनत करोड़ों ब्रह्माण्डों में जितने भूभाग हैं यदि उन

सब की धूलि बना दी जाय और उन धूल के कणों को गि
लिया जाय तो भी उन सब धूलिकणों से तेरे सब गुण गिन
में नहीं आ सकेंगे, इतनी गणना करने पर फिर भी तेरे गणनं
अनन्त गुण शेष रह ही जायँगे। हे परमशिव आत्मदे
तुम्हारे इतने अनन्त अपरिमित गुणशाली होते हुए भी जब
मुनिलोग भी निर्गुण भाव से ही तुम्हारा स्तवन करने लगे
तो (मैं समझता हूँ कि तेरे गुणों का पार न पाकर ही मुनि
ने तेरी निर्गुण स्तुति प्रारम्भ की है, ऐसी अवस्था में मैं
तुम्हारी स्तुति करने का व्यर्थ प्रयास क्यों करूँ?) हे महे
फिर मैं ही तेरे बुद्धियों के अगोचररूप की क्या स्तुति करूँ
(क्योंकि यदि मैं तुम्हारे गुणों को गिनने लगूँ तो वे गिने
नहीं जा सकते, फिर यदि तुम्हें निर्गुण समझूँ तो स्तुति
कैसी? इस विवशता को देखकर मैं तो मौन हुआ जाता हूँ।
तो समझता हूँ कि मौन को आलिंगन देने से ही तुम्हारी यथा
स्तुति हो जायगी)।

श्वेतं श्याममिति प्रकाशयति चेदर्कः स किं श्यामतां
श्वेतत्वं च दधाति तद्वदितरो मुग्धेषु बुद्धेषु यः।
द्वैताद्वैतविकल्पजालकलनातीताय शुद्धात्मने
जाग्रत्स्वानुभवप्रकाशमहसे देवाय तस्मै नमः ॥१३॥

श्वेत किंवा कृष्ण पदार्थ को प्रकाशित करनेवाला सूर्य क्या
कहीं उनके अनुसार ही श्वेत अथवा कृष्ण ही हो जाता है?
इसी प्रकार जो आत्मा ज्ञानी और अज्ञानी दोनों से भिन्न तथा
दोनों का समानरूप से प्रकाशक है, जिसमें द्वैताद्वैत की कु
भी कल्पना नहीं है जो परमशुद्ध है जिसका तेज जाग्रत् काल

अनुभव के समान ही प्रकाशमान है, उसको हमारा ऐक्यभावना रूपी नमस्कार हो। यही ज्ञानियों का 'नमस्कार' कहाता है।

संप्राप्यापि पदारविन्दपदवी मद्वैतविद्यावता—
मेतावन्तमनेहसं न तु वयं लीनाः सदा ब्रह्मणि।
मुक्तानामपि मोहतः समरसत्वद्भावपूर्णात्मना—
मस्माकं ह्यपराध एष परमः क्षन्तव्य एवं प्रभो ॥१३॥

हे आत्मदेव! अद्वैताचार्यों के मोक्षमार्गदर्शक चरणों को प्राप्त होकर यद्यपि हमारा अज्ञान नष्ट हो चुका, तेरे समरस तादात्म्य की प्राप्ति से पूर्णता का लाभ भी हो गया, फिर भी अभी तक हम लोग सदा के लिये ब्रह्म में लीन नहीं हो सके हैं, हे प्रभो! यही हमारा महापराध है। हमारे इस परमापराध को आप क्षमा कीजिये (हमारे प्रारब्ध भोग की समाप्ति तक तो कृपा करके इसे सह ही लीजिये। यही ज्ञानियों का 'क्षमापन' कहाता है)।

आत्मैवायमनन्तचिद्घनरसो नित्यं विमुक्तः स्वयं।
को बन्धः किमु बन्धनं कथमसौ बद्धो विमुक्तः कथम्।
सानन्दाश्रु सगद्गदं सपुलकं चिद्बोधपूजाविधौ।
देवस्यास्तु मदीयविस्मयमयः संपूर्णपुष्पाञ्जलिः ॥१४॥

यह चिदाभास तो परमार्थ दृष्टि से आत्मा ही है, यह चैतन्य से परिपूर्ण और सुखस्वरूप ही है, यह तो स्वभाव से ही सकल बन्धनों से रहित और अनन्त ही है, फिर भला इस अनन्त का बन्धन ही क्या, और इस अनन्त को बांधने के लिये बांधने की सामग्री भी क्या, ऐसी अवस्था में तात्त्विक विचार करने पर यही तो समझ में नहीं आता कि यह आत्मा बद्ध भी कैसे हुआ

२८

और मुक्त भी कैसे हुआ, यही सब बातें विचारते विचा
इस आत्मदेव का पूजक मैं जब विस्मय के समुद्र में डूब जा
हूँ तब इस चैतन्यमात्र आत्मा की ज्ञानरूपी पूजा करते क
आँखों में आँसू भर आते हैं, कण्ठ गद्गद हो जाता है, तथा अं
में रोमांच हो जाते हैं, इससे मैं तो ऊपर के इन विस्मय
भावों को ही सम्पूर्णपुष्पांजलि के रूप में आत्मदेव को अ
किये देता हूँ।

अथ देवपूजोपयुक्तशास्त्रार्थनिर्णयः

त्यक्त्वा मोहमयीं पूजां पूजां बोधमयीं कुरु।
चन्दनै रर्चनीयोयं न तु पंकेन शंकरः ॥१॥

मोहमयी पूजा को छोड़कर तुम्हें तो ज्ञानमयी पूजा
करनी चाहिये। वह शंकर तो स्वयं सुखरूप है इसीलिये (आनन्
कारवृत्तिरूपी) चन्दनों से उसकी पूजा करो (स्वस्वरूप
ढक देनेवाले लौकिक चन्दन की) कीच से उसकी पूजा कर
ठीक नहीं है।

परिचीय पुरा देवं देवपूजापरो भव।
देवे परिचयो नास्ति वद पूजा कथं भवेत् ॥२॥

पहले देव को पहचान तो लो, तब फिर देवपूजा की तैया
करो। अभी तक तो देव से तुम्हारा परिचय भी नहीं हुआ
तो बताओ पूजा कैसे हो सकेगी ? (हो सकता है कि देव
धोखे में किसी अन्य को ही पूज बैठो)।

तावत्पूजां न मनुते यावत्परिचयो न हि।
जाते परिचये देवः पूजामपि न कांक्षति ॥३॥

जब तक परिचय नहीं हो जाता तब तक तो यह आत्मदेव पूजा को स्वीकारता ही नहीं। और जब देव से परिचय हो जाता है, तब फिर वह पूजा की परवाह ही नहीं करता।

पक्षद्वयेपि पश्यामि पूजां देवस्य दुर्घटां।
पूज्यपूजकता न ज्ञे मूर्खस्त्वज्ञानसूतकी ॥४॥

आत्मदेव की पूजा को तो मैं दोनों ही अवस्थाओं में दुर्घट (असम्भव) समझता हूँ। क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि में तो (ईश्वर पूज्य और मैं जीव पूजक ऐसा) पूज्यपूजकभाव किंवा द्वैतभाव ही नहीं रहता और मूर्ख को तो अज्ञानरूपी सूतक लगा रहता है (जिससे उस बिचारे को पूजा का अधिकार ही नहीं होता)

न जाने क्व पलायन्ते धूपदीपाक्षतादयः।
अस्माकं देवपूजायां देव एवावशिष्यते ॥५॥

हमारी पूजा में से धूप दीप अक्षत आदि न जाने कहाँ भाग जाते हैं। उस में तो केवल देव ही देव शेष रह जाते हैं।

हम ज्ञानी लोग जब अपने चिदात्मशिव की पूजा (समाधि) का प्रारम्भ करने लगते हैं और पूजने के लिये पहले प्रकरण में वर्णित धूप दीप अक्षत तथा नैवेद्यादि पूजा की सामग्री लाकर रखते हैं, तो न जाने यह सब धूप दीप नैवैद्य आदि कहाँ भाग जाते हैं। हम तो तब आश्चर्यभरे नेत्रों से देखते हैं कि उन सबके स्थान में केवल चिन्मात्र देव ही शेष रह गये हैं।

देवानुसन्धानधिया विस्मृते पूजनक्रमे।
पूजायां जायते विघ्नः पूर्णपूजाफलं हि तत् ॥६॥

देव के रूप का विचार करने की बुद्धि ज्यों ही की जाती है त्यों ही पूजा का क्रम याद नहीं रहता। यही पूजा में एक बड़ा

विघ्न हो जाता है। परन्तु यह विघ्न ही हमारी पूर्ण हुई पूजा का फल माना जाता है ।

लौकिक पूजा करते समय यदि कोई पूजा के क्रम को भूल जाता है तो उसकी पूजा का विघात हो जाता है। परन्तु हमारा ब्रह्माकार होकर पूर्ण हो जाना और पूजा के क्रम में इस अद्भुत प्रकार से विघ्न पड़ जाना ही हमारी पूर्ण पूजा का सर्वोत्तम फल कहाता है । यदि किसी की पूजा पूर्ण हो जाती है तो उसे समझना पड़ता है कि वह पूर्ण पूजा को करना ही नहीं जानता। किसी के सौभाग्य से यदि किसी की पूजा में ऐसा दिव्य विघ्न उपस्थित होने लगे तो फिर उसे दोनों प्रकार की पूजा का प्रबन्ध नहीं उठाना चाहिये ।

आनन्दघनगोविन्दपूजनारम्भकर्मणि ।
बोधे स्फुरति मोहात्मा यजमानः पलायितः ॥७॥

आनन्दमय गोविन्द की पूजा के आरम्भ करने पर जब बोधरूपी सूर्य का उदय होता है तो क्या देख पड़ता है कि अज्ञानी यजमान वहाँ से भाग गया ।

आनन्द से परिपूर्ण गोविन्द (बुद्धिप्रेरक) की पूजा का प्रारम्भ करते ही ज्यों ही बोधदिवाकर का उदय होता है किंवा आत्मज्ञान की स्फूर्त्ति होने लगती है, त्यों ही पूजा में ऐसा दिव्य तथा स्पृहणीय विघ्न आता है कि यह भ्रमात्मक अज्ञानी यजमान किंवा पूजनीय भाव ही जो अज्ञानवश अब तक अपने आपको पूजक समझ रहा था, वहां से भाग जाता है—अर्थात् अज्ञान अंश के हटते ही मैं पूजक यह पूज्य ऐसा भेदभाव ज्ञानी में नहीं रहता । वह तो सर्वत्र परिपूर्ण आत्मवस्तु स्वयं ही हो रहता है।

अथ पंच महायज्ञाः

ज्ञाननिष्ठा क्षमा सत्यं विवेकः परिपूर्णता।
एते पंच महायज्ञाः संमता ब्रह्मवादिनाम् ॥१॥

अब पाँच महायज्ञों का निर्णय कहा जाता है—ज्ञाननिष्ठा अर्थात् आत्मज्ञान में स्वाभाविक प्रीति, क्षमा अर्थात् सुख दुःखादि द्वन्द्वों का सहन, सत्य का पालन, विवेक अर्थात् आत्मानात्म-विचार, परिपूर्णता अर्थात् सर्वत्र अपने आत्मा के पूर्ण होने का निश्चय, ब्रह्मवादियों को ये ही पाँच महायज्ञ प्यारे लगते हैं।

अथोपयज्ञनिर्णयः

अब नैमित्तक यज्ञों का निर्णय करते हैं—

एतस्यां दिनचर्यायां प्राप्ते पर्वणि पर्वणि।
मध्ये मध्ये चोपयज्ञाः कर्तव्या दीक्षितेन हि ॥१॥

मुनियों की इस दिनचर्या में पर्वकाल आने पर आत्मज्ञान में दीक्षित पुरुष को उचित है कि बीच बीच में उपयज्ञों अर्थात् नैमित्तिक यज्ञों का अनुष्ठान भी यदा तदा करता रहे।

यत्पुरोडाशतां याति कालखण्डं मनःपशोः।
कर्तव्या स्तादृशा यज्ञा देवेन्द्रप्रीतिहेतवे ॥२॥

यह हमारा मनरूपी पशु जिस किसी कालखण्ड की कल्पना करे और जब कि वह भी ज्ञानरूप होने से इस हमारे ज्ञानियज्ञ का पुरोडाश (यजमानभोज्य हुतशेष पदार्थ) बन जाय (अर्थात् जब कि "कालो बोधेन भक्षितः" के अनुसार यह आत्मबोध उस काल को भक्षण कर ले) तो इन्द्रियरूपी देवों के अधिष्ठाता इस देवेन्द्र आत्मचैतन्य की नित्यतृप्ति के लिये मुमुक्षुओं को ऐसे उपयज्ञ करते रहना चाहिये।

एकीकृत्य सुपर्णौ द्वौ चीयते चेत्सुपर्णचित् ।
जीयते तन्मुनीन्द्रेण शतस्याग्निचितां फलम् ॥३॥

ईश्वर और जीव कहानेवाले दोनों पक्षियों को (भाग त्याग लक्षणा से) एक बनाकर किंवा एकत्व को ही पारमार्थिक समझकर यदि एकीभाव से जान लिया जाय तो यही सुपर्णचयन नामक यज्ञ कहाता है। इस एक यज्ञ को करने पर ही उस मुनीन्द्र को सैकड़ों अग्निचयनों का फल प्राप्त हो जाता है ।

इस संसार में जीव और ईश्वर नाम के दो पक्षी हैं उनमें जीव को सुख किंवा दुःख दिलानेवाले जीव के धर्माधर्म नाम के दो पंख कहाते हैं, ईश्वर के तो जगत्पालनादि करानेवाले तथा स्वरूपस्थिति को प्राप्त करानेवाले माया और ज्ञानरूपी दो पंख हैं। ये दोनों ही चेतन होते हैं इनमें से यदि परस्पर विरुद्ध अंश का त्याग कर दिया जाय तो केवल चिन्मात्र शेष रह जाय। इस विधि से इन दोनों सुपर्णों को यदि एक रूप में देख लिया जाय तो यही 'सुपर्णचयन' नाम का यज्ञ हो ।

अथ नित्यदानम्

समाधितीर्थे मुनिना ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ।
दत्तमात्मसमं हेम पात्राय परमात्मने ॥१॥

जबकि सूर्य तथा चन्द्र (नामक वायुओं) पर (वशीकाररूपी) ग्रहणकाल आजाय तो मुनि को उचित है कि समाधि जैसे शुभ तीर्थ में पहुँचते ही परमात्मा जैसे योग्य पात्र को पाते ही सुवर्ण के समान (दीप्त) अपने आत्मा (जैसे बहुमूल्य पदार्थ) को दान कर दे। (अर्थात् अपने आपको उस परमात्मा से अभिन्न अनुभव कर ले। यही ज्ञानी का 'नित्यदान' है)।

अथ मध्याह्नसन्ध्या

दर्शनस्पर्शनघ्राणरसनश्रवणादिषु ।
यश्चैतन्यचमत्कारो मुने मध्याह्निकं तु तत् ॥१॥

दर्शन स्पर्शन घ्राण रसन तथा श्रवण आदियों में जब किसी मुनि को चैतन्य का चमत्कार दीख पड़ने लगा हो तो यही मुनि का 'माध्याह्निक' है ।

जब चक्षु से नीलपीतादिरूपों का साक्षात्कार हो, त्वगिन्द्रिय से शीत, उष्ण, कोमल, कठोर आदि का प्रत्यक्ष हो, घ्राण से सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि का ज्ञान हो, रसना से मधुरादि रसों की प्रतीति हो, श्रोत्र से भले बुरे शब्द सुनाई पड़ें, कर्मेन्द्रियों के वचन आदान आदि व्यापार प्रवृत्त होने लगें तो इन सब अवस्थाओं में समान्यरूप से चैतन्य की स्फूर्ति तो होती ही है परन्तु यदि कोई ज्ञानी इस बात को समझ भी ले तो यही ज्ञानी के दिन का मध्यान्ह कहाता है, उस समय इन सब व्यवहारों की उपेक्षा करके इन सब व्यवहारों में समानरूप से रहनेवाले केवल चिदात्मा के चैतन्य की स्फूर्ति को ही सर्वत्र देखते रहना मुनि का 'माध्याह्निक' कर्म है ।

अथ वैश्वदेवः

आत्मा विश्वस्य देवोयं विश्वेन हविषेज्यते।
तत्कर्म वैश्वदेवाख्यं सर्वसूनानिवृत्तये ॥१॥

यह स्वयंप्रकाश आत्मा सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक होने से 'देव' कहाता है । (कोई इस बात को समझे या न समझे परन्तु) इस सकल जगद्रूप हवि से उसी का यजन किया जारहा है । इस प्रकार (समस्त जगत् को आत्मपूजा की सामग्री बना देने

से) 'वैश्वदेव' कर्म सिद्ध हो जाता है। इसके करने से सर्वसुख निवृत्ति अर्थात् सर्वदोषपरिहार होता है ।

अथ बलिदानम्

नवद्वारां पुरीमेता माश्रितेभ्यो दयालुना ।
भूतेभ्योपि बलिर्देयः खानपानादिलक्षणः ॥१॥

इस नौ द्वारवाली देहरूपी नगरी में आकर ठहरे हुए आकाश आदिभूतों (तथा भूतों से बने हुए इन्द्रियों) को भी दयालु मुनि खान-पान आदि बलि देता रहे ।

भोजनादि न देने से इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो जायँगी तो ब्रह्माकार वृत्ति ही न रह सकेगी, इसलिये झूठे वैराग्य में आकर भूखे प्यासे मरना ठीक नहीं होता । श्रवण मनन आदि में सहायक और भी भोग इन्द्रियों को दे देने से कुछ हानि नहीं होती। यही मुनियों का 'बलिदान' कर्म है

अथ भोजनविधिः

गुरुभिश्च सतीर्थ्यैश्च शिष्यैश्च सहित (तै) स्तथा ।
सुरसं चारु भोक्तव्यं ज्ञानपीयूष मुत्तमम् ॥१॥

मुनि को उचित है कि ब्रह्मविद्या के अपने आचार्य, अपने गुरुभाई तथा अपने शिष्यों सहित उत्तमरसस्वरूप श्रेष्ठ ज्ञानामृत का अनुभव किया करे । यही ज्ञानी का 'भोजन' है ।

अथ ताम्बूलग्रहणनिर्णयः

अब ज्ञानियों के अलौकिक ताम्बूल का वर्णन करते हैं—

सत्यं प्रियं च पथ्यं च ब्रह्मचर्चात्मकं वचः ।
ताम्बूलग्रहणं कार्यं वदनं येन राजते ॥१॥

ब्रह्मचर्चारूपी सत्य प्रिय तथा पथ्य वचनों को बोलना ही ताम्बूलभक्षण कहाता है ऐसा ही ताम्बूल ज्ञानी लोग खायें। इस से ज्ञानियों के मुख की शोभा बढ़ती है।

लौकिक सत्य तो समयभेद किंवा देशभेद से असत्य भी हो जाते हैं, लौकिक प्रिय पदार्थ भी समय पाकर अप्रिय हो जाते हैं, लौकिक पथ्यों की भी यही अवस्था है। देशकालादि की हद में न आनेवाले ब्रह्म की चर्चा ही निरपेक्ष सत्य, निरपेक्ष प्रिय तथा निरपेक्ष पथ्य कहाती है। सद्रूप ब्रह्म का निरूपण करने से वह सत्य है, सुखस्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादक होने से वह प्रिय है, इस चर्चा का कभी भी दुःखरूपी परिणाम नहीं निकलता इस लिये वह पथ्य मानी गयी है। ऐसे वचनों को बोलना ही मुनियों का 'ताम्बूलसेवन' कहाता है।

अथ वामकुक्षिशयननिर्णयः

अब मुनियों के विचित्र वामकुक्षिशयन का प्रतिपादन किया जाता है—

यावच्छरीरपतनं प्राचीनैः कर्मभिः कृतौ।
योगक्षेमौ न चिन्त्यौ हि निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥१॥

यह वर्तमान ज्ञानिदेह जब तक रहेगा तब तक इस शरीर को बनानेवाले पूर्वजन्म के कर्मों के प्रताप से इसके उपयोगी भोग प्राप्त होते ही रहेंगे और उनकी रक्षा भी इस शरीर के प्रारब्धानुकूल होगी ही, इसलिये उन योगक्षेमों की चिन्ता को छोड़कर केवल आत्मपरायण हो जाय। (इस प्रकार शयनोपयोगी निश्चिन्तता को पहले उत्पन्न कर लेना चाहिये। जिससे कि निश्चिन्त हो कर समाधिनिद्रा का भोग ले सके)।

समाधिशयने शुभ्रे सुखनिद्रां विधाय च।
क्षणं विश्रम्य तत्पश्चात्पुराणश्रवणं चरेत् ॥२॥

(अन्तःकरण की ध्येयाकार वृत्ति को समाधि कहते हैं अ
समाधिरूपी निर्विकल्प बिस्तर किंवा पलंग पर लेटकर, आ
सुखरूपी नींद लेकर कुछ देर (समाधि से उत्पन्न हुई उदासी
के निवृत्त होने तक) विश्राम करके पुराणादि का श्रवण
आदि करे।

अथ पुराणश्रवणनिर्णयः

मुनि को भारतादि पुराणों का श्रवण किस दृष्टिको
करना चाहिये यह बताया जाता है—

अथ भारतश्रवणनिर्णयः

पुराणों में प्रथम भारतश्रवण का विचार किया जाता है-

अष्टादशाध्यायमयी यत्र गीता निरूपिता।
सर्वोपनिषदां तत्त्वं तन्महाभारतं शृणु ॥१॥

जिस महाभारत में सभी उपनिषदों की सारभूत, अ
अध्यायवाली गीता का निरूपण किया गया है, केवल उत
महाभारत मुमुक्षु लोगों को सुनना चाहिये।

भारते व्यासमुनिना कथानां विस्तरः कृतः।
कथामात्रमिदं विश्वमिति तेन प्रकाशितम् ॥२॥

भारत में व्यास मुनि ने कथाओं का इतना विस्तार
वर्णन करके यह बात सिद्ध की है कि यह सब संसार
कथामात्र ही है।

इसलिये मुमुक्षुओं को इस जगत् को वाणीमात्र
इसकी लिप्सा छोड़ देनी चाहिये।

समाप्ते भारते ग्रन्थे शान्तिपर्व निरूपितम् ।
तदुक्तं सर्वशास्त्राणां शान्तौ परिसमापनम् ॥३॥

भारत ग्रन्थ की समाप्ति पर व्यास मुनि ने शान्तिपर्व का निरूपण किया है, जिसको सबसे अन्त में रखने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण सच्छास्त्र शान्ति (मोक्ष) का प्रतिपादन करके किंवा वासनालयात्मक मोक्ष को प्राप्त कराकर कृतकृत्य हो जाते हैं।

नानाख्यानै र्महारम्या मोक्षधर्मा निरूपिताः ।
तदुक्तं सर्वधर्माणां मोक्षधर्मा परा मताः ॥४॥

अनेक तथा अद्भुत कथाओं के मिश्रण से अति मनोहर रूप में जगह जगह व्यासदेव ने मोक्षधर्मों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। बीच बीच में जहां तहां इस प्रकार मोक्षधर्मों का अतिरमणीय रूप में वर्णन करके उन्होंने यह प्रकट किया है कि समस्त धर्मों की अपेक्षा मैं मोक्षधर्मों को ही श्रेष्ठ मानता हूँ।

अथ भागवतश्रवणनिर्णयः

अब भागवत श्रवण का निर्णय बताया जाता है—

वृत्तिगोपीजनैः क्रीडन्ब्रह्मचर्यं न मुंचति ।
यत्रान्तरात्मा गोपाल स्तद्भागवतमुत्तमम् ॥१॥

इस सकल जगत् को (साक्षिरूप से) प्रकाशित करनेवाला बुद्धिवृत्तियों का पालक यह आत्मा व्यवहार के समय अन्तःकरण की वृत्तिरूपी गोपियों से रमण करता हुआ भी यदि परमार्थ में ब्रह्मदृष्टि को रख रहा है (अर्थात् इतना गम्भीर ब्रह्मचर्यपालन करता है) तो ऐसे ब्रह्मचर्य का निरूपण करनेवाला ग्रन्थ ही उत्तम भागवत है, 'देवी भागवत' आदि नहीं।

वालानां भक्षिका भीमा पूतना दुष्टवासना।
कृष्णेन रुधिरं पीत्वा प्रापिता सापि तत्पदम् ॥२॥

प्रथमभूमिकावाले नवाभ्यासियों किंवा अज्ञानियों को ... डालनेवाली, उन्हें डरानेवाली, उनके रागद्वेषादिरहित अन्तः करणों को रागादि से मलिन करनेवाली विषयवासना जैसी अपवित्र तथा क्रूर वृत्ति को भी, कृष्ण अर्थात् सुसंस्कृत चिदाभास ने इसका रुधिर पीकर (अर्थात् अपने को ढकनेवाले आवरण को तीनों कालों में असत् समझ कर) इसे भी आत्म पद पर पँहुचा दिया।

नवाभ्यासी मुमुक्षु बालकों को डसनेवाली भयंकर दुष्ट वासनारूपी पूतना नामक राक्षसी का खून पीकर उस दुष्टवासना को भी जब कोई आत्मपद को प्राप्त करा दे तभी भागवत का सच्चा पूतनावध हो।

अबलानां स्वनाथाना ममृतत्वाय विष्णुना।
ताडितः कालसर्पोपि सर्वमानन्दितं जगत् ॥३॥

निर्बल (असहाय) तथा स्वाश्रित मुमुक्षुओं को अमृत प्राप्त कराने के लिये आत्मारूपी विष्णु ने कालरूपी सर्प को ... तथा इस दुःखमय जगत् को आनन्द से भरपूर कर डाला।

सकल जगद्व्यापक विष्णु के सत्तादि सामर्थ्य से ही सामर्थ्यहीन चिदाभासों को बल प्राप्त हुआ है, उस विष्णु से जिनका पालन होता है, अपने आश्रित उन सब जीवों को ... सुख प्राप्त कराने के प्रयोजन से उस विष्णुरूपी गुरु ने ... (सबको क्षुब्ध करने और सबको खा डालनेवाले) कालसर्प को ... कर दिया है अर्थात् जब से उसको भी आत्मरूप ही समझ ...

है तव से देहादि अहङ्कारान्त तथा ईश्वरपर्यन्त यह सकल जगत् आनन्दित हो गया है।

ब्राह्मणा इव ता गाव स्तीरस्था वन्यवृत्तयः।
मोहाजगरनिर्गीर्णा गोविन्देन समुद्धृताः ॥४॥

गोविन्द ने जैसे गंगादितीरनिवासी, कंदमूलफलाशी ब्राह्मण तपस्वियों को मोहजाल में से निकाल कर ईश्वरपरायण बनाकर उनका उद्धार किया था। इसी प्रकार यमुना तट पर तृणपर्णादि चुगनेवाली अजगर अघासुर से निगली हुई गायों को उसके पेट में से निकाल कर उन्हें जीवित किया था।

तीरस्थ अर्थात् प्रपंचरूपी नदी के तट पर बैठे हुए वन्यवृत्ति अर्थात् सदा ही आत्मचिन्तन में लगे हुये ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञानियों का, जिनको कि मोहरूपी अजगर ने निगल रक्खा था, आत्मारूपी गोविन्द ने उद्धार कर डाला।

इस प्रपंचरूपी भयावह नदी के पार तीर पर निवास करने वाले, सदा ही स्वीकरणीय जीवब्रह्मैक्याकारवृत्ति रखनेवाले ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणों को जिस प्रकार गोविन्द ने मूलाज्ञानरूपी अजगर के पेट में से निकाल कर जीव ब्रह्म की एकता का निश्चय कराया, इसी प्रकार उन ब्रह्मज्ञानियों की ब्रह्मसुखाकारवृत्तिरूपी गायें जब जब अज्ञानरूपी अजगर के पेट में समा जाती थीं और ब्रह्माकारवृत्ति बन्द हो जाती थी, तब तब उनको भी मोहरूपी सर्प के विकराल मुख में से निकाल कर अपनी तरफ़ लगा लिया था। भागवत के अघासुर वध का यही तात्पर्य समझना चाहिये।

स मूर्तिमानहंकारः कंसो नाम महाबलः।
स्वयमुत्पत्य कृष्णेन धृत्वासौ विनिपातितः। ॥५॥

महाबल अर्थात् सहस्र हाथियों के बराबर बल रखनेवा-
कंस को—जो मानों साक्षात् अहंकार ही शरीर धारण करके आ
गया था—कृष्ण ने उछल कर बाल पकड़ कर मार डाला।

कंस नाम के महाबलशाली शरीरधारी अहंकार को आत्म-
रूपी कृष्ण ने स्वयं ही उछल कर (किंवा अहङ्कार के पंजे से
निकल कर) पकड़ कर मार डाला। (अपने रूप में कल्पि
समझ लिया) इस प्रकार इस अहंकार की (बाधारूपी) हा
का प्रसंग आ गया। भागवत के कंसवध का यही तात्पर्य है।

अथ रामायणश्रवणनिर्णयः

अब रामायणश्रवण का तात्पर्य बताया जाता है—

आभासरेणुभि स्तद्वज्जडं देहादि चेतति।
अहिल्यापि शिला यद्वद्रामस्य पदपांसुभिः ॥१॥

गौतम मुनि के शाप से शिला बनी हुई अहिल्या जि
प्रकार राम के चरणों की धूल लगने से जीवित हो गई थी इ
प्रकार राम (सुखस्वरूप आत्मा) के चिदाभासरूपी कणों की सहाय
से यह स्वतःप्रकाशहीन जड देहादि भी चेतन से प्रतीत हो
लगते हैं। (यही अहिल्योद्धार का तात्पर्य है)।

वानरो यत्प्रसादेन संतीर्णः क्षारसागरम्।
नरः किं तत्प्रसादेन न तरेद्भवसागरम् ॥२॥

जिस राम की दयादृष्टि से वानर (अर्थात् आधा मृगाका
और आधा मनुष्याकार) भी लम्बे खारे समुद्र को पार क
गया, तब क्या वह नर अर्थात् वैराग्यादिसम्पन्न अधिकारी जि
को वेदान्तादि सुनने का पूर्ण अधिकार है उस राम की प्रसन्न
से संसाररूपी समुद्र को पार न हो जायगा ? (इस सम्भाव

को दिखाने के लिये ही रामायण में हनुमान वानर के समुद्रोल्लंघन का वर्णन है)।

प्राह रामस्तरन् सिन्धुं शिलारूपेण सेतुना।
संसारसिन्धुतरणं निर्विकल्पसमाधिना ॥३॥

पत्थर के पुल से समुद्र को पार करके (प्रकारान्तर से) राम ने लोगों को यह दिखाया है कि यदि तुम संसाररूपी समुद्र को पार करना चाहते हो तो निर्विकल्पसमाधि में पहुँचो और पत्थर जैसे निर्विकार हो जाओ।

शान्तिसीता समानीता निहतो मोहरावणः।
आत्मारामेण रामेण तद्रामायण मुत्तमम् ॥४॥

योगियों के शुद्ध हृदय में रमण करनेवाले ज्ञानीरूपी राम ने शान्तिरूपी सीता को स्वीकार किया, (दशेन्द्रियरूपी दशमुखोंवाले) मोहस्वरूप रावण को मारा, उस राम का जिसमें वर्णन हो वही उत्तम रामायण है।

यदि कोई आत्मप्रेमी मुमुक्षु शान्ति (निर्वासनता) रूपी सीता को अङ्गीकार कर ले, अज्ञानरूपी रावण को मार डाले तो बस यही सर्वश्रेष्ठ रामायण हो जाय।

रमन्ते योगिनो यस्मिन् रमते योगिनां हृदि।
तारकं ब्रह्म रामाख्यं रमतां हृदये मम ॥५॥

जिस ब्रह्म में योग के (नये) अभ्यासी लोग सदा ही रमण (क्रीडा) करते रहते हैं, (समाधि के सिद्ध हो जाने पर तो) जो राम योगियों के हृदय में (स्वयं ही) क्रीडा करने लगता है वह राम नाम का तारक ब्रह्मतत्त्व मेरे हृदय में सदा ही क्रीडा किया करे।

अथाष्टादशविद्यास्थाननिर्णयः

अब अठारह शास्त्रों का विचार किया जाता है—

तदुक्तं याज्ञवल्क्यस्मृतौ—

पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥१॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वं चार्थशास्त्रकम्।

(सर्ग प्रतिसर्ग आदि को बतानेवाले महाभारतादि) पु (गौतमप्रणीत) न्यायशास्त्र, (जैमिनि की) मीमांसा, (मन्वा धर्मशास्त्र, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, ऋग्वे यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद, ये चौदह शास्त्र तो धर्म ज्ञान को जानने के लिये बनाये गये हैं। चिकित्साशास्त्र, वेद, गानशास्त्र तथा अर्थशास्त्र ये चार शास्त्र और भी हैं। चारों को मिलाकर अठारह शास्त्र कहाते हैं।

तत्र प्रथमं पुराणनिर्णयः

पुराण क्या है सो निर्णय करते हैं—

न घना प्रीति रुत्पन्ना पुराणपुरुषे यदि।
तदाष्टादशभेदेन पुराणश्रवणेन किम् ॥१॥

पुराण अर्थात् जरा आदि विकारों के वश में न आने पुरुष अर्थात् सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म का घन अर्थात् गहरा प्रेम किसी के मन में उत्पन्न नहीं हुआ तो अठारह पुराणों के से क्या फल सिद्ध हुआ?

पुराणोपि न जीर्णो यः स पुराणस्तु न श्रुतः।
कायः पुराणतां प्राप्तः पुराणश्रवणेन किम् ॥२॥

सबसे पुराना होकर भी जो कभी जीर्ण (जरा आदि विकारों को प्राप्त) नहीं होता, पुराणों को सुनकर भी यदि ऐसे पुराणपुरुष को किसी ने न समझ पाया और इतने ही में उसका यह परिणामी शरीर पुराना हो गया तो फिर ऐसे पुराणश्रवण से भी क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

अथ न्यायशास्त्रनिर्णयः

अब वेदान्तानुकूल न्यायशास्त्र का विचार किया जाता है।

यदात्मतत्त्वे विमले विश्रान्ति रचला भवेत् ।
स एव न्याय इत्युक्तः शेषं त्वन्यायलक्षणम् ॥१॥

जब कि (अभ्यासक्रम के बढ़ने पर) विवेकी लोगों को निर्मल आत्मस्वरूप में स्थिर विश्राम मिलने लगे उसी को विद्वान् लोग सच्चा न्याय कहते हैं। इस प्रसिद्ध न्यायशास्त्र को तो आत्म-विश्रान्ति का विघातक होने से अन्याय किंवा अपराध ही समझना चाहिये।

अचिन्तनं पदार्थानां न्यायं न्यायविदो विदुः ।
अन्यायमार्गरसिकः स कथं न्यायशास्त्रवित् ॥२॥

कोई भी पदार्थ बीच में याद न आए और निरन्तर आत्म-चिन्तन की धारा बहने लगे, सकल पदार्थों के (इस) अचिन्तन को ही न्यायज्ञ लोग सच्चा न्याय कहते हैं अन्यायमार्ग के रसिक उस नैयायिक को न्यायशास्त्री क्यों कर कहा जाय ?

स्वयं यत्तार्किकः प्राह तर्कोऽनिष्टप्रसंजनम् ।
तत्तार्किकस्य तर्केण कथमिष्टं प्रसज्यते ॥३॥

इसके अतिरिक्त तार्किक तो स्वयं ही अनिष्ट की प्रसक्ति (प्राप्ति) को तर्क कहता है। फिर भला यह कैसे सम्भव हो कि उस

३०

तार्किक के तर्कों (अनुमानों) से इष्ट अर्थात् मुमुक्षु लोगों
प्रिय आत्मसुख (किंवा मोक्ष जैसा दुर्लभपद) हाथ आ सक
(अनिष्टप्रसक्ति से इष्टप्राप्ति असंभव है)।

न तर्कितं परं ब्रह्म मेधया तीक्ष्णतर्कया।
तदा कुतार्किकस्यास्य तर्ककर्कशता वृथा ॥४॥

तीक्ष्ण अर्थात् अज्ञान का नाश करने में समर्थ तर्क
वाली मेधा से यदि परब्रह्म की तर्कणा न कर ली तो हम सक
हैं, कि इस कुतार्किक की तर्क शास्त्र में प्रवीणता वृथा ही है

षोडशापि पदार्थास्ते त्वया तार्किक तर्किताः।
तर्कोऽनवस्थितस्तर्हि तर्कातीते मनः कुरु ॥५॥

हे तर्कशास्त्रिन्, तुम अभी तक सोलह पदार्थों का ही
षण कर चुके हो। परन्तु तुम्हारा यह तर्क तो आज तक
चरमावस्था को पाकर अवस्थित नहीं हो पाया है। (अ
न जाने कितने पदार्थ तर्कशास्त्रियों को अन्वेषण करने शे
गये हैं)। इसीलिये ऐसे अनिश्चित तर्क को छोड़कर तर्क
(तर्क की हद में न आनेवाले) आत्मतत्व में अपने मन को
कर दो किंवा लगा दो।

अथ तर्कप्रसङ्गेन निर्णयः क्रियतेऽधुना।
वैशेषिकस्य सांख्यस्य तथा पातंजलस्य च॥

तर्कशास्त्र के प्रसंगवश अब वैशेषिक सांख्य तथा योग
का भी विचार किया जाता है।

सविशेषाः पदार्था ये तत्र वैशेषिकः कृती ।
निर्विशेषं परं ब्रह्म तत्र वैशेषिकस्य किम् ॥१॥

'विशेष' नामक धर्मवाले पदार्थों का विवेचन कर लेने पर वैशेषिक अपने आप को कृतकृत्य समझ बैठता है। परन्तु (उसे यह तो पता ही नहीं कि मुक्ति के कामियों की चाह का मुख्य केन्द्र) ब्रह्म तो निर्विशेष (सकल विशेषों से रहित) है उसमें तो इस विचारे वैशेषिक की पहुँच ही नहीं है।

मुक्तं साधर्म्यवैधर्म्यै स्तत्त्वज्ञानं हि मुक्तये ।
साधर्म्यवैधर्म्यकृतं तत्त्वज्ञानं न मुक्तये ॥२॥

साधर्म्य और वैधर्म्य से रहित तत्वज्ञान ही मुक्ति का कारण होता है। साधर्म्यवैधर्म्यवाले तत्वज्ञान से मुक्ति नहीं मिलेगी। (मुक्ति तो साधर्म्यवैधर्म्यहीन अनारोपित आत्म-तत्व के ज्ञान से ही प्राप्त हो सकती है)।

श्रुतिः सर्वपदार्थानां विस्मृत्या मुक्तिमाह यत् ।
तर्हि सर्वपदार्थानां चिन्तनैः किं प्रयोजनम् ॥३॥

सकल पदार्थों के भूल जाने से मुक्ति का लाभ होता है ऐसा श्रुति में बार बार कहा है तब वैशेषिक के बताये हुए सकल पदार्थों के विचार से क्या फल हाथ लगेगा ?

कथं साधर्म्यवैधर्म्ये तत्त्वज्ञानस्य कारणम् ।
न च साधर्म्यवैधर्म्य मद्वये परमात्मनि ॥४॥

अद्वय आत्मवस्तु में तो साधर्म्य वैधर्म्य का निशान भी नहीं है फिर भला साधर्म्य वैधर्म्य का ज्ञान पारमार्थिक तत्वज्ञान का कारण किस तरह हो सकता है (मुक्ति किस तरह मिल सकती है)।

पदार्थानां विवेकेन परमात्मा प्रकाशते ।
इति चेद्वदसि प्राज्ञ तर्हीदं मम संमतम् ॥५॥

पदार्थों के विवेक से (आत्मानात्मविवेक में सहायता मि[illegible] है तब उससे) परमात्मा का प्रकाश (ज्ञान) हो जाता है [illegible] ऐसा वैशेषिक का कहना हो तो यह तो हम मानते ही हैं।

बद्धमुक्तव्यवस्थायां नानात्मानो न वस्तुतः ।
नानात्मानो व्यवस्थात इत्याह मुनि गौतमः ॥६॥

यह व्यावहारिक बद्धमुक्तव्यवस्था देखकर ही उन्होंने अ[illegible] आत्मा मान लिये हैं—गौतम मुनि का कहना है कि "बद्धमुक्त[illegible] व्यवस्था बैठाने के लिये हमें आत्माओं को नाना मानना चाहिये।

कल्पनागौरवं दोषः कल्पनालाघवं गुणः ।
इति यत्तार्किकैरुक्तं तदेव मम रोचते ॥७॥

कल्पनाओं की अधिकता मूर्खता तथा कल्पनाओं की न्यून[illegible] ही चतुरता है। तार्किकों की सिर्फ एक यही बात मुझे प[illegible] आई है।

(परन्तु यह केवल उनके कहने की ही बात है इसके अ[illegible] सार उनका आचरण नहीं है उन्होंने अनेक पदार्थों की कल्प[illegible] कर डाली है। माया को स्वीकार किये बिना कल्पनाला[illegible] बन ही नहीं सकता। मायावादी को तो यही कल्पनाला[illegible] पसन्द है। मायावाद को स्वीकार करने पर कल्पना तो स्वय[illegible] न्यून हो जाती है)।

अथ सांख्यनिर्णयः

असंख्याः सांख्यतत्त्वानां संख्याः संख्यातवानसि ।
किं सांख्य संख्यया ब्रह्म तत्त्वातीतं विचिन्तय ॥१॥

हे सांख्य ! तैने तो (प्रकृति पुरुषादि) तत्वों की असंख्य गिनतियें गिन डाली हैं। उन संख्याओं से क्या होगा ? हे सांख्यमतानुयायिन् ! आ तू भी संख्यातीत ब्रह्म का चिन्तन कर।

तत्त्वज्ञानं त्वया प्रोक्तं तत्त्वज्ञानं मतं मम।
तत्त्वातीतस्य विज्ञानं तत्त्वज्ञानं हि मुक्तये ॥२॥

हे सांख्य, तू भी तत्वज्ञान की चर्चा करता है मैं भी तत्त्वज्ञान को ही मानता हूँ, परन्तु तू पहले यह तो समझ ले कि तत्त्वातीत अर्थात् तत्त्वों से बहिर्भूत (अस्पृष्ट) ब्रह्म का ज्ञान ही सच्चा तत्त्व-ज्ञान कहाता है वही मुक्ति को दिला सकता है। (तेरे बताये तत्त्वों के ज्ञान से मुक्ति का सुख प्राप्त नहीं हो सकता)।

पुरुषस्य परीक्षार्थं मया संख्या निरूपिता।
सांख्य एवं यदि प्राह तर्हीदं मम संमतम् ॥३॥

पुरुष की पहचान के लिये मैंने संख्याओं का प्रतिपादन किया है ऐसा यदि सांख्यानुयायियों का कहना हो तो इस बात से हम मुमुक्षु लोग सहमत हैं। (परन्तु इससे सांख्य का अपसिद्धान्त हो जाता है। ऐसी अवस्था में सम्पूर्ण सांख्य का त्वंपदार्थ को समझाने में ही उपयोग समझना चाहिये)।

पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।
पुरुषं पश्य रे सांख्य ! संख्यया किं प्रयोजनम् ॥४॥

पुरुष अर्थात् परिपूर्ण आत्मा से श्रेष्ठ कुछ भी पदार्थ इस संसार में नहीं है वह ही सम्पूर्ण सुखों की अन्तिम भूमिका (हद) है, वही परा गति अर्थात् ज्ञानिप्राप्य सर्वोत्तम स्थिति है। हे सांख्य ! अपने इस संख्यान के झगड़े को छोड़कर परिपूर्ण आत्म-देव के दर्शन कर। इस गणना से तेरे हाथ क्या लगता है।

योगसिद्धिप्रसक्तोयं पातंजलपारिश्रमः ।
कलाकौशलमेवेदं न स्वरूपस्थिति र्हि सा ॥१॥

पतंजलि मुनि का यह योग तो केवल श्रममात्र है क्योंकि यह आकाशगमनादि सिद्धियों में फँसा देता है । यह तो एक प्रकार की कलाकुशलता है । इस परिश्रम से किसी को आत्म-स्थिति किंवा स्वरूपस्थिति का लाभ नहीं हो सकता ।

रे योगसिद्ध ! जीवानां कायव्यूहो न दुर्लभः ।
विदेहमुक्तता सिद्धिः कायव्यूहो न सिद्धये ॥२॥

हे योगसिद्ध ! कायव्यूह अर्थात् एक समय में अनेक जीवित देह धारण कर लेना (और उनसे एक काल में अनेक स्थानों में अनेक भोग भोगना) यह कौन कठिन काम है और असली सिद्धि तो विदेह मुक्ति ही है कायव्यूह से सिद्धि नहीं मिलती। जहाँ तू अभी तक एक देह में बद्ध था वहाँ अब अनेक देहों में बद्ध हो गया । सोच कर देख यह सिद्धि नहीं यह तो बन्ध हुआ । सिद्धि तो विदेह मुक्ति ही है ।

हे योगसिद्ध ! जानासि परकायप्रवेशनम् ।
परं तु नैव जानासि परकायप्रवेशनम् ॥३॥

हे योगसिद्ध ! तू परकायप्रवेश (दूसरे जीवों के मृत किंवा जीवित शरीरों में प्रवेश करने की युक्ति) तो जानता है परन्तु सच्चे अर्थों में परकायप्रवेश (अर्थात् परब्रह्म के सच्चिदानन्दरूप शरीर में प्रवेश कर जाना किंवा उसमें लीन हो जाना) तुझे नहीं आता (इस हमारे परकायप्रवेश से तुझे सच्ची शान्ति मिल जाती)।

भूतादयोपि जानन्ति परकायप्रवेशनम् ।
सा सिद्धि र्नैव, बन्धः सा यद्धि कायप्रवेशनम् ॥४॥

(तुम्हारे जैसा तुच्छ) परकायप्रवेश तो भूत पिशाच आदि किंवा ज्वर मूर्छादि रोग भी जानते हैं। (इन क्षुद्रयोनियों को प्राप्त कराने वाला कोई थोड़ा सा पाप कर लेने पर ये योनियाँ किसी को भी प्राप्त हो सकती हैं और इस प्रकार यह सिद्धि थोड़े ही प्रयत्न से मिल सकती है। इतने तुच्छ कार्य के लिए चित्तनिरोध-रूपी बड़ा प्रयास क्यों किया जाय ?) यह परकायप्रवेश कोई सिद्धि नहीं यह तो (दो शरीरों का दुहरा) वन्धन है।

अवश्यं मरणं तर्हि कीदृशी चिरजीविता ।
जन्ममृत्युजराध्वंसि त्वं विज्ञानामृतं पिब ॥५॥

हे योगसिद्ध ! यदि (मृत्यु के डर से योगधारण में बैठ कर) तू कुछ अधिक समय तक जी भी गया तो भी कभी तो मरना ही होगा। इस तेरी निरर्थक चिरजीविता से तैंने क्या लाभ उठाया ? यदि सच्चे कल्याण की इच्छा हो तो जन्म मृत्यु तथा वार्धक्य को समूल नष्ट करने वाले विज्ञानामृत का पान करलो (उसी से सच्ची चिरजीविता मिलेगी)।

यदि कोई रोगी पुरुष सौ वर्ष जी जाय परन्तु लौकिक पार-लौकिक कोई भी कर्म न कर सकने से जैसे उसका जीना मरणतुल्य है ऐसा ही तेरा चिरजीवन भी निरर्थक ही है। उससे न तो तुझे सांसारिक भोग ही मिलेंगे और न मुक्ति ही प्राप्त होगी; तेरा योग तो तुझे चिरजीवी बना कर कृतकृत्य हो जायगा। योगधारणा में बैठे रहने से तू अगले जन्मों के लिये पुण्यों का उपार्जन भी न कर सकेगा और मोक्ष के साधन श्रवण आदि भी न कर सकेगा।

परचित्तस्थितं वस्तु त्वया ज्ञातं ततश्च किम् ।
स्वचित्तसंस्थितं वस्तु परं ब्रह्म विलोकय ॥६॥

यदि तुमने (योगबल से) दूसरों के चित्त की बातों को भी जान लिया तो भी उससे क्या (महाफल सिद्ध) होगा ? उसके लिये इतने बड़े योगरूपी पुरुषार्थ की आवश्यकता ही क्या ! (तुम्हारा परम हित तो इसी में है कि) तुम अपने ही चित्त में रहने वाले परब्रह्म का दर्शन करलो (उससे तुम्हें कुछ शान्ति का लाभ हो)

निकटस्थस्यात्मनश्चेन्न स्याच्छ्रवणदर्शनम् ।
का सिद्धिः सा तु या सिद्धि दूरश्रवणदर्शनम् ॥७॥

सबसे अधिक समीपवर्ती आत्मा का ही यदि श्रवण, मनन और निदिध्यासन न कर लिया जाय तो दूरश्रवण और दूर दर्शन ये कुछ सिद्धि नहीं हैं ये तो व्यर्थ परिश्रम हैं ।

भवन्ति वायसादीनामपि खेचरतादयः ।
सिद्धिभिर्नैव सिद्ध्येत सिद्धिभिः किं प्रयोजनम् ॥८॥

खेचरता अर्थात् आकाशगमनादि सिद्धियें तो (योगाभ्यास के बिना ही) पक्षियों को भी प्राप्त होती हैं इन सिद्धियों की प्रसक्ति से जन्ममरण से छुटकारा प्राप्त नहीं हो सकता तो फिर ये सिद्धियें निरर्थक ही हैं ।

(कुछ थोड़ा सा पापकर्म करके काक आदि बनकर भी जो खेचरता प्राप्त की जा सकती है उसको ही यदि तुमने योग जैसी अमूल्य तथा दुर्लभ वस्तु की सहायता से सिद्ध कर पाया है तो हम कहेंगे कि इन सिद्धियों से क्या ? ऐसी बन्धक सिद्धियों से

मुक्ति का परम पद किसी को हाथ आनेवाला नहीं है, ये सिद्धियां तो ऐन्द्रजालिक लोगों के काम आनेवाली हैं)।

न सिद्धि र्योगसिद्धि र्हि बलवीर्यादिसिद्धिकृत्।
एतेन योगः प्रत्युक्त इतिवेदान्तभाषितम् ॥९॥

योगधारणा से जो सिद्धियां प्राप्त होती हैं उनमें शरीर के बल वीर्य प्रताप आदि तो बढ़ जाते हैं परन्तु उनसे मुक्ति जैसी पवित्र वस्तु सिद्ध होनी असम्भव है इसी अभिप्राय से व्यासमुनि ने वेदान्त में योग का खण्डन किया है किंवा योग विषय के प्रयास को निषिद्ध बताया है।

सिद्धिरात्मपरिज्ञान मन्तरायास्तु सिद्धयः।
इति चेद्योगवित्प्राह मतमस्माकमेव तत् ॥१०॥

सच्ची सिद्धि तो आत्मबोध ही है। (आकाशगमन अन्तर्धानादि) सिद्धियें तो सच्ची सिद्धि के विघ्न हैं। उन विघ्नों से बचने के लिये (साधकों की जानकारी के लिये) योग में सिद्धियों का वर्णन किया गया है, ऐसा यदि योगी लोग कहें तो यह हमें संमत है।

अथ मीमांसानिर्णयः

कष्टं कर्मेत्ययं न्यायो मतो मीमांसकस्य चेत्।
आत्मनः क्लेशभागित्वं तेनैवाङ्गीकृतं तदा ॥१॥

यज्ञादि कर्म बड़े कष्टसाध्य (दुःखरूप) हैं यह मन्तव्य यदि मीमांसक का हो तो उसने स्वयं ही (प्रकारान्तर से) कर्म करनेवाले को क्लेश का भागी मान लिया।

मीमांसकः सत्यमाह कष्टं कर्मेति कर्मवित्।
तर्हि तस्यापि जिज्ञास्यं ब्रह्मानिष्टनिवृत्तये ॥२॥

कर्म को जाननेवाले जैमिनि मुनि ने ठीक ही कहा है कि कर्म केवल दुःखरूप है। हमारी सम्मति में तो सर्वदुःखों के नाश (तथा परमानन्द की प्राप्ति) के लिये मीमांसकों को परमानन्दस्वरूप एक ब्रह्म ही जानने की चीज़ है (इसलिये मुमुक्षुओं को कर्ममीमांसा की कुछ आवश्यकता नहीं)।

यज्ञादि कर्म के आरम्भ में दुःख तो प्रसिद्ध ही है उसका फल जन्ममरणरूप दुःख, जीवन में भी भोगों की अप्राप्ति दुःख, प्राप्त होने पर भी उनकी रक्षारूपी दुःख, भोगों की न्यूनतारूपी दुःख, भोगों का नाश हो जाना दुःख, किसी को अपने से अधिक भोगसम्पन्न को देख कर ईर्ष्यारूपी दुःख, इस प्रकार कर्म तो सर्वथा दुःखस्वरूप ही है। जैमिनि का गूढ तात्पर्य तो यही प्रतीत होता है कि लोग ऐसे कर्मों को छोड़ दें।

कर्मणा संभवेज्जन्म जन्मना कर्मसंभवः।
तर्हि कर्मजडस्यास्य जन्ममुक्तिः कथं भवेत् ॥३॥

(विहित और निषिद्ध) कर्मों के करने से जन्म और मरण होते ही रहेंगे। जन्म मिलने पर फिर फिर (विहित या निषिद्ध) कर्म हो ही जाते हैं ऐसी अवस्था में अपने भले बुरे को न पहचाननेवाले कर्म के अन्धभक्त का जन्ममरणरूप दुःख से छुटकारा कैसे होगा?

मुक्तिप्राधान्यमेवास्ति बोधप्राधान्यवादिनाम्।
जन्मप्राधान्यमेवास्ति कर्मप्राधान्यवादिनाम् ॥४॥

जो लोग बोध को प्रधानता देते हैं उनकी दृष्टि में मुक्ति ही मुख्य है। परन्तु जो लोग कर्म की प्रधानता मानते हैं उनके मत में तो जन्ममरणरूपी यह संसार ही सब कुछ होता है।

य: स्वयं कर्मजाड्येन यज्ञेष्वनधिकारतः।
निष्काममशुचिप्रायं जगाद स कथं शुचिः ॥५॥

मीमांसक लोग अपनी कर्मजडता के वश में आकर जिन अङ्गहीन पुरुषों को अंगहीन होने से कर्म में अधिकार नहीं होता, उनके लिये निष्काम धर्मों को बताते तथा निष्काम धर्मों को अशुद्ध कह डालने का दुःसाहस भी कर बैठते हैं। कर्म के जड-भक्त वे मीमांसक लोग किस प्रकार शुद्ध हो सकते हैं? (क्योंकि वे तो अन्तःकरणशोधक कर्मों में श्रद्धा ही नहीं रखते। ऐसी अवस्था में वे उनका आचरण कैसे करेंगे और शुद्ध कैसे होंगे?)

शुद्धिकृत् कामनिर्मुक्तं कर्म मीमांसितं वदेत्।
तत्काम्यकर्ममीमांसा केवलं कष्टरूपिणी ॥६॥

अन्तःकरण के शोधक, कामनारहित, तथा वर्णाश्रमविहित कर्मों का ही हमने विचार किया है, ऐसा यदि मीमांसक लोग कहें, तो उनके इस मत से शेष मीमांसा का भाग जिसमें काम्य-कर्मों का निरूपण किया गया है केवल दुःखरूप रह जाता है। (उस भाग को छोड़ कर अन्तःकरण को शुद्ध करनेवाले नित्य नैमित्तिक कर्म ही मुमुक्षु को करने चाहियें)।

कर्मभिश्चेतसः शुद्धिः शुद्ध्या विज्ञानमाप्यते।
इति चेत्कर्मठः प्राह तर्हीदं मम संमतम् ॥७॥

(स्ववर्णाश्रमविहित) कर्मों के अनुष्ठान से चित्त (के रागादि मल निवृत्त होकर उस) में शुद्धि (अर्थात् आत्मविचार कर सकने की योग्यता) आ जाती है उससे विज्ञान जैसी पवित्र वस्तु का लाभ होता है; यदि मीमांसक का यह कहना हो तो यह तो हमारा ही सिद्धान्त है।

उपनिषद् में कहा ही है कि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' गीता में भी कहा है 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'। वेदानुवचन यज्ञ दान और स्ववर्णाश्रमविहित कर्मों से अपने चित्त को पवित्र करके उस परब्रह्म को जानना चाहते हैं। जनकादि राजर्षि कर्मों के द्वारा चित्त को शुद्ध करने के अनन्तर ही सिद्धि को प्राप्त हुए हैं।

अथ धर्मशास्त्रनिर्णयः

धर्मशास्त्रविचारेण मोक्षधर्मो महाफलः।
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ॥१॥

धर्मशास्त्र का पूर्वापरविचार करने पर हमें तो मोक्ष (के साधन निष्काम) धर्म ही महाफल अर्थात् मोक्ष जैसा सर्वश्रेष्ठ फल देनेवाला प्रतीत हुआ है (काम्यधर्मों की तरह) पूर्वापरक्रम के विघात हो जाने से इसमें धर्म का नाश नहीं होता। (किसी कारण इस धर्म का पालन न कर सकने पर) पाप भी कुछ नहीं लगता।

तथा च याज्ञवल्क्यः—

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयमेव परो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥२॥

याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि—यज्ञ, आचार (वर्णाश्रम धर्मों का पालन) दम, अहिंसा, दान, तथा स्वाध्याय इन सब धर्मों में परमधर्म तो यही है कि योग के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार कर लिया जाय।

अथ श्रौतस्मार्तनिर्णयः

श्रवणं श्रौतमित्युक्तं स्मरणं स्मार्तमुच्यते ।
श्रवणं मननं चेति श्रौतस्मार्तविनिर्णयः ॥१॥

वेदान्तों को सुनना श्रौत कर्म कहाता है। (श्रुति से प्रतिपादित) उसी अर्थ का अनुचिन्तन करते रहना ही स्मार्त कर्म कहाता है। इस प्रकार श्रौत और स्मार्त का तात्पर्य श्रवण और मनन से ही है।

श्रुतं श्रीगुरुवक्त्रेभ्यः स्मृतमेव न विस्मृतम् ।
श्रौतस्मार्तमिदं येषां श्रौतस्मार्तविदो हि ते ॥२॥

हम तो श्रौत और स्मार्त कर्मों का मर्मज्ञ उसे ही समझते हैं कि जो गुरुमुख से आत्मा का श्रवण करले और फिर कभी भी उसको विस्मरण न होने दे।

अथाङ्गानि

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्द एव च ।
ज्योतिषं च षडङ्गानि तेषामेव विनिर्णयः ॥१॥

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष ये छः वेदाङ्ग हैं अब इनका विचार किया जाता है—

अथ शिक्षानिर्णयः

शुद्धो विदेहभावेन शिक्षितः शिक्षया यया ।
सा शिक्षा यदि न प्राप्ता शिक्षया शिक्षितं किमु ॥१॥

(जिस महावाक्योपदेशरूपी गुह्य) शिक्षा को पाकर प्राणी देहादिबन्धन से रहित होकर शुद्ध हो जाता है उस शिक्षा को यदि किसी ने प्राप्त नहीं किया तो इस (वर्णस्वरादि के स्थान आदि बतानेवाली पाणिनि की) शिक्षा से क्या सीखा ?

अथ कल्पसूत्रनिर्णयः

कल्पानां प्रथमः कल्पो निर्विकल्पमिदं न चेत्।
विकल्पसंकल्पमयैः कल्पसूत्रैः किमर्जितम् ॥१॥

कर्म और उपासनाओं को बतानेवाले कल्पसूत्रों का कि
सकल कल्पनाओं का प्रथम कारण जो यह निर्विकल्प आत्मचैतन्य
रूपी कल्प है उसको यदि किसी ने साक्षात् नहीं कर लिया तो
हम समझते हैं कि विकल्प और संकल्पों से परिपूर्ण कल्पसूत्रों
को जानने से ही क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ?

कल्पको येन कल्पेन ब्रह्मभूयाय कल्पते।
स कल्पो नैव क्लृप्तश्चे त्कल्पसूत्रं निरर्थकम् ॥२॥

कल्पनाकुशल मनुष्य जिस कल्पना से ब्रह्मभाव को प्रा
कर लेता है वह (तारक) कल्प यदि किसी ने प्राप्त न किया तो
यह कल्पसूत्र निरर्थक ही है।

अथ व्याकरणनिर्णयः

पदव्युत्पत्तिरन्वेष्या महावाक्यार्थबुद्धये।
स एव यदि न ज्ञात स्तर्हि व्याकरणेन किम् ॥१॥

महावाक्यों का अर्थज्ञान हो जाने के लिये ही (व्याकरण
द्वारा) पदों का ज्ञान कर लेना आवश्यक होता है यदि उ
महावाक्यों के अर्थ को ही किसी ने नहीं समझा तो व्याकरण
पढ़ने का प्रयास निरर्थक ही रहा।

येनेदं व्याकृतं विश्वं तदेव व्याकृतं न चेत्।
बृहभ्दो वेत्ति यत्तार्हि तद्धि व्याकरणेन किम् ॥२॥

जिस (परब्रह्म) ने प्रत्यक्ष दीखनेवाले इस सकल जगत को

विविध आकारों का निर्माण किया है, यदि उसी बृहत् तत्त्व को किसी ने न जाना हो (अर्थात् यदि किसी को उस ब्रह्म के दर्शन न मिल हों) तो व्याकरण शास्त्र के अभ्यास से भी मुमुक्षु का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

यतस्तु परिनिष्पन्नैः शब्दैः शास्त्रान्मुहुर्मुहुः ।
हेयादेयौ न विज्ञातौ तर्हि व्याकरणेन किम् ॥३॥

जिस शब्द शास्त्र से सिद्ध हुए शब्दों (किंवा नामों) की सहायता से हेय (प्रपंच) तथा उपादेय (कूटस्थ असंग आत्मा) को न जान लिया तो व्याकरण शास्त्र के अभ्यास से मुमुक्षु का क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ?

अथ निरुक्तनिर्णयः

निरुक्तं चिदवस्थानं निरुक्तं बोधनं चितः ।
तन्निरुक्तं न चेद्वेद निरुक्तस्य किमुक्तिभिः ॥१॥

चिन्मात्ररूप आत्मा की स्वरूपस्थितिनामक अवस्था को निरुक्त कहते हैं (क्योंकि उस अवस्था का वर्णन उक्ति [वचनों] के बाहर की बात होती है) चिन्मात्ररूप आत्मा का उपदेश भी निरुक्त कहाता है (क्योंकि वहां से वाणियां लौट आती किंवा उसका वर्णन करने में असमर्थ रह जाती हैं उस अवस्था में पहुँच कर चुपचाप हो जाना पड़ता है)। उक्त दोनों प्रकार के निरुक्तों को यदि किसी ने न जाना तो इस (यास्कमुनि प्रणीत) निरुक्त की उक्तियों से मुमुक्षुओं का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

अथ छन्दोनिर्णयः

तच्छन्दो यदि न ज्ञातं स्वच्छन्दो येन खेलति ।
यत्नस्तजश्रमोपेतै श्छन्दोभिः किं प्रयोजनम् ॥१॥

जीवन्मुक्त लोग जिस स्वच्छन्द अर्थात् स्वाभाविक समभाव रूप स्थिति में पहुँच कर (अबोध बच्चों की तरह) सहज व्यवहार करने लगते हैं (जिस स्थिति के प्रताप से स्वाधीनता का उत्कृष्टतम आनन्द मिल जाता है) स्वच्छन्दता को सिखानेवाले उस छन्द को यदि किसी ने न जाना तो यगण, रगण, सगण, तगण, जगण, भगण, नगण और मगण वाले (आर्या आदि) छन्दों के विचार से मुमुक्षुओं का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा।

अथ ज्यौतिषनिर्णयः

ज्योतिषा येन सूर्यादि ज्योतिर्भाति न वेत्ति तत्।
यदि येन तदा तेन ज्योतिर्ग्रन्थेन किं कृतम् ॥३॥

जिस स्वयंप्रकाश ज्योतिःस्वरूप आत्मदेव की कृपा से लौकिक सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा वाणी आदि ज्योतियां भी प्रकाशित होती हैं वह पवित्र आत्मस्वरूप ज्योति जिस ज्योतिर्ग्रन्थ से न जानी जा सके तो बताओ (केवल लौकिक ज्योतियों को बताने वाले) ज्यौतिष शास्त्र ने भी मुमुक्षुओं का क्या उपकार किया?

अथ वेदाः—तत्रादावृग्वेदनिर्णयः

यः परानन्ददः स्वात्मा तं त्वा वयं यजामहे।
इत्याहुतो न विश्वात्मा ऋचा हौत्रेण किं तदा ॥४॥

जिस स्वात्मदेव को विवेकी लोग परमानन्द का देनेवाला बताते हैं उस तुझ आत्मदेव का (संसार के सम्पूर्ण विषयों की आहुति देकर) हम मुमुक्षु लोग यजन करते हैं। यदि इस प्रकार की सर्वाहुति से उस जगदन्तरात्मा को किसी ने तृप्त न कर पाया तो उस हौत्र कर्म से (जिसमें ऋचाओं की ही प्रधानता है) मुमुक्षुओं का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? मुमुक्षु के लिये

तो केवल आत्मज्ञान का प्रतिपादन करनेवाली ऋचायें ही उपयोगी हो सकती हैं)।

अथ यजुर्वेदनिर्णयः

लोहिता धवला कृष्णा प्रजाहेतुरजा यदि ।
नोपलब्धा ब्रह्मसत्रे यजुषाध्वर्यवेण किम् ॥१॥

लोहिता (रजोगुणवाली) धवला (सत्त्वगुणवाली) कृष्णा (तमोगुणवाली) (तथा इसी क्रमानुसार जगत् की उत्पत्ति प्रकाश और आवरण करनेवाली) जगज्जननी अजा माया को यदि किसी ने ब्रह्मसत्र में नष्ट किंवा बाधित न कर डाला हो तो यजुर्वेद के मन्त्रों से निष्पन्न हुए आध्वर्यव कर्म से ही मुमुक्षु का क्या उद्धार होगा?

अथ सामवेदनिर्णयः

छान्दोग्येनोपनिषदा प्रेमगद्गदया गिरा ।
साम्ना गीतं न चेद् ब्रह्म सामोद्गात्रेण किं तदा ॥१॥

छान्दोग्य उपनिषद् के द्वारा प्रेमगद्गदवाणी से यदि किसी ने ब्रह्म का गान न किया तो सामवेदविहित औद्गात्र कर्म से भी मुमुक्षु का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? (मुमुक्षुओं को तो अनात्म-विषयक साम को छोड़कर केवल आत्मविषयक साम का ही गान करना चाहिये)।

अथाथर्वणवेदनिर्णयः

आथर्वणी ब्रह्मविद्या पिप्पलादमुखाच्च्युता ।
चमत्कृता न हृदये किं फलं तद्यथर्वभिः ॥१॥

पिप्पलादमुनि की कही हुई; आथर्वणी ब्रह्मविद्या का यदि

किसी के हृदय में चमत्कार न हुआ तो अनात्मविषयक अथर्वण प्रयोगों से मुमुक्षु का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

अथायुर्वेदनिर्णयः

ज्ञानामृतं न चेत्पीत ममृतत्वं न साधितम् ।
मृत्युरेव पुनः प्राप्त आयुर्वेदो निरर्थकः ॥१॥

यदि किसी ने (जरामरणादि को हटानेवाले) ज्ञानरूपी अमृत का पान न किया और अमृतत्व को सिद्ध न कर पाया हो और अन्त में मृत्यु के ही वश में फँसना पड़ गया हो तो (ऐसी दयनीय परिस्थिति) में आयुर्वेद (शास्त्र के अभ्यास) का क्या प्रयोजन हुआ ?

अथ धनुर्वेदनिर्णयः

प्रणवेनैव धनुषा प्रबोधेन शरेण च ।
लक्ष्यं ब्रह्म न चेद्विद्धं धनुर्वेदो निरर्थकः ॥१॥

प्रणव (ओंकार) रूपी धनुष पर ज्ञानरूपी बाण चढ़ा कर अपने ब्रह्मरूपी (अन्तिम) लक्ष्य का यदि किसी ने वेध न कर डाला हो तो इस लौकिक धनुर्वेद से मुमुक्षु का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

अथ गान्धर्वनिर्णयः

आत्मा कलेन गीतेन गान्धारेण (गान्धर्वेण) स्वरेण हि ।
न चेद् गन्धर्ववद्गीतो गान्धर्वेण कृतं किमु ॥१॥

गान्धर्व स्वरों में सुमधुर गानों से गन्धर्वों की तरह यदि किसी ने अपने सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मदेव का गान न किया तो इस (अनात्मविषयक) गान्धर्व वेद के अभ्यास में वृथा समय खोने से क्या ?

अथार्थशास्त्रनिर्णयः

अनर्थाः सर्व एवार्थाः सदर्थः परमार्थदृक् ।
परमार्थो न लब्धश्चे दर्थशास्त्रं निरर्थकम् ॥१॥

संसार के (धर्म, अर्थ तथा काम नामक) सम्पूर्ण पदार्थ (दुःखास्पद होने से) अनर्थ ही होते हैं, परमार्थ ब्रह्म का ज्ञान ही सत् अर्थ कहाता है। यदि किसी को उसी परमार्थ का लाभ न हुआ तो यह लौकिक अर्थशास्त्र निरर्थक ही है।

अथ सायंसन्ध्यानिर्णयः

मुनि को उचित है कि पुराणश्रवण करके सायंसन्ध्या करने के लिये उद्यत हो जाय।

इत्थं ज्ञानविनोदेन वेदशास्त्रकुतूहलैः ।
दिवसं सकलं यातं सायंसन्ध्या समागता ॥१॥

इस प्रकार ज्ञानरूपी विनोद करते करते वेद और शास्त्रों का कुतूहल देखते देखते (व्यवहाररूपी) सम्पूर्ण दिन व्यतीत हो चुका और सायंसन्ध्या आगयी।

एवमेव कियत्कालं व्यवहारावलोकिनः ।
पुनः समाधौ सन्धानं सायंसन्ध्या हि सा स्मृता ॥२॥

जब तक उक्त प्रकार के विनोद में रुचि रहे तब तक व्यवहारावस्था में रहनेवाला वह मुनि फिर जब कभी समाधि का स्मरण करने लगता है तो यही मुनियों की सायंसन्ध्या कहाती है।

उस समाधि का स्मरण करते ही उक्त प्रकार के व्यवहार का उपसंहार हो जाने से उसे सायंकाल कहते हैं। व्यवहार-

रूपी दिन तथा समाधिरूपी रात्रि की सन्धि पर होने से उसे 'सन्ध्या' कहा जाता है ।

अथ निशाव्यवहारनिर्णयः

अब अन्त में मुनियों के रात्रिकृत्य का वर्णन किया जाता है—

यातेऽथ व्यवहारनाम्नि दिवसे भुक्ते च सन्ध्यासुखे।
जातायां निशि निश्चलेन मनसा दत्वा कपाटार्गलाः॥
पीत्वा संप्रति शुद्धबोधमधुरं क्षीरं यथेष्टं युवा।
पर्यङ्के सुसमाधिनामनि मुहुः काञ्चिद्भुनक्ति प्रियाम्॥१॥

युवा अर्थात् आत्मचिन्तन में अपूर्व उत्साहवाले मुनि को चाहिये कि व्यवहारकाल नामक दिन के व्यतीत हो जाने पर, और सन्ध्यासुख (उदासीनता से मिलने वाले सुख) का भोग ले लेने पर, जब कि समाधि नामक निशाकाल प्राप्त होने को हो तो अपने स्थिरचित्त की सहायता से इन्द्रियरूपी दशों कपाटों पर (प्रत्याहाररूपी) अर्गला डाल दे (यही ज्ञानी का कपाट-बन्धन कहाता है)। कपाट बन्द करके माया तथा अविद्यादि मलों से रहित चैतन्यघन आत्मसुखरूपी मधुर दुग्ध को यथा-तृप्ति पीकर, निर्विकल्प समाधि नामक सच्चिदानन्द शय्या पर लेटकर सच्चिदानन्दरूपिणी किसी अनिर्वचनीय प्रियतमा का (जो कि सदा ही उस मुनि के हृदयभवन में क्रीडा किया करती है तथा अतिशय आनन्द देती रहती है) भोग लिया करे।

तन्वङ्गीं तरुणीं विलासरसिकां चित्ते चमत्कारिणीम्।
जाते प्रेमणि नित्यमेव सुखदा मानन्दलीलामयीम्।

खेलन्ती मुरसि प्रियां निजकलामालिङ्ग्य तत्सङ्गमा—
द्भोगीन्द्रत्वमुपागतः सुखनिधि र्योगीन्द्रचूड़ामणि ॥२॥

वह योगीन्द्रों का चूडामणि तन्वंगी (पतली, बुद्धि आदि के अगोचर होने से सूक्ष्म आकारवाली) तरुणी (युवती, जिस की अवस्था स्वात्मसुख का अनुभव करने योग्य हो चुकी हो) विलास (प्रपंचरचनारूपी विलास अथवा प्रपंच को लय करके आत्ममात्र शेष रखलेनारूपी विलास) की परमरसिका, चित्त में चमत्कार (आत्मरूप का आविर्भावरूपी अथवा चिदाभास-रूपी चमत्कार) करनेवाली, एक वार प्रेम उत्पन्न हो जाने पर फिर सदा ही आनन्द को देते रहनेवाली, आनन्दलीला के रूप में प्रतीत होने वाली (योगी के) हृदयभवन में खेलती हुई अपनी ही कला (अंश) सुखरूपिणी प्रिया को (छाती के समान अपने कल्पित एकदेश में) अपने से अभिन्नदर्शनरूपी आलिंगन करके उसके संगम से भोगीन्द्र बन कर सुख का निधि हो जाता है।

अथ मुनीन्द्रदिनचर्याविचारफलनिरूपणम्

मुनीन्द्रदिनचर्येयं चिन्तनीया दिने दिने।
न चिराच्चिन्तनेनास्या नरो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥१॥

मुमुक्षुओं को इस मुनीन्द्रदिनचर्या का प्रतिदिन विचार करते रहना चाहिये। इसके चिन्तन से शीघ्र ही निश्चिन्तता (आत्मस्थिरता) को प्राप्त कर लेता है।

साध्यसाधनसंबन्धफलसंस्कारयुक्तिभिः।
ज्ञातायां सम्यगेतस्यां ज्ञातव्यं नावशिष्यते ॥२॥

जब कोई अधिकारी मुनीन्द्र लोगों की इस दिनचर्या के साध्य (अखण्ड एकरस ब्रह्मभाव) साधन (प्रातः शौचादिरूप में बतायी ब्रह्मकार वृत्तियें) सम्बन्ध (साध्यसाधन रूप) फल (व्यवहार करते हुए भी ब्रह्मात्मस्मृति) संस्कार (ब्रह्मात्माभेद-वासना) तथा युक्ति (चित्त को ब्रह्म में स्थिर करनेवाला अवि-रोध) नामक अंगों को भले प्रकार जान लेता है तो फिर उसे और कुछ भी जानने योग्य बात शेष नहीं रहती। (सकलशास्त्रों को विचार कर जो परिणाम निकल सकता है वह सब केवल इस प्रकरण के विचार से ही प्राप्त हो सकता है)।

मुनीन्द्रदिनचर्येयं मुनीन्द्रैरपि दुर्वचा ।
मम वाचालतां तत्र क्षम्यतां पार्वतीपतिः ॥३॥

मुनीन्द्र लोगों की दिनचर्या का तात्विक वर्णन सफलता के साथ तो मुनीन्द्र लोग भी नहीं कर सकते। फिर भी मैंने जो उस के वर्णन करने का दुःसाहस किया है, वह सदाशिव आत्मदेव मेरी इस वाचालता को क्षमा करें।

अथ निरञ्जनपंचाशत्कम्

यत्र प्रमाणं वेदान्ता अनुभूतिस्तथा सताम् ।
देवो निरंजनः सोयं बोधसारे निरूप्यते ॥१॥

जिस देव के होने में वेदान्त प्रमाण हैं, जीवन्मुक्त महात्माओं का अनुभव भी जिसके होने का साक्षी है (मैंने स्वयं भी जिस का स्वाद चखा है) उस सर्वोपाधिविहीन चिन्मात्ररूप आत्मदेव के स्वरूप का निरूपण इस प्रकरण में किया जायगा।

अहमज्ञो न जानामि मामहं कोहमित्युत ।
अज्ञानप्रभवो भाव आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥१॥

मैं कौन हूँ ? यह कुछ भी मैं नहीं जानता इसलिये अज्ञानी हूँ। ऐसे भाव अज्ञान के कारण उदय हुआ करते हैं। वह निरंजन स्वतःप्रकाश सर्वोपाधिविहीन शुद्ध आत्मा माया तथा अविद्या आदि से सर्वथा रहित रहनेवाला तत्त्व है।

यदियं ब्रह्मविषया जीवस्य ध्येयतामतिः।
स हि भ्रान्तिमयो भाव आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥३॥

जोकि यह जीव ब्रह्म को अपना ध्येय मान बैठता है यह भी एक बड़ी भ्रान्ति है (क्योंकि आत्मदर्शन होजाने पर विद्वान् को यह ज्ञान होजाता है कि मैं तो अब तक अपने अज्ञान के कारण ही उस ब्रह्म को अपनी ध्यानवृत्ति का विषय बना डालने का निष्फलोद्योग कर रहा था, मुझे तो आज यह मालूम हुआ है कि वह ब्रह्म कभी भी किसी का विषय नहीं होता। मैं तो अपने अज्ञान के कारण ही आज तक उस एक ही ब्रह्म में जीवत्वरूपी अपराध कर रहा था। इस भ्रान्तिपिशाची ने मुझे तो अपने ही स्वरूप के दर्शन आज तक नहीं होने दिये थे। ओहो, अब यह मालूम होकर मुझे स्वस्थता प्राप्त हुई है कि यह सब कुछ भ्रान्ति ही थी) आत्मा में तो कभी भ्रान्ति नहीं होती वह तो सर्वोपाधिविहीन और शुद्ध से भी शुद्ध है।

त्रिभिर्गुणै र्निबद्धोहं संसारे संसराम्यहम्।
इत्याद्याः प्राकृता भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥४॥

तीन गुणों से बँधा हुआ मैं संसार में फँस रहा हूँ (जन्म-मरण से मेरा छुटकारा नहीं होता है) (सत्वगुण से बँधकर मैं ज्ञानी शमवान् जितेन्द्रिय विरक्त तथा मुमुक्षु बन जाता हूँ; रजोगुण से बँधकर कामी कर्ता अथवा लोभी हो जाता हूँ; तमोगुण

के वश में आकर अज्ञानी क्रोधी आदि बन बैठता हूँ इस प्रकार के सम्पूर्ण भाव प्राकृतिक कहाते हैं। इनका साक्षी निरंजन आत्मदेव तो प्रकृति, प्रकृति के गुण, किंवा प्रकृति के बन्धन में कभी भी नहीं आता। वह तो सदा ही शुद्ध बना रहता है।

मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति चतुष्टयम्।
अन्तःकरणजा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥५॥

मन, वुद्धि, चित्त और अहंकार ये चारों अन्तःकरण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं आत्मा तो शुद्ध और निरंजन ही है।

जब मन संकल्पविकल्पात्मक होने लगे, बुद्धि किसी पदार्थ का निर्णय करने लग जाय, अहंकार किसी धर्म का गर्व करता हुआ प्रतीत हो, चित्त किसी अनुभव प्रत्यभिज्ञा, स्मृति आदि करने में फँस जाय और निरन्तर इसी प्रकार की वृत्तियें उदय होने लगें, तो तुरन्त ही यह विचारना चाहिये कि ये सब भाव अन्तःकरण के धर्म हैं, जोकि पांचों भूतों के सात्विक भागों से बना है। भ्रान्ति से जिसमें यह सब प्रतीत हो रहे हैं वह आत्मा तो अन्तःकरण किंवा उसकी इन चारों वृत्तियों से सर्वथा रहित है वह तो अत्यन्त शुद्ध है।

यच्च संकल्प्यते पूर्वं संकल्प्य च विकल्प्यते।
एते मनोभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥६॥

जिस पदार्थ को हम पहले अच्छा समझ रहे थे, कुछ काल पश्चात् उसी को बुरा समझने लगते हैं। ऐसे परिवर्तनशील संकल्पविकल्परूपी भावों को मन की वृत्तियाँ जान लेना चाहिये। आत्मा तो मन तथा मनोवृत्तियों से सर्वथा अस्पृष्ट रहता है।

(अज्ञान के कारण ही हम आत्मा को मनन करनेवाला मान बैठते हैं। वह तो परम शुद्ध है)।

इदमित्थ मिदं नेत्थमिति निश्चीयते तु यत्।
स हि बुद्धिमयो भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥७॥

यह पदार्थ जैसा दीखता है वैसा ही है, यह पदार्थ जैसा (सर्परूप) दीखता है वैसा नहीं है (किन्तु रज्जुरूप है) यह जो इस प्रकार निश्चय किया जाता है यह भाव तो बुद्धि के कारण उत्पन्न हुआ है। बुद्धि के साक्षी आत्मा से इस बुद्धिवृत्तिरूपी अञ्जन (मल) का सम्बन्ध कभी नहीं होता। वह तो (सदा ही पद्मपत्र की तरह) अत्यन्त निर्लेप और शुद्ध बना रहता है।

ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्ववध्यघातकतादयः।
अहंकारभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥८॥

ये ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता, वध्य या घातक आदि सब भाव (विकार) मूलतः अहंकार से उत्पन्न हुए हैं। प्रत्यक्चैतन्यरूपी आत्मदेव तो अहंकाररूपी अंजन (मल) से सर्वथा रहित रहता है (उसका तो किसी काल में भी अहंकार किंवा उसकी वृत्तियों से किसी प्रकार का तात्त्विक सम्बन्ध नहीं हुआ) वह अत्यन्त शुद्ध है।

स्मृतिः पूर्वानुभूतस्य प्रत्यभिज्ञा च तादृशी।
एते चित्तभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥९॥

कभी पूर्वकाल में अनुभव किये हुए पदार्थ के स्मरण को 'स्मृति' कहते हैं। पहले और पिछले दोनों ज्ञान जब एक विषयक हो जाते हैं, तो वह 'प्रत्यभिज्ञा' (पहचानना) कहाती है। ये सब विकार चित्त नामक अन्तःकरण की वृत्ति से उत्पन्न हुए हैं।

चित्तवृत्ति के साक्षी प्रत्यगात्मा में चित्तवृत्तिरूपी मल का सम्बन्ध कभी नहीं होता। वह तो सदा ही शुद्ध बना रहता है।

ये विश्वतैजसप्राज्ञा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
अवस्थाभेदजा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥१०॥

जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के अभिमानी क्रम से 'विश्व' 'तैजस' तथा 'प्राज्ञ' कहाते हैं। परन्तु ये सब भाव अवस्था की विलक्षणता के कारण उत्पन्न हुए हैं। (अवस्था की इस विलक्षणता के हट जाने पर यह भेदप्रतीति भी बन्द हो जाती है) आत्मा तो इन तीनों अवस्थाओं तथा इनके तीनों अभिमानियों से पृथक् है। वह शुद्ध है, निरंजन है।

निद्रालस्यं प्रमादश्च परिमोहो विषादकः।
एते तमोभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥११॥

निद्रा, आलस्य (अनुत्साहपूर्वक कर्तव्याकर्तव्य की उपेक्षा) प्रमाद (कर्तव्य का अज्ञान तथा अकर्तव्य को कर्तव्य समझना) परिमोह (कुछ भी ज्ञान न होना) तथा विषाद (विपरीत कार्य करके पश्चात्ताप) ये सब भाव तमोगुण के कारण उत्पन्न होजाते हैं। तम तथा तमोविकारों का साक्षी आत्मदेव तो इन समस्त मलों से असंपृक्त और शुद्ध है।

शमो विवेकः सौम्यत्वं प्रकाशश्च प्रसन्नता।
एते सत्वमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥१२॥

शान्ति, आत्मानात्मविचार, सौम्यत्व (विक्षेपराहित्य) प्रकाश (पदार्थ ज्ञान) तथा प्रसन्नता (आत्मसुख की स्फूर्ति) आदि भाव सत्वगुण के विकार हैं। सत्वगुण तथा सात्विक

वृत्तियों का साक्षी आत्मा तो इन सब सात्विक मलों किंवा परिवर्तनों से असंपृक्त रहता है। वह तो परम शुद्ध है।

लोभश्चञ्चलताक्षाणा मारम्भः कर्मणामपि।
एते रजोभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥१३॥

लोभ (विषयों के प्राप्त हो जाने पर भी तृप्ति न होना) इन्द्रियों की चंचलता तथा कार्यों में उत्साह ये सब रजोगुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं। रजोगुण और रजोगुण के विकारों का साक्षी प्रत्यगात्मा तो निरंजन अर्थात् रजोगुण और उसके विकारों से सर्वथा रहित और शुद्ध ही है।

विधिश्च प्रतिषेधश्च धर्माधर्मौ शुभाशुभम्।
कर्तृत्वभाविता भावा आत्मा शुद्धो निरंजनः ॥१४॥

विधि (अपने वर्ण तथा आश्रम के कर्मों का विधान करने वाला शास्त्र) प्रतिषेध (निन्दित कर्मों का निषेध करनेवाला शास्त्र) धर्म और अधर्म शुभ और अशुभ आदि सम्पूर्ण विकार अपने में कर्तृत्व की भावना उत्पन्न हो जाने पर ही उत्पन्न हुआ करते हैं। आत्मा तो निरंजन अर्थात् कर्तृत्व और कर्तृत्व के कारण कल्पना किये हुए अन्य सम्पूर्ण धर्मों से सर्वथा विहीन और शुद्ध ही है।

कृतिः कार्यं च करणं तत्र चेष्टाः पृथग्विधाः।
कर्तृत्वस्यानुगा भावा आत्मा शुद्धो निरंजनः ॥१५॥

क्रिया, कार्य, क्रिया का साधन तथा इन सब की नानाप्रकार की चेष्टायें ये सब बातें आत्मा में कर्तृत्व का अभ्यास होने के पश्चात् हुआ करती हैं। आत्मा तो कर्तृत्व और कर्तृत्व के अनुगत सकल विकारों से रहित और परम शुद्ध है।

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पंचमः ।
पंचभूतोद्भवा भावा आत्मा शुद्धो निरंजनः ॥१६॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये सब विकार पांचों भूतों के कारण उत्पन्न हुए हैं, इन सब के साक्षी निरंजन आत्मा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है । वह तो इन सब उपाधियों से रहित और परम शुद्ध है ।

आकाश मनिल स्तेज स्तोय मुर्वी च पंचमी ।
पंचभूतमया भावा आत्मा शुद्धो निरंजनः ॥१७॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी ये सब पांच भूत कहाते हैं, इन सब के साक्षी निरंजन आत्मदेव से इनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है ।

श्रोत्रं त्वङ् नयनं जिह्वा गन्धग्राहश्च पंचमः ।
ज्ञानेन्द्रियमया भावा आत्मा शुद्धो निरंजनः॥१८॥

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण ये सब ज्ञानेन्द्रियां कहाती हैं, इन सब के साक्षी निरंजन आत्मदेव से इनका कोई भी तात्विक सम्बन्ध नहीं है ।

वाक् पाणिपादौ पायुश्च तथोपस्थश्च पंचमः ।
कर्मेन्द्रियमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥१९॥

वाणी, हस्तपाद, पायु तथा उपस्थ ये सब कर्मेन्द्रियां कहाती हैं । आत्मा तो इन सब से पृथक् होने के कारण परम शुद्ध है ।

ध्वनिर्वर्णविभेदा य आहतानाहतादयः ।
शब्दभेदमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥२०॥

ध्वनि (अव्यक्तशब्द) क, च, ट, त, प आदि वर्ण, भेरी आदि के आहत शब्द, तथा पांच भूतों के अनाहत शब्द, ये सब शब्द के ही रूपान्तर हैं। शब्द तथा शब्दों के रूपान्तरों का साक्षी कूटस्थ निरंजन आत्मदेव तो परम शुद्ध है। (उसमें ये शब्दादि कोई विकार नहीं होते)।

निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः।
स्वरभेदमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥२१॥

निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत तथा पंचम ये सब भाव अव्यक्तनाद के ही रूपान्तर हैं। इन सब का साक्षी निरंजन प्रत्यगात्मा तो परम शुद्ध है।

शीतोष्णमृदुकाठिन्यतीक्ष्णरूक्षादिभेदतः।
स्पर्शभेदमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥२२॥

शीत, उष्ण, कोमल, कठिन, दाहक तथा रूक्ष आदि सब स्पर्श के ही अवान्तर भेद हैं। इन सब के साक्षी निरंजन आत्मदेव में इनका किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। वह तो परम शुद्ध है।

रक्तं पीतं सितं कृष्णं हरितं चित्रमित्यपि।
रूपभेदमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥२३॥

लाल, पीला, श्वेत, कृष्ण, हरा तथा चितकबरा ये सब सामान्यरूप के ही अवान्तर भेद हैं। इन सबके साक्षी निरंजन आत्मदेव में इनका किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। वह तो परम शुद्ध है।

कटुः कषायो मधुरो लवणोऽम्लश्च तिक्तकः।
रसभेदमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥२४॥

कड़वा, कसैला, मीठा, नमका, खट्टा तथा तीखा ये सब सामान्यरस के ही अवान्तर भेद हैं। इन सबके साक्षी निरंजन आत्मदेव में इनका किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं हुआ है। वह तो परम शुद्ध है।

चित्राः परिमलामोदसौरभासौरभादयः।
गन्धभेदमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥२५॥

परिमल (जनमनोहारि गन्ध) आमोद (दूरगामी गन्ध) सुगन्ध तथा दुर्गन्ध आदि विचित्र गन्ध (पंचीकरण के कारण) सामान्य गन्ध के ही रूपान्तर हो गये हैं। इन सबके साक्षी निरंजन आत्मदेव में इनका किसी प्रकार का भी सम्वन्ध नहीं है। वह तो परम शुद्ध है।

जरायुजाण्डजस्वेदसंभवोद्भिज्जकादयः।
प्राणिभेदमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥२६॥

जरायुज, अण्डज, (पक्षि आदि) स्वेदज (यूका मत्कुण आदि) तथा उद्भिज्ज (वृक्ष आदि) ये सब प्राणियों के ही अवान्तर भेद हैं इन सब के साक्षी आत्मा में तो इन भेदों का किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। (वह तो सम्पूर्ण योनियों में सदा एकरस ही रहता है इसीलिये) वह परम शुद्ध है।

ससुरासुरगन्धर्वयक्षरक्षोनरादयः।
जीवजातिमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥२७॥

सुर, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा मनुष्य आदि सब भाव जीवों की (कल्पित) देहजातियों के ही अवान्तर भेद हैं। इन सब के साक्षी आत्मा में तो इनका किसी प्रकार भी सम्बन्ध

नहीं है (वह तो इन सम्पूर्ण जातियों में सदा एकरस रहता ही है)। इसीलिये परम शुद्ध है ।

शैववैष्णवसावित्रशाक्तगाणपतादयः ।
इष्टदैवतजा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥२८॥

शैव, वैष्णव, सावित्र (सूर्योपासक) शाक्त तथा गणेश के उपासक ये सब भेद अपने अपने इष्टदेवताओं के कारण उत्पन्न होगये हैं। इन सब भेदों के साक्षी निरंजन आत्मा में इनका किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है ।

वासिष्ठगार्ग्यशाण्डिल्यभार्गवाङ्गिरसादयः ।
गोत्रप्रवरजा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥२९॥

वसिष्ठगोत्रोत्पन्न, गर्गगोत्रत्पन्न, शाण्डिल्यकुलोत्पन्न, भृगु-कुलोत्पन्न तथा अङ्गिरःकुलोत्पन्न आदि भाव गोत्र और प्रवर के कारण उत्पन्न हुए हैं। इन सबके साक्षी निरंजन आत्मदेव से इनका कोई सम्बन्ध नहीं; वह तो परम शुद्ध है ।

पौराणिकच्छान्दसिकज्योतिर्विद्भिषगादयः ।
विद्यावृत्तिभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥३०॥

पौराणिक, छान्दसिक, ज्योतिर्विद् तथा भिषक् आदि भिन्न भिन्न भाव भिन्न भिन्न विद्याओं और भिन्न भिन्न वृत्तियों के कारण उत्पन्न हो जाते हैं । इन सब के साक्षी निरञ्जन आत्मदेव को तो ये भाव कभी स्पर्श भी नहीं करते। वह तो परम शुद्ध है।

प्राच्यौदीच्यप्रतीच्याद्या दाक्षिणात्यादयः परे।
यागभेदोद्भवा भावा आत्मा शुद्धो निरंजनः ॥३१॥

यज्ञशाला के पूर्वद्वाराधिकारी प्राच्य, उत्तरद्वाराधिकारी

उदीच्य, पश्चिमद्वाराधिकारी प्रतीच्य, तथा दक्षिणद्वाराधिकारी दाक्षिणात्य कहाते हैं। ये सब भाव यज्ञ के द्वारभेद के कारण उत्पन्न हुए हैं, इनके साक्षी निरञ्जन आत्मदेव से इनका किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, वह तो परम शुद्ध है।

चित्रकृल्लेखकस्तक्षा वाचकः पाठकः परे।
क्रियाभेदभवा भावा आत्मा शुद्धो निरंजनः ॥३२॥

चित्रकार, लेखक, तक्षा, वाचक तथा पाठक आदि भाव नाना प्रकार की क्रियाओं के कारण हो जाते हैं। इन सबके साक्षी प्रत्यगात्मा का तो इनसे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है; वह तो परम शुद्ध ही है।

हेमगौरविशालाक्षसिंहसंहननादयः।
कायसौन्दर्यजा भावा आत्मा शुद्धो निरंजनः ॥३३॥

सुवर्ण की तरह गौर वर्ण, विशाल नयन, सिंह के समान पुष्ट अथवा सुन्दरशरीरवाला आदि सब भाव शरीर की सुन्दरता (कमनीयता) के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी प्रत्यगात्मा का तो इनसे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है वह तो परम शुद्ध है।

मूकान्धपङ्गुबधिरकाणकञ्जाक्षकादयः।
कायवैरूप्यजा भावा आत्मा शुद्धो निरंजनः ॥३४॥

मूक, अन्ध, पंगु (पादरहित), बधिर, काण तथा विडालाक्ष आदि सब विकार शरीर की कुरूपता के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी प्रत्यगात्मा का तो इनसे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है, वह तो परम शुद्ध है।

पातालं वसुधा स्वर्गो महस्तपो जनादयः ।
लोकभेदभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥३५॥

पाताल (अधोभुवन), वसुधा (मनुष्यलोक), स्वर्ग (देवलोक), महर्लोक, तपोलोक, तथा जनलोक आदि भाव स्थानभेद के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी प्रत्यगात्मा का तो इनसे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है, वह तो परम शुद्ध है।

सिंहव्याघ्रवराहर्क्षहरिणप्लवगादयः ।
पशुभेदभवा भावा आत्मा शुद्धो निरंजनः ॥३६॥

सिंह, शार्दूल, सूकर, भालु, हरिण तथा बन्दर आदि भाव पशुभेद के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी प्रत्यगात्मा का तो इनसे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है, वह तो परम शुद्ध है ।

त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रादयः परे ।
धातुभेदभवा भावा आत्मा शुद्धो निरंजनः ॥३७॥

त्वचा, रुधिर, मांस, मेद (त्वचा के अन्दर सफ़ेद खाल सा एक पदार्थ), अस्थि (हड्डी), मज्जा (हड्डी पर लगी हुई सूक्ष्म त्वचा के समान एक पदार्थ) तथा वीर्य ये सब विकार, धातुओं के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी प्रत्यगात्मा का तो इनसे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। वह तो परम शुद्ध है।

प्राणापानसमानाश्चोदानव्यानौ च पञ्च ते ।
प्राणभेदभवा भावा आत्मा शुद्धो निरंजनः ॥३८॥

प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान ये सब पाँचों भाव

प्राणभेद के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी आत्मा का तो इनसे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। वह तो परम शुद्ध है।

नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः।
उपप्राणभवा भावा आत्मा शुद्धो निरंजनः ॥३९॥

नाग (नेत्रों को खोलनेवाला वायु), कूर्म (नेत्रों को बन्द करनेवाला), वायु कृकर (भूख लगानेवाला वायु), देवदत्त (जँभाई लानेवाला वायु) तथा धनञ्जय (शरीर का पोषण करनेवाला वायु) ये सब भाव उपप्राणों के कारण उत्पन्न हुए हैं। इन सबके साक्षी आत्मा का तो इनसे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। वह तो परम शुद्ध है।

ज्वरापस्मारकुष्ठानि वातपित्तकफादयः।
धातुवैषम्यजा भावा आत्मा शुद्धो निरंजनः ॥४०॥

ज्वर, मूर्च्छा, कुष्ठ तथा वात, पित्त, कफ आदि विकार धातुओं की विषमता के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी आत्मा का तो इनसे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। वह तो परम शुद्ध है।

पिङ्गलेडा सुषुम्णा च गान्धारी हस्तिकादयः।
नाडीभेदभवा भावा आत्मा शुद्धो निरंजनः ॥४१॥

पिङ्गला, इडा, सुषुम्णा, गान्धारी तथा हस्तिक आदि भेद नाडियों की पृथक्ता के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी आत्मा का तो इनके साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है, वह तो परम शुद्ध है।

उत्क्रान्तिगत्यागतयो याः स्वर्गनरकप्रदाः ।
लिङ्गभेदोद्भवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥४२॥

उत्क्रान्ति (शरीरत्यागतत्परता) गति, (लोकान्तरगमन) तथा आगति, जिनसे कि स्वर्ग और नरकादि की प्राप्ति होती है ये सब विकार लिंगभेद अर्थात् गुणों की न्यूनाधिकता के कारण —जब कि लिंगशरीर पहले भावों को त्यागकर दूसरे नये भावों को ग्रहण किया करता है तब—उत्पन्न हुआ करते हैं। इन सब के साक्षी आत्मा का तो इनके साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है; वह तो परम शुद्ध है।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्र इत्येवमादयः ।
वर्णभेदभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥४३॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि सब भाव वर्णभेद के कारण उत्पन्न हुए हैं। इन सब के साक्षी आत्मा का तो इन के साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है; वह तो परम शुद्ध है।

ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुरिति क्रमात् ।
आश्रमप्रभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥४४॥

ब्रह्मचारी (उपकुर्वाण तथा नैष्ठिक), गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी, ये चारों भाव आश्रम का परिवर्तन करने पर उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी आत्मा का तो इनके साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है, वह तो परम शुद्ध है।

कापालिकाः क्षपणकाः स्वेच्छाचारा दिगम्बराः ।
पाखण्डप्रभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥४५॥

कापालिक (एक कान में हड्डी का कुण्डल, किंवा गले में मुण्डमाला पहनने वाले), क्षपणक (बौद्ध साधु), स्वेच्छाचार तथा दिगम्बर ये सब भाव पाखण्ड के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सब के साक्षी आत्मा का तो इनके साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है वह तो परम शुद्ध है।

ममता संमता मूढैर्न मता समतास्थितैः।
सोप्यहन्ताभवो भाव आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥४६॥

मूढ अर्थात् संसार के पामर लोगों को ममता बड़ी प्यारी लगती है। परन्तु जो लोग समता में स्थित हो जाते हैं उन्हें फिर उस ममता से किसी प्रकार भी सुख की प्राप्ति नहीं होती। परन्तु इन दोनों प्रकार के भावों की उत्पत्ति तो अहंकार के कारण ही हुआ करती है। इन सब भावों के साक्षी आत्मदेव का तो इन (ममत्व और समत्व) से किसी प्रकार का भी तात्विक सम्बन्ध नहीं है वह तो परम शुद्ध है।

अहन्ताममते धीमन्नुभे मातृसुते अपि।
ते परस्परकुट्टिन्यौ तदेकामपि मा स्पृश ॥४७॥

हे धीमन्! ये दोनों अहन्ता और ममता एक दूसरे की माता भी हैं, और पुत्री भी हो जाती हैं। इतना ही नहीं ये दोनों आपस की कुट्टिनी (दूतिका) का काम भी कर लेती हैं। इसी लिये बुद्धिमान को उचित है कि इनमें से किसी एक को भी स्वीकार न करे। क्योंकि एक को स्वीकार करते ही दूसरी को भी स्वीकार करना ही पड़ता है।

सर्वे भावाः पलायन्ते यस्मिन् भावे समुद्गते।
सोपि बोधमयो भाव आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥४८॥

जिस (लोकोत्तर) भाव के उदय होने पर अन्य सम्पूर्ण भाव विनष्ट हो जाते हैं वह भाव (विकार) भी तो बोध के कारण ही उत्पन्न हुआ है। उसके साक्षी आत्मदेव का तो उसके साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है; वह तो परम शुद्ध है।

यत्र बोधमयो भावो नास्ति भावे समुद्गते।
स हि शून्यमयो भाव आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥४९॥

जिस भाव के उदय होने पर अन्त में ज्ञानरूप विकार भी नहीं रह जाता, वह विकार भी तो अन्ततः शून्यरूप ही हो जाता है। उस शून्य का भी साक्षी आत्मा तो वैसे सम्पूर्ण मलों से सर्वथा रहित रहता है इसी लिये परम शुद्ध है।

शून्याशून्ये समे यस्मिन् भावे च समतां गते।
स भाव स्त्वमसि प्राज्ञ आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ॥५०॥

जिस भाव के समता को प्राप्त होजाने पर शून्य और अशून्य दोनों एक समान हो जाते हैं, हे विद्वन्, वही भाव तुम हो, वही आत्मा तुम हो; तुम शुद्ध और निरंजन पदार्थ हो।

जब कि किसी विद्वान् को सम एकरूप किंवा परमार्थसद्रूप आत्मा के दर्शन होने लगते हैं तो उस समय जगत् का होना और न होना ये दोनों ही भाव उसके लिये एकरूप हो जाते हैं। हे प्राज्ञ! हे सब कुछ जाननेवाले विद्वन्! तेरे जिस समभाव के उदय होने पर शून्य और अशून्य जैसे दो विरोधी भाव नहीं रह जाते तू तो वही परम शुद्ध भाव है।

निरंजनस्य देवस्य पञ्चाशत्कविचारतः।
निरंजनस्य देवस्य निरंजनपदं व्रजेत् ॥५१॥

निरञ्जन देव की महिमा का वर्णन करने वाले इन पचास

श्लोकों को विचारने से सर्व उपाधियों से रहित केवल चैतन्य-मात्रस्वरूप आत्मदेव के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान प्राप्त हो सकता है।

अथ यमुनाष्टकम्

उज्ज्वला मधुरा शीता पवित्रा यमुनेव चित्।
विविच्य दृष्टा हि मया श्यामिका यात्र स भ्रमः ॥१॥

मैंने विवेकपूर्वक देख लिया कि यह चित्, यमुना की तरह उज्ज्वल भी है, मधुर भी है, शीतल भी है और पवित्र भी है, इसमें जो श्यामिका (अज्ञानान्धकार) दीखती है वह तो कोरा भ्रम ही है।

जिस प्रकार यमुना उज्ज्वल, मधुर, शीतल और पवित्र है इसी प्रकार यह चिति भी (माया और अविद्यादि से रहित होने के कारण) उज्ज्वल है, (सुखरूप होने से) मधुर है, (तीनों तापों को हटाने से) शीतल है, और (इसका आविर्भाव होने पर चित्त के रागादि मल निवृत्त हो जाते हैं इसी से) यह पवित्र भी कहाती है। क्योंकि मैंने तो सब उपाधियों को हटाकर उस शुद्ध चैतन्य के साक्षात् दर्शन किये हैं। तुम भी चाहो तो मेरी तरह उसके दर्शन पा सकते हो। युक्ति तो वही है कि माला के मोतियों को हटाकर जैसे सूत्र के दर्शन होते हैं, इसी प्रकार सब संकल्पविकल्पों को इधर उधर हटाकर आत्मचैतन्य के दर्शन करने का प्रयत्न करो, सब के हट जाने के पश्चात् सब का देखनेवाला जो तत्व शेष रह जाता है वही तो यह चैतन्य है जिसकी हम यमुना से तुलना कर रहे हैं। जैसे यमुना का जल उज्ज्वल होने पर भी उसमें जो नीलिमा प्रतीत होती है

वह तो भ्रम किंवा उपचार से है इसी प्रकार हमारी इस शुद्ध चिति में जो कि यह अज्ञान प्रतीत होता है वह भी भ्रम ही है। यह निश्चय कर लो।

यत्त्वं वदसि चिद्देवी नीरूपा तूज्ज्वला कथम्।
तया प्रक्षालितं पश्य निर्मलं हृदयं मम ॥२॥

अगर तुम पूछो कि नीरूप वह चिद्देवी उज्ज्वल कैसे है तो हम (अनुभव के आधार पर) कहते हैं कि उससे धोये हुए मेरे निर्मल हृदय को ही देख लो, मैं तो इसी से उसको निर्मल समझा हूँ।

जैसे मैला जल किसी वस्त्र को निर्मल नहीं कर सकता इसी प्रकार यदि वह उज्ज्वल न होती तो मेरे मैले अन्तःकरण को इतना पवित्र कैसे कर सकती ?

यत्त्वं वदसि चिद्देवी नीरसा मधुरा कथम्।
आस्वादयन्ति तां नित्यं रसिकाः शङ्करादयः ॥३॥

अगर तुम पूछो कि उस नीरस चिद्देवी को मधुर क्यों कहते हो तो सुनो ! शंकर आदि जैसे रसिक लोग सदा उसका स्वाद लेते रहते हैं इसीसे हम उसे मधुर कहते हैं।

रसिक होने पर भी ज़ब वे लोग स्वयंप्रकाश चैतन्य में रमण करते हैं, तो चैतन्य में मधुरता का अनुमान हमें भी करना ही पड़ता है।

यत्त्वं वदसि चिद्देवी निःस्पर्शा शीतला कथम्।
पश्य तस्याः प्रसादेन गतं तापत्रयं मम ॥४॥

यह जो तुम कहते हो कि वह स्पर्शविहीन चिद्देवी शीतल कैसे हो सकती है ? तो सुनो, जबसे उस चिद्देवी का मेरे हृदय

में आविर्भाव हुआ है तभी से उसकी कृपा से मेरे (आधिभौतिक आधिदैविक तथा आध्यात्मिक) तीनों प्रकार के ताप (दुःख) सर्वथा नष्ट हो गये हैं।

यत्त्वं वदसि चिद्देवी निर्गुणा पावनी कथम्।
तत्पवित्रीकृतान् पश्य कचदत्तशुकादिकान् ॥५॥

यह जो तुम कहते हो कि वह चिद्देवी निर्गुण है तो फिर पावनी (पवित्र करनेवाली) कैसे है ? तो इसका उत्तर सुनो! उस (चिति के आविर्भाव) से पवित्र हुए कच (बृहस्पति का पुत्र) दत्त (अत्रि का पुत्र) शुक (व्यास का पुत्र) तथा आर्षभादि के चरित्र को तो देखो (उक्त दृष्टान्तों से यही मानना पड़ता है कि यह चिद्देवी निर्गुण भी है और परमपावनी भी है)।

अथ शिष्यः पृच्छति

गुरो लाक्षणिकैरेव किं लक्षयसि लक्षणैः।
लक्षणै र्लक्ष्य स्वामिं स्तल्लक्ष्यं लक्ष्यते यथा ॥३॥

हे गुरो ! तुम आत्मस्वरूप के लक्षणों को भी लक्षणावृत्ति से क्यों बता रहे हो (बताओ तो सही ऐसे हेर फेर से बताने पर वह गुहाहित आत्मवस्तु हम लोगों को क्योंकर ज्ञात हो सकेगी ? अजी ! क्या किसी को अरण्य के परतीर भेजना हो तो टेढ़ामेढ़ा मार्ग बताना हितकर होगा) मुझे तो आप उस आत्मदेव के सीधे से सीधे लक्षण बताने की कृपा कीजिये। जिस से कि मैं उस लक्ष्य को सुकरता के साथ समझ सकूँ।

अत्रोत्तरम्

लक्ष्ये लक्षणवल्लक्ष्यमिह लक्ष्ये न लक्षणम्।
विलक्षणमिदं लक्ष्यं लक्षणैवात्र लक्षणम् ॥७॥

सांसारिक लक्ष्यों में लक्षणों की तरह इस लक्ष्य में लक्षण को लक्ष्य मत करो (मत टटोलो) यह लक्ष्य तो बड़ा ही विलक्षण है, इसमें तो लक्षणा ही लक्षण है।

हे शिष्य ! सुनो, सांसारिक लक्ष्य पदार्थों के जैसे कोई न कोई लक्षण हुआ करते हैं उस तरह इस लक्ष्य आत्मवस्तु का कोई भी बताने योग्य लक्षण ढूँढना या पूछना नहीं चाहिये। जब किसी पदार्थ में कोई गुण किंवा आकार रहता है तो उन्हीं को उसका लक्षण कहने लगते हैं, परन्तु इसमें तो कोई गुण या आकार नहीं है साथ ही लक्ष्य पदार्थ का घटादि की तरह परतः प्रकाश्य होना भी आवश्यक होता है। इसके विपरीत आत्म-वस्तु तो सर्वथा निर्गुण निराकार तथा स्वतःप्रकाश्य और स्वसं-वेद्य है। फिर भला इस आत्मा का लक्षण ही क्या हो ? यह अलौकिक लक्ष्य तो सर्वलक्षणों से विहीन है। इसको तो केवल भागलक्षणा से ज्यों त्यों करके थोड़ा बहुत जाना जा सकता है इसलिये लक्षणावृत्ति से ही आत्मा के लक्षणों को समझना पड़ता है।

पयस्यमलगम्भीरे श्यामिका भ्रान्तिरूपिणी।
ब्रह्मण्यमलगम्भीरे प्यविद्या भ्रान्तिरूपिणी ॥८॥

निर्मल और गम्भीर जलों में जो काला-या नीलापन दिखाई पड़ता है वह भ्रम होता है। ठीक इसी प्रकार निर्मल तथा गम्भीर ब्रह्म में जो अविद्या प्रतीत होती है, वह भी भ्रम रूप ही है।

अगाध होने के कारण ही जल में नीलापन मालूम पड़ने लगता है परन्तु उसे उछालकर देखने पर जबकि उसकी निर्मलता का भान होता है तो हम उस नीलिमा को भ्रान्ति समझ लेते हैं। फिर चाहे वह हमें नीलापन दीखता भी रहे। इसी प्रकार

(अविद्यादि मलों से रहित होने से) निर्मल और (अनन्त होने से) अतिगम्भीर ब्रह्म में यह जो अज्ञान मालूम होता है वह तो भ्रम ही है वह वास्तविक नहीं है। उस ब्रह्मतत्व को जब हम ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा उछालकर देखेंगे तो मालूम होजायगा कि उसमें अविद्या नहीं है, अभी अभी जो विचार हम करते हैं वे सब अविद्या की गोद में बैठकर करते हैं, जब हम ब्रह्म की गोद में पहुँचकर विचार करेंगे तो मालूम होगा कि अविद्या है ही नहीं। सूर्य में जैसे अन्धकार नहीं रहता इसी प्रकार ब्रह्म में अविद्या को रहने को जगह ही नहीं है। जब कोई सूर्य में खड़ा होसके तो उसे अन्धकार दीखे ही नहीं, जब कोई ब्रह्मतत्व में दृष्टि जमा सके तो उसे अविद्या दीखे ही नहीं। यह सब बखेड़ा तो उसमें दृष्टि के न जमने तक का ही है। उसकी अनन्तता के कारण ही उसमें कहीं कहीं अज्ञान किंवा अविद्या की प्रतीति होने लगती है। परन्तु जबकि समाधिभावना के द्वारा उसकी निर्मलता, असङ्गता, अकर्तृता आदि का बोध होजाता है तो उस अविद्या की प्रतीति को भ्रान्त ही समझना पड़ जाता है।

अथ शिलाषट्कम्

अनन्तकोटिचन्द्राणां चन्द्रिकाभिः कृता किमु।
आह्लादरूपिणी दृष्टा मया धेनुः शिलामयी ॥१॥

मैंने (समाधि के समय) परमाह्लादरूपिणी शिलामयी धेनु को देखा है वह तो देखने में ऐसी मालूम पड़ती थी मानों अनन्त कोटि चन्द्रमाओं की चांदनियों से उसे बनाया गया हो।

न धावति न हन्त्येव न खादति पिबत्यपि।
स्वभावनिर्मला सेयं हृष्टिपुष्टिमती स्थिता ॥२॥

न यह दौड़ती है, न किसी को मारती है, न कुछ खाती है, न कुछ पीती है, यह तो स्वभाव से ही निर्मल है, कुछ न खा पी कर भी वह मोटी ताज़ी बनी रहती है ।

उस अद्भुत धेनु की महिमा का वर्णन कहां तक करूँ? वह तो लौकिक धेनु की तरह न चलती है, न सींगों से मारती है, न घास फूँस खाती है और न पानी ही पीती है। हमारी वह काम-धेनु सर्वत्र परिपूर्ण होरही है उसको कहीं भी पहुँचना नहीं है, इसीसे उसे पैरों की आवश्यकता नहीं है। इसीलिये वह चलती नहीं। अपने से भिन्न मारने योग्य दूसरा पदार्थ न होने तथा कर्तृत्व धर्म से रहित होने के कारण उसने मारना सीखा ही नहीं। स्वयं आनन्दरूप होने, नित्यतृप्त होने, खाने योग्य द्वैत (चीज़) के न रहने तथा भोक्तापन जैसे सर्वविकारों से हीन होने के कारण खाना तो उसने कभी जाना ही नहीं । आनन्दरूप तथा नित्यतृप्त होने से वह कुछ पीती भी नहीं । वह तो स्वभाव से ही निर्मल है इसीलिये वह सदा ही हृष्ट पुष्ट रहती है। कमज़ोर होना या निर्बल होना किंवा किसी प्रकार का भी परिवर्तन आने देना जैसे विषम भावों को तो वह क्षणमात्र भी सहन नहीं करती।

रोमरेखासु विभ्रान्तास्तस्या ब्रह्माण्डकोटयः ।
अपर्यन्ता स्थिता धेनुः सा काश्मीरशिलामयी ॥३॥

(उस शिलाधेनु के विस्तृत साम्राज्य का वर्णन कहाँ तक किया जाय) उसके एक एक रोमकूप में करोड़ों करोड़ों ब्रह्माण्ड (त्रिलोकियाँ) चक्कर खा रहे हैं। (लौकिक धेनुओं के समान सब प्राणियों का तर्पण करनेवाली) इस धेनु का कहीं भी पर्यन्त (समाप्ति-किनारा) नहीं है । वह तो काश्मीर के (स्फटिक) पत्थर

के समान अत्यन्त शुद्ध है। (उसमें किसी प्रकार के रागमलादि का सम्पर्क नहीं हैं)।

आयान्ति यान्ति धावन्ति नृत्यन्ति च हसन्ति च।
प्रतिबिम्बा जीवरूपा स्तस्याः सा तु यथास्थिता ॥४॥

उस धेनु के जीवरूपी प्रतिबिम्ब आते हैं, जाते हैं, दौड़ते हैं, नाचते हैं और हँसते हैं परन्तु वह तो वैसी की वैसी ही बनी रहती है ।

यदि स्फटिक की शिला के पास कोई देहधारी आता, जाता, दौड़ता, नाचता किंवा हँसता है तो उसमें उसी के अनुरूप आकृतियाँ बनी सी दिखाई देने लगती हैं परन्तु उसमें वस्तुतः कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। इसी प्रकार उस काश्मीरशिलामयी आत्मधेनु के जीवरूपी प्रतिबिम्ब (आभास) कभी आते हैं, कभी चले जाते हैं, कर्म की तीव्र गति के प्रभाव में आकर कभी तेजी से दौड़ते हैं, कभी बहुरूपिये की तरह अनन्तरूप धारण करके नाचने लगते हैं और जब कभी क्षुद्र वैषयिक सुख मिल जाता है तो अपने को धन्य समझकर अन्तस्तल तक न पहुँचने वाली श्मशान की सी रौद्र हँसी हँस भी लेते हैं। परन्तु क्या इन क्रियाओं किंवा इन विकारों का लेशमात्र भी प्रभाव उस आत्मधेनु पर पड़ता है ? नहीं, वह तो सदा ही पहिले की तरह निर्विकार बनी रहती है ।

नीरसापि सुधामिष्टा निर्गुणापि प्रिया सताम्।
नीरूपाप्यतिकान्ता सा मया दृष्टा न तु श्रुता ॥५॥

वह नीरस होने पर भी सुधा की तरह मीठी है, निर्गुण होने पर भी सत्पुरुषों को बड़ी प्यारी है, नीरूप होने पर भी बड़ी मनो-

हारि (सुन्दर) है उसे मैंने स्वयं देखा है, सुनी हुई बातें नहीं कह रहा हूँ।

जिस आत्मधेनु के विषय में मैं यह सब कुछ कह रहा हूँ यह कोई मेरी कानों सुनी बात नहीं है जिससे कि इसकी सत्यता में सन्देह किया जा सके। इसका तो समाधिकाल में मैंने स्वयं ही अनुभव लिया है। उसकी अभूतपूर्व महिमा का कहां तक वर्णन करूँ ? यह आत्मधेनु तो सर्वथा नीरस (वैषयिक मधुर अम्ललवणादि छः प्रकार के रसों से रहित) होने पर भी सुधा के समान मधुर है "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, रसो वै सः" जो सब से बड़ा हो वही सुख है अल्प किंवा परिच्छिन्न पदार्थों में सुख नहीं है। सोचने पर ज्ञात होता है कि क्षणिक सुख ही दुःख है। सुख का अभाव ही कुछ दुःख नहीं है, किन्तु थोड़ा सुख भी दुःख ही है। क्योंकि उस सुख के समाप्त होने पर निश्चय ही अधिक दुःख प्राप्त होता है भोगते समय भी उसके नाश की चिन्ता भी कुछ कम दुःख नहीं देती। विज्ञान और आनन्द ही तो ब्रह्म है, असली रस तो वही है (वैषयिक रस तो रसाभास हैं)। वह आत्मधेनु यद्यपि अत्यन्त निर्गुण कहाती है तथापि साक्षात् करनेवाले महापुरुषों को वह अत्यन्त प्यारी होती है (वे लोग तो 'निमेषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना' आधा निमेष भी ब्रह्ममयी वृत्ति किये बिना नहीं रह सकते) सर्वथा नीरूप (निराकार) होने पर भी वह आत्मधेनु अत्यन्त कमनीय हो रही है। क्योंकि वह तो स्वयं ही सुखस्वरूप है। (संसार के गुणों से सर्वथा नवीन प्रकार की उस आत्मधेनु का वर्णन कहां तक किया जाय। उसका वर्णन करने में मानवी भाषा की अपूर्णता तो बार बार ही

बेड़ियों का काम किया करती है। क्योंकि संसार में नीरस भी हो और मीठा भी हो, निर्गुण भी हो और प्रिय भी हो, नीरूप भी हो और कमनीय भी हो, ये सब विरुद्ध सी बातें एक में देखने को नहीं मिलतीं। मानवी भाषा ने तो क्षुद्र वस्तुओं का ही वर्णन करना सीखा है। यह आत्मधेनु तो अपने अनुकूल तथा विरुद्ध सब ही पदार्थों में सम होकर तद्रूप रहने में बड़ी ही सिद्धहस्त है। जो बात हमारे शब्दसागर में असम्भव कही जाती है उसे सम्भव कर दिखाना तो इसके वाम हस्त का कौशल है। इसमें आश्चर्य भी क्या है। इसी गुण पर मोहित होकर तो वेदों ने इसके बन्दीपने को स्वीकार किया है। संसार के सम्पूर्ण तपों को इसी गुण का तो प्रबल लोभ समाया हुआ है। सम्पूर्ण लम्बे ब्रह्मचर्यों का प्राप्य पद भी तो यही है। तुमने अभी तक उसका दर्शन नहीं किया है इसी से तुमको ये सब बातें नवीन सी प्रतीत हो रही हैं)।

स्रवन्तीममृतं नित्यं जिह्वया ब्रह्मविद्यया।
वत्सः शिलामयो भूत्वा पिब धेनुं शिलामयीम् ॥६॥

हे शिष्य! तुम शिलामय वत्स बनकर अपनी ब्रह्मविद्यारूपी जिह्वा से सदा अमृत को बरसाती हुई उस शिलामयी धेनु का दुग्धपान कर डालो।

हे शिष्य! यदि तू उस आत्मधेनु का दुग्धपान करना चाहता है तो इस देहादि के अभिमान को छोड़ कर, कूटस्थ चिद्रूप धारण करके उस जैसा ही शिलामय (कूटस्थ चिद्रूप) वत्स बन जा तथा अपनी ब्रह्मविद्यारूपी जिह्वा से (क्योंकि तात्विक सुख-रूप रस का अनुभव इसी से मिल सकता है) प्रत्येक समय

दुग्ध समान अमृत (आनन्द) को बरसाती हुई शिलामयी ब्रह्म-धेनु को पी डाल अर्थात् उसका अनुभव करले।

अथ निद्रापंचकम्

न सन्ति यस्यां निद्रायां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः।
अवस्थात्रयरूपिण्यः सर्वद्वन्द्वविवर्जनात् ॥१॥

यह आत्मनिद्रा ऐसी विचित्र निद्रा है कि—इसके आने पर कोई भी द्वन्द्व नहीं रहता (किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती) तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीनों अवस्थायें भी नहीं रहतीं।

यह आत्मनिद्रा कुछ ऐसी विलक्षण नींद है कि इसके आविर्भाव होने पर सुखदुःख आदि सारे द्वन्द्व तथा संसार की समस्त चिन्तायें भाग जाती हैं। पर उसके साथही इस आत्मनिद्रा में यह एक अद्भुत विलक्षणता रहती है कि उस समय न तो जाग्रत् (इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण) रहती है न स्वप्नावस्था (जाग्रत् के संस्कारों वाली बुद्धि में जाग्रत् के संस्कारों से उत्पन्न ज्ञान की अवस्था) ही होती है और न उस समय सुषुप्ति (अज्ञान से ढके हुए सुख को अनुभव करनेवाली तथा अज्ञानमात्र को विषय करने वाली अवस्था) ही होती है। यही कारण है कि उस समय सम्पूर्ण द्वन्द्वों का भान भी नहीं रहता।

गुणातीततया तत्र तमोलेशो न विद्यते।
स्वयंप्रकाशरूपत्वा दप्रकाशोपि नास्ति हि ॥२॥

(लौकिक निद्राओं में तमोगुण की प्रधानता रहती है परन्तु) इस आत्मनिद्रा में तो उस (तम) का लेश भी नहीं है। क्योंकि यह तो एक त्रिगुणातीत निद्रा है। (लौकिक निद्रा की तरह)

इसमें अप्रकाश भी नहीं रहता क्योंकि यह एक स्वतःप्रकाश निद्रा है।

यत्प्राप्तये महापुण्या स्तपस्यन्ति तपस्विनः।
विचारयन्ति विद्वांसो वेदान्तवचनानि च ॥३॥

महापुण्यशाली तपस्वी लोग इसी आत्मनिद्रा को पाने के लिये ही बड़े बड़े तपों का अनुष्ठान करते हैं। इसी को ढूँढ निकालने के लिये विवेकी लोग उपनिषदादि वेदान्तों को बार बार मनन करते हैं। (इस आत्मनिद्रा को सुलभ मान लेना जिस प्रकार हितकर नहीं होता इसी प्रकार इसको निष्फल समझने से भी किसी का कल्याण नहीं होता किन्तु बड़ी श्रद्धा से इसकी प्राप्ति का उद्योग लगातार करते रहना चाहिये)।

सुखभोगः फलं नात्र सैवानन्दस्वरूपिणी।
पुरुषार्थस्वरूपत्वा न्न कालक्षेपरूपिणी ॥४॥

यह आत्मनिद्रा तो स्वयं आनन्दस्वरूप ही है इससे किसी अन्य सुखभोग की आशा करना ठीक नहीं है। स्वयं पुरुषार्थरूप होने से इसमें नींद की तरह व्यर्थ ही कालक्षेप नहीं होता।

आम पर जो फल लगता है उस फल का कोई फल नहीं होता क्योंकि वह तो स्वयं फलस्वरूप ही है। इसी प्रकार लौकिक सुखानुभवों की तरह किसी विशेष सुखभोग को इस आत्मनिद्रा का फल कदापि न समझना चाहिये। यह आत्मनिद्रा तो स्वयं ही आनन्दस्वरूपिणी है।

सुलभा शुद्धबोधानां दुर्लभा विषयात्मनाम्।
सहजा माधवादीनां सा निद्रा तु महाफलम् ॥५॥

यह आत्मनिद्रा शुद्धान्तःकरणों को तो सुलभ है, विषया-

त्माओं को यह बड़ी दुर्लभ है, विष्णु आदियों को यह स्वभाव से बनी रहती है। यह निद्रा मामूली पदार्थ नहीं है यह तो महाफल है।

जिन लोगों को परिमार्जित शुद्धबोध की प्राप्ति हो गयी है उन पर तो यह आत्मनिद्रा सहज ही अपना पूर्ण प्रभाव जमा लेती है। किन्तु जिन लोगों का मन दिनरात विषयभूमियों में ही घूमता रहता है उनको तो यह अवस्था कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती। जिन देवताओं की उपाधि में शुद्ध सत्व गुण की प्रधानता है उन ब्रह्मा विष्णु महेश आदियों को स्वभाव से सदा यह योगनिद्रा बनी ही रहती है। इस योगनिद्रा को मामूली निद्रा समझ कर इसकी उपेक्षा न करनी चाहिये। संसार के सम्पूर्ण कर्मों, सारी उपासनाओं तथा सम्पूर्ण ज्ञानों का अन्तिम फल भी तो यही योगनिद्रा है।

क्या मालूम कि संसार के क्षुद्र विषयभोगों से भी क्षणकाल के लिये यही आत्मनिद्रा प्राप्त हो जाती हो, और तभी आनन्द का अनुभव होना संभव हो गया हो। परन्तु उस समय बालक जैसे अपने हाथ लगी बहूमूल्य वस्तु की मानता करना नहीं जानता ऐसे ही हम अज्ञानी लोग उसके लोकोत्तर आनन्द से वञ्चित रह जाते हों ? भाग्यहीन कुत्ता जिस प्रकार जल में गले तक डूब जाने पर भी जीभ से 'चप चप' करके ही पानी पीता है इसी प्रकार हम बहिर्मुख लोग उस अगाध अवस्था का दर्शन पाकर भी अपनी वाह्यवासनारूपी रस्सियों से बलात् बाहर खेंच लिये जाते हों और इसके सुखद अनुभव से वंचित रह जाते हों। हम सांसारिक लोगों ने तो मैले की गाड़ियों की तरह विषयरूपी

कूड़ों पर ही जाना सीखा है। उन कूड़ियों की सम्पत्ति को बढ़ाना ही तो हमारे इस अमूल्य जीवन का क्षुद्र लक्ष्य होगया है। परन्तु जब तक इस आत्मनिद्रा को प्राप्त नहीं किया जायगा चिरशान्ति कभी भी प्राप्त नहीं होसकेगी। 'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देव मविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति। ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' यदि सम्पूर्ण आकाश को चमड़े की तरह लपेट डालना सम्भव हो सकेगा तो आत्मदेव का दर्शन पाये विना दुःखों का अन्त हो जायगा। परमात्मा को जानकर ही संसार के कठिन बन्धनों से छुटकारा मिल सकता है। केवल एक यही मार्ग उत्तम तथा शान्त सुख को पाने का है। आगे पीछे सभी प्राणियों को इसी मार्ग से होकर जाना है। बुद्धिमान् मनुष्य जिस काम को शीघ्र कर डालते हैं करना तो मूर्ख लोगों को भी वही पड़ता है परन्तु भेद केवल इतना ही है कि वे लोग लाखों ठोकरें खाकर पीछे से उस काम को किया करते हैं। दो मनुष्य अपनी अपनी अलग अलग सवारियों पर बैठे हुए जारहे थे। सायंकाल के समय में रास्ते में एक नगर आया जिस के बीच में होकर निकलना दोनों को आवश्यक हो गया। वहां चुंगी भी लगती थी। अगला गाड़ीवाला तो तुरन्त चुंगी देकर नगर को पार कर गया और अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गया। पिछले ने चुंगी देना न चाहा और वहाँ से अपनी गाड़ी को बचाकर दूसरे रास्ते की तलाश में सारी रात भटकता फिरा कि किसी तरह शहर से बचकर निकल जाय। अन्त में ढूँढते ढूँढते फिर उसी रास्ते में आपड़ा और दिन निकलते ही क्या देखता है कि वह तो उसी चुंगीघर के सामने आ पहुँचा है जहाँ से बचने के लिये रात भर उसने बड़े परिश्रम से रास्ता टटोला था। फिर भी उसको चुंगी देकर ही उस नगर को पार करना पड़ा

और अपने उद्दिष्ट स्थान तक पहुँच सका। इसीलिये माता के समान प्राणियों पर प्रेम करनेवाली उपनिषदें बड़ी प्रेममयी वाणी से जीवों को उपदेश कर रही हैं कि भाई, इस आत्मतत्त्व को जाने विना सुख की आशा मृगतृष्णा की तरह एक दुराशा ही है। इसके सिवाय तो इस दुःखसागर को पार करने का दूसरा मार्ग ही नहीं है।

अथानुभवनवकम्

स्वानन्दबोधगुरुभि र्गुरुभिर्निरुक्तं,
स्वानन्दबोधघनमेव मम स्वरूपम्।
स्वानन्दबोधघनया कलया कयाचि-
त्स्वानन्दबोधघनमेव मयानुभूतम् ॥१॥

आत्मानन्द के परिज्ञान के कारण गुरु बने हुए मेरे गुरुओं ने मुझे स्वानन्दज्ञानघन ही मेरा रूप बताया था और स्वानन्द-ज्ञानमयीवृत्ति से मैंने भी जब अनुभव किया तो उसे इसी रूप का पाया।

आत्मानन्द का बोध होजाने के कारण ही जिनको गुरुता प्राप्त होसकी है ऐसे मेरे आत्मविद्या के आचार्य ने मुझे मेरे रूप में और आत्मरूप निरतिशयानन्द में लेशमात्र भी भेद नहीं बताया। किन्तु उससे पृथक् ज्ञेय पदार्थ न होने से ज्ञानमात्र ही मेरा वास्तविकरूप महावाक्य के द्वारा (भागत्याग लक्षणा से) उन्होंने मुझे बतलाया है। उनकी बतायी विधि को ध्यान में रखकर स्वानन्दरूपी बोध से परिपूर्ण अपने अन्तःकरण की वृत्ति करने पर मैंने भी यह अनुभव किया कि मेरा असाधारण किंवा वास्त-विक सच्चा स्वरूप तो अखण्ड एकरस ज्ञान तथा अन्य निरपेक्ष

आनन्द ही है। यों जब मैंने अपने गुरु के अनुभव को, उसके बताये हुए मेरे स्वरूप को, अपने अनुभव के विषय आत्मदेव को तथा अपने अनुभव की वृत्ति को एक ही पाया तो अब मैं उस संदेहरहित आत्मवस्तु का उपदेश तुझे भी करने लगा हूँ। तुम्हें श्रद्धापूर्वक उसका मनन करना चाहिये।

श्रद्धाभक्तिभृतां विशेषविदुषां शिक्षावतां योगिनां
मिथ्यावस्तुनि वस्तुतां विजहतां त्यागे गते गाढताम्।
सत्ये सत्यतया स्फुरत्यविरतं चित्ते चमत्कारिणि
स्वैरं स्फूर्जति निर्विकल्पपरमानन्दस्वरूपो हरिः ॥२॥

जिनमें श्रद्धा और भक्ति है, जो विशेष ज्ञानी हैं, जिन्हें शिक्षा (दीक्षा) मिल चुकी है, जो योगाभ्यास करते हैं, जिन्होंने मिथ्या पदार्थों को सत्य समझना छोड़ दिया है, जिनका त्याग पक चुका है, जिनके चमत्कारी चित्त में सत्य पदार्थ (ब्रह्म) ही सदा सत्य प्रतीत होने लग पड़ा है उनके ऐसे चित्त में निर्विकल्प परमानन्दस्वरूप हरि आकर स्वच्छन्द विहार करने लगते हैं।

जबकि अपने आचार्य तथा वेदान्त वाक्यों में बार बार विश्वास के भाव उदय होते हों, ईश्वर में सर्वोत्कृष्ट अनुराग की भावनायें प्रबल हो उठी हों, कर्म, भक्ति तथा ज्ञान में उत्तरोत्तर की विशेषता का पूरा निश्चय हो चला हो, योगमार्ग में गति हो गई हो, आचार्यों की बतायी पद्धति से सांसारिक मिथ्या द्वैत पदार्थों में से सत्यभावना का समूल नाश होने लगा हो, जगत् के असत्य (अस्थायी) पदार्थों का (मिथ्यात्वनिश्चयरूपी) त्याग अत्यन्त दृढ होगया हो, (योगाभ्यासी लोगों के) आत्म-स्फूर्त्तिरूपी चमत्कारवाले चित्त में स्पष्टरूप से जबकि सत्य आत्म-

पदार्थ ही सदा सत्य प्रतीत होने लगा हो तो फिर सर्वाधिक आनन्दस्वरूप अद्वैतानन्दरूप हरि अपनी इच्छा से ही उस पवित्र अन्तःकरण में प्रकाशित हो उठता है ।

तृष्णां संहर संहरेन्द्रियचयं संहृत्य सर्वाः क्रिया-
श्चेतः संहर संहरान्यधिषणां खादप्यणु स्त्वंभव
अन्तः संप्रविशात्मधामनि मनागासादिते तत्पदे
सर्वाज्ञानकपाटभञ्जनपटु र्भावः स्थिरः स्थास्यति ॥३॥

पहले तृष्णा का संहार करो, फिर इन्द्रियों की टोली को वश में करो जब बाह्य व्यापार सब बन्द हो जायँ तो मन को भी रोको, अन्य की भावना उत्पन्न होती हो तो उसे भी रोको यों तुम आकाश से भी सूक्ष्म हो रहो और इस प्रकार पतले पड़कर अन्दर आत्मधाम में घुस बैठो जब वह धाम तुम्हें जरा भी दीख पड़ेगा तो तुम्हारे अन्दर एक ऐसा पवित्र भाव स्थिर हो जायगा जो कि तुम्हारे समस्त अज्ञानरूपी किवाड़ों को तोड़ मोड़ कर ही छोड़ेगा ।

हे शिष्य ! पहले तो तुम इस तृष्णा को रोको, अपनी दशों इन्द्रियों को अपने अधिकार में रक्खो और इन्द्रियों के सम्पूर्ण व्यापारों को रोककर इस मन को भी व्यर्थ मनोराज्य मत करने दो। (इस मन को प्रारब्ध भोग के उपयोगी विचार के लिये कभी थोड़ा सा सोच लेने देना इस मार्ग का विरोधी नहीं है)। उसके अनन्तर इस सकल जगत् (द्वैत) के विचारों का भी संहार कर डालो और अन्त में तो आकाश से भी सूक्ष्म बन बैठो......।

(जब तुम संकल्प को भी छोड़ दोगे तो आकाश से भी सूक्ष्म

हो सकोगे) उसके पश्चात् तो कुछ संकल्प न करने से ही काम न चलेगा। ऐसी सिद्धि तो पत्थर आदि अचेतनों को भी प्राप्त रहती है किन्तु अभेद भावना को लेकर अपने आत्मधाम में बेधड़क होकर प्रवेश कर जाओ...। तब तुम्हारे अभ्यास का प्रारम्भकाल होने के कारण तुम्हें उस परम पद का थोड़ा सा दर्शन मिलेगा, परन्तु उस थोड़े से दर्शन का भी इतना अद्भुत प्रभाव होगा कि एक ऐसा भाव तुम्हारे अन्दर सदा के लिये ठहर जायगा कि जिसके अमित पराक्रम से आत्मदर्शन में रुकावट डालने वाले अनादिकाल के अज्ञानरूपी किवाड़ स्वयमेव खुल पड़ेंगे।

> किं मां पृच्छसि सादरेण मनसा साधो समाधिक्रमं
> नूनं निर्गतमेव मोहतिमिरं जातः प्रकाशो महान्।
> आत्मस्नेहघनां दशामुपगते बोधप्रदीपे मयि,
> द्रागुड्डीय पतन्ति वृत्तिनिवहा नष्टुं पतङ्गा इव ॥४॥

हे साधो ! तुम इतने अधिक आदर से मुझसे समाधि का क्रम क्यों पूछते हो। देखो मेरे अन्दर जब से बोधदीपक जला है और उसे आत्मस्नेह घनी दशा मिली है तब से मेरा मोहान्धकार तो भाग गया और प्रकाश ही प्रकाश सर्वत्र फैल गया है। अब तो वृत्तियों के झुण्ड के झुण्ड दीपक पर पतंग की तरह नष्ट होने के लिये मेरे उस बोधदीपक पर आ आकर पड़ रहे हैं।

हे शिष्य ! तुम समाधि की सिद्धि को बड़े आदर से देखते हो। इसीलिये मुझसे भी निर्विकल्प समाधि की प्रक्रिया पूछना चाहते हो। समाधि के लिये मुझे तो कोई भी साधन

करना नहीं पड़ता। वह तो मुझे स्वभाव से ही होती है। ऐसी अवस्था में मैं बताऊँ भी क्या ? बिना किसी साधन के समाधि होने का कारण मैं तुम्हें स्पष्ट समझाये देता हूँ। वैसा तुम करोगे तो तुम्हें भी स्वभाव से समाधि होने लगेगी। उस के लिये किसी साधन की अपेक्षा न रहेगी। ध्यान देकर सुनो जब से मुझे ब्रह्म विद्या का उपदेश हुआ है तभी से मेरा आत्म-विषयक अज्ञानान्धकार तो नष्ट हो ही गया था और मेरे प्रकाश को व्यापक न होने देने वाले सम्पूर्ण आवरण भी नष्ट हो गये। मुझे तो तभी से महान् प्रकाश (आत्मा के विषय का निरावरण [नग्न] ज्ञान) हो गया है। उस प्रकाश में मुझे इतना अधिक प्रेम हो गया है कि मैं दिनरात उसी का दर्शन करने में लवलीन रहता हूँ। इस गहरे आत्मप्रेमरूपी स्नेह (तैल) के कारण मेरा बोधरूपी दीपक सदा ही अखण्ड रीति से जलता रहता है...। जलते हुए दीपक पर जिस प्रकार रात्रि के समय पतङ्ग आ आकर जलते मरते रहते हैं इसी प्रकार उस मेरे बोध-रूपी दीपक पर ये वृत्ति अथवा संकल्पविकल्परूपी पतङ्ग उड़ उड़ कर पड़ते रहते हैं। यह तो उन सब को जला जला कर अकेला शेष रहता चला जाता है...। मैं तो द्रष्टा किंवा साक्षी बनकर यह सब खेल देखा करता हूँ। केवल आत्म-परायण होने मात्र से ही मुझे तो सदा समाधि बनी रहती है। जैसे विधवा स्त्रियें ही तप किया करती हैं इसी प्रकार समाधि का अभ्यास तो केवल उन्हें ही करना पड़ता है जिन्हें आत्मानन्द जैसी पवित्र वस्तु का लाभ नहीं होता, वे मन को रोकने के लिये प्राणायाम तथा अन्य कठिन तपश्चर्या जैसे कठिन उपाय करके जैसे तैसे मूढसमाधि कर लेते हैं वे अपने मन को इस प्रकार

रोकते हैं जैसे कि डण्डे की मार से किसी पशु को सीधा कर लिया जाय। उतने काल तक उन्हें सुख मिल तो जाता है क्योंकि उस समय उनके चित्त का विषय विषय्याकार परिणाम होना बन्द हो जाता है। परन्तु यह सुख वास्तविक सुख नहीं है। जैसे कि रात्रि के समय प्राणी जिन दुःखपरिपूर्ण कामों को छोड़ कर सोता है प्रातःकाल उठकर फिर उनको जैसे का तैसा पाता है इसी प्रकार उस मूढसमाधि से उठने पर उनका संसार वैसा ही बना रहता है। आत्मज्ञान होजाने के कारण जिनका अज्ञान नष्ट हो जाता है। वे तो समाधि से पहले किंवा पीछे अथवा समाधि में एक से ही रहते हैं। उन को फिर किसी प्रकार का विक्षेप नहीं रहता उनके मन को आत्मानन्द का ऐसा लोभ लग जाता है कि फिर वह कभी छूट ही नहीं सकता। इस रीति से मन को वश में करना किंवा समाधि लगाना ऐसा है जैसा कि हरी घास दिखाकर किसी पशु को वश में कर लेना। यदि तुम चाहोगे तो तुम्हें भी इसी प्रकार स्वयमेव सहज समाधि होने लगेगी।

> गाढं वास्तु विलीनमस्तु न घृतं साधो घृतत्वाद्गतं।
> चैतन्यस्य चमत्कृतिः किल तथा चित्तं तदेवाद्वयम्।
> तस्माच्चित्तलयस्य साधनमसौ तत्त्वे तु साक्षात्कृते।
> प्रत्याहारपरिश्रमोपि स मया सन्त्यक्त एवाधुना ॥५॥

घी गाढ़ा हो गया हो अथवा पिघला हुआ हो वह घी ही रहता है (इसी प्रकार असल में तो वही अद्वय सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है। परन्तु) जब उस अद्वय चैतन्य का कहीं विशेष घनीभाव होकर चमत्कृत रूप हो जाता है तो उसे चित्त कहते

लगते हैं परन्तु वह चित्त भी अद्वितीय चैतन्य ही तो होता है क्योंकि अब मुझे इस तत्त्व का साक्षात्कार हो चुका है सो उस घनीभूत चित्त को फिर लय कर(के फिर चैतन्यमात्र शेष रख) ने का योग का बताया हुआ जो प्रत्याहार का परिश्रम है उसे भी मैं अब छोड़ चुका हूँ।

हे साधो! चाहे तो ठण्डक लगने से घी जमकर गाढ़ा हो जाय, अथवा गरमी लगने से पिघल कर पतला हो जाय तो भी वह घृत ही रहता है, जमने किंवा पिघलने से वह कुछ और नहीं हो जाता। जैसे जमे हुए घी को घी ही कहते हैं इसी प्रकार पिघले हुए घी को घी ही कहाजाता है। उसके घृतपने में किसी प्रकार का भेद नहीं आता। इसी प्रकार साधारण चैतन्यस्वरूप आत्मा सर्वत्र विद्यमान है जब उसका घनीभावरूपी चमत्कार हो जाता है तब वह चित्त कहाने लगता है। जमे और पिघले हुए घी की तरह प्रतीति का भेद हो जाने पर भी वही चैतन्य चित्त होगया है यों तत्त्व का साक्षात्कार कर लेने पर अब से मैंने योग की बतायी विधि के अनुसार चित्त के लय के साधन प्रत्याहारों में परिश्रम करना भी निःसंशय होकर छोड़ दिया है। वह तो मेरे लिये अब सर्वथा निष्प्रयोजन सिद्ध हो चुका है। जब कि चित्त भी चैतन्य ही है तो मैं उस बिचारे को क्यों लय करूँ?

जाते विद्वदनुग्रहेण सहजानन्दागमे साधकै-
रौदास्येन यथा यथा परिहृतः कष्टः स योगोद्यमः।
आश्चर्यं न मनीषितापि निबिडा निद्रा यथेयं बला-
दायात्येव तथा तथा मुनिमतो गाढः समाधिक्रमः॥

विद्वान् गुरु के अनुग्रह से जब से स्वाभाविक आनन्द आना

प्रारम्भ हुआ है और साधकों ने उदास होकर जैसे जैसे योग-विषयक परिश्रम को छोड़ा है तैसे तैसे आश्चर्य की बात देखो कि:—न चाही हुई गाढ निद्रा के समान बलात् ही मुनियों की प्यारी गहरी समाधि होने लग पड़ी है।

जब कि हम साधकों पर आत्मसाक्षात्कार करने वाले आचार्य लोगों ने कृपा की तथा स्वाभाविक आनन्द की प्राप्ति होने लगी तो अवस्था बिलकुल बदल गयी—साधकावस्था में पहले हम लोग योगशास्त्र की बताई विधि से लोहकार की भस्त्रा (धौंकनी) की तरह जो श्वासों को खैंचते फैंकते रहते थे, किंवा प्रत्याहारादि अनेक कष्टसाध्य परिश्रमों में अपना अमूल्य समय काटा करते थे, अब इन सब की तरफ़ से उदासीन होकर धीरे २ जितना २ उधर का उद्यम छोड़ते जाते हैं, उसी प्रमाण से इच्छा के न रहने पर भी बलात् आई हुई गहरी नींद की तरह वह निरोध नाम की गहरी समाधि बिना ही किसी प्रयत्न किये ज़बरदस्ती सी करती हुई उमड़ी पड़ती है इस समाधि का व्यास आदि मुनि बड़ी चाह से आदर करते थे। बिना साधनों की ऐसी अपूर्व अवस्था प्राप्त हो जाने में आश्चर्य ही क्या है। जैसे निद्रा को कोई चाहता नहीं किन्तु वह न चाहने पर भी स्वभाव से और ज़बरदस्ती आती है इसी प्रकार आत्मज्ञान हो जाने पर कोई चाहे या न चाहे फिर भी यह समाधि स्वभाव से और ज़बरदस्ती आती ही है।

ब्रह्मज्ञानियों को ही नहीं, लौकिक लोगों को भी ये समाधियाँ स्वभाव से नित्य प्राप्त होती रहती हैं। जब कि हम अपनी वृद्धावस्था तक तीव्र अभिलाषा के साथ सन्तान के लिये अनेक

उपाय करके सर्वथा निराश हो चुके हों और तब यदि अचानक ही पुत्रजन्म का सुसमाचार सुनाई पड़े तो उस समय प्रत्येक मनुष्य को समाधि होगी। जब हम बेधड़क होकर किसी मार्ग से जा रहे हों तब यदि अचानक किसी अत्यन्त गहरे गर्त्त में गिरने लगें या कोई अत्यन्त भयंकर हिंसक जन्तु दीख पड़े जिस का हम कुछ प्रतिकार न कर सकें तब चित्त में जो स्थिति उत्पन्न होती है वह भी समाधि कहायेगी। अत्यन्त हर्ष का किंवा अत्यन्त विषाद का समाचार सुन पड़े तो भी मन निर्विकल्प समाधि में पहुँच जायगा। कई बार तो इतनी गहरी अवस्था आ जाती है कि अत्यन्त हर्ष का समाचार सुनते ही एक दम प्राण चलने बन्द हो जाते हैं और मृत्यु तक हो जाती है। इसके अनेक उदाहरण लोक में सुनने में आते हैं। इस पर यदि यह प्रश्न किया जाय कि फिर ऐसी पवित्र अवस्था को पाकर भी ये सब लोग कृतकृत्य क्यों नहीं हो गये तो सुनो कि—यही अवस्था यदि उन्हें ज्ञानपूर्वक होती तो वस्तुतः ये लोग कभी मुक्त हो गये होते। यदि तुम एक बहुमूल्य रत्न को काच समझकर अपने घर में रख लो तो उससे तुम्हारी दरिद्रता नष्ट नहीं होगी। केवल ज्ञानपूर्वक रखा हुआ रत्न ही तुम्हारी दरिद्रता को नष्ट करके तुम्हें कोटिद्रव्याधीश बना सकता है। ठीक यही बात इस समाधि के विषय में भी है।

जानने योग्य बात इतनी ही है कि संसार के सम्पूर्ण आनन्द तो इसी आत्मानन्दरूपी समुद्र की छींटें हैं। जब कोई विषय-रूपी ढेला उसमें फेंका जाता है तो एकाध छींट उछल पड़ती है, परन्तु जैसे छींट समुद्र से पृथक् नहीं, वह कुछ ऊँचे उछलकर

फिर समुद्र में ही जा पड़ती है उसी प्रकार ये विषयानन्द भी आत्मानन्द से पृथक् कोई चीज़ नहीं है। ये भी उसी आत्मानन्द समुद्र में लीन हो जाया करते हैं। धोका यह होता है कि आत्मा के आनन्द को तो भूल डाला जाता है और विषयों में ही आनन्द मान लिया जाता है। कस्तूरीमृग जैसे अपनी नाभि के सुगन्ध को जगह जगह तलाश करता फिरता है और अन्त में दौड़ता दौड़ता मर जाता है, ठीक इसी प्रकार अज्ञानी जीव आनन्द की तलाश में बाहर निकल कर (बहिर्मुख होकर) विषयरूपी बाघिनों की भाटों में उस अपने आनन्द को तलाश करता फिरता है और उन्हीं से मार डाला जाता है। दैववश जब कभी उसे कोई विषय प्राप्त हो जाता है तब उसकी बुद्धि आत्मा में जाकर शान्त हो जाती है, तो क्षणभर आत्मानन्द का भोग ले लेती है। परन्तु 'विषयों में ही आनन्द है' ऐसी जो एक भ्रान्ति उसे बनी रहती है उसी के कारण फिर दूसरे आनन्द को पाने के हेतु दूसरे विषयों की तलाश के लिये फिर फिर बाहर निकलना पड़ जाता है। किसी के समझने किंवा न समझने से किसी पदार्थ का स्वरूप नहीं बदल जाता। भला कहीं कस्तूरीमृग के अपने उस गन्ध को बाहर से आनेवाला समझने से वह सुगन्ध बाहर का हो जाता है। इसी प्रकार आनन्द को विषयों से आनेवाला समझने पर क्या वह आनन्द सचमुच विषयों में से ही आने लगता है? नहीं, नहीं, उसका आदि स्रोत तो उसका अपना आत्मा ही है। जिन पुरुषों की यह भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है, वे तो सदा ही उस आनन्दसमुद्र का भोग लेते हैं, जिसको कि विषयी आदमी सैंकड़ों प्रयत्न करके, प्राणान्त विपत्तियाँ उठाकर, हज़ारों पापों की गठरी बांध कर

भी क्षणभर के लिये ही भोग पाता है। इस भ्रान्ति का रहस्य तो यह है—१. प्रथम हमें विषय प्राप्त होता है। २. दूसरे उसकी प्राप्ति होने पर हमारा चित्त अन्तर्मुख होता है। ३. तीसरे अन्तर्मुख होने के कारण उस शुद्ध चित्त में आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। बस यही आनन्द है। अविचारी मूर्ख लोग तो विषय का प्राप्त होना और आनन्द का मिलना इन पहली और तीसरी अवस्था पर ही विचार करते हैं। "विषय के प्राप्त होने से चित्त का अन्तर्मुख होना" इस दूसरे परिवर्तन का तो उन्हें पता ही नहीं रहता। यदि उन्हें इस दूसरी अवस्था की प्रतीति हो जाती कि बीच में चित्त के अन्तर्मुख होने की भी एक अवस्था आती है तो उन्हें यह रहस्य भी सहज ही खुल जाता कि इच्छारहित या अन्तर्मुख मन ही आनन्द दिला सकता है। फिर चाहे उस अन्तःकरण को उसकी इच्छा पूरी करके अन्तर्मुख किया जाय अथवा ज्ञान के सहारे से इच्छाओं को त्याग कर अन्तर्मुख कर डाला जाय। जिन लोगों को इस दूसरी अवस्था का ज्ञान हो जाता है, जो लोग आनन्द के आदिम स्रोत को पहचान जाते हैं, वे फिर धीरे धीरे अपनी सामर्थ्य के अनुसार विषयभूमियों में से हटते हटते आत्मानन्दरूपी समुद्र में रात दिन डूबे रहने लगते हैं। इस रहस्य के हाथ लगने से फिर उनका मन कभी भी संसार की तरफ़ को नहीं चलता। क्योंकि कोई भी मनुष्य चक्रवर्त्ती राजा बनकर भीख मांगना पसन्द नहीं करता। यों उनको स्वभाव से समाधि रहने लगती है। जिस समाधि के लिये दूसरे योगियों को बड़े बड़े व्यायाम करने पड़ते हैं ज्ञान की महिमा से वह समाधि नींद की तरह स्वयं ही आती है और साधक को तन्मय करके छोड़ती है।

ध्यानामृतार्णवनिमग्नसमस्तमूर्त्या ।
तन्व्या धिया निगमिते निगमान्ततत्त्वे ।
आलोकितेष्वथ तटस्थधियाऽखिलेषु ।
भावेषु बोधघनता सहजा भ्युपैति ॥७॥

आत्मविषयक चिन्तन में मानों साक्षात् अमृत के सागर में ही सम्पूर्णतया डूबी हुई सूक्ष्म बुद्धि से जब उपनिषदों में प्रतिपादित आत्मतत्व के दर्शन मिल जाते हैं, और संसार के पदार्थ तटस्थ बुद्धि से देखे जाने लगते हैं तब कहीं जाकर स्वाभाविक बोधघनता प्राप्त होती है ।

जब अनात्मविषयों का चिन्तन कभी भी उत्पन्न न हो और धाराप्रवाहरूप से आत्मचिन्तन का प्रवाह बहने लगे तो उसे साक्षात् अमृत ही कहना चाहिये । उसे ही अगाध और अनन्त होने से समुद्र की उपमा दी जा सकती है । उस ध्याना-मृतरूपी समुद्र में डूबकर अन्दर बाहर ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण होजाने के कारण ही अतिसूक्ष्म बनी हुई वह बुद्धि जब एक ऐसे तत्व का दर्शन कराती है कि जिसको बड़ी उत्सुकता से वेदान्तों ने प्रतिपादन किया है, उसके दर्शन मिलते ही उस विद्वान् की अवस्था में आकाश पाताल का अन्तर हो जाता है । जिस प्रकार नदी के किनारे पर खड़ा हुआ पुरुष नदी में बहते हुए पदार्थों को निर्भय निर्मोह तथा निःसङ्कल्प होकर देखता रहता है, इसी प्रकार वह आत्मदर्शी भी इस मायानदी के तीर पर साक्षिभाव से खड़ा हो जाता है और इस माया-नदी में बहनेवाले समस्त पदार्थों को निःसङ्कल्प होकर देखा

करता है। इस अवस्था के प्राप्त होते ही प्रपंच का ध्यान न रहने के कारण स्वाभाविक बोधरूपता प्राप्त हो ही जाती है।

अथवा जैसे नदी पर खड़े पुरुष को नदी के तीर पर खड़ा हुआ एक ही पेड़ प्रतिविम्ब के कारण दो सा मालूम होता है परन्तु वह जल में प्रतिबिम्बित उस दूसरे वृक्ष को कल्पित समझ लेता है, इसी प्रकार अनेक रूप से प्रतीत होनेवाले आत्मा के विषय में एकत्वनिश्चय कर लेता है तो फिर चिन्तन का कोई भी विषय न रहने से, स्वाभाविक बोधरूपता प्राप्त हो जाती है अर्थात् निर्विकल्प समाधि होने लगती है। यदि इस रीति से तटस्थ वनकर तुम भी आत्मचिन्तन करोगे तो तुम्हें भी स्वभाव से ही समाधि होने लगेगी।

एषा मधुमती विद्या सर्वत्र मधुदर्शनात्।
स्वशरीरार्कवृक्षेपि दृष्टं यत्पुष्कलं मधु ॥८॥

यह सहज समाधि ही मधुमती विद्या है क्योंकि इसके अपूर्व प्रभाव से सब जगह मधु ही मधु दीखने लगता है और तो क्या इस शरीररूपी अर्कवृक्ष में भी मधु के समान ब्रह्मसुख वड़ी भारी मात्रा में दीखने लग पड़ता है।

ऊपर बतायी विधि से जब स्वाभाविक समाधि होने लगे तो उसे ही 'मधुमती' नामक विद्या जानना चाहिये। क्योंकि इसके अप्रतिम प्रभाव से संसार के सकल पदार्थों में मधु के समान ब्रह्मसुख के साक्षात् दर्शन मिलने लगते हैं। और तो क्या प्रतिक्षण सड़ने गलनेवाले दुःखदायी और मृत्यु के विशेष प्रीतिपात्र इस प्रतिक्षण परिणामी देह में भी अत्यन्त तृप्तिकारक ब्रह्मसुख का अनुभव प्राप्त हो जाता है। सचमुच तब तो यह कहावत ही

ठीक माल्म होने लगती है कि यदि अर्कवृक्ष में ही मधु मिल जाय तो मधु लेने पर्वत पर जाने का कष्ट क्यों उठाया जाय। यह अत्यन्त निकृष्ट मनुष्यदेह ही अर्कवृक्ष के समान है। जैसे अर्कवृक्ष किसी उपयोग में नहीं आता इसी प्रकार इस देह का भी कुछ उपयोग नहीं है। यह तो जन्ममृत्यु के चक्कर में पड़ा हुआ घूमा करता है, एक पलक मारते ही नष्ट हो जाता है, अग्नि में रक्खा जाय तो भस्म ही हो जाय और यदि कोई खा डाले तो इसकी विष्ठा ही बन जाय, यदि कहीं वैसे ही पड़ा रह जाय तो सैकड़ों कीड़ों को पैदा करदे, और किसी को इसके पास होकर चलना भी असह्य हो जाय, ऐसा तो निरर्थक यह शरीर है, इसमें भी यदि किसी को अपने साक्षित्व का ज्ञान होकर आत्मदर्शन होने लगे तो उसे कृतकृत्य ही कहना चाहिये। तब तो यही कहा जायगा कि उसे तो अर्कवृक्ष में ही मधु मिल गया। इसी कारण से इस विद्या को 'मधुमती' विद्या कहा गया है।

मधुवाता ऋताय ते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः,
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः, मधु नक्तमुतोषसि,
मधुमत्पार्थिवं रजः, मधु द्यौरस्तु नः पिता,
मधुमान्नो वनस्पति, र्मधुमानस्तु सूर्यः,
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥

यह मन्त्र भी मधुविद्या का ही प्रतिपादन करनेवाला है। इसका तात्पर्य यह है कि—इस हमारे व्यष्टि शरीर के प्राण आदि वायु तथा विराट् शरीर के आवह प्रवह आदि वायु हमें ब्रह्म-दर्शन कराने में सहायता दें। शरीर के अन्दर या बाहर के पृथ्वी-

कृत तथा अपञ्चीकृत दोनों प्रकार के जल हमारे लिये ब्रह्मसुख की वर्षा करें। जौ, गेहूँ आदि ओषधियें भी हमें ब्रह्मसुख को देनेवाली हों अर्थात् ब्रह्मसुख पाने के लिये श्रवण मनन तथा निदिध्यासन करने के प्रयोजन से जब तक इस शरीर के जीवित रहने की आवश्यकता है तब तक निर्विघ्नरूप से ये ओषधियें हमें खाने को मिलती रहें। यह रात्रि भी हमारे आत्मविचार की सहायक होकर ब्रह्मसुख की प्राप्ति का साधन बन जाय। उषःकाल में भी हमें ब्रह्मसुख की स्फूर्ति होती रहे (ऐसी अनुकूल परिस्थिति रहे कि हमें उषःकाल में निश्चिन्त होकर ब्रह्मसुख की स्फूर्ति रह सके)। जिस पृथिवी पर हम रहते हैं उस पृथिवी का एक एक कण किंवा उनके बने हुए समस्त पदार्थ और यह सब पृथिवी भी हमारे लिये ब्रह्मसुख वाली हो (अर्थात् ब्रह्मसुख के भान का साधन बन जाय)। वर्षा आदि के द्वारा सब जगत् का पालक यह द्युलोक तथा आकाश और अन्तरिक्ष आदि भी हमें ब्रह्मसुख को पहचानने में सहायता देते रहें। वट आदि वनस्पति तथा उन सबका अधिपति चन्द्रमा भी हमें ब्रह्मसुख का ज्ञान करानेवाला हो। सूर्य भी हमें ब्रह्मसुख को देने वाला हो। गौवें, वाणियें, इन्द्रियें, बुद्धियें, यज्ञ तथा दिशायें आदि सब ही कुछ हमारे लिये ब्रह्मसुखानुभव करने में अनुकूल हो जायँ। ऐसी कोई भी चीज न रहे जो हमारे पास तक ब्रह्मसुख का समाचार न लाती हो, संसार के प्रत्येक पदार्थ हमें ब्रह्मसुख की स्फूर्ति करानेवाले हो जायँ।

विष्णोर्मे दर्शनं भूयादेवमासीन्मनोरथः।
इदानीं कृपया विष्णोः सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥९॥

पहले मैं यह चाहा करता था कि किसी प्रकार विष्णु के दर्शन हों, अब तो विष्णु की कृपा से यह सब जगत् ही विष्णु-मय प्रतीत होने लग पड़ा है।

विद्वत्प्रभावनवकम्

अभावो यत्र भावानां स भावो यत्र वर्णितः।
स्वभावसुखदं तात प्रभावनवकं शृणु ॥१॥

जिस अपूर्व भाव के उदय हो जाने पर जगत् के सकल पदार्थ नहीं रहते, उस (सच्चिदानन्दरूप) भाव का जिस प्रकरण में वर्णन किया गया है अब तुम स्वरूपसुख को देने तथा विद्वन्महिमा के वर्णन करने वाले उन नौ श्लोकों को सुन लो।

अयं विहाय कामादीन् क्षुद्रान् दूरगतो मुनिः।
पश्यत्यपि कदाचित्तान् न चैनं प्राप्नुवन्ति ते ॥२॥

यह मुनि क्षुद्र कामादियों को पीछे छोड़कर बहुत दूर निकल चुका है यद्यपि यह कभी कभी इन्हें पीछे को मुंह फेर कर देख तो लेता है परन्तु ये कामादि अब उसे नहीं पा सकते (ये उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। अब इनका उस ज्ञानी पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता)।

यदि उस ज्ञानी को उसके प्रारब्ध भोगों के कारण काम-क्रोधादि उत्पन्न हो जायँ तथा कामक्रोधादि के विषयों की प्रतीति भी होने लगे, परन्तु वे कामादि किसी प्रकार भी उस ज्ञानी से सम्बद्ध नहीं हो सकते—क्योंकि कामादि एक प्रकार के विकार हैं वह ज्ञानी तो निर्विकार सच्चिदानन्दरूप हो चुका है यदि किसी प्रकार व्यावहारिक सम्बन्ध हो भी जाय तो भी प्रकाश और अन्धकार के समान विरुद्ध स्वभाव होने से पार-

मार्थिक सम्बन्ध होना कभी भी सम्भव नहीं होता। वह ज्ञानी तो इन क्षुद्र कामादि मायिक पदार्थों की स्वरूपस्थिति (असलियत) को पहचान कर इनसे पृथक् हो बैठा है। जैसे कि इन्द्रजाल (बाज़ीगरी) का खेल देखनेवाले लोग चाहे अपना धनव्यय करके ही उसे देखें परन्तु उस खेल की हिंसाप्रतिहिंसाओं से वे सुखी किंवा दुःखी नहीं होते किन्तु निर्लेप और तटस्थ होकर देखते रहते हैं। वे देखने से पहले ही उसे मिथ्या समझ चुकते हैं। ठीक यही अवस्था ज्ञानी की रहती है। वह भी भोगने के पहले ही इन मायिक पदार्थों को अवस्तु समझ लेता है। बस फिर कभी खाते-पीते, खेलते-कूदते, स्त्रियों से रमण करते, रथों में यात्रा करते, कुटुम्बीजनों से बातचीत करते किसी भी अवस्था में उनमें लिप्त नहीं होता। जैसे आकाश जल से गीला नहीं होता तथा वायु से शुष्क नहीं होता वैसे ही ये ज्ञानी लोग संसार के सुखदुःखों से लिप्त नहीं होते। चकोर पक्षी जिस प्रकार दहकते हुए अङ्गारों को खा जाता है और उसका मुँह नहीं जलता इसी प्रकार इन कामादि विकारों से उसके मानस में दाह और अशांति उत्पन्न नहीं होती। इस समस्त त्रिभुवन में भी जिन कामादियों का मुक़ाबला करनेवाले नहीं मिलते वे ही कामादि इस आत्मदर्शी विद्वान् के सामने मध्यान्ह काल में सूर्य के सम्मुख जलते हुए दीपक की तरह सर्वथा हतवीर्य हो जाते हैं। वे इसका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाते। बाली जिस प्रकार अपने सामने आये शत्रु का आधा बल खींच लेता था और उसे परास्त कर देता था उसी प्रकार यह ज्ञानी भी उन कामादियों में से आत्मसत्तारूपी बल को खेंच कर उन्हें निस्तेज कर डालता है। वर्षा और धूप जिस प्रकार चमड़े पर ही अपना प्रभाव रखते

हैं आकाश का उनसे कुछ भी नहीं बिगड़ता इसी प्रकार ये कामादि तो चमड़े के साथ तादात्म्य रखनेवाले अज्ञानी लोगों को ही कठपुतली की तरह नचाया करते हैं। ज्ञानी विद्वानों पर तो इनका प्रभाव कभी नहीं पड़ता।

न यान्ति नूनं तज्ज्ञस्य सम्मुखे द्वैतदृष्टयः।
दुष्टा दुष्टतया ज्ञाता दर्शयन्ति मुखं कथम् ॥३॥

ये द्वैतजगद्विषयक विचार आत्मस्वरूप को जाननेवाले विद्वान् के सम्मुख कभी नहीं जाते। दुष्टों को जब यह समझ लिया जाता है कि ये दुष्ट हैं तो वे फिर अपना मुँह (उस जानने वाले को) कैसे दिखायें। (विषयों के असत्यत्व दुःखदातृत्व तथा परिणामित्व आदि दोष ज्ञानी को दीख जाते हैं) वह इनमें नहीं उलझता।

माया मायेति विज्ञाता सर्वाकारविकारिणी।
गता कुत्राप्यनावृत्त्यै संस्थितो निर्मलो मुनिः ॥४॥

यह सकल जगद्रूप ही जिसका विकार है उस माया को जब माया समझ लिया जाता है तो फिर वह माया कहीं ऐसी जगह जा छिपती है कि फिर नहीं लौटती। फिर यह होता है कि वह मुनि तो निर्मल शेष रह जाता है।

वह मुनि माया, अविद्या आदि से रहित होकर स्वरूप में स्थित हो जाता है। लोक में भी देखते हैं कि जिस स्त्री की दुष्टता किंवा मिथ्याचार का भेद खुल जाता है फिर वह लज्जा से कभी भी सामने नहीं पड़ती और विष आदि खाकर मर भी जाती है।

निर्जिता विषया नूनं चपेटाभिश्च ताडिताः ।
नोपसर्पन्ति ते तस्माद् स्मानेष हनिष्यति ॥५॥

जब कोई मुनि (शब्दस्पर्शादि) विषयों को जीत लेता है और उन्हें दोषदर्शनरूपी थप्पड़ों से दंड दे देता है तो फिर वे 'यह तो हमें जान से ही मार डालेगा' ऐसा विचार कर उसके पास तक नहीं फटकते (उसके हृदयभवन में नहीं घुसते)।

तृष्णां विहाय तुच्छेभ्यो मुनि निःशल्यतां गतः ।
स्वरसायनतृप्तात्मा दिनानुदिनमेधते ॥६॥

तुच्छ विषयों की तृष्णा को छोड़कर वह मुनि निःशल्य हो गया (उसने अपने हृदय में छुपे हुए तृष्णाशल्य को निकाल दिया) अब तो वह आत्मरसायन के पान से तृप्त होकर दिन प्रतिदिन वृद्धि कर रहा है।

अब तो यह मुनि तुच्छ विषयों की तृष्णा किंवा विषयवासनाओं को छोड़कर जो कि उसके अन्तःकरण में शल्य की तरह दुःखदायी हो रही थीं, निःशल्य हो गया, वह अमृत के समान आत्मरसायन (आत्मरस की प्राप्ति की साधन, अखण्डाकारवृत्ति) के पान से तृप्त होकर, (अथवा मनुष्यसुख से लेकर हैरण्यगर्भसुखपर्यन्त समस्त वैषयिक सुखों के आश्रय आत्मा के दर्शन से ही तृप्त होकर) प्रतिदिन और प्रतिक्षण स्वानुभव की ओर बढ़ता जा रहा है। (अब उसके हृदय में गड़े हुए तृष्णाशल्य का घाव भी भर रहा है)। अर्थात् तुच्छ विषयों की तृष्णा ही एक प्रकार का दुःखदायी शल्य है, उसको जब यह ज्ञानी छोड़ देता है तो तुरन्त आत्मानुभव होने लगता है। आत्मानुभव होते ही उसे नित्यतृप्ति रहने लगती है, उसके

प्रभाव से इस ज्ञानी को प्रत्येक उत्तर क्षण में स्वरूप में अधिकाधिक स्थिरता रहने लगती किंवा लम्बी समाधि होने लगती है। बस यही ज्ञानी का प्रभाव है।

पूर्वां मां वल्लभां त्यक्त्वा रमते विद्ययाऽधुना।
इत्यविद्या लज्जितेव नायाति मम संमुखम् ॥७॥

'मुझ पहली प्यारी स्त्री को छोड़ कर विद्यानामक दूसरी स्त्री से रमण कर रहा है' इसलिये मानो लज्जित सी हुई वह अविद्या अब मेरे सम्मुख नहीं आती।

ब्रह्म वक्तुं न जानाति यथात्यन्तजडो जनः।
तथैवात्यन्तबोधात्मा ब्रह्म वक्तुं न बुध्यते ॥८॥

जिस प्रकार अत्यन्त मूर्ख मनुष्य ब्रह्म का वर्णन करना नहीं जानता, ठीक इसी प्रकार अत्यन्त ज्ञानी भी (वाणी से) ब्रह्म का वर्णन नहीं कर सकता।

जिस प्रकार अत्यन्त मूर्ख मनुष्य सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन करना नहीं जानता इसी प्रकार जिसने अपने आपको ब्रह्माभिन्न जान लिया, जिसका चित्त आत्माकार में परिणत हो चुका वह भी आत्मा का वचनों के द्वारा प्रतिपादन नहीं कर सकता। 'अवचनेनैव प्रोवाच, स ह तूष्णीं बभूव, ब्रवीमि तु सोम्य त्वं तु न विजानासि उपशान्तोयमात्मा।' उसने बिना बोले अपने ज्ञानप्रभाव से आत्मा का वर्णन कर दिया। वह ब्रह्म का वर्णन करने के लिये चुपचाप होगया। हे सोम्य! हम उस आत्मा का वर्णन मौन की भाषा में कर तो रहे हैं परन्तु तुम उसे समझ नहीं रहे हो। देखो, वह आत्मा शान्त है। उसका मौन जैसी शान्त भाषा में ही वर्णन किया जा सकता है।

यदि अशान्त वाणी का आश्रय लिया जायगा तो शान्त ब्रह्म का वर्णन नहीं हो सकेगा, वाणी तो अशान्त तथा विषम पदार्थों का ही वर्णन कर सकती है। यदि आत्मा का जन्म मान लें और उसका नामकरण करना चाहें तो 'मौन' ही उसका राशिनाम निकलेगा, ऐसी परिस्थिति में ज्ञानी से भी आत्मा का वर्णन नहीं हो सकता।

अज्ञानी और ज्ञानी दोनों ही वाणी से ब्रह्म का वर्णन नहीं करते, परन्तु ज्ञानी में चुप रह कर भी ब्रह्म के वर्णन करने का सामर्थ्य रहता है वह तो अपने प्रभाव से ही वाणी के अगोचर ब्रह्म का निरूपण कर सकता है।

नून मालस्यदोषो हि शक्रस्यापि श्रियं हरेत्।
यथा यथालसो ज्ञानी वर्धतेऽसौ तथा तथा ॥९॥

यह आलस्य इन्द्र की भी सम्पत्ति को नष्ट कर डालता है। परन्तु ज्ञानी ज्यों ज्यों आलसी होता जाता है त्यों त्यों बढ़ने लगता है। अधिकाधिक स्वरूप में स्थित होने लगता है।

ज्ञानियों को जो कुछ प्राप्तव्य था सो प्राप्त हो चुका क्योंकि उन्हें उस आत्मदेव के दर्शन हो चुके उन्हें अब कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा। अव वे जितने अधिक आलसी बनेंगे उतनी ही उन्हें सहजसमाधि होगी, द्वैत में अरुचि होगी, द्वैत की विस्मृति होगी, और अन्ततः आत्मस्थिति में वृद्धि होने लगेगी। इस प्रकार अज्ञानियों के कार्यों का विघातक वह आलस्य भी ज्ञानियों के कार्यों का साधक बन जाता है। यह सब ज्ञानियों का प्रताप ही तो है।

न शक्यं वक्तुमेवेदं तथापि कृपया तव।
कयाचित्कलया वत्स निर्वाणदशकं ब्रुवे ॥१॥

हे शिष्य, निर्वाण अर्थात् अखण्डचिन्मात्र का निरूपण करनेवाले जिस दशश्लोकी प्रकरण का मैं वर्णन करना चाहता हूँ, यद्यपि उसका वर्णन करने का सामर्थ्य वाणी में नहीं है, (क्योंकि मनुष्यों की क्षुद्र भाषा निर्वाण के भारी बोझ को नहीं सँभाल सकती)। तो भी तुझे साधनसंपन्न अधिकारी देख-कर जो मेरे अन्दर दया उत्पन्न हुई है केवल उसके वशंवद होकर किसी आत्मसाक्षात्कारवृत्तिरूपी कला (युक्ति) से मैं इस निर्वाणदशक का वर्णन करूँगा ही। (तुम अत्यन्त सावधान होकर उसे सुनो!)

मोहनिद्रा न तत्रास्ति तेनायं जागरो महान्।
भावाद्यो न भासन्ते तेनायं नैव जागरः ॥२॥

उस निर्वाणस्वरूप आत्मा में मोहरूपी निद्रा नहीं है इस लिये यह एक महान् जागरण है। परन्तु इसे जागरण भी कैसे कहें! क्योंकि इसमें घटादि पदार्थ तो प्रतीत ही नहीं होते।

हे शिष्य, उस निर्वाणरूप आत्मा के स्वरूप को प्रकट न होने देने वाली मोहरूपी निद्रा कभी नहीं आती, इसलिये इस आत्मप्रकाश को एक प्रकार का लम्बा जागरण कहना चाहिये। लौकिक जागरण के बीच में जैसे निद्रा आ जाती है और उसे खण्डित करती रहती है वैसे मोहरूपी निद्रा से इस जागरण के कभी भी खण्ड नहीं होते। हां, एक बात तो है कि इस निर्वाण आत्मस्वरूप के प्राप्त हो जाने पर लौकिक जागरण की तरह

घटादि पदार्थ तथा उनके अभावों की प्रतीति नहीं रहती, इस लिये तो इस आत्मप्रकाश का निरूपण करने के लिये जागरण शब्द पर्याप्त (काफ़ी) नहीं है—अर्थात् जागरण शब्द इस परमपावनी अवस्था का पूरा अनुवाद नहीं करता है। तात्पर्य यह है कि जिस अवस्था के आने पर फिर कभी अज्ञान का उदय न हो तथा सांसारिक पदार्थों की प्रतीति न हो वैसी अवस्था का वर्णन करने वाला कोई भी एक शब्द मानवी भाषा ने आज तक निर्माण नहीं कर पाया है। क्योंकि मनुष्यभाषा को ऐसे शब्द की कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ी थी। इसी लिये उस अवस्था का साक्षात् वर्णन किसी भी वाचक शब्द से करना असम्भव ही है।

अपूर्वं भासते वस्तु तेन स्वप्नोयमुत्तमः।
दृश्यं न भासते तत्र तेन स्वप्नो न चैव सः॥३॥

उस निर्वाण आत्मस्वरूप के प्राप्त होने पर एक अदृष्टपूर्व (चमत्कारी) पदार्थ के दर्शन मिल जाते हैं इसी से हम उस (आत्मदर्शन) को एक उत्तम स्वप्न कहते हैं परन्तु उसे स्वप्न कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि उस आत्मप्रकाश के हो जाने पर (लौकिक स्वप्न की तरह) किसी भी दृश्य का भान नहीं रह जाता।

अभावात्सर्वभावानां सुषुप्तिः सुखरूपिणी।
न जाड्यं न तमस्तत्र सुषुप्तिरपि नैव सा॥४॥

उस अवस्था के आने पर सर्व पदार्थों का अभाव हो जाता है इसलिये सुखरूप होने से उसे एक प्रकार की सुषुप्ति कहा

जा सकता है। परन्तु उस समय जडता और अन्धकार दोनों ही नहीं रहते इसलिये उसे सुषुप्ति कहना भी तो ठीक नहीं है।

उस निर्वाणरूप आत्मा में नामरूपात्मक घटादि पदार्थ नहीं रहते इसीलिये वह अवस्था सुखस्वरूप हो जाती है और यों उसे सुषुप्ति कह सकते हैं। परन्तु उसे सुषुप्ति कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि उस आत्मप्रकाश में जडता किंवा अज्ञान नहीं होता जडता न होने से ही आवरणस्वरूप तमोगुण भी नहीं रहता। वह आत्मस्थिति ऐसी ही कुछ अद्भुत है कि कोई भी शब्द उस के व्रर्णन करने के लिये पूरा नहीं उतरता।

अवस्थात्रयनिर्मुक्तं तुरीयमिति कीर्तितम्।
नैवैकद्वित्रिविज्ञानं तुरीयं किमपेक्षया ॥५॥

जो जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं से रहित हो उसे 'तुरीय' कहा जाता है परन्तु जब एकत्व, द्वित्व तथा त्रित्व का ज्ञान ही न हो तो बताओ कि तुरीय (चौथापन) किसकी अपेक्षा से हुआ? (क्योंकि संख्यायें तो एक दूसरे की अपेक्षा से ही हुआ करती हैं। इसलिये उसे तुरीय कहना भी युक्ति संगत नहीं है)।

जीवस्यैतन्निजं रूपं तेन जीवोयमुच्यते।
जीवचेष्टा न तत्रास्ति तेन निर्जीवता स्फुटा ॥६॥

इन चारों अवस्थाओं का प्रकाशक चैतन्य ही, इस जीव का वास्तविक स्वरूप है इसलिये इस (वर्णनीय आत्मप्रकाश) को 'जीव' कह सकते हैं। परन्तु उस (शुद्ध आत्मचैतन्य) में जीव की (कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि) चेष्टायें नहीं होतीं इसीसे उस (आत्मचैतन्य) की निर्जीवता स्पष्ट हो जाती है फिर भला उसे जीव भी क्योंकर कहा जाय!

सच्चिदानन्दरूपत्वाद् ब्रह्म चेन्नापि तद्भवेत् ।
यो वेद स तु न ब्रूते यो न वेद गिरास्य किम् ॥७॥

सच्चिदानन्दरूप होने से यदि उस आत्मस्वरूप को ब्रह्म कहो तो भी ठीक नहीं है क्योंकि जो उसे जानता है वह तो उसके विषय में कुछ कहता नहीं तथा जो जानता ही नहीं उसके कहने से क्या ?

वह आत्मचैतन्य तीनों कालों में अबाध्य चैतन्यरूप तथा सुखस्वरूप है इस प्रकार ब्रह्म के लक्षणों के उसमें मिलने से यदि तुम उसे ब्रह्म कहना चाहो तो भी कहना नहीं बनता। जो ब्रह्म को जानता है वह तो ब्रह्मरूप हो गया है। ब्रह्म तो वाणी का विषय कभी नहीं होता तथा उस ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय यह त्रिपुटी बाधित हो जाती है। फिर भला वह ब्रह्म आदि शब्दों से उसका प्रतिपादन ही क्योंकर कर सकता है ? प्रतिपादन करते ही वह तो उससे भिन्न हो जायगा। यों ज्ञानी पुरुष उसके विषय में कुछ बोलता नहीं। जिस पुरुष को तो उसका ज्ञान ही नहीं हुआ हम उसका कहना ही क्योंकर प्रामाणिक मान लें ?

तस्माच्छ्रुतिः प्राह सत्यमवाङ्मनसगोचरम् ।
यथानुभूतं मुनिभि स्तथैवेदं न संशयः ॥८॥

ये (पूर्वोक्त) सब अनुपपत्तियें देखकर ही वेदों ने उसे वाणी और मन का अविषय कहा है सो ठीक ही किया। अपने अनुभवों के द्वारा मुनि लोगों ने भी उसे जैसा (मन और वाणी का अविषय) पाया है यह तो ठीक वैसा ही है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह मत करो। ग्रन्थकार का भाव यह है कि मेरे अनु-

भव ने भी उसी का अनुमोदन किया है जो कोई करके देखेगा वह भी इसे ऐसा ही पायेगा ।

एतदन्तः समाम्नाय एतदन्ता तपस्विता ।
उपदेशो प्येतदन्त एतदन्ता विवेकिता ॥९॥

हे शिष्य, इस आत्मस्वरूप में आकर (पहुँचकर) वेद समाप्त हो जाते हैं, तपस्विता का अन्त हो जाता है, उपदेश वन्द हो जाते हैं और विवेकिता की इति हो जाती है ।

हे शिष्य, आत्मतत्त्व के प्रतिपादन करने वाले वेदान्त इस आत्मरूप के प्राप्त होते ही समाप्त हो जाते हैं क्योंकि इसी पद को वताने के लिये उनका निर्माण हुआ है । इसका प्रतिपादन कर चुकने के अनन्तर कुछ प्रयोजन न रहने से उनका अन्त हो जाता है । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' सकल वेद इसी पद का आम्नान कर रहे हैं मैं आप से केवल उपनिषदों से जानने योग्य उसी आत्मतत्त्व को जानना चाहता है । यह जो शीतोष्णादिकष्टसहनपूर्वक वर्णाश्रम धर्म का अनुष्ठानरूपी तप किया जाता है वह भी तो इस आत्मतत्त्व के ज्ञान होने तक ही है । 'तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति' सब तप भी तो इसी पद की प्राप्ति को कह रहे हैं । लोक में प्रसिद्ध है कि जो क्रिया जिस फल के उद्देश्य से की जाती है वह उसकी सिद्धि होने पर समाप्त हो जाती है । तपश्चरण से अन्तःकरण की शुद्धि होकर ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर उस तपश्चर्या का अन्त हो जाता है । सब तपों का मुख्य प्रयोजन यह आत्मदर्शन ही है । आचार्यों के बताये हुए उपासनादि उपायों तथा तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का उपदेश भी तो इस आत्मस्वरूप का ज्ञान

हो जाने पर समाप्त हो जाता है। उपदेश के विषय आत्मा अथवा आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर जब उपदेशक्रिया निरर्थक होकर नष्ट हो जाती है तब उस क्रिया का नाशस्वरूप यह आत्मा ही तो शेष रह जाता है। तात्पर्य यह कि निरन्वय-विनाश तो कभी किसी का नहीं होता। जब कि आचार्य से किया हुआ उपदेश नष्ट हुआ तो उसके अन्वय के रूप में यह आत्मा अथवा आत्मज्ञान शेष रह गया। आत्मानात्मपदार्थों के विवेक करने का जो सामर्थ्य अथवा भाव है वह भी इस आत्मस्वरूप के दर्शन होने पर समाप्त हो जाता है। क्योंकि विवेक भी एक प्रकार की क्रिया ही है उसका फल प्राप्त होने पर वह निष्प्रयोजन हो जाता है। तब यही कहना होगा कि आत्मसाक्षात्कार ही उसका नाश कहाता है। जब वेद बोलना वन्द करदें, तप करने की आवश्यकता न रहे, उपदेश निष्प्रयोजन हो जायँ, विवेक का भी कुछ प्रयोजन न दीख पड़े तो यह मान लो कि आत्मसाक्षात्कार हो गया। इन चारों के नष्ट हो जाने पर केवल आत्मदर्शन ही शेष रह जाता है।

श्रोतव्यं श्रुतिवाक्येन सर्वं ब्रह्म त्वया श्रुतम्।
भवितव्यं यदि ब्रह्म तर्हि ब्रह्मैव भूयताम् ॥१०॥

हे शिष्य, अब तक तुमने श्रुति के वाक्यों की सहायता से श्रवण करने योग्य आत्मवस्तु का श्रवण तो कर लिया। अब यदि (तेरे सौभाग्य से) तुझे ब्रह्म (देशकाल के परिच्छेद से रहित आत्मवस्तु) होने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो गयी हो तो (अपना जैवरूप छोड़कर) ब्रह्म ही हो रहो।

अथ बोधदीपपञ्चकम्

नाधारपात्र मादत्ते न च तैलमपेक्षते ।
न वर्तिका माश्रयते न धत्ते कज्जलं मनाक् ॥१॥

यह बोधदीपक न तो आधारपात्र ही लेता है न तैल की अपेक्षा करता है न बत्ती का ही सहारा तकता है और न इसपर थोड़ा सा कज्जल ही आता है ।

यह बोधरूपी दीपक लौकिक दीपकों के समान तैल का संग्रह करने के लिये मिट्टी आदि के से किसी आधारपात्र को नहीं लेता। वैसे तो लौकिक दीपक में तैल बत्ती तथा दीपक का आधार जैसे मिट्टी का पात्र होता है इसी प्रकार समष्टि व्यष्टि अन्तःकरण ही तैल के समान विषयरूपी स्नेह का तथा बत्ती के समान अहङ्कार का आधार है परन्तु इस बोधदीपक को उस अन्तःकरणरूपी आधारपात्र की वैसी अपेक्षा नहीं है जैसी लौकिक दीपक को अपने आधार की होती है । वह बोधदीपक लौकिक दीपक की तरह कोई आरोपित पदार्थ नहीं है वह तो एक अनारोपित ही सत्य तत्त्व है । अन्तःकरण तो आरोपित होने से मिथ्या पदार्थ है । इन दोनों का आधाराधेयभाव यदि किसी अविचारशील को प्रतीत होता हो तो वह पारमार्थिक नहीं है। यही कारण है कि स्वतःसिद्ध स्वयंप्रकाश बोधरूपी दीपक को किसी आधारपात्र की अपेक्षा नहीं होती । हे शिष्य ! इस पर यदि तुम यह कहो कि किसी आधारपात्र की यदि अपेक्षा नहीं है तो दीपक के जीवन के लिये आवश्यक दीपक का जीवनभूत तैल फिर किस पात्र में रक्खा जायगा ? तो उसका उत्तर यह है कि—यह अलौकिक बोधदीपक दीपक के जीवन के कारण तैल

घृतादि स्नेहद्रव्य की भी अपेक्षा नहीं करता। यह तो नित्य तथा स्वयंप्रकाश है इसको अपने जीवन के लिये भी किसी की अपेक्षा नहीं होती। यद्यपि यह बात अवश्य माननी होगी कि संसारी लोगों का जीवनरूपी दीपक विषयस्नेहरूपी तैल के आधार पर ही चलता है परन्तु तत्त्वविचार करने पर यह दीपक स्वतः स्वयंप्रकाश तथा नित्य पूर्ण सिद्ध होता है, स्नेह के विषय तो सभी मिथ्या हैं फिर उनका स्नेह भी मिथ्या ही है इसलिये उनसे नित्य बोधदीपक के जीवन का धारण कैसे हो? यही कारण है कि बोधदीपक को विषयस्नेहरूपी तैल की भी अपेक्षा नहीं रहती। यदि कहो कि यदि इस बोधदीपक को तैल की अपेक्षा नहीं है तो फिर वह बत्ती के सहारे से ही कैसे रह सकता है, तो सुनो! वह दिव्य बोधदीपक लौकिक दीपकों के समान बत्ती का आश्रय भी नहीं तकता। क्योंकि कहाँ वह सत्य स्वयंप्रकाश बोधदीपक और कहाँ मिथ्या जड विकारी बत्ती? उनका परस्पर आश्रयाश्रयिभाव ही कैसे हो? जैसे लौकिक दीपक तैल का आकर्षण बत्ती के द्वारा करते हैं उसी प्रकार तैल के समान विषयस्नेह का सम्बन्ध आत्मवस्तु से तो होता ही नहीं, इसलिये अज्ञानी लोगों को चाहे यह बोधदीपक अहंकाररूपी बत्ती के आश्रित जलता हुआ प्रतीत भी होता हो परन्तु कल्पित होने से मिथ्या अहंकार का तथा सब कल्पनाओं का आधार होने से एवं स्वयं अकल्पित होने से इस सत्यबोधदीपक का परस्पर पारमार्थिक आश्रयाश्रयिभाव कैसे हो? इसीसे इस बोधदीपक को बत्ती का सहारा लेने की भी अपेक्षा नहीं होती। यह एक और अद्भुत विशेषता इस दीपक में पायी जाती है कि इस बोधदीपक पर लौकिक दीपकों की तरह थोड़ी सी भी कृष्णता नहीं आती। कृष्णता पैदा करने

वाले बत्ती तैल आदि द्रव्य ही उसमें नहीं होते। अविद्या तथा अविद्या के कार्यरूपी कज्जल को वह अपने में रखता ही नहीं।

न तापकर्ता कस्यापि वायुना न च कम्पते।
न विनाश मवाप्नोति तमः सर्वं निहन्ति च ॥२॥

यह दिव्य बोधदीपक किसी को ताप नहीं पहुँचाता, वायु के झोकों से कांपता नहीं, न कभी यह बुझता ही है। यह बोधदीपक सम्पूर्ण अन्धकार को नष्ट कर देता है।

लौकिक दीपक जिस प्रकार कभी कभी गृहदाह आदि करके ताप पहुँचा देते हैं ऐसे यह अलौकिक बोधदीपक किसी को ताप नहीं पहुँचाता। यह तो स्वतः ही सुखरूप होने से तीनों प्रकार के तापों से रहित है तथा दूसरों के भी तीनों तापों को हटाने वाला है। फिर भला यह किसी को ताप कैसे पहुँचायेगा! वायु का झोका लगने से जिस प्रकार लौकिक दीपक कांपने लगते हैं इस प्रकार यह दिव्य दीपक विषयरूपी वायुओं के झोकों से कभी नहीं कांपता। यह तो अत्यन्त स्थिर है इसीसे यह कभी चञ्चल नहीं होता। नित्यस्वरूप होने से यह दीपक और दीपकों के समान कभी नाश (लय) को भी प्राप्त नहीं होता। सकल संसार के नाश के पश्चात् तो यह बोधदीपक शेष रहता है यह तो सम्पूर्ण नाशों का साक्षी है, इसका भी यदि नाश मानोगे तो उस नाश का साक्षी बताना होगा। बिना साक्षी का नाश देखा नहीं जाता। यह एक और अद्भुत विशेषता इस बोधदीपक में पायी जाती है कि लौकिक दीपक तो किसी घर के किसी एक भाग के अन्धकार को ही नष्ट कर सकते हैं। यह हमारा दिव्य दीपक तो घर बाहर के सम्पूर्ण अन्धकार को नष्ट कर देता है।

(गूढार्थ यह है कि यह बोधदीपक जहाँ कहीं जलता है वहाँ के अन्दर के प्रत्यक्चैतन्य को ढकने वाले अज्ञान को तथा बाहर के तत् त्वं पदार्थों के ऐक्याज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट कर डालता है)।

एकरूपाः प्रकाशन्ते सर्वे भावा यदर्चिषा।
यदग्रे न प्रकाशेत छाया मायास्वरूपिणी ॥३॥

जिसकी ज्योति से सब भाव एकरूप ही दीखने लगते हैं मायास्वरूप छाया जिसके सामने नहीं दीखती—

इस बोधदीपक में लौकिक दीपक से एक और अत्यन्त विलक्षणता पायी जाती है कि इसकी ज्वाला से सब पदार्थ एक-रूप ही दीखने लगते हैं। लौकिक दीपक जिस प्रकार घटपटादि को अनेक रूप में प्रकाशित किया करते हैं वैसे यह बोधदीपक नहीं करता, यह तो सबको एक (सच्चिदानन्द) रूप में ही दिखाता है। लौकिक दीपक के सामने अथवा उसी दीपक के नीचे जिस प्रकार अन्धकार देखा जाता है उस तरह इस बोधदीपक के सामने मायारूपी छाया (जिसकी कल्पना जगज्जनन की अन्यथा असिद्धि से कर ली गयी है) प्रतीत ही नहीं होती—

यश्चक्षुषामविषयो रूपाकारविवर्जितः।
मनसोऽप्यप्रकाश्यश्च रूपाकारप्रकाशकः ॥४॥

रूप और आकार से रहित होने से जो आंखों को नहीं दीखता, मन से भी जो प्रकाशित नहीं होता, किन्तु फिर भी जो रूप तथा आकार दोनों को प्रकाशित किया ही करता है।

लौकिक दीपक के समान जो चक्षु से नहीं दीखता क्योंकि उसमें रूप अथवा आकार कुछ भी नहीं होता। उसको मन का

विषय मानना भी उचित नहीं क्योंकि उसमें किसी प्रकार का भी आकार नहीं है। इसलिये वह बोधदीपक मन के प्रकाश (चिन्तन) का विषय भी नहीं हो सकता। रूप और आकार से रहित होने के कारण यद्यपि वह बोधदीपक चक्षु और मन का विषय नहीं होता है तो भी यह बोधदीपक सब नील पीत आदि रूपों तथा सम्पूर्ण आकारों का प्रकाशक होता ही है। (तात्पर्य यह है कि—सब रूपों और सब आकारों के ज्ञान इस अलौकिक ज्ञानदीपक की सहायता के बिना सिद्ध हो ही नहीं सकते। इसी अनुपपत्ति को देखकर उस दीपक की सत्ता का निश्चय कर लेना चाहिये)।

कदाचित्क्वचिदेवासौ तात केनापि हेतुना।
प्रवर्तते बोधदीपः सतां हृदयमन्दिरे ॥५॥

हे शिष्य ! यह बोधदीपक तो कभी कभी कहीं कहीं और न मालूम किस कारण से, सत्पुरुषों के हृदयमन्दिर में अखण्ड रीति से जल उठा करता है।

इस अलौकिक दीपक के जलने में किसी भी काल की मर्यादा नहीं है। लौकिक दीपक के समान किसी विशेष स्थान की भी यह अपेक्षा नहीं करता क्योंकि यह तो स्वयं ही सर्वाधार है। इसके जल उठने का कोई विशेष कारण भी निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। कई बार तो ऐसा देखा जाता है कि त्रिकाल सन्ध्या करनेवाले देखते ही रह जाते हैं और साधारण से मनुष्य के हृदयमन्दिर में यह जल उठता है। उसके हृदय में क्यों नहीं जला और इसके हृदय में क्यों जल उठा सो कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अपने अपने पुण्यों का परिपाक ही कुछ इस प्रकार का

होता है, परन्तु इसके जल उठने का कारण स्पष्टरूप से खोज कर निकाला नहीं जा सकता। इस प्रकार का यह अद्भुत ज्ञानरूप सर्वजगत्प्रकाशक दीपक आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त महात्माओं के हृदयरूपी (ब्रह्माकारवृत्तिरूपी) मन्दिर में अखण्ड तौर पर जल उठता है (तुम्हें भी यदि अपने बोधरूपी दीपक को जगाने की इच्छा हो तो वैसे जीवन्मुक्त महात्माओं के सम्पर्क से ही उसे जगाकर अपने हृदयमन्दिर में स्थापित करलो)।

अथोपदेशषोडशी

युक्त्यैव वृत्तिभिः पूर्णं रिक्तीकुरु मनोघटम्।
न कश्चिद्भविता तात ब्रह्मणा पूरणे श्रमः ॥१॥

हे शिष्य, तुम वृत्तियों से भरे हुए इस अपने मनरूपी घड़े को युक्ति के द्वारा ख़ाली कर डालो, फिर ब्रह्म से भरने में तुम्हें कोई भी श्रम नहीं करना होगा।

तुमने जगद्विषयक चिन्ताओं से इस अपने मनरूपी घट को ठसाठस भर रक्खा है। इस अपने मनोघट को किसी सद्गुरु की बतायी युक्ति से एक बार किसी तरह ख़ाली कर डालो। जिस घट के चने आदि निकाल दिये जायँ जैसे उसमें आकाश के भरने का कोई उद्योग करना नहीं पड़ता; इसी प्रकार (घट में आकाश की तरह) उस मन में ब्रह्मरूप चैतन्य तो परिपूर्ण है ही। उसके भरने में तुम्हें यत्किञ्चित् भी परिश्रम नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि—चित्त के स्थिर होने को दुःसंपाद्य समझ कर इसमें किसी को अनादर (लापरवाही) करना नहीं चाहिये। ब्रह्म में चित्त को स्थिर करना एक अत्यन्त सुकर बात है। फिर भी लोग अज्ञान के कारण इसे एक दुरारोह घाटी समझ कर

छोड़ बैठते हैं। गीता में कहा है 'सुसुखं कर्तुम्' यह धर्म करने में आसान से भी आसान है। इतना आसान है कि कई साधकों को तो केवल इसकी आसानी (सुकरता) देखकर भरोसा भी नहीं होता, और वे चौंक जाते हैं। जब तक प्राणायाम, नेती, धोती आदि कराकर उनके शरीर का तेल न निकाल लिया जाय तब तक वे आत्मज्ञानी का विश्वास ही नहीं करते।

त्यज चिन्तां महाबुद्धे भज निश्चिन्ततासुखम्।
त्वयार्जितामिमां चिन्तां वद कोन्यः परित्यजेत् ॥२॥

हे महाबुद्धे! चिन्ता को छोड़ दे निश्चिन्ततासुख का भोग ले। तेरी कमायी हुई इस चिन्ता को भला बताओ कि दूसरा कौन छोड़ने आयेगा ?

हे महाबुद्धे ! इस जगद्विषयक चिन्ता को छोड़ो ! देखो इस जगत् में तुम्हारे किये कुछ भी बनता बिगड़ता नहीं है। यह विचार भी मत करो कि जगद्विषयक चिन्ताओं को छोड़कर फिर इस मन के जीवन का सहारा क्या होगा और इस विचारे जगत् का क्या बनेगा ? तुम एक वार निश्चिन्ततासुख का भजन तो कर देखो ! तब तो वह परमसुख ही तुम्हारे मन का जीवनोपाय होजायगा। तुम्हारी उपार्जन की हुई इस चिन्ता को दूसरा कोई कैसे छोड़ सकता है ? इस चिन्ता के त्याग का भार अपने मार्गदर्शकों पर मत डालो ! यह काम तो तुम्हें स्वयं ही करना होगा।

चिन्तनीयं त्वया वस्तु चिन्तारोगस्य भेषजम्।
अथवा तात चिन्ताख्यं रोगमेव परित्यज ॥३॥

हे शिष्य, तुम चिन्तारोग की भेषज (ब्रह्म) को स्मरण करो। (उससे ही तुम्हारा चिन्तारोग निवृत्त हो जायगा) या फिर इस चिन्तारोग को ही छोड़ दो।

जगद्विषयक चिन्ता ही एक बड़ा भारी रोग कहाता है। कालत्रयाबाध्य पारमार्थिकसद्रूप ब्रह्म ही उस रोग को निवृत्त करने की महौषध कहाती है। बस चिन्तारोग की निवृत्ति के लिये तुम उसी का स्मरण किया करो? यदि तुमसे यह न हो सके तो फिर तुम चिन्ता नामक रोग को ही छोड़ दो। यह भी तो तुम्हारा अपना ही चिपटाया हुआ है।

वर्धिता वर्धते चिन्ता त्यक्ता नश्यति सत्वरम्।
ईदृशेनापि रोगेण दुर्धियो मरणं गताः ॥४॥

देखो यह चिन्ता बढ़ाने से बढ़ती है, छोड़ने पर झटपट नष्ट हो जाती है। न मालूम ऐसे स्वाधीन रोग से भी मूर्ख लोग क्यों मरते फिरते हैं।

इन जगद्विषयक चिन्ताओं को यदि बढ़ाते चले जाओ तो ये रबड़ की तरह बढ़ती चली जाती हैं, यदि चिन्ता करना छोड़ दो तो ये सहसा नष्ट भी हो जाती हैं। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि चिन्ता के वृद्धि, ह्रास आदि सब चिन्ता करने वाले के ही अधीन हैं। वह चाहे तो इन्हें बढ़ाये किंवा इन्हें नष्ट कर डाले। यह बात साधारण बुद्धि के मनुष्य भी समझ सकते हैं, परन्तु क्या किया जाय? किसी आग से जलते हुए घर में से अपने निकलने का मार्ग होने पर भी धन पुत्र तथा वस्त्रादि के लोभ से दूषित बुद्धि वाले लोग जिस प्रकार उसी जलते हुए घर में जल मरते हैं, वैसी ही दयनीय परिस्थिति इस चिन्ता

नामक स्वाधीन रोग के कारण दुर्बुद्धि लोगों ने उत्पन्न कर ली है और मरण (असदाकाररूप देहात्मता) को प्राप्त हो गये हैं। हम तो समझते हैं कि यदि इस रोग की यह स्वाधीनता किसी के ध्यान में आ जाय तो वह चिन्तारोगनिवर्तक आत्मवस्तु का चिन्तन करे या फिर चिन्तारोग का ही त्याग कर डाले।

कर्कशा कलहा कृत्या वन्ध्या नित्यममङ्गला।
त्यज्यतां कामनाचण्डी भुज्यतां मुक्तिसुन्दरी ॥५॥

कर्कश, कलहरूप, मारक, वन्ध्या तथा सदा अमङ्गलरूप इस इच्छारूपी चण्डी को छोड़कर मुक्तिसुन्दरी का भोग करो!

देखो यह कामनारूपी चण्डी स्त्री बड़ी ही कर्कशा है। इसका स्पर्श होते ही अन्तःकरण में दुःख का अनुभव होने लगता है। यह कलहरूप है क्योंकि यह कामना ही संसार के सब झगड़ों की मूल हो रही है। इसे कृत्या (मारिका) कहते हैं क्योंकि इस कामना से स्पर्श पाया हुआ प्रत्येक पुरुष जन्ममरण के भँवर में फँस ही जाता है। ज्ञानी लोग इसे वन्ध्या मानते हैं, क्योंकि इस कामना ने सृष्टि के आदि से लेकर सुखरूप पुत्र को आज तक भी उत्पन्न नहीं कर पाया है, यह तो सदा ही अमङ्गल है इसके आजाने पर फिर शुभ किंवा चैन के तो दर्शन ही दुर्लभ हो जाते हैं। सुखाभिलाषियों को उचित है कि ऐसी कामना चण्डी को छोड़ दें तथा मुक्तिरूपी सुन्दरी का उपभोग करें। यह मुक्तिसुन्दरी तो बड़ी ही कोमलस्पर्शा कलह को निवृत्त करने वाली, अमृता, अवन्ध्या (सुखरूप पुत्र को उत्पन्न करने वाली) नित्य मङ्गलरूपा तथा कामना को नष्ट करने वाली है।

ऐसी परिस्थिति होने पर भी समझ में नहीं आता कि किस गुण के लोभी होकर हम लोग इन चिन्ताओं में फँस जाते हैं।

जनैः पण्डित इत्युक्तः प्राप्नोषि परमं सुखम्।
मनसा कर्मणा वाचा भव पण्डित एव तत् ॥६॥

जब लोग तुम्हें झूठे को भी पण्डित कह देते हैं तो तुम बड़े हर्षोत्फुल्ल हो जाते (तथा बड़े सुखी होते) हो (इस प्रकार जब कि तुम्हें पण्डितनाममात्र से सुख होता है) तो फिर तुम मन, कर्म तथा वाणी से परमार्थ पण्डित (सच्चे पण्डित) ही क्यों न हो जाओ। (पारमार्थिक पाण्डित्यसंपादन कर लेने पर तुम को परमार्थ सुख का आविर्भाव हो जायगा)।

नित्यमेव स्फुरद्रूपो ननु त्वं चित्स्वरूपतः।
स्फूर्तिमूर्ते स्तवैवेयं काचित्स्फूर्तिं रिदं जगत् ॥७॥

हे शिष्य, चिन्मात्रस्वरूप होने से तू सदा ही स्वयंप्रकाश-स्वरूप है। यह सब जगत् भी स्फूर्तिस्वरूप तेरी ही तो एक अनिर्वचनीय स्फूर्ति है। (यदि तेरी स्वरूपस्फूर्ति न होती तो जगत् का स्फुरण ही न होपाता। 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्' यदि यह परमानन्दस्वरूप परमाकाश न होता तो भला किसका सामर्थ्य था कि कोई एक श्वास तक ले सकता। इसलिये कहा जाता है कि तुम ही स्वयंप्रकाश-स्वरूप हो)।

भास्वतो मम भामात्रमिति ज्ञाते भ्रमे गते।
क्व द्वितीयं क्व संसारः क्व माया तत्कृतं किमु ॥८॥

प्रकाशस्वरूप मेरा स्वरूप तो प्रकाशमात्र ही है यह ज्ञात हो जाने पर (इस ज्ञान के प्रताप से) जब भ्रम नष्ट हो जाता है

तब दूसरा कहां ? संसार कहां ? माया कहां ? तथा माया के किये (आवरण तथा विक्षेप आदि) कहां ?

मुझ प्रकाशस्वरूप का स्वरूप पूछो तो केवल प्रकाश ही है यह ज्ञात हो जाने पर अब जब कि इस पवित्र ज्ञान के प्रताप से मेरा भ्रम नष्ट हो गया (जिससे कि इस चिज्जडरूप देहादि जगत् में मेरी स्वात्मतादात्म्यप्रतीति जाती रही) तो फिर दूसरा (जगत् का कारण अज्ञान) कहां रहा (क्योंकि स्वयंप्रकाश आत्मा में वह अज्ञान कैसे ठहरता ?) जब कि अज्ञान ही न रहा तो फिर उसका कार्य यह संसार भी कहां रहा ? जब कि यह कार्य ही न रहा तो फिर इस कार्य से अनुमेय माया भी कहां रही। जब माया ही नहीं तो फिर उसका किया हुआ आवरण और विक्षेपरूपी जगद्बन्धन ही कहां ठहरता !

ज्ञत्वं कर्तृत्वभोक्तृत्वे जडचैतन्यदृष्टयः।
स्फुरणानि स्वकीयानि मणिर्भूत्वा विलोकय ॥९॥

जड तथा चैतन्य का योग हो जाने से जो कि ज्ञानित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा अन्य भी जो कोई वृत्तियां उत्पन्न हो जाती हैं वे सब तेरे अपने ही तो स्फुरण हैं। तू तो मणि बनकर इन सब को देखा कर !

जो कि ज्ञानेन्द्रियों में वृत्ति होने पर ज्ञानी, कर्मेन्द्रियों में वृत्ति होने पर कर्ता, भोगक्रिया का फल मिलने पर भोक्ता कहाने लगता है, ये सब वृत्तियां जड और चिदाभासरूप चैतन्य के मिश्रण से ही हो जाती हैं। परन्तु इन सब में जो स्फूर्ति है वह तुझ चिद्रूप आत्मा की अपनी ही तो स्फूर्ति है। तू तो मणि के समान स्वयंप्रकाश चिन्मात्रस्वरूप होकर इन सब वृत्तियों

अपने ज्ञानों को ही देखा कर। अर्थात् इन सब भानों में से जड भाग को पृथक् करके (उस जड भाग का अनादर करके) चिन्मात्र में तत्पर रहेगा तो जड भाग तो स्वयमेव नष्ट हो जायगा, तथा चिन्मात्र का स्पष्ट अनुभव तुझे होने लगेगा।

परस्पर मविज्ञाता जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः।
त्वया तिस्रः स्त्रियो भुक्ता स्तुरीयां सुन्दरीं भज ॥१०॥

परस्पर को न जानने वाली जाग्रत् स्वप्न तथा सुषुप्ति नामक तीन स्त्रियों का ही भोग तू अब तक लेता रहा है। अब तू (इन सब को छोड़ कर) तुरीया नामक सुन्दरी का भोग करले। (तब उस चिन्मात्र में तेरा आत्मा स्थिर हो जायगा)।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानि पुनस्तानि त्वमीक्षसे।
तुरीयं तव धामैव न तत्किमिति पश्यसि ॥११॥

जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति नामक तीनों अवस्थाओं को तो तुम बार बार भोगते हो, परन्तु (स्वयंप्रकाशस्वरूप) तेरा निज धाम तो तुरीय ही है। उस तुरीय को ही तू क्यों नहीं भोगता? (तुरीय सुखभोग ही स्वपत्नी भोग के समान विहित होने से अनिन्द्य तथा सुखरूप हो सकता है। इसी लिये परस्त्रीतुल्य जाग्रदादि को छोड़ कर तुरीय का ही भोग लेना चाहिये, जिससे तुझे मुक्तिसुख प्राप्ति हो सके)।

मा धाव सुखहेतो स्त्वं धावतां न सुखं सखे।
सुखरूपे निजे रूपे सुखं तिष्ठ सुखी भव ॥१२॥

हे मित्र, तू सुख के लिये (इन जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं के विषयों में) दौड़ा दौड़ा मत फिर, देखो दौड़ने वालों को

सुख नहीं मिला करता। सुखस्वरूप अपने (तुरीय) रूप में सुख पूर्वक बैठो ! और आनन्द को लूटो !

अत्र श्लोकाः—

वरयोग्यासि कल्याणि न स्थास्यसि वरं विना।
वरणीयो वरस्तादृग् यो भवेदजरामरः ॥१३॥

हे कल्याणि, अब तुम वरयोग्य युवती हो गयी हो, अब तुम पहले के समान भर्ता के बिना नहीं रह सकोगी, इसलिए तुमको ऐसे किसी वर को विवाह की पद्धति से स्वीकार करना चाहिये कि जो अजर तथा अमर हो।

प्रकृत तात्पर्य—हे कल्याणि ! अब तू वर (सर्व श्रेष्ठ ब्रह्म) की प्राप्ति के योग्य हो गई है अब तेरी ऐसी अवस्था है कि तू वर के विना (ब्रह्मभाव को प्राप्त किये विना) नहीं रह सकती। इसलिये किसी ऐसे वैसे वर को स्वीकार मत करना। तुझे तो अब ऐसे वर (ब्रह्मभाव) को स्वीकार करना चाहिये जो कि जरा और मरण से सर्वथा हीन हो। तात्पर्य यह है कि—जिस प्रकार युवावस्था आने पर वर के विना युवतियां नहीं रह सकतीं, इसी प्रकार अधिकारिदेह (जिस देह में आत्मज्ञान प्राप्त हो तथा जिस देह के बाद दूसरा शरीर मिलने का प्रसङ्ग ही न आये) के प्राप्त होने पर ज्ञानेच्छु लोग आत्मस्वरूप की प्राप्ति के विना नहीं रह सकते।

न शृणोषि वरं यावत्तावत्ते कम्पते मनः।
पश्चा न्महोत्सवै र्भद्रे स्वामिनं त्वं वरिष्यसि ॥१४॥

हे भद्रे, जब तक तू पति के भोगसुख की वार्ता को नहीं सुनती है तभी तक तेरा मन (प्रवृत्ति निवृत्ति के बीच में टंगा

कर) कांप रहा है, पीछे तो तू महोत्सवों के द्वारा उसका वरण (स्वयमेव) कर ही लेगी।

प्रकृतार्थ—हे शिष्य, जब तक तुम किसी आत्मसुख का आनन्द लेने वाले सद्गुरु के मुख से इस जीवब्रह्मैक्यरूपी वर की महावार्ता को नहीं सुनते हो तभी तक तुम्हारा मन असंभावना किंवा विपरीतभावना आदि दोषों से चलायमान हो रहा है। श्रवण कर लेने पर तो उसका परिपाक हो जाने के अनन्तर अनन्त हर्षों के साथ इस ब्रह्माभिन्न अखण्ड एक-रस प्रत्यगात्मा को स्वीकार कर ही लोगे (यदि ऐसे ब्रह्मरूप वर के वरने में मन दृढ निश्चय के साथ प्रवृत्त न होता हो तो सब से प्रथम आत्मदर्शी गुरु के मुख से उस आत्मा का श्रवण करना ही सर्वोत्तम उपाय है। उसी से तद्विषयक कामना की वृद्धि हो जाती है)।

परेण पुरुषेणाद्य रमस्व वचनान्मम।
सखि पश्चात्स्वतश्चित्तं कुरु यत्राधिकं सुखम् ॥१५॥

हे सखि, आज हमारे कहने से—परपुरुष से (जो कि तुम्हारा पति होने वाला है) रमण तो करके देखो। पीछे से जहां अधिक सुख मिले वहीं अपने मन को ठहरा लेना।

प्रकृत—हे शिष्य ! आत्मसाक्षात्कार कराने वाला श्रवण जब तक दृढ नहीं हो जाता तब तक मुझ हिताभिलाषी गुरु के कहने से पूर्ण पुरुष के साथ एक बार (एकीभावरूपी) क्रीडा तो करके देखो ! फिर तुलना करने पर इन सांसारिक खण्ड सुखों तथा इस अलौकिक अखण्डसुख में से जहां भी तुझे अधिक सुख प्रतीत हो वहीं अपने चितकी वृत्तियों को लगा

देना (स्वात्मसाक्षात्कार से प्रथम आचार्य के वचनों पर विश्वास करने से ही श्रेयस्कर मार्ग मिल सकता है)।

यातं दिनं न पुनरेति नवं वयस्ते
लज्जां विहाय भज तं रमणीयरूपम्।
बाले परः पुरुष एष यदा समेतः
स्वर्गेण किं किमु तदा नृसुखेन वा ते ॥१६॥

हे बाले! देखो व्यतीत हुई आयु फिर लौट कर नहीं आती, अभी अभी तुम्हारी नई उमर है इस लज्जा को छोड़कर उस सुन्दराकृति पुरुष को स्वीकार कर लो। हे बाले, पर सा प्रतीत होने वाला यह पुरुष जब तुझे मिलेगा तो फिर सार्वभौम, संपत्तिरूपी नृसुख से किंवा स्वर्ग के सुख से भी क्या तेरी तृप्ति हो सकेगी।

प्रकृत—हे शिष्य, मुक्तिसुखानुभव को किये विना व्यर्थ ही अपनी आयु का व्यय मत करो! देखो गया हुआ काल फिर लौट कर नहीं आता है। तुम्हारा ज्ञान अभी अत्यन्त कोमल है क्योंकि जाति, कुल, धर्म, तथा एषणाओं के कारण किंवा संशय से दूषित होने के कारण अभी वह परिपक्व नहीं हो चुका है। इसलिये लोकलज्जा को छोड़कर उस सुखरूप आत्मतत्व को सोऽहंरूप में स्वीकार करलो। अभी तक तुम्हें इसके अपूर्व सुख का भान नहीं हुआ है। मैं अपने अनुभव से बताता हूँ कि जब इस पुरुष को तुम अभेददृष्टि से स्वीकार कर लोगे तब तुम्हें सर्वोत्तम मानुषसुख से तथा हिरण्यगर्भ के आनन्द पर्यन्त स्वर्ग सुखों से भी कुछ प्रयोजन नहीं रहेगा। तात्पर्य—संसार के सम्पूर्ण सुख आत्मसुख के ही प्रतिविम्ब हैं, इसीलिये आत्म-

सुख के प्राप्त होने पर वे सब तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। यही कारण है कि ज्ञानी लोग फिर कभी उनकी अपेक्षा नहीं करते।

अथ ब्रह्मचर्चाविंशतिः

अर्चा लक्षाधिका प्रोक्ता चर्चैव परमात्मनः।
अतः शिष्यप्रबोधाय ब्रह्मचर्चा निरूप्यते ॥१॥

परमात्मा का एक बार का संवाद ही लक्षाधिक बार किया हुआ पूजन माना गया है। इसलिये (जिज्ञासु) शिष्य के ज्ञान के लिये ब्रह्मचर्चा नामक प्रकरण का निरूपण किया जाता है।

आधारः सर्वभूतानां तस्याधारो न कश्चन।
निराधारस्वरूपं चेन्नास्ति ब्रह्म तदा क्वचित् ॥२॥

वह ब्रह्म सब आकाश आदि भूतों (तथा भूतों के कार्य ब्रह्माण्ड से लेकर कीटपर्यन्त समस्त प्राणिसमूह) का आधार है, उस का कोई भी अन्य आधार नहीं है यों जब वह निराधार स्वरूप ही हुआ तो यही कहना होगा कि 'ब्रह्म कहीं भी नहीं है'।

अधिष्ठानं विना कार्यं न तिष्ठति कदाचन।
सर्वाधिष्ठानरूपं हि कथं ब्रह्म न कुत्रचित् ॥३॥

अधिष्ठान के बिना कहीं भी कोई कार्य स्थित नहीं होता ऐसी अवस्था में सर्वाधिष्ठानरूप ब्रह्म कहीं भी न हो यह कैसे हो सकता है?

यदि सर्वाधिष्ठान ब्रह्म को न मानोगे तो अधिष्ठान के बिना तो कभी भी कोई (व्यावहारिक घटादि या प्रातिभासिक रज्जु-सर्प आदि) पदार्थ नहीं रह सकते। वे भी अपने मिट्टी तथा

रज्जु आदि अधिष्ठानों (आधारों) की अपेक्षा करते ही हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि इस प्रतीयमान सकल जगत् का भी कोई न कोई आधार है ही। वह न हो तो यह सब जगत् असत्रूप से प्रतीत हो। इसलिए वह सर्वाधिष्ठान रूप ब्रह्म कहीं भी न हो, यह कैसे संभव है ?

सर्वस्मात्तत्पृथग् ब्रह्म त्विति वक्तुं न शक्यते।
यदात्मकमिदं सर्वं सर्वस्मात्तत्पृथक् कथम् ॥४॥

वह ब्रह्म सबसे पृथक है यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह सब जगत् जब कि तदात्मक ही है (उसी आत्मा का विवर्त है) तो फिर वह (ब्रह्मात्मा) सबसे पृथक कैसे हो!

स्वयं तो निराधार परन्तु अन्य सब का आधार वह ब्रह्म-नामक वस्तु इस समस्त जगत् से भिन्न हो यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह सब जगत् भी तो ब्रह्मस्वरूप ही है फिर भला वह ब्रह्म उस सर्वजगत् से पृथक् कैसे हो सकता है!

सर्वस्मादपृथग् ब्रह्म वक्तुमित्यपि नार्हसि।
सर्वस्मात्पृथगेवेद मनुभूतं महर्षिभिः ॥५॥

यह ब्रह्मनामक वस्तु सब जगत् से अभिन्न हो (सर्वरूप ही हो) यह भी तुम्हें न कहना चाहिये। क्योंकि महर्षि लोगों ने तो इस ब्रह्म को इस सब असत् जगत् से पृथक ही अनुभव किया है (ऐसी अवस्था में इस ब्रह्म को सर्वरूप कहना भी युक्ति संगत नहीं होता)।

आत्मरूपमिदं वाच्यमिति तर्कस्त्वया कृतः।
अनात्मरूपं किं न्वस्ति स्वात्मरूपं यतस्त्विदम् ॥६॥

हे शिष्य, यदि तुम यह तर्क करो कि इस ब्रह्म को तो आत्मरूप कहना चाहिये तो यह बताओ कि संसार में अनात्म रूप (अवास्तविक स्वरूप) पदार्थ ही क्या है ! जिसकी अपेक्षा इसको आत्मरूप कहा जाय। संसार के सकल पदार्थों का भी तात्त्विक रूप तो यह आत्मा ही है। फिर ब्रह्म को आत्मरूप कहकर किस विशेषता का प्रतिपादन किया गया ?

ज्ञानस्य ब्रह्म विषय इति वक्तुं न शक्यते।
ज्ञानस्वरूपं तद्ब्रह्म ज्ञानस्य विषयः कथम् ॥७॥

("ज्ञानादेव तु कैवल्यं ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः" इत्यादि श्रुतियों को देखकर) उस ब्रह्म को ज्ञान का विषय कहना युक्तिसंगत नहीं होता। क्योंकि उस ब्रह्म का असाधारण स्वरूप तो ज्ञान ही है फिर वह ज्ञान (वृत्तिरूप ज्ञान) का विषय क्योंकर हो ? (लोक में देखा जाता है कि ज्ञान के विषय घटादि पदार्थ जड होते हैं ब्रह्म तो चिन्मात्र स्वतःप्रकाशरूप है इसलिये वह ज्ञान का विषय (ज्ञेय) नहीं हो सकता।

ज्ञानस्वरूपमेवास्तु ब्रह्मेति यदि मन्यसे।
ज्ञेयमेव न यत्रास्ति ज्ञानत्वं तस्य कीदृशम् ॥८॥

यदि उस ब्रह्म को (ऊपर के विवेचन से) ज्ञानस्वरूप ही मान लिया जाय तथापि यह बात नहीं बनती। क्योंकि जिस ब्रह्म में ज्ञेय (ज्ञान का विषय जगत्) ही नहीं है वह ज्ञानरूप ही कैसे हो ? (लोक में देखा जाता है कि ज्ञानशब्द को ज्ञेय पदार्थ की अपेक्षा रहती है, जब ज्ञेय ही नहीं हो तो फिर ब्रह्म को 'ज्ञान' यह नाम भी क्योंकर दे दिया जाय)।

ज्ञातृस्वरूपमेवास्तु ब्रह्मेति यदि कल्प्यते ।
स्वयंप्रकाशरूपे हि ज्ञानस्याश्रयता कथम् ॥९॥

यदि (ज्ञानरूप की अनुपपत्ति को देखकर) उस ब्रह्म को ज्ञाता ही माना जाय तो भी ठीक नहीं । क्योंकि जो ब्रह्म स्वयंप्रकाश है वह ज्ञान (ज्ञानरूप क्रिया) का आश्रय कैसे हो ?

सर्वरूपमिदं ब्रह्म वक्तुं कः शक्नुयादिति ।
सदैकरूपमेवेदं यतः शाश्वतमुच्यते ॥१०॥

इस ब्रह्म को सर्वरूप कहने का सामर्थ्य भी किसको है ? यह तो सदा ही एकरूप रहता है । क्योंकि यह तो शाश्वत अर्थात् नित्य कहाता है (नित्य पदार्थ अनेक नहीं होते)।

एकरूपमिदं ब्रह्म न वक्तुमिति शक्यते ।
निर्गुणं तत्परं ब्रह्म स्यादेकत्वं यतो गुणः ॥११॥

यदि फिर उस ब्रह्म को एकरूप मान लिया जाय तो भी ठीक नहीं । क्योंकि उस परब्रह्म को निर्गुण माना गया है। इस एकत्व की गणना तो गुणों में की जाती है (यदि उस ब्रह्म में एकत्वरूपी गुण माना जायगा तो फिर वह निर्गुण ही कैसे रह जायगा ?)

निर्गुणं तत्परं ब्रह्म नूनमेतदसाम्प्रतम् ।
अनन्तेनैव गीयन्ते ह्यनन्ता एव तद्गुणाः ॥१२॥

यदि फिर उस ब्रह्म को निर्गुण (सत्व रज तम गुणों से रहित) ही माना जाय तो यह भी एक अत्यन्त अयुक्त बात होगी। क्योंकि उसके अनन्त गुणों (तथा गुणों से बने हुए सृष्टि आदि अनन्त कार्यों) का वर्णन अनन्त स्वयं ही करता

रहता है। फिर भला उसको निर्गुण भी कैसे कहा जाय! (अनन्त शब्द से वेद अहंकार तथा शेष तीन का ग्रहण होता है अनन्ता वै वेदाः। ज्ञान के विना मुक्तिपर्यन्त नाश न होने से अहंकार को भी अनन्त कहा जाता है। शेष का अनन्त नाम तो कोषादि में प्रसिद्ध ही है)।

ब्रह्म नास्तीति को ब्रूया द्भातीदं यस्य सत्त्वतः।
तर्ह्यस्ति ब्रह्मेत्यपि नो नातः सत्ता पृथग्यतः ॥१३॥

जिसकी सत्ता से यह सब प्रतीत हो रहा है उस ब्रह्म को नहीं है यह कौन कहे? फिर ब्रह्म है यह भी कौन कहे? क्योंकि सत्ता भी तो उससे पृथक् नहीं होती। यह सत्ता ही तो ब्रह्म है।

अस्वरूपमिदं ब्रह्म विद्वानिति कथं वदेत्।
स्वस्वरूपमिदं ब्रह्म प्रत्यक्ष मनुभूयते ॥१४॥

इस ब्रह्म का कोई स्वरूप ही नहीं है (अर्थात् वह शून्य है) विद्वान् पुरुष यह बात भी कैसे कहे? क्योंकि स्वस्वरूप इस ब्रह्म को तो वह विद्वान् प्रत्यक्ष अनुभव करता ही है।

स्वस्वरूपमिदं ब्रह्म चेदित्यप्ययथातथम्।
तत्र को नु स्वशब्दार्थो यत्स्वरूपमिदं भवेत् ॥१५॥

वह ब्रह्म स्वस्वरूप है यह बात भी सर्वांश में माननीय नहीं होती, क्योंकि इस 'स्वस्वरूप' शब्द में स्वशब्द का अभिप्राय बताना चाहिये। जिसका कि इस ब्रह्म को स्वरूप कहा जाय।

वह स्वशब्दार्थ वस्तु क्या है? वह ब्रह्म ही है? किंवा उस से भिन्न कोई पदार्थ है? यदि कहो कि वह ब्रह्म ही है तब तो पुनरुक्ति दोष होगा। उस अवस्था में उस वाक्य का अर्थ यह होगा कि ब्रह्म ब्रह्मस्वरूप है। यदि उससे भिन्न कोई पदार्थ

मानोगे तो ब्रह्म से भिन्न सब पदार्थों के असत् होने से व्यर्थता दोष आयगा, तथा उस अवस्था में इस वाक्य का यह अर्थ होगा कि ब्रह्म असत्स्वरूप है। इस प्रकार स्वशब्द का कोई भी उचित अर्थ सिद्ध न होने से ब्रह्म को स्वस्वरूप कहना भी युक्ति संगत नहीं ठहरता।

परव्यावर्तकं स्वत्वमिति चेत्तर्हि तद्वद।
यत्र स्वपरभावो न ब्रह्म किं तत्र नास्ति हि ॥१६॥

यदि स्वशब्द का अर्थ परव्यावृत्ति कहो तो बताओ कि जिन अवस्थाओं में स्वपरभाव नहीं होता तो क्या वहां ब्रह्म ही नहीं रहता ?

जिस मूर्च्छा, निद्रा तथा समाधि के काल में स्वशब्द का परव्यावृत्तिरूपी अर्थ तथा परशब्द का स्वव्यावृत्तिरूप अर्थ ये दोनों ही नहीं रहते, क्या उस समय ब्रह्म ही नहीं रहता है ? विद्वानों का अनुभव इस बात में प्रमाण है कि निद्रा मूर्च्छा समाधि तथा स्वपरभाव के सन्धि के समय यह स्वपरभाव तो नहीं रहता, किन्तु इन सब अवस्थाओं को प्रकाश करनेवाला ब्रह्म-तत्त्व तो इन अवस्थाओं में भी रहता ही है। इन अवस्थाओं के आने पर परव्यावृत्ति होती ही नहीं, फिर भला परव्यावर्तक स्वशब्द ब्रह्म का कथन किस प्रकार कर सकता है।

अहमेव परं ब्रह्म ब्रह्माहमिति च श्रुतेः।
कथं भवेदहं ब्रह्माहन्ता यत्र न विद्यते ॥१७॥

"ब्रह्माहम्" इस श्रुति के अनुसार अहं ही को ब्रह्म कैसे माना जाय ? क्योंकि उस ब्रह्म में तो अहन्ता ही नहीं रहती। ब्रह्मशब्द अपरिच्छिन्न अदृश्य तथा सद्रूप अर्थ का बोध

कराता है। इसके विपरीत अहं शब्द शरीरपरिच्छिन्न दृश्य तथा असद्रूप पदार्थ का बोध करा रहा है। इन दोनों का तो परस्पर अत्यन्त ही विरोध दिखाई देता है। उस ब्रह्म में अहन्ता (अहंकार की सत्ता) का तो सर्वथा ही अभाव है। तात्पर्य—'अहंब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों में अहंपद के वाच्यांश को छोड़कर केवल लक्ष्यांशमात्र को ब्रह्म कहकर अहमर्थ की बाधा कर दी जाती है। इस लिये वहां 'यह चोर स्थाणु है' इत्यादि वाक्यों के समान बाधसामानाधिकरण्य ही माना जाता है। मुख्यार्थसामानाधिकरण्य नहीं होता। ऐसी अवस्था में यह क्षुद्र अहन्ता भी ब्रह्मस्वरूप कैसे होगी ?

त्वमेव तत्परं ब्रह्म 'त्वं ब्रह्मेति' श्रुतिर्जगौ।
त्वमेव तत्कथं ब्रह्म त्वन्ता यत्र न वर्तते ॥१८॥

यद्यपि श्रुति ने 'त्वं ब्रह्म' यह कहा है, केवल इसी आधार पर त्वं ही को परम ब्रह्म मान लेना ठीक नहीं। क्योंकि उस ब्रह्म को त्वं ही क्योंकर कहा जाय ? जिस उसमें त्वन्ता है ही नहीं।

(१) स्वप्रत्यक्ष, (२) स्वभिन्न तथा (३) स्वसन्निहित ये तीन अर्थ त्वं शब्द के कहे जाते हैं। इसके विरुद्ध देश काल तथा वस्तुकृत परिच्छेद से रहित सच्चिदानन्दघनरूप ब्रह्म का अर्थ माना जाता है। 'त्वंब्रह्म' इस श्रुति ने इन दोनों का सामानाधिकरण्य कहा है। तब क्या इसके अनुसार त्वंशब्दार्थ ही ब्रह्म मान लेना चाहिये ? ऐसी शंका होने पर कहा जाता है कि वह ब्रह्म त्वं भी कैसे हो ? क्योंकि इन दोनों का परस्पर अत्यन्त विरोध देखा जाता है। फिर इन दोनों का ऐक्य ही कैसे हो ? उस ब्रह्म में त्वन्ता का होना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। श्रुति का

तात्पर्य तो 'यह चोर स्थाणु है' इत्यादि वाक्यों की तरह बाध-सामानाधिकरण्य में ही होता है। मुख्य सामानाधिकरण्य यहाँ पर भी नहीं होता।

'तद्ब्रह्मे'ति श्रुतेर्वक्तुं तद्ब्रह्मेति न शक्यते।
अत्यन्ताव्यवधाने हि परोक्षमिव तत्कथम् ॥१९॥

'तद्ब्रह्म' इस श्रुति के अनुसार उस ब्रह्म को तद् कहना भी ठीक नहीं होता। क्योंकि सदा अत्यन्त अव्यवहित रहनेवाले उस ब्रह्म में परोक्षता कैसे हो ?

तत् शब्द को परोक्षार्थक कहा जाता है, ब्रह्म शब्द का देशादि से अपरिच्छिन्न अर्थ प्रसिद्ध ही है। उन दोनों की एकता का बोध कराने से ब्रह्म को तत्पदार्थ ही मान लेना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। क्योंकि वह ब्रह्म सबको ही अत्यन्त अव्यवहित (समीप) होता है। फिर उसको परोक्ष (वाचक तत्पद का वाच्य) भी कैसे कहा जाय? क्योंकि ब्रह्म-शब्दार्थ तथा तत्पदार्थ का परस्पर अत्यन्त विरोध है। तद्ब्रह्म इत्यादि श्रुतियों में भी तत्पद के वाच्यांश को छोड़कर ऊपर के विवेचन के समान बाधसामानाधिकरण्य ही देखा जाता है। तत्पदार्थ और ब्रह्म का मुख्य सामानाधिकरण्य कदापि सम्भव नहीं होता, इसलिये ब्रह्म तत्पदवाच्य भी कभी नहीं हो सकता।

नष्टायां मोहनिद्रायां गलिते मानसे मुनेः।
यच्छिष्टं तत्परं ब्रह्म मनोवाचामगोचरम् ॥२०॥

मोहनिद्रा के नष्ट हो जाने पर तथा मन के गल जाने पर जो कोई तत्व शेष रह गया है वही परब्रह्म है, परन्तु वहाँ मन,

वाणी की पहुँच नहीं है। यही कारण है कि उसका कोई नाम भी रक्खा नहीं जा सकता।

प्रपंचरूपी स्वप्न का जो वीज कहाती है, स्वरूप का जिसने विस्मरण करा दिया है। जब किसी अधिकारी की ऐसी नींद का भंग हो जाय, और जब कि उसका मन भी गल चुका हो, तब यह जो विद्वानों के अनुभव में आने वाला (अज्ञानाभाव तथा मानसाभाव दोनों का साक्षी) एक तत्व शेष रह जाता है वही तो परब्रह्म कहाता है। वह तत्व क्योंकि स्वयंप्रकाश सद्रूप तथा निर्गुण है इसलिये उस तक मन तथा वाणी नहीं पहुँचती। उसका प्रकाश करने में मन तथा वाणी की आवश्यकता ही नहीं होती। क्योंकि वह तो स्वयंप्रकाशस्वरूप है। कुछ क्षण के लिये कल्पना कर लो कि आपकी मोहनिद्रा का भंग हो चुका है और आपका मन भी गल गया है........। अब जो तत्व शेष रह गया है बस इसी को परब्रह्म समझ लो। परन्तु इस तत्व का निरूपण करने में कठिनाई यह है कि इसके मिल जाने पर इसका निरूपण करने वाले शब्दों का मिलना तथा शब्द संग्रह करने वाले मन का रहना दोनों ही असम्भव हो जाते हैं। इस तत्व का निरूपण करने के लिये शब्दशास्त्र कँगला हो जाता है।

चर्चितुं योग्यया भूयस्त्वनया चर्चया बुधाः।
चर्चयन्तु परं ब्रह्म तुष्यन्तु च रमन्तु च ॥२१॥

बुद्धिमान् पुरुषों को उचित है कि (और सब लौकिक वैदिक चर्चाओं को छोड़कर) चर्चा करने योग्य केवल इसी ब्रह्मविषयक चर्चा के द्वारा परब्रह्म के विषय में ही आपस में संवाद किया करें। (उस संवाद को ही परमपुरुषार्थ समझ

कर) संतोष को प्राप्त हों तथा (कृतकृत्य होकर) इस संवाद में अपना मन लगायें।

अथ स्वेच्छाचारचतुष्टयी

कोई यह शंका कर सकता है कि जब व्यवहारकाल में मुमुक्षु का अहंकार बना रहता है, तो उसके रहते हुए ब्रह्मात्म में किसी की तदाकारवृत्ति कैसे हो? उसका उत्तर यह है कि— आत्मदर्शन हो जाने पर जब तक किसी के प्रारब्धकर्म शेष रहते हैं, तब तक चाहे अहंकार बना भी रहे, परन्तु आत्म-स्थिरता की क्रमवृद्धि के अनुसार वह ज्ञानी उस अहंकार का अनादर करने लगता है। तथा उस (ज्ञानी) का स्वरूपप्रेम बढ़ने लगता है, अन्त में क्रमानुसार उस अहंकार का नाश भी हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानी का अहंकार समाधि का विरोधी नहीं रहता। यही बात इस 'स्वेच्छाचारचतुष्टयी' में बतायी गयी है।

श्रोतव्या श्रीमता साधो नूनमेकाग्रचेतसा।
परमार्थस्य सर्वस्वं स्वेच्छाचारचतुष्टयी ॥१॥

हे साधो, वैराग्य आदि सम्पत्ति वाले तुझ श्रीमान् को एकाग्र-चित्त होकर परमार्थ का निष्कर्ष (सार) स्वेच्छाचारचतुष्टयी नाम का यह प्रकरण सुन लेना चाहिये।

निजं पतिं परित्यज्य गृहस्थैव प्रपंचती।
पत्या परेण रमते चतुराख्याभिचारिणी ॥२॥

अपने भर्ता को छोड़कर, पति के घर में रहकर ही, अपने पति को अपने प्रपंच से ठगकर, चतुरा नाम की कोई व्यभिचा-रिणी, जार के साथ रमण करती है।

अहंकार ही इस बुद्धि का पालक होने से पति कहाता है। उस अहंकार नाम के पति को छोड़ कर शरीररूपी अथवा इन्द्रियरूपी गृह में रहती हुई, अपने पतिरूपी अहंकार को धोका दे कर चतुरा (तुर्या=चतुर्थी) नामक जीवन्मुक्त पुरुष की बुद्धि, अपने सत्, चित् तथा आनन्द का दान देकर पालन करने वाले कार्यकारणातीत प्रत्यगात्मारूप पति के साथ रमण किया करती है। मूर्ख पति के समान उस अहंकार को इसके पररमण का ज्ञान तक नहीं होता।

अहङ्कारं पृथक्कृत्य तुर्यबुद्धिर्दिने दिने।
पत्या परेण रमते पुंश्चली परसङ्गिनी ॥३॥

परपुरुष का सङ्ग करने वाली स्त्री, अपने जात्यभिमान तथा मातृपितृकुलाभिमान की कुछ परवा न करके अहंकार (स्वाभिमान) को अपने अन्तःकरण में से निकाल कर, प्रतिदिन जार पुरुष के साथ रमण किया करती है।

इसी प्रकार तुर्याबुद्धिरूपी पुंश्चली (देहाभिमानी जीव से वचने वाली) होने के कारण परसङ्गिनी (कार्यकारणातीत ब्रह्माभिन्न प्रत्यगात्मा के साथ समागम करने वाली) होकर, अहंकार को अलग रख कर अर्थात् देहाभिमान वर्णाभिमान आश्रमाभिमान कुलाभिमान तथा जात्यभिमान को अपने से पृथक् जानकर प्रतिक्षण ही परपति के साथ रमण करती है।

पश्चात्तु स्त्रीजितः सोऽपि प्रतिकर्तुमनीश्वरः।
अस्याः सम्भोगवेलायां गृहं सन्त्यज्य गच्छति ॥४॥

पीछे से तो स्त्री से जीत लिया हुआ वह कुछ प्रतिकार न

कर सकने पर, यह करता है कि इसके संभोग के समय घर को ही छोड़ कर चल देता है।

प्रकृत—फिर वह अहंकार आत्मानुसन्धान में लगी हुई अपनी बुद्धिरूपी स्त्री को पहले (अज्ञानावस्था) की तरह हटाकर अपना ही ध्यान क्यों नहीं कराता तो उसका उत्तर यह है कि—वह अहङ्कार बुद्धिरूपी स्त्री से असत् तथा तुच्छ दृष्टि से देखा जाने के कारण पराजित होकर, उसको आत्मानुसन्धान से हटाने में असमर्थ हो जाता है। जब कि इस तुर्या नामक बुद्धि का (स्वात्मानुसन्धानरूपी) भोगकाल आता है तो वही अहङ्कार देहरूपी घर को छोड़ कर विलीन हो जाता है। फिर तो वह तुर्यानामक बुद्धि भी बेधड़क होकर स्वात्मानुसन्धान करने लगती है। क्योंकि उस काल में उसको आत्मनुसन्धान से रोकने वाला ही कोई शेष नहीं रह जाता।

ईदृशे व्यवहारे तु दाम्पत्यं वद कीदृशम्।
दिनैः कतिपयैरेव स्वेच्छाचारः प्रवर्तते ॥५॥

(अपने ही घर में अपनी ही स्त्री के साथ) ऐसा व्यवहार होने पर भला दाम्पत्यसुख कैसे रह सकता है। (तथा क्योंकर उस दुःखमिश्रित दाम्पत्यसुख में किसी समझदार की आसक्ति हो सकती है। इस प्रकार अनासक्ति होते होते उस का परिणाम यह निकलता है कि) फिर कुछ ही दिनों में वे दोनों पतिपत्नी अपने अपने सब लौकिक धर्मों (फर्जों-कर्तव्यों) को छोड़कर यथेष्टाचारी हो जाते हैं (और वह घर बिगड़ जाता है)।

प्रकृत—अहङ्काररूपी निज पति की कुछ परवाह न करके परात्मा के साथ रमण होने पर अहङ्कार तथा बुद्धि का दाम्पत्य

सुख कैसे रहे यह बताओ ? तात्पर्य—संसार की उत्पत्ति का स्थान होने से बुद्धि को जाया कहा जाता है। बुद्धि का पालक अहङ्कार उसका लौकिक पति कहाता है। वे दोनों मिलकर संसारोद्भावनरूपी कर्म करते रहते हैं। परन्तु जब कि यह बुद्धि उस अपने लौकिक पति (अहङ्कार) की परवाह ही न करेगी तो भला दाम्पत्यसुख किस प्रकार स्थिर रह सकेगा ? जब दोनों की परस्पर आसक्ति ही न रहेगी और बुद्धि उस अहङ्कार को एक तुच्छ पदार्थ समझ लेगी तो फिर संसार की उत्पत्ति ही कैसे होगी ? इस सब का स्वाभाविक परिणाम यह निकलेगा कि फिर कुछ ही दिनों में स्वेच्छापूर्वक निरन्तर आत्मचिन्तन चलने लगेगा—फिर संसार की उत्पत्ति की शंका को स्थान ही कहाँ मिलेगा।

स्वानुभवानां सत्यपि बाधिताहङ्कारे समाधिभङ्गो नास्तीत्यर्थः

जिन महानुभावों को आत्मानुभव प्राप्त हो जाता है (किंवा अनुभव ही जिनका आत्मा हो जाता है) वे जीवन्मुक्त पुरुष जब व्यवहार में पड़ते हैं तब भी अहंकार को बाधित (असत्) समझे रहते हैं। (अपने गृहकार्य में लगे रहने पर भी परपुरुष में आसक्त स्त्री का परपुरुषप्रेम जिस प्रकार नष्ट नहीं होता इसी प्रकार) उस बाधित अहङ्कार के रहने पर भी उनका समाधि (स्वात्माकारवृत्ति में प्रेम की अधिकता) से व्युत्थान कभी नहीं होता।

अथाहङ्कारस्याबाधकत्वप्रदर्शनत्रयी

अहङ्कार की अबाधकता को दिखाने वाले तीन श्लोक—

भित्तिचित्रकृतं सर्पं दृष्ट्वा बालः पलायते।
केनचिद् बालकेनोक्तं चित्रसर्पोयमित्युत ॥१॥

ततः प्रभृत्यसौ विद्वांस्तेनैव सह खेलति।
तथात्मस्थमहङ्कारं श्रुत्वा मूढः पलायते ॥२॥
तत्र सद्गुरुणा प्रोक्तं चिदेवास्तीह नेतरत्।
ततः प्रभृत्यसौ विद्वांस्तेनैव सह खेलति ॥३॥

भित्ति के चित्रों में बने हुए सांप को देखकर अबोध बालक वहां से भाग जाता है, कोई समझदार बालक यदि उसे यह समझा दे कि यह तो चित्र का सर्प है तो वह उसे जान कर उसी से खेला करता है। इसी प्रकार आत्मा में स्थित अहङ्कार को देखकर उससे डरकर मूर्ख पुरुष (समाधि की ओर को) दौड़ता है। परन्तु जब कोई सद्गुरु उसे यह बता देता है कि (अहंकार कोई सत् पदार्थ ही नहीं है, यहां) केवल चित् ही एक सत्य पदार्थ है फिर तो वह ज्ञानी होकर उसी अहङ्कार से खेलने लगता है।

अज्ञानी लोग आत्मा में स्थित अहंकार को देखकर उससे डर कर मूढसमाधि की ओर को भागा करते हैं। वे समझते हैं कि आँखें बन्द करके मन को सावधान कर लेने पर समाधि का सुख लेना ही प्रकृत सुख है। इसके लिये प्रयत्न करने पर कभी भी दुःख के दर्शन करने का प्रसङ्ग नहीं आता। तब क्या यही पारमार्थिक सुख नहीं है! ये ही सब बातें इस ज्ञानमार्ग में नवप्रविष्ट मुमुक्षु के हृदय में घूमा करती हैं। उसे जब कभी कोई दुःख चिन्ता किंवा रागद्वेषादि से कुछ कष्ट पहुँचता है तो ही वह अहंकार से डरकर समाधि की तरफ़ को दौड़ जाता है। परन्तु जब कोई सद्गुरु उस के इस अहङ्कार से उत्पन्न हुए भ्रम को पहचान जाता है, तो वह उसे यह जता देता है कि इस

अहङ्कारादि के भान में केवल प्रत्यगात्मचैतन्य ही व्याप्त हो रहा है। अहङ्कारादि कोई भी पदार्थ आत्मा से भिन्न होकर है ही नहीं। तव तो वह आत्मा के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञाता हो कर उन्हीं अहङ्कारादि जगत्पदार्थों के साथ सर्वथा निःशंक होकर खेला करता है। फिर उसे यह इच्छा नहीं रहती कि मैं आँखों को बन्द करके किंवा मनको रोककर ही उस परमपद को पाऊँगा। तव तो उसे यह मालूम हो जाता है कि कोई कार्य कर लेने किंवा किसी प्रसंग को टाल देने से वह परमपद किसी के हाथ नहीं आजाता। कहीं का जाना रोक देने किंवा कहीं एकान्त चले जाने से वह परमपद किसी के अधिकार में नहीं आ जाता। यदि इन तुच्छ क्रियाओं से ही वह परमपद किसी के हाथ आता हो तो फिर उसे पूर्ण ही कैसे कहा जा सकता है? कौड़ी जितने आकार वाली आँखों को खोल देने, किंवा मन जैसी क्षुद्र वस्तु को खुला छोड़ देने से यदि उस परमपद का अन्तर्धान हो जाय तो फिर उसे पूर्ण कहना कदापि युक्तिसंगत नहीं होगा। जिसके एकचतुर्थांश में करोड़ों ब्रह्माण्ड भरे पड़े हैं क्या भला वह परमपद किसी क्रिया से लुप्त हो सकता है? वह पद तो अपना निज स्वरूप ही है। सब आकारों का बाध करने पर बचा हुआ वह शुद्ध ज्ञान ही तो हमारा स्वरूपभूत परमपद है। वह किसी काल या क्रिया आदि की मर्यादा में बँधनेवाली वस्तु नहीं है। हमारे इस अहङ्कार तथा इससे उत्पन्न हुए अनेक कल्पना-रूपी ईंधनों को यह आत्मारूपी अग्नि सदा ही आत्मरूप करती चली जा रही है। फिर क्या भला कभी भी ईंधन के देखने से अग्नि को भय हो सकता है! इसी प्रकार इस बाधित अहङ्कार के बने रहने पर भी उस ज्ञानी की मुनिवृत्ति का बाध नहीं होता।

फिर तो उस ज्ञानी का मन जहां जहां जाता है उसको वहीं वहीं स्वयमेव समाधि होने लगती है। अज्ञानी लोगों की तरह उसके लिये समाधि कोई कर्तव्य पदार्थ नहीं रह जाती। क्योंकि वह समाधि तो आत्मा की स्वाभाविक स्थिति ही है।

अथ प्रश्नोत्तरमुक्ताफलद्वयम्

यदि किसी मुमुक्षु को आत्मचिन्तन करते हुए अपने नाश की भावना उत्पन्न हो जाय और वह आत्मचिन्तन का अनादर करने पर उतारू हो जाय, तो उसकी शंका को हटाने के लिए जीव तथा विषयवासना के संवाद के रूप में उसका समाधान कहा जाता है—

तत्र विषयवासनोवाच—

विषयों की इच्छा जीव से यों कहने लगी—

अहिक्रीडा न कर्तव्या कर्तव्यं नात्मचिन्तनम्।
अहो जीव महामूढ ! मरणं ते भविष्यति ॥१॥

हे महामूर्ख जीव ! तू सांप से खेल मत कर (सर्प के समान नष्ट कर डालने वाले आत्मा के साथ अपना नाता मत जोड़) उस प्रत्यगात्मा का चिन्तन मत कर ? यदि तू आत्मचिन्तन करेगा (उसके साथ प्रेम जोड़ेगा) तो तेरा नाश हो जायगा। (इस आत्मसर्प के काट लेने पर तुझे ऐसी घोर मूर्छा आवेगी कि फिर तू कभी भी न उठ सकेगा और मर जायगा)।

स जीव उवाच

विषयवासना को उस ज्ञानी जीव ने यह उत्तर दिया—

अहिनानेन ये दष्टा अमरत्वं गता हि ते।
अस्यामृतमयी दंष्ट्रा तत्क्रीडाम्यमुनाहिना ॥२॥

इस सांप ने जिसको काटा वे सब अमर हो गये, इसकी दाढ़ में अमृत भरा हुआ है। इसलिये मैं तो इसी सांप से खेलता हूँ ?

इस आत्मरूपी सांप ने जिस किसी भाग्यशाली शुकादि को काटा है, वे सब मरणरहित पद को प्राप्त हो गये (ब्रह्मीभूत हो चुके) हैं। मैं भी इस अविनाशिस्वरूप आत्मा के साथ ही रमण करता हूँ। इस आत्मसर्प की विवेकरूपी दंष्ट्रा में अमृत पद (ब्रह्मात्मता) भरा पड़ा है। इसके काट लेने पर अमर पद प्राप्त हो ही जायगा। साधक के बड़े भाग्यों के उदय होने पर ही इस आत्मसर्प से डसे जाने का शुभ प्रसंग आता है।

अथ प्रश्नोत्तरचमत्कारत्रयी

ज्ञानियों में अहङ्कार के रहने पर भी काम क्रोध आदि का बल नष्ट हो जाता है यह बात इस प्रकरण में बतायी गयी है।

यथापूर्वं न खेलन्ति यथापूर्वं हसन्ति न।
कैश्चित्कामादयः पृष्टा भवन्तः किं हतप्रभाः ॥१॥

एक वार किन्हीं (मोहादियों) ने कामादियों से पूछा कि अरे भाई, इसका क्या कारण है कि अब तुम पहले की तरह न तो खेलते ही हो और न पहले की तरह प्रसन्न ही रहते हो? किस कारण से अब तुम्हारी प्रभा नष्ट हो गयी है ? (तुम्हारा तेज क्योंकर जाता रहा ?)

कामादय ऊचुः

कामक्रोधादियों ने उत्तर दिया—

अस्मान्पुष्णाति या नित्यं साऽस्माकं जननी मृता।
सुखलुब्धेन पित्रा नः काचिदन्या कृता वधूः ॥२॥

जो हमें नित्य पालती थी वह हमारी (अविद्या) माता तो मर गयी, सुख के लोभी हमारे पिता ने दूसरी स्त्री से विवाह कर लिया है। इससे वह अब हमारी परवा नहीं करता है।

अस्मान् द्विष्यति सा नित्यं न पुष्णाति कदाचन।
दिनैः कतिपयैरेव गृहत्यागो भविष्यति ॥३॥

वह तो हमसे सदा द्वेष करती है किसी समय भी हमारा पालन नहीं करती। हमें दीखता है कि कुछ ही दिनों में हमारा गृहत्याग हो जायगा।

हमारे पिता की वह नववधू हमारी विमाता हम कामादियों की तरफ़ को सदा ही दोषदृष्टि से देखती है, तथा कभी भी हम अविद्यापुत्रों का पालन नहीं करती। इसका परिणाम यह होगा कि हम कामादियों को यह ज्ञानिशरीररूपी अपना घर ही छोड़ देना पड़ेगा। तात्पर्य—विद्या के प्रभाव से जब अविद्या का नाश हो जाता है फिर चाहे अहङ्कार बना भी रहे परन्तु फिर वह कामादियों का पोषण नहीं करता। प्रत्युत विद्यासुख के लोभ से उन कामादि के साथ उसको द्वेष ही हो जाता है। इस प्रकार पोषक न रहने पर क्रम से वे कामादि विकार स्वयमेव लीन हो जाते हैं।

अथ स्तनपानलीलाष्टकम्

अहङ्कार के रहने पर भी विद्या में ही रुचि उत्पन्न करने के लिये इस प्रकरण का आरम्भ किया जाता है—

श्रीगुरुरुवाच

उपमाता च माता च बाल मातृद्वयं हि ते।
उपमातुः स्तनरसः कट्वम्लमधुतिक्तकः ॥१॥

जरामरणसंसर्गी चित्रद्वैतरसात्मकः ।

हे बालक, तुझे पालने वाली दो मातायें हैं। एक उपमाता (धायी) दूसरी माता। तेरी उपमाता (धायी) के स्तनों का दूध कड़वा, खट्टा, मीठा तथा तीखा आदि बुरे स्वाद का है। उसके पान करने से वार्धक्य निर्बलता, अकालमरण किंवा ऐसा मूढजीवन प्राप्त होगा कि जिससे धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का उपार्जन नहीं कर सकोगे।

प्रकृत तात्पर्य—अविद्यामाता के विषयरसरूपी दुग्धपान में फँसे हुए हे अज्ञानी बालक! अविद्या तथा विद्या नाम की तुम्हारी दो माताएँ हैं। इन दोनों ने ही तुम सर्वव्यापक को परिच्छिन्न (एक देश में क़ैद) कर रक्खा है। उनमें से पहली अविद्यारूपी उपमाता ने ही तुम्हारा परिच्छेद दृढ किया है। जिससे तुम्हें अपने साक्षात् स्वरूप का ज्ञान कभी नहीं होता। दूसरी विद्यारूपी माता है वह यद्यपि परिच्छेद तो करती है परन्तु साथ ही तुम्हें तुम्हारे आत्मा का साक्षात्कार भी करा देती है। यही तो इन दोनों में वड़ा अन्तर है। तुम्हें उचित है कि अपनी उपमाता अविद्या के लोक परलोक के विषय रूपी स्तनों में से मिलनेवाले रस (सुख) को सर्वथा छोड़ दो। वह रस भोगने में अत्यन्त कड़वा अत्यन्त खट्टा कभी कभी मीठा, तथा अधिकतर तीखा ही होता है, उसको पान करने से जरा तथा मरण ये ही दो विषम फल हाथ लगते हैं।

निजमाता तव तु या तन्माहात्म्यं वदाम्यहम् ।२।।
सैव माता पिता सैव जगतामीश्वरी च सा ।
सा गतिः सा परं तत्त्वं तत्परं नास्ति किञ्चन ।।३।।

हे बालक ! यह जो तेरी अपनी माता है मैं उसकी महत्ता को तुझे समझाता हूँ। यही तो तेरी असली माता है। यह जननी ही तेरा पालनेवाला पिता है। सकल जगत् की ईश्वरी (सर्वाधिक पूज्य) भी तो यही माता है। बालकों की परमगति भी यही माता कहाती है। बालकों के लिये ब्रह्म के समान उपास्य होने से यह माता ही बालकों की अल्पदृष्टि में परम तत्त्व हो जाती है। अबोध बालकों के लिये उस माता से बढ़कर कोई भी पदार्थ संसार में नहीं होता।

प्रकृत—माता अर्थात् ब्रह्म को जताने वाली विद्या ही सच्चे अर्थों में माता है। वह विद्या ही इस सकल जगत् का पालक पिता है। क्योंकि मृत्युमुखरूपी संसार से इस जगत् की रक्षा उसी ने की है। सकल लोकों की ईश्वरी (किंवा ईश्वर के समान पूजनीया) भी वही विद्या है। मुमुक्षु लोगों की गति किंवा शरण भी वही है। वह विद्या ही पर (कार्यकारणातीत ब्रह्मनामक अनारोपित) तत्त्व कहाती है। उस विद्या से अन्य किंवा श्रेष्ठ कोई भी पदार्थ नहीं है। मुमुक्षु बालक अविद्या को छोड़ दें और विद्यामाता का ही आश्रय ले लें।

उपमाता कुजातिस्ते माता तव सुजातिका।
तां कुजातिं परित्यज्य सुजातिं मातरं श्रय ॥४॥

तेरी उपमाता (धात्री) एक ओछी जाति की है परन्तु तेरी माता एक श्रेष्ठ जाति की मानी जाती है। उस कुजाति को छोड़ कर सुजाति माता का आश्रय ले ले। (नहीं तो कुजाति का सम्पर्क होनें पर बुद्धि मलिन हो जायगी, अधर्माचरण में प्रवृत्ति होगी, तथा परिणाम में तुझे नरक का वास ही मिलेगा)।

प्रकृत में—हे मूर्ख तुझ सर्वव्यापक को देहादि के परिच्छेद में डालने वाली तेरी उपमाता अविद्या को कुजाति कहा जाता है। क्योंकि उसके पेट से जन्ममरण के चक्करों तथा सुख दुःख के द्वन्द्वों में फँसे हुए अज्ञानी बालकों का ही प्रसव होता है। परन्तु तेरी माता साक्षात् आत्मदर्शन कराने वाली है। प्रमारूप ब्रह्माकार वृत्ति को सुजाति कहा जाता है क्योंकि उसको पाकर सबही सुन्दर ब्रह्मरूप हो जाते हैं। तुझ मुमुक्षु को उचित है कि सुख दुःख तथा जन्ममरणादि गतियों को देने वाली उस अविद्या माता को छोड़कर विद्या माता का ही आश्रय ले। तब ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

निजमातुः स्तनरस स्त्वद्वैतामृतवर्षणः।
जन्मरोगजराध्वंसी सकृत्पीतोपि मृत्युजित् ॥५॥

अपनी माता का दुग्ध अद्वैत तुल्य अमृत को वर्षाने वाला होता है। उसका पान करने से काल से पूर्व जन्म रोग तथा जरा आदि नहीं आते। एक वार पीने पर ही वह मृत्यु अर्थात् मृत्यु के कारण रोगादिकों को जीत लेता है।

प्रकृत—अपने आत्मसाक्षात्कार की कारण विद्यारूपी माता के (अध्यारोप तथा अपवाद को बताने वाले उपनिषद्वाक्यरूपी) स्तनों में से निकले हुए ब्रह्मसुखरूपी दुग्ध का पान करने से जब कि भेदरहित अमृतसुख की झड़ी लग जाती है तथा जन्मपरम्परा बन्द हो जाती है तो फिर रोग जरा आदि विकार कैसे आयेंगे? इस ब्रह्मसुखरूपी दुग्ध का तो जो लोग एक वार भी पान कर लेते हैं फिर वे मृत्यु के वश में कभी नहीं आते। प्रत्युत वे मृत्यु को ही जीत लेते हैं।

न ज्ञातं मूढभावेन पूर्वं मन्तरमेतयोः ।
इदानीं मन्तरं ज्ञात्वा निजमातुः स्तनं पिब ॥६॥

(हमारे बताने से) प्रथम तुझ मुमुक्षु बालक ने मूढता के कारण धायी के तुल्य अविद्या तथा माता के तुल्य विद्या के भेद को नहीं पहचाना था—अब हमारे बताने के पश्चात् निजमाता-तुल्य विद्या के (ब्रह्मरूपी) दुग्ध को टपकानेवाले (उपनिषद्वाक्य-रूपी) स्तनों का ही (अङ्गीकाररूपी) पान करले ।

त्वया स्तने परित्यक्ते सा विदीर्य म्रियेत चेत् ।
नश्येत्कुजातिसंसर्गो हितमेव तदा भवेत् ॥७॥

तुम्हारे स्तन छोड़ देने पर यदि वह सूखकर मर जाय तो तुम्हारा कुजाति से सम्पर्क छूट जायगा यह भी तुम्हारा हित ही होगा ।

प्रकृत—हे शिष्य ! जब कि तुम मुमुक्षु अविद्या के, कर्म-जाल का प्रतिपादन करने वाले स्तनरूपी शब्दों को, (उनकी फल-वासनासहित) सर्वभाव से छोड़ दोगे, तब वह अविद्या क्षीण होकर यदि नष्ट हो जायगी, तो कुजाति अर्थात् कुत्सित संसारी लोगों को उत्पन्न करने वाली उस अविद्या का तथा उसकी वास-नाओं का सम्पर्क नष्ट हो जायगा, तब तो यह सब तुम मुमुक्षु का अभिलषित स्वयमेव प्राप्त होगा । क्योंकि अविद्या का नाश ही मोक्ष कहाता है ।

मायाब्रह्ममय स्तात किमर्थं वर्णसङ्करः ।
मायामेव परित्यज्य शुद्धब्रह्ममयो भव ॥८॥

हे तात ! मायाब्रह्ममय वर्ण संकर क्यों करते हो, माया को छोड़कर शुद्ध ब्रह्ममय ही हो जाओ ?

इस सकलजगत् की कारण सदसदनिर्वचनीय शक्ति को माया कहते हैं। देशकाल आदि की मर्यादा में न आने वाला प्रत्यगभिन्न परमात्मा ब्रह्म कहाता है। हे शिष्य! तुम माया तथा ब्रह्म को मिलाकर शुद्ध और अशुद्ध वर्णों का परस्पर साङ्कर्य क्यों कर रहे हो? इस विजातीय मेल को बिना किये भी तो तुम्हारा जीवन रह सकता है। यह मेल तो दोषरूप होने से दुःखों का ही जनक है। अतः इस साङ्कर्य को छोड़ देने में ही तुम्हारा कल्याण है। तुम माया को छोड़कर माया से अस्पृष्ट शुद्ध ब्रह्मरूप ही हो रहो। जिससे कि दोनों का संयोग न हो और फिर संसाररूपी सङ्कर की उत्पत्ति ही न हो पाये।

अथाश्चर्यचतुष्टयी

ऊपर के प्रकरण से शुद्ध ब्रह्म में रुचि को उत्पन्न करके उसी में स्थिरता सम्पादन के लिये यह आवश्यक है कि उसके स्वरूप का ज्ञान कर लिया जाय। उसी के लिये आश्चर्यरूप ब्रह्म का निरूपण करने वाले इस प्रकरण का आरम्भ किया जाता है—

अन्धः पश्यति सर्वं च पङ्गु र्याति पुरात्पुरम्।
जडः कार्याणि कुरुते नीरसो रसमश्नुते ॥१॥

अन्धा हो कर भी सब कुछ देखता है, लँगड़ा हो कर भी एक नगर (शरीर) से दूसरे नगर (शरीर) तक जाता है, जड होकर भी, कर्तव्य कर्मों का आचरण करता है, नीरस (बेजुबान) होकर भी रसों को भोगता है।

यद्यपि उस ब्रह्म की चक्षु नहीं है तथापि वह सब किसी को देखता है क्योंकि उससे भिन्न तो अन्य कोई द्रष्टा ही नहीं है, ये चक्षुरादि तो देखने के साधनमात्र हैं असली द्रष्टा तो वह ही है।

इसी अभिप्राय से कहा है कि "पश्यत्यचक्षुः" वह विना आँखों के ही देखता है। उस ब्रह्म के यद्यपि पैर नहीं हैं तथापि वह एक नगर से दूसरे नगर तक किंवा एक शरीर से दूसरे शरीर तक पहुँच जाता है। जहाँ कहीं भी किसी को जाना हो वहाँ तो वह व्यापक होने के कारण पहले ही से विद्यमान रहता है। इसी अभिप्राय से उसको 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' कहा गया है अर्थात् उसके हाथ नहीं किन्तु ग्रहण करता है पैर नहीं परन्तु खूब दौड़ता है। वह ब्रह्म जड होकर भी सब कार्य करता है। माया किंवा माया से उत्पन्न हुए सब कार्य जड कहाते हैं। ये ही सब जीवेश्वर का रूप धारण करके इस सकल जगत् के कार्यों का निर्वाह कर रहे हैं। परन्तु ये जीवेश्वरादि भी क्या कभी ब्रह्म से भिन्न हो सकते हैं। क्योंकि ब्रह्म के साथ इनका अभेद है इस कारण इसका तात्पर्य यह हो जाता है कि ये जड पदार्थ जो कुछ करते हैं वह सब ब्रह्म ही तो करता है। क्योंकि वह परमात्मा ही तो जड भी बन गया है। उसके विना तो किसी भी कार्य का निर्वाह नहीं होता। वह अपने जड स्वरूप से आकाश से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त तथा ब्रह्माण्ड से लेकर पिपीलिकापर्यन्त सब छोटे बड़े कार्यों को उत्पन्न किया करता है। इस प्रकार जड में कार्य करने की आश्चर्यकारिणी शक्ति भरी पड़ी है। जिह्वा रहित भी वह आत्मा माधुर्यादि रसों का अनुभव करता है। 'नान्यो ऽतोस्ति द्रष्टा' उससे भिन्न तो कोई द्रष्टा ही नहीं है। रसना तो केवल एक साधनमात्र होती है उस रस को जानने वाला तो वही चेतन है। (अथवा—सर्वसुखविहीन होकर भी वह सम्पूर्ण रसों का अनुभव किया करता है क्योंकि उससे भिन्न और कोई भी अनुभविता नहीं होता)।

निश्चेता निश्चिनोत्यर्थं विरक्तो भोग मश्नुति।
सर्वस्पर्शविहीनोपि ब्रह्मसंस्पर्श मश्नुते ॥२॥

चित्त रहित होकर भी पदार्थों का निश्चय किया करता है, रागरहित होकर भी भोगों को भोगता है, सर्वस्पर्शविहीन होने पर भी ब्रह्मस्पर्श को प्राप्त हो जाता है।

अन्तःकरण रहित होकर भी वह आत्मा पदार्थों का निश्चय कर लेता है। 'अश्रोत्रममनस्कम्' इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म को निर्मनस्क बताया गया है। आत्मा से पृथक् मन की कोई सत्ता नहीं होती इसी लिये आत्मा को निर्मनस्क माना जाता है। उस आत्मा के बिना केवल जडीभूत मन में पदार्थ को निश्चय करने की शक्ति नहीं होती, इसलिये परमार्थ विचार करने पर वह निश्चित्त (चित्तरहित) आत्मा ही निश्चायक हो सकता है। संसार के सम्पूर्ण विषयों के मिथ्या होने से तथा आत्मा के परिपूर्ण होने से आत्मा में किसी प्रकार का राग उत्पन्न नहीं हो सकता। वह तो सदा ही पूर्ण विरक्त रहता है। परन्तु उस आत्मा के बिना तो भोक्तृत्व भी नहीं बनता। इस लिये विरक्त रह कर भी अन्ततः वही सुख दुःखादि भोगों का अनुभव करने वाला होता है। काठिन्यादि विषयों का स्पर्श करने वाले सम्पूर्ण त्वगिन्द्रियों से रहित होने पर भी (क्योंकि सम्पूर्ण विषय तथा सकल इन्द्रियाँ उस आत्मा से पृथक् होकर कोई पदार्थ ही नहीं रहतीं) वह आत्मा ब्रह्म के साथ ऐक्यरूपी संस्पर्श को प्राप्त हो ही जाता है।

सर्वाहारी निराहार मुदरे धारयत्ययम्।
मुग्धो भुनक्ति पाण्डित्यं सिद्धान्तं वक्ति मौनवान्॥३॥

सर्वाहारी होने पर भी उसने अपने पेट में निराहारता को

ही धारण कर रक्खा है। अबोध होने पर भी उसने पाण्डित्य की रक्षा कर रक्खी है। मौनी होकर भी उसने शास्त्रों के सिद्धान्तों का कथन कर डाला है।

वह आत्मा कालरूप होकर कालक्रम से इस समस्त जगत् को निगलता चला जा रहा है। परन्तु फिर भी क्या उसके पेट में इस भोजन ने कुछ आहार का काम दिया है? नहीं नहीं उसने इस सकल जगत् का भोजन कर लेने पर भी अभी तक उसी निराहारता (उपवास) को ही धारण कर रक्खा है। "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदन मृत्युर्यस्योपसेचनं कइत्था वेदयत्र" जिसके ब्रह्म और क्षत्रादि ओदन के समान हैं, मृत्यु जिसके शाक-सूपादि के समान है अर्थात् मृत्यु में मिला मिलाकर इन ब्राह्मण-क्षत्रियादि सब जगत् को जो खाता चला जा रहा है वह जहाँ रहता है उसके निवास को कौन जानता है?" इस श्रुति में उसको सर्वाहारी कहा गया है। जबकि सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थ ही नहीं हैं तब उनका ज्ञान ही सत्य क्योंकर कहा जाय? इसलिये एक प्रकार से उस आत्मा को मुग्ध (अबोध) ही कहना होगा, परन्तु मुग्ध होने पर भी उसने अपने (समदृष्टिलक्षण) पाण्डित्य की तो रक्षा कर रक्खी है "शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः" विद्या विनय सम्पन्नब्राह्मण तथा श्वचाण्डाल आदि में भी जो समदृष्टि रखता है वही पण्डित कहाता है। मौनी रह कर भी उसने सकल वेदान्तों के सिद्धान्त का निरूपण कर डाला है। "अवचने नैव प्रोवाच स ह तूष्णीं बभूव" आत्मस्वरूप के पूछे जाने पर बिना ही शब्दों के आत्मा का निरूपण शिष्यों के प्रति उसने कर दिया। वह सम्पूर्ण रूप से चुप हो गया क्योंकि उस आत्मा ने अनादि

काल से लेकर अनन्त काल तक के लिये अति गम्भीर मौन को धारण कर रक्खा है ? इसलिये जब चित्त में किसी प्रकार के भी संकल्प विकल्प न उठें, जब कि हम सैकड़ों योजन लम्बी स्फटिक शिला के समान अन्दर बाहर पूर्णतया स्वच्छ तथा निश्चेष्ट हो जायँ, जब कि हमें जाग्रत् निद्रा आदि का विचार भी न रहे ऐसा गम्भीर मौन कर लेने पर ही—हम उस आत्मतत्त्व का यथार्थ निरूपण कर सकते हैं।

निर्वैरो जयमाप्नोति निष्कामः पूर्णकामताम् ।
सुप्तो जागर्ति विज्ञानी मृतोप्यमृतमश्नुते ॥४॥

निर्वैर होकर भी उसने विजय (सर्वोत्कृष्टता) का लाभ किया है, निष्काम होकर भी पूर्णकामता को प्राप्त किया है, आत्मानुभव वाला वह सो कर भी जागता रहता है। उसने मरकर ही अमरत्व को प्राप्त किया है।

वह आत्मा सब में समरूप से निवास करता है, तथा उस का द्वेष्य कोई भी नहीं है, इस प्रकार सर्वथा निर्वैर होने के कारण सम्पूर्ण उद्योगों के फल मोक्षरूपी विजय को वह प्राप्त हो जाता है। काम्य विषय कोई भी सत्य नहीं है तथा यह आत्मा पूर्ण है इन दोनों कारणों से सर्वथा निष्काम होने पर भी उसने पूर्णकामता को प्राप्त किया है। 'सर्वान् कामान् समश्नुते' उसने सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त किया है क्योंकि सब कामनाओं का आत्मभूत भी तो वह ही है। आप्तकाम होने से भी उसे पूर्णकाम कहा जाता है। आत्मानुभव वाला वह विज्ञानी पुरुष, प्रपंच तथा प्रपंचविषयक ज्ञान के बाधित हो जाने से, परिणाम में अज्ञानी होकर, सुप्त के समान रहने पर भी किंवा प्रपंच के विषय

में सुषुप्त (ग़ाफ़िल) रहकर भी अपने आत्मचिन्तन में सदा ही जागता (होशियार) रहता है। इसके विपरीत जाग्रत् अवस्था का अभिमानी वह विश्व तो अपने आत्मस्वरूप के विषय में सुप्त (ग़ाफ़िल) रहकर प्रपंचव्यवहार में ही जागता (होश में) रहता है। मोक्षार्थ किये हुए प्रयत्नों से जब उसका जीवत्व नष्ट हो जाता है तो परिणाम में मृत होकर भी अमृत ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

अथ तुरीयतुलसीपूजा

आत्मसाक्षात् करनेवाले की तुरीय बुद्धिवृत्तियां जिस प्रकार की होती हैं तथा उनसे आत्मदेव का पूजन जिस प्रकार किया जाता है वह इस प्रकरण में बताया गया है। चतुर्थी आत्मसाक्षात्कारवती बुद्धि को ही तुलसी माना गया है। यह तुरीय तुलसी जगद्व्यापक परमात्मा को अत्यन्त प्रिय लगती है। विशेष भावगर्भित वृत्तियें ही इस तुलसी के पत्र कहाते हैं। इसी से इस प्रकरण का नाम 'तुरीयतुलसीपूजा' रक्खा गया है।

तुरीयतुलसीपत्रै र्विष्णुपूजा निरूप्यते।
प्रेमप्रधानभावेन शृङ्गाररसरूपिणी ॥१॥

मुझ ग्रन्थकार में प्रेमभाव की अति प्रधानता है इसीलिये शृङ्गाररसरूपिणी, तुरीयरूपी तुलसी के पत्रों से विष्णु अर्थात् जगद्व्यापक आत्मा की पूजा अथवा ध्यान का निरूपण करता हूं।

तत्र गोपीवाक्यम्

लौकिकार्थ में गोपी का वाक्य—प्रकृत अर्थ में तुर्यवती बुद्धि अपनी शान्ति आदि सखियों के प्रति कहने लगी—

दृष्ट्या मया मधुरया कलितोऽधुनायं ।
यत्कामिनीजनमनोहरणो मुकुन्दः ।
तं चिन्तयामि हृदये न सुखं गृहेऽस्मि—
स्तस्मिन्वने भवतु तेन सहैव वासः ॥१॥

कामिनियों के मन को वश में करनेवाले मुकुन्द को मुझ राधा ने सूक्ष्म प्रेमभरी सुखगर्भित दृष्टि से अब देख पाया है। उस साक्षात् देखे हुए श्रीकृष्ण को ही मैं अपने हृदय में स्मरण करती रहती हूँ इस कारण से अब इस घर में (तथा इन गृहकृत्यों में) मुझे चैन नहीं मिलता, अब तो जी चाहता है कि किसी प्रकार उसी वन (वृन्दावन) में उन्हीं के साथ रहने का सौभाग्य मिले।

प्रकृत—आत्मप्रेमविषयक वृत्तियों को आत्मा के विषय में सन्देह होने लगा था, परन्तु मुझ तुर्या नामक बुद्धि ने अपनी मधुर सूक्ष्म दृष्टि से (अपने स्वरूप का निश्चय कराकर सन्देह को नष्ट करनेवाले) उस परमात्मा को पहिचान लिया है। अब तो व्यवहार काल में भी मैं तुर्याबुद्धि अपने हृदय में उसी का सन्तत ध्यान किया करती हूँ। उसी लगन के कारण इस गृह अर्थात् शरीर तथा शरीरसम्बन्धी व्यवहारों में अब मुझे चैन नहीं पड़ता। अब तो यही जी चाहता है कि किसी प्रकार मुझ तुर्या बुद्धि को (उपनिषदों में प्रतिपादित) उसी (वननीय आत्मचिन्तनरूपी) वन में परमात्मा के साथ ही वास करने का सुअवसर हाथ लगे। ऐसा उदार भाव ही तुरीयतुलसीपूजा का प्रथम पत्र कहाता है।

गोपालिकास्मि चतुरा न च मे मनीषा।
देहश्रिता विविधगोरसवासना मे।
किम्वा विधेयमिति चिन्तयती स्थिताहं।
तावद्धलान्मिलित एव मया मुकुन्दः ॥३॥

मैं गाँव की ग्वालन हूँ, मेरी बुद्धि भी (मीठी मीठी बातें करने योग्य) चतुर नहीं है, मेरे देह में दधि दुग्ध तक्र घृतादि का बुरा गन्ध आ रहा है, फिर भला मैं उस श्रीकृष्ण से मिलने का क्या उपाय करूँ (वे मुझे कैसे स्वीकारेंगे) मैं राधिका खड़ी खड़ी यह सब सोच ही रही थी कि इतने ही में अकस्मात् मुकुन्द की प्राप्ति होगयी।

प्रकृत—तुरीया बुद्धि स्वात्मसाक्षात्कार से प्रथम के वृत्तान्त को याद करके शान्ति आदि वृत्तियों से कहने लगी कि—मैं प्रपंच को सत्य मानने वाली बुद्धि अहङ्काररूपी गोपाल (इन्द्रियों का पालन करनेवाले) की स्त्री (भोगसाधन) हूँ। मोह किंवा अहङ्कार से मेरा दृढ सम्बन्ध बँधा हुआ है। यही कारण है कि आत्मानात्मविवेक करने में चतुर मनीषा (समझ) भी मुझ में नहीं है। मेरे लिङ्ग शरीर में अनेक प्रकार के इन्द्रियसुखों की वासनायें भरी पड़ी हैं। जब कि मेरे अन्दर आत्मदर्शन के विपरीत इतनी सामग्री भरी हुई है फिर मुझे आत्मदर्शन के लिये क्या उपाय करना चाहिये ? वह मुझे क्योंकर प्राप्त हो सकेगा! इसी गम्भीर विचार में मैं पड़ी थी कि इतने ही में वह परमात्मा मुझ तुर्याबुद्धि को अकस्मात् दर्शन दे गया। जब किसी अधिकारी के मन में इस प्रकार उपायान्वेषण की गहरी चिन्ता उत्पन्न हो गयी हो तो ऐसे उदार भाव ही इस तुलसी पूजा के द्वितीय पत्र कहाते हैं।

एकाकिनी बत गतासि वने निशीथे।
कुञ्जे निलीय रमणस्य रसो गृहीतः॥
चित्रं भजामि कलयामि न तत्र हेतुं।
सर्वाः प्रसन्नवदना यदिमा वयस्याः॥४॥

मैं अकेली राधिका अर्धरात्रि के समय उस वन में गयी थी, किसी कुञ्ज में छिपकर अपने रमण का सम्भोग सुख भोगा था। यह बड़ा आश्चर्य है तथा इसका कोई भी कारण मुझे ज्ञात नहीं होता है कि ये मेरी सब सखियें (मेरे सम्भोगसुख को देखे बिना तथा मेरे साथ गये बिना भी) प्रसन्नवदन क्योंकर हो गयी हैं।

प्रकृत—तुरीया बुद्धि स्वयं ब्रह्मसुख का अनुभव लेकर, ब्रह्मसुख का अनुभव न करने पर भी शान्ति आदि वृत्तियों को प्रसन्न देखकर, उसके कारण को न पहचानने पर विस्मय में पड़ी हुई सविकल्प समाधि की वृत्तियों से यों कहने लगी—कि हे सखिरूप सविकल्प समाधि की वृत्तियो! मैं तो अकेली होकर विषयों के न दीखने से निशीथ के समान सम्भजनीय ब्रह्म में गयी थी। (माया तथा माया के कार्यों को वश में करने वाले) ईश्वरतत्त्वरूपी कुंज में छिपकर (ब्रह्मरूपी) जगद्रमण के (आनन्दरूपी) रस का भोग किंवा ब्रह्मसुख का अनुभव मैंने अकेले ही किया था। ये शान्ति आदि तथा अन्य भी लौकिक वृत्तियें उस समय मेरे साथ नहीं थी, उन्हें मेरे अनुभूत ब्रह्मसुख की प्रतीति नहीं होनी चाहिये थी, परन्तु फिर भी ये मेरी समवयस्क (क्योंकि विवेक के उदय होते ही शान्ति आदि भी उदित हो जाती हैं इसीलिये वे समवयस्क वृत्तियां कहाती हैं) शान्ति

आदि वृत्तियें सब की सब प्रसन्नमुख (रागादिहीनप्रवृत्ति वाली) देखी जाती हैं। इन की प्रसन्नता का वह कारण ही तो मुझ तुर्या बुद्धि को ज्ञात नहीं होता, इसीलिये मैं तो केवल आश्चर्य में पड़ गयी हूँ। क्योंकि सुखानुभव तो अकेले मैंने ही किया है, मुझसे भिन्न इनको उस आनन्द का अनुभव कैसे हुआ! इसका कारण प्रतीत नहीं होता। यही आश्चर्य तुरीयतुलसीपूजा का तृतीय पत्र कहाता है। आत्मदर्शन होने पर शान्ति आदि सभी वृत्तियां अपने आप उज्ज्वल होती जाती हैं यही इस श्लोक का संक्षिप्त भाव है।

किं वर्णयामि पुरतः किल कस्य वर्ण्यं,
किं वर्णितेन सखि वर्णयितुं न शक्यम्॥
अङ्गानि मे विगलितानि सहैव नीव्या,
दष्टेऽधरे रतिरसे रतिनायकेन ॥५॥

उस रमणसुख को किसके आगे कहूँ ? तथा कौन उसका वर्णन करे ? वर्णन करने से फल भी क्या ? वह तो वर्णन किया ही नहीं जा सकता (इसलिये मैं भी क्यों वर्णन करूँ ?) हे सखि जब रतिनायक ने मेरा अधरचुम्बन किया तो मेरी नीवी के साथ ही साथ मेरे अङ्ग भी ढीले पड़ गये थे।

प्रकृत—तुरीयाबुद्धि ब्रह्मसुखानुभव को अवर्णनीय बताकर अपने समीप रहनेवाली सविकल्प समाधि की वृत्तियों से, किन्हीं के द्वारा उस स्वानुभूत सुख की कल्पना करवाती है—हे सखि! जब मैं ब्रह्मसुखाकार हुई थी तब कोई दूसरा तो था ही नहीं, किसी दूसरे ने तो उसे देखा ही नहीं। इसलिये किस अननुभवी के सामने उसका निरूपण करूँ ? (किस अन्धे को चित्र दिखाऊँ

का निष्फल उद्योग करूँ ?) इसके अतिरिक्त उस ब्रह्मसुख का निरूपण शब्दों के द्वारा करने का सामर्थ्य भी किसमें है "यतो वाचो निवर्तन्ते" उसका निरूपण करने को चली हुई वाणियें जहाँ से असफल होकर ही लौट आती हैं, वर्णन नहीं कर सकतीं। "नान्योऽतोस्ति द्रष्टा" उस ब्रह्मसुख से भिन्न द्रष्टा भी तो और कोई है ही नहीं। फिर जबकि बोलनेवाला भी वह ही है तो अपने आपको अपने से क्योंकर कहा जाय ? फिर उसका वर्णनोद्योग भी क्योंकर किया जाय ? उस वर्णन के प्रलापतुल्य होने से उपहास के अतिरिक्त और किसी फल की आशा भी क्योंकर की जाय ? उसका वर्णन करना एक निष्फलोद्योग होता है। हे मुझ तुर्यावस्था के अनुकूल सविकल्प समाधिरूपी मित्रो ! उस सुख का वर्णन तो किसी प्रकार किया ही नहीं जा सकता, फिर मैं भी उसका क्या वर्णन करूँ ? मैं तो आत्मसुख का निरूपण वाणी के द्वारा करने की ओर से उदासीन हो गयी हूँ। यह वाग्व्यवहार ब्रह्मसुखानुभव का विरोधी है, तथा दुःखरूप होने से निष्फल भी होता है, इसलिये मैं अब केवल संकेतों से ही तुम्हें बताये देती हूँ। सुनो ! सकलसुखों के स्वामी जगदानन्ददायक उस आत्मा ने प्रपंच को धारण करनेवाले धर नाम के अविवेकांश को जब नष्ट कर डाला, अथवा ब्रह्म से (अधः) उतर कर रहनेवाले मुझ तुर्याबुद्धि के वृत्तिरूपी अधर को स्पर्श किया किंवा उस वृत्ति के साथ एकता का सम्पादन कर लिया तो फिर मुझे आत्मरूपी पति के निरतिशयानन्द का आविर्भाव स्वयमेव हो गया—फिर तो मुझ तुर्याबुद्धि की, अहंकाररूपी नीवी* भी खुल गई और अनु-

* जिस प्रकार कपड़े तथा शरीर का सम्बन्ध नीवी के कारण स्थिर रहता है इसी प्रकार शरीररूपी कपड़े और आत्मा के सम्बन्ध

भविता अनुभव तथा अनुभवितव्य नाम के मेरे तीनों अंग तथा तीनों शरीर भी कुछ समय के लिये अदृश्य हो गये। तब मुझे शरीरादि किसी का भी भान नहीं रहा। इस लक्षण से मेरे उस अलौकिक सुख की कल्पना कर लो। ऐसे लोकोत्तर भाव ही तुरीय-तुलसीपूजा के चतुर्थ पत्र कहाते हैं।

नन्वेतदेव सुकृतं फलितं मदीयं,
यत्कामिनीषु रसलम्पट एष कृष्णः।
लक्ष्मीपते रितरथा न भवेदकस्मा—
दस्मासु गोपवनितासु कथाप्रसङ्गः ॥६॥

क्योंकि हमें प्रत्यक्ष दीखने वाला यह कृष्ण हम मामूली स्त्रियों में रसाभिलाषी हो रहा है, यह हमारा कोई पूर्वजन्म का पुण्य विशेष ही है जो हमें श्रीकृष्ण का भोगरूपी फल दे गया है, मैं तो केवल यही समझती हूँ। यदि हमारे पुण्यों का उदय न होता तो लक्ष्मी जैसी उत्तम स्त्री के पति उस श्रीकृष्ण का, बिना किसी साधन का अनुष्ठान किये हम राधिकादि गोपस्त्रियों में तो बात-चीत का भी प्रसङ्ग नहीं आता।

प्रकृत—तुर्याबुद्धि को जो अपनी ब्रह्माकारवृत्ति से उत्पन्न हुए सुख का अनुभव हुआ तो उसमें वह पूर्व के अनन्तजन्मों में सम्पादित पुण्यों को ही कारण समझकर सविकल्प समाधि से यों कहने लगी—कि यह आत्मसाक्षात्कार किंवा आत्मसुखप्राप्ति तो मेरे अनन्तजन्मों में सम्पादित पुण्यों का ही परिणाम है

को भी अहंकाररूपी नीवी (अंटी) ने ही स्थिर कर रक्खा है जिस प्रकार नीवी खुलने पर शरीर नंगा हो जाता है, इसी प्रकार अहंकार के हट जाने पर आत्मा भी शुद्ध रह जाता है।

क्योंकि यह कृष्ण नाम का ब्रह्मानन्द कामिनियों (सविकल्प समाधि की वृत्तियों) में से ही रस चखने का लोभी हो रहा है। यदि हमारे पुण्य न फले होते तो वे मोक्षरूपी लक्ष्मी के पति (परमात्मा या देशिक) अकस्मात् (इतनी जल्दी) हम गोपवनिताओं (गोप नाम के अहंकार से सम्बद्ध तथा प्रारब्ध तक रहनेवाली किन्हीं भी साधारणवृत्तियों) से भूलकर भी बातचीत न करते। साक्षात् अनुभव करा देते इसका तो कहना ही क्या ? फिर भी हमको सदा सब वृत्तियों में जो कि आत्मानुभव रहने लग पड़ा है उस का कारण हमारे पूर्वजन्मों के अनन्तपुण्य ही हैं।

तुरीयतुलसीपत्रै वनमाली सुपूजितः।
अस्मिन्वने महामिष्टं यत्फलं तत्प्रयच्छति ॥७॥

तुरीयरूपी तुलसी के पत्रों से भले प्रकार पूजा हुआ वनमाली इस (कर्मोपासनारूपी रूखे) वन में से भी सबसे मीठा प्रेमरूपी फल दे देता है।

अधिकारिशरीर को पाकर यदि कोई पुरुष तुरीय के समान मोक्षप्रद तुलसी के पत्रों से वनमाली अर्थात् (पैर तक लटकने वाली माला पहननेवाले) श्रीकृष्ण को प्रेम के साथ पूजन कर लेता है तो इस कर्मोपासनारूपी सम्भजन में जो अत्यन्त सुखरूप, (सब जन्मों में किये हुए कर्मों तथा उपासनाओं का) प्रेमरूपी मीठा फल है, वह वनमाली प्रसन्न होकर वही मिष्ट फल उस अधिकारी को दे देता है।

प्रकृत—जब कोई अधिकारी तुरीय (आत्मसाक्षात्कारवाली बुद्धि) रूपी तुलसी के (उपरिवर्णित भावरूपी) पत्तों के तुल्य वृत्तियों के द्वारा, आत्मस्मरणरूपी भजन से ही शोभा पाने वाले

परमात्मा को पूज लेता है—अर्थात् उसका निरन्तर चिन्तन करता रहता है तो वह परमात्मा प्रसन्न होकर इस (कर्म, उपासना तथा ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले वेदरूपी) वन में जो महामिष्ट निरतिशयसुखरूप मोक्ष नाम का एक सुन्दर फल लगा रहता है उसी को दे बैठता है।

अथ हेतुमालाहीरावली

ज्ञानी पुरुषों में जन्मादि गतियों का अभाव होता है यह बात शास्त्रों में बतायी गयी है; उसका कारण क्या है यह बताने के लिये इस प्रकरण का आरम्भ किया गया है। ज्ञानियों को जन्मादि गति न मिलने के बहुत से कारण होते हैं। इसलिये हेतुमालारूपी हीरावली, किंवा हीरावली के समान पाठकों के कण्ठ को सुशोभित करने वाला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

श्रुतिप्रामाण्यसिद्धेर्थे हेतुभिः किं तथापि हि।
अपूर्वरचनात्मत्वा दलङ्कारो महान्यतः ॥१॥

(आस्तिक लोगों की दृष्टि में) जो पदार्थ श्रुति के प्रामाण्य से ही सिद्ध हो चुका है उसमें कारण पूछना किंवा उत्तर देना यद्यपि निष्प्रयोजन होता है तथापि यह एक अपूर्व रचना है तथा जिज्ञासुओं के कण्ठ का एक बड़ा अलंकार है (इसलिये इस प्रकरण का बनाना सार्थक ही है)।

जन्म नामासतः सत्ता जातसाक्षात्कृति र्मुनिः।
सद्रूपतामेव गतस्तेन जन्म न विद्यते ॥२॥

अविद्यमान की सत्ता को जन्म कहते हैं, जिस मुनि को साक्षात्कार हो गया वह तो स्वयं ही सद्रूप हो चुका। इसीलिये ज्ञानी का जन्म नहीं होता।

असत् अहंकारादि पदार्थों में आत्मा की सत्ता का आरोप कर लेने पर जब उनमें भी सत्त्वप्रतीति होने लगे तब उसको 'जन्म' कहते हैं। परन्तु जिस मुनि को अद्वैतात्मसाक्षात्कार हो गया हो वह तो सद्ब्रह्मरूप ही हो जाता है। फिर भला उस मुनि का (सत् और असत् की एकताप्रतीतिरूपी) जन्म कहाँ रहा? यही कारण है कि श्रुति ने उसके जन्म का निषेध किया है।

प्राप्तवानमृतं ब्रह्म जातसाक्षात्कृति र्मुनिः।
अमृतं येन सम्प्राप्तं स मृतत्वं कथं व्रजेत् ॥३॥

आत्मसाक्षात् करने वाले मुनि ने अमृत ब्रह्म को प्राप्त कर लिया है। जिसने अमृत को प्राप्त किया हो वह भला फिर मरण को कैसे प्राप्त हो ?

मृतिः शरीरसंत्यागो जातसाक्षात्कृति र्मुनिः।
शरीरं त्यक्तवान् पूर्वं मृतस्य मरणं किमु ॥४॥

शरीर को भले प्रकार छोड़ देना ही मरण कहाता है। देहादिविहीन आत्मा का साक्षात्कार कर लेने वाले मुनि ने तो मरने से पहले ही इस शरीर को त्याग रक्खा है, फिर भला मरे हुए का मरना ही क्या ? (यही कारण है कि ज्ञानियों की मृत्यु नहीं होती। वे तो मौत से पहले ही मर चुकते हैं)।

अहन्तया सहैवायं जातसाक्षात्कृति र्मुनिः।
कर्तृत्वमत्यजत्तस्मात् कर्मभिर्न स लिप्यते ॥५॥

आत्मा का साक्षात् करने वाले मुनि ने जब अहंकार को छोड़ा तभी (कर्मेन्द्रियों के साथ तादात्म्यरूपी) कर्तृत्व को भी छोड़ दिया। यही कारण है कि ज्ञानी लोग कर्मों से लिप्त नहीं होते।

स्वयमेव पवित्रात्मा जातसाक्षात्कृति र्मुनिः।
न च पुण्यैः पवित्रोऽसौ तेन पुण्यैर्न लिप्यते ॥६॥

आत्मदर्शन कर लेने वाला मुनि तो स्वयमेव पवित्रस्वरूप होता है। वह मुनि (अज्ञानियों के समान) पुण्यों से पवित्र नहीं होता। यही कारण है कि ज्ञानी पुरुष पवित्र कर्मों के बन्धन में भी नहीं आता। (स्वतः पवित्र ज्ञानी पर पुण्यकर्मों के कारण पवित्रता का बनावटी लेप नहीं चढ़ता)।

अत्यन्तशुद्धरूपोऽसौ जातसाक्षात्कृति र्मुनिः।
तत्करोति पवित्रं यत् तेन पापैर्न लिप्यते ॥७॥

आत्मा का साक्षात्कार कर लेने वाला वह ज्ञानी स्वयं ही अत्यन्त शुद्धात्मा होता है। वह स्वभाव से ही वह काम करता है जो कि पवित्र होते हैं, इस कारण वह पापों से लिप्त नहीं होता।

सहजानन्दरूपत्वा ज्ञातसाक्षात्कृति र्मुनिः।
येन हृष्यति तन्नास्ति तस्मादेष न हृष्यति ॥८॥

आत्मा का साक्षात्कार करने वाला मुनि स्वयमेव सहजानन्द स्वरूप हो जाता है। उसकी दृष्टि में जिस पदार्थ को देखकर वह हृष्ट हो ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं रह जाता। यही कारण है कि वह ज्ञानी फिर कभी हर्ष को भी प्राप्त नहीं होता।

प्रथम तो ज्ञानी स्वयं ही सुखरूप हो जाता है, तथा हर्ष का कारण उससे भिन्न कोई अन्य विषय नहीं रहता। इन दोनों कारणों से फिर उसे अज्ञानियों की तरह हृष्ट होने का प्रसङ्ग ही नहीं आता। क्षुद्रविषयों की प्राप्ति से ज्ञानी लोगों को मूर्खों की सी प्रसन्नता नहीं होती।

नापकर्तुं क्षमः कश्चि ज्ञातसाक्षात्कृते र्भवेत् ।
अपकर्तुरभावेन स तु न द्वेष्टि कंचन ॥९॥

आत्मा का साक्षात्कार करने वाले ज्ञानी का अपकार कोई भी नहीं कर सकता (क्योंकि ज्ञानी तो स्वयं निर्विकार आत्मरूप होता है तथा अपकार करने वाला उससे पृथक् न होकर उस ज्ञानी का आत्मा ही हो जाता है इसीलिये) अपकर्ता के न होने से वह ज्ञानी किसी से द्वेष नहीं करता । अर्थात् किसी को अपना अप्रिय नहीं समझता ।

अप्राप्यमवशिष्टं किं जातसाक्षात्कृते र्मुनेः ।
हानि र्नास्ति ततो हेतो र्न शोचति कदाचन ॥१०॥

जातसाक्षात्कृति मुनि को अप्राप्य वस्तु और रही ही क्या है ? (क्योंकि सार्वात्म्य की प्राप्ति हो जाने के कारण उसको तो सब कुछ प्राप्त हो ही चुका है) इसलिये ज्ञानी की हानि भी कुछ नहीं हो सकती । यही कारण है कि ज्ञानी लोग कभी शोक नहीं करते ।

केनाप्येष प्रकारेण जातसाक्षात्कृति र्मुनिः ।
ब्रह्म सर्वात्मकं प्राप्य न कांक्षति किमप्युत ॥११॥

यह साक्षात्कारी ज्ञानी किसी भी रीति से जब सर्वात्मक ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है तो फिर वह किसी भी पदार्थ की इच्छा तक नहीं करता ।

न ह्यन्यो बलवान् कश्चि ज्ञातसाक्षात्कृते र्भवेत् ।
यस्माद्बिभेति तन्नास्ति तस्मादेष बिभेति न ॥१२॥

निर्भय आत्मरूप का साक्षात्कार कर लेने वाले उस ज्ञानी से

दूसरा कोई भी बलवान् नहीं होता, जिससे वह ज्ञानी भयभीत हो वह तो दूसरा कोई है ही नहीं। यही कारण है कि ज्ञानी को भय नहीं लगता।

यदस्य कार्यं परमं जातसाक्षात्कृते भवेत्।
तत्सर्वमेव संसिद्धं न तस्मात्स विषीदति ॥१३॥

साक्षात्कारी मुनि का जो सर्वशास्त्रों में प्रसिद्ध आत्मसाक्षात्काररूपी परमश्रेष्ठ कार्य था वह तो सब सिद्ध हो गया, इसलिये वह ज्ञानी कभी विषाद नहीं करता।

मान्यस्तु पद्मजादीनां जातसाक्षात्कृति र्मुनिः।
मानितो यदि लोकेन स तु मानं न विन्दति ॥१४॥

आत्मा का साक्षात्कार करने वाला वह मुनि तो ब्रह्मा आदि के भी मान करने योग्य हो जाता है। उस ज्ञानी का यदि साधारण लोग भी मान सत्कार करें तो भी वह ज्ञानी पूज्यत्व का अभिमान नहीं करता।

तात्पर्य यह है कि स्वतःप्रकाशरूप सूर्य की पूजा के लिये जबकि लोग दीपक जलाते हैं तो वह उनके प्रकाश को स्वीकार नहीं करता। वह उससे घटता बढ़ता नहीं है। इसी प्रकार आत्मरूप होने से ज्ञानी स्वतः ही ब्रह्मादियों का भी मान्य हो जाता है उसमें लोक की की हुई पूजा से मानविकार उत्पन्न नहीं होता।

मान्य एव सुरेन्द्राणां जातसाक्षात्कृति र्मुनिः।
न मानितो यदि जनै रपमानं न विन्दति ॥१५॥

वह मुनि तो सुरों के अधिष्ठाता ब्रह्मादियों का भी मान्य होता है, फिर यदि साधारण लोग उस ज्ञानी का मान न भी करें तो भी वह अनादर का अनुभव नहीं करता।

उपकारापकारौ हि जातसाक्षात्कृते मुनेः।
शक्यौ न केनचित्कर्तुं तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ॥१६॥

(शत्रुत्वमित्रत्वरहित) आत्मा का साक्षात्कार करने वाले ज्ञानी का किसी कार्य में सहायतारूपी उपकार तथा किसी कार्य में विरोधरूपी अपकार कोई कर ही नहीं सकता। यही कारण है कि ज्ञानी लोग मित्र तथा शत्रु दोनों पक्षों में समान रहते हैं।

गुणदोषदशातीतं जातसाक्षात्कृति र्मुनिः।
प्राप्तवान् परमं धाम तुल्यनिन्दास्तुतिर्हि सः ॥१७॥

वह जातसाक्षात्कार मुनि (शौचादि उत्तम) गुणों तथा (अशौचादि) दोषों की दशाओं से रहित जो परमधाम (स्वरूप) है उसको प्राप्त कर चुका है। अब उसकी दृष्टि में निन्दा और प्रशंसा सम हो गयी हैं।

गेहादिममता नास्ति जातसाक्षात्कृते मुनेः।
तेनानिकेत इत्युक्तो यत्रसायंगृहो मुनिः ॥१८॥

जातसाक्षात्कृति मुनि को गृह पुत्र स्त्री आदि में ममता (ये मेरे हैं ऐसा भाव) नहीं रहती, चलते चलते जहाँ कहीं सायंकाल हो जाय वहीं उसका घर हो जाता है, किंवा उस समय जो घर दिखाई पड़े वही उसके ठहरने का घर होता है, इसी कारण से मुनि को अनिकेत (बेघर का) कहा जाता है।

अप्राप्तं प्राप्तवान् बोधं जातसाक्षात्कृति र्मुनिः।
स तु न क्षीयते तेन निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥१९॥

आत्मसाक्षाकार करने वाले मुनि ने अब तक अप्राप्त रहने वाले बोध को प्राप्त कर लिया है (यही उस ज्ञानी का अप्राप्त-

प्राप्तिरूपी योग हो गया) उस मुनि का यह बोध फिर कभी नष्ट नहीं होता (इसलिये प्राप्तपरिरक्षणरूपी क्षेम भी हो गया) यही कारण है कि वह आत्मसाक्षात्कार वाला मुनि योगक्षेम की चिन्ता से रहित हो जाता है ।

समो यद्यपि सर्वत्र जातसाक्षात्कृति र्मुनिः ।
तथापि तत्स्तावकस्य मम स्तुतिफलं महत् ॥२०॥

सम आत्मा का साक्षात्कार करने वाला मुनि तो यद्यपि स्तुति तथा निन्दा आदि बातों में सम ही रहता है तो भी उस मुनि की स्तुति करने वाले मुझ को महत्पुण्यरूपी स्तुतिफल प्राप्त होता है।

यही कारण है कि मैं उसकी स्तुति करता हूँ। क्योंकि सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति विदेहमुक्ति मिलने पर जब कि पाप पुण्य से ज्ञानी का संपर्क छूटता है तो उसके किये हुए पुण्य उसके सुहृदों को मिल जाते हैं तथा निन्दा करने वालों के भाग में उसके पाप आ जाते हैं।

हेतुमालावली धार्या कण्ठे हीरावली बुधैः ।
अपूर्वरचनात्मत्वादलङ्कारो महान्यतः ॥२१॥

विवेकी पुरुषों को उचित है कि वे इस हेतुमाला से परिपूर्ण हीरावली को कण्ठस्थ करलें। यह एक आश्चर्यमयी रचना होने से ज्ञानियों का एक बड़ा ही श्रेष्ठ अलंकार है ।

अथ कैवल्यकुञ्चिका

कैवल्यधाम पर लगे हुए अज्ञानरूपी कपाटों को खोलने के लिये कुञ्चिका के समान अत्यन्त उपयोगी प्रकरण का आरम्भ

किया जाता है। इस की सहायता से जब चाहो कैवल्य पद की प्राप्ति हो सकती है।

कैवल्यकुञ्चिकां तात त्वं सम्यगवधारय।
उद्घाटय कपाटं च बोधरत्नं करे कुरु ॥१॥

हे शिष्य, कैवल्य की चाबी के समान इस प्रकरण को खूब अच्छी तरह अपने जी में धारण करलो! इसकी सहायता से अज्ञानरूपी (किंवा अहङ्काररूपी) कपाट को खोल डालो, तथा बोधरूपी रत्न के समान ब्रह्म को अपने क़ाबू में कर लो!

दृष्ट्या श्रुत्याऽनुभूत्या वा यो यो भावः परिस्फुरेत्।
तं भावमविलम्बेन पञ्चधा शकलीकुरु ॥२॥

चक्षु श्रोत्रादि इन्द्रियों तथा मानस अनुभव से जो जो पदार्थ तुमको ज्ञात होते हों, तुम उन उन पदार्थों को तुरन्त (दीखते, सुन पड़ते किंवा स्मरण आते ही) पांच खण्डों में विभक्त कर दिया करो!

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम् ॥३॥

अस्ति (पहला अंश) भाति (दूसरा अंश) प्रिय (तीसरा अंश) रूप अथवा आकृति (चौथा अंश) तथा वाचक शब्द (पांचवाँ अंश) ये पांच अंश (खण्ड) कहाते हैं। इन पांचों में से पहले ('आस्ति भाति प्रिय' ये) तीन ब्रह्म के स्वरूप कहे जाते हैं (क्योंकि ब्रह्म ही सच्चिदानन्दस्वरूप होता है)। उसके पश्चात् (शेष रहे नामरूप नाम वाले) दोनों अंश माया के स्वरूप कहाते हैं।

नामरूपे तु नैव स्तस्तत्र हेतुं वदाम्यहम्।
नाम तु व्यवहारार्थं कल्पितं न तु वास्तवम् ॥४॥

नामरूप तो सत् नहीं हैं उसका कारण मैं बताता हूँ, क्योंकि नाम व्यवहार के लिये कल्पित कर लिया गया है, वह वास्तव नहीं है।

यदि नाम वास्तव होता तो घटादि की उत्पत्ति के साथ ही नाम भी उत्पन्न हुआ करता। प्राणियों ने व्यवहार की सुकरता के लिये भिन्न भिन्न पदार्थों के भिन्न भिन्न नाम रख डाले हैं। यदि नाम भी घट के समान ही सत् पदार्थ होता तो संसार में यह भाषाभेद ही न रह जाता। इससे कहते हैं कि नाम कल्पित है।

घटो न घो नापि च ट स्तावुभौ यत्खमाश्रितौ।
घः कण्ठय ष्टश्च मूर्धन्य स्तावुभावपि नैकदा ॥५॥

घट न तो 'घ' ही है और न 'ट' ही है, क्योंकि वे दोनों तो आकाश में आश्रित रहते हैं। इसके अतिरिक्त 'घ' कण्ठ से बोला जाता है तथा 'ट' को मूर्धा से बोलते हैं। वे दोनों भी तो कभी एक समय में इकट्ठे नहीं हो सकते।

नाम को असत् सिद्ध करने के लिये दूसरी युक्ति बताई जाती है। घट (नाम की जो वस्तु हमें दीखती है वह) न तो 'घ' ही है और न 'ट' ही है। मिट्टी के बने हुए इस पदार्थ में कहीं भी घकार या टकार नहीं दीखते। इसलिये 'घ' और 'ट' से मिलकर बने हुए 'घट' शब्द को उसमें कल्पित ही समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त वे 'घ' तथा 'ट' दोनों ही आकाश के आश्रित रहते हैं (तथा शब्दरूप होने से आकाश के गुण हैं)। उनमें से 'घ'

कण्ठ से बोला जाता है तथा 'ट' को मूर्धा से बोलते हैं इसलिये ये दोनों भी तो एक काल में कभी इकट्ठे नहीं होते (एक दूसरे के उच्चारण के समय में एक दूसरे से व्यावृत्त रहते हैं, अर्थात् जब हम 'घ' बोलते हैं तो 'ट' नहीं होता, जब 'ट' बोलते हैं तो 'घ' नहीं रहता। फिर भला इन दोनों (एककालानवस्थायी) शब्दों से मिलकर बना हुआ 'घट' यह नाम ही सत् क्योंकर हो सकता है ?)

एवं नामानि सर्वाणि रूपमङ्ग विचारय।
घटस्तु पृथिवीरूपं सा जडा जलरूपिणी ॥६॥

इसी प्रकार सब नामों को कल्पित जान लो ? अब रूप (अथवा आकृति) का विचार करो। घट तो (कोई पदार्थ ही नहीं है, वह तो) पृथिवीस्वरूप है, वह जड पृथिवी जलरूप होती है।

इसी प्रकार ब्रह्माण्ड से लेकर चींटी पर्यन्त पदार्थों के नामों को कल्पित ही समझ लो। अब तुम आगे बतायी रीति से आकार का विचार करो ? देखो, यह तुम्हें प्रत्यक्ष दीखने वाला घट अपने कारण पृथिवी से पृथक् कोई पदार्थ ही नहीं, यह तो पृथिवी का ही एक आकार है। कार्य कारण में कोई भेद ही नहीं माना जाता। इसी प्रकार सब पदार्थों में जान लेना चाहिये। परन्तु वह पृथिवी भी तो जड होती है। जड पदार्थ का अपना तो कोई रूप नहीं होता, वे तो दूसरों का रूप लेकर ही प्रकाशित हुआ करते हैं। पृथिवी का भी यह दृश्यमान रूप सत् नहीं है। इस रूप को इस पृथिवी ने जहाँ से लिया है, वह तो जल है। इस कारण से यह तो जलरूपिणी है। अर्थात् यह पृथिवी जल

से भिन्न कोई पदार्थ ही नहीं है । श्रुति में भी कहा है कि 'अद्भ्यः पृथिवी' जल में से पृथिवी की उत्पत्ति हुई है ।

तेजसो जलमुत्पन्नं तद्वायोः स च खोद्भवः ।
खादि सर्वमहङ्कारा त्स च प्रकृतिसम्भवः ॥७॥

तेज से जल उत्पन्न हुआ, वह तेज वायु से, वह वायु आकाश से, वे आकाशादि सब अहङ्कार से तथा वह अहङ्कार प्रकृति से उत्पन्न हुआ है ।

वह जल भी (तेज का कार्य होने से) तेज से उत्पन्न हुआ है । जल में दीखने वाला रूप अथवा आकृति जल की अपनी नहीं, यह तो तेज की है । यही कारण है कि यह भी सत् रूप नहीं है । इसी क्रम से तेज भी पारमार्थिक नहीं है, वह वायु से उत्पन्न हुआ है, अर्थात् वायु से भिन्न उसका भी कोई रूप नहीं है । वह वायु भी पारमार्थिक नहीं है वह भी आकाश से उत्पन्न हुआ है, शून्यरूपी आकाश से पृथक् उसकी कोई सत्ता ही नहीं है । वह आकाश आदि सम्पूर्ण जगत् (जिसमें कि इन्द्रिय विषय, देवता तथा भूतों का समावेश हो गया है) त्रिगुणात्मक अहङ्कार से उत्पन्न हुआ है (अर्थात् अहङ्कार से भिन्न इसकी भी कोई सत्ता नहीं है)। वह अहङ्कार भी स्वतन्त्र नहीं है, वह भी तो सर्वजगत् के कारण परमात्मा की शक्ति से —जिसको प्रकृति भी कहते हैं—उत्पन्न हुआ है। अर्थात् प्रकृति से भिन्न उस अहङ्कार की भी कोई सत्ता नहीं है ।

गुणात्मा प्रकृति र्माया माया मय्येव नास्ति सा ।
नामरूपे ततो न स्तोऽथास्तीत्यादि विचारय ॥८॥

(सत्व, रज, तम नामक तीन) गुणमयी प्रकृति माया

कहाती है। वह तो मुझ में है ही नहीं। जब माया ही नहीं तो फिर उसके अवान्तर कार्य नामरूप भी नहीं हैं, यह तो सिद्ध हो चुका। हे शिष्य ! अब तू अस्ति भाति तथा प्रिय का विचार कर!

सकल जगत् की उपादान वह परमात्मशक्ति नाम की प्रकृति क्योंकि सत्व, रज, तम इन तीन गुणों से युक्त है, वे तीनों गुण परस्पर में एक दूसरे से भिन्न होते हैं, इसीसे वे असत् हैं, उनके असत् होने से वह प्रकृति भी असद्रूप ही है। यही कारण है कि उसको माया (अनिर्वचनीय) कहा गया है। वह मिथ्यारूप प्रकृति मुझ सच्चिदानन्द आत्मा में है ही नहीं, अथवा यों कहना चाहिये कि उसकी कोई भी वास्तविक सत्ता नहीं है। इस विचार से यही निष्कर्ष निकलता है कि नाम तथा आकार नाम के कोई सत् पदार्थ इस लोक में हैं ही नहीं। ये तो सब अज्ञानमूलक व्यर्थ प्रतिभास हैं।

अस्ति सत्ता भाति चिच्च प्रियमानन्दलक्षणम्।
सच्चिदानन्दरूपं तत्कैवल्यमवशिष्यते ॥९॥

अस्ति अर्थात् सत्ता, भाति अर्थात् चेतनता, प्रिय अर्थात् आनन्दस्वरूप, यही तो इन तीनों अंशों का विवेचन है। (ऊपर कहे कारणों से नामरूप का बाध हो जाने के अनन्तर) सत् चेतन तथा आनन्दस्वरूप कैवल्य (अखण्डैकरस ब्रह्म) शेष रह जाता है।

कैवल्य का शेष रह जाना केवल ज्ञानियों के ही अनुभव में आने वाली बात है। सत् चित् तथा आनन्द ये तीनों मिलकर अभिन्न होकर ब्रह्म के रूप हैं—पृथक् पृथक् ये ब्रह्म के लक्षण नहीं हैं। अर्थात् जो सत् भी हो चित् भी हो तथा आनन्द भी हो

वही ब्रह्म है । जहाँ नित्यसत्ता है वहाँ ज्ञान अवश्य ही होगा जहाँ ज्ञान है वहाँ तो आनन्द होगा ही—वहाँ शोकी होने का प्रसंग कभी भी नहीं आयेगा, जहाँ ज्ञान होगा वहाँ उसकी सत्ता अवश्य होगी, जहाँ आनन्द है वहाँ ज्ञान भी होगा और सत्ता भी होगी ही । इसी सब अभिप्राय से ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा जाता है ।

समाधिस्तत्र कर्तव्यो ह्ययमर्थानुवेधितः ।
अथ शब्दानुविद्धं तु समाधिं कथयामि ते ॥१०॥

उस सच्चिदानन्द ब्रह्म में उपर्युक्त अर्थानुविद्ध समाधि करनी चाहिये । अब शब्दानुविद्ध समाधि का निरूपण तुम्हारे जानने के लिये करता हूँ ।

क्षण क्षण में नष्ट होने वाले आकारों तथा उनके अनुसार ही परिवर्तनशील नामों की ओर से उदासीन होकर सच्चिदानन्द ब्रह्म में ही एकचित्त होकर अर्थानुविद्ध समाधि किया करे। अर्थात् जब कभी किसी प्रिय पदार्थ का स्मरण आये, तो उसके नाम रूप को ऊपर बतायी युक्ति से पृथक् करले, उसमें केवल सच्चिदानन्द ब्रह्म के ही अखण्ड दर्शन लेने के अभ्यास को बढ़ाता चला जाय— ये नामरूप तो अपने क्षणिक स्वभाव के अनुसार उत्पन्न होने और नष्ट होने वाले पदार्थ हैं । इनके न रहने पर भी इस पदार्थ के सच्चिदानन्द नामक तीनों अंश कभी नष्ट नहीं होते । इन तीनों में इन नामरूपों की तरह कभी भी परिवर्तन नहीं होता। यह अपरिवर्तनीय सच्चिदानन्दस्वरूप ही मैं हूँ । मेरे ही प्रकाश से इन नामरूपों का प्रकाश यदा तदा हो जाया करता है । जब कभी ये नामरूप आते हैं तब मैं ही इनको प्रकाशित कर देता

हूँ। परन्तु मेरे अन्दर उस सूर्य के समान ही कोई भी विकार नहीं आता, जोकि मध्याह्नकाल में अपने विल में से अकस्मात् निकले हुए सर्प को प्रकाशित कर देने पर भी स्वयं निर्विकार ही रहता है। मैं भी इसी प्रकार निर्विकार रह कर ही इन नामादियों को प्रकाशित किया करता हूँ। इनके विनष्ट हो जाने पर शेष रहा हुआ जो सच्चिदानन्द तत्त्व है वही मेरा वास्तविक स्वरूप है, जो कि आजकल अज्ञानकाल में मुझे कभी ही कभी हाथ लगा करता है। फिर मैं उसी रूप को सदा ही अखण्डरूप में क्यों न बनाये रक्खूँ? ऐसा विचार करते करते अन्तःकरणवृत्ति जब सच्चिदानन्द आकार में ढल जाती है, तो उसी को 'अर्थानुविद्ध समाधि' कहा जाता है।

नित्य एवास्मि शुद्धोस्मि चिद्रूपोस्मि निरन्तरः।
सहजानन्दरूपोस्मि न मे माया न मे मलः ॥११॥

मैं नित्य हूँ, शुद्ध हूँ, चिद्रूप हूँ, निरन्तर हूँ, सहजानन्दस्वरूप हूँ, मुझ में माया तथा मल नहीं है।

मैं कूटस्थ चैतन्यरूप सदा अविनाशी हूँ, शुद्ध हूँ, चैतन्यस्वरूप हूँ, मैं निरन्तर (अर्थात् अखण्डैकरस) हूँ। मैं सदा स्वाभाविक (निरुपाधिक) आनन्दस्वरूप हूँ। मेरी आनन्दरूपता किसी भी स्त्रीपुत्रादि विषयों से सिद्ध होने वाली वस्तु नहीं है। वह तो मेरा अपना स्वाभाविक स्वरूप है। मुझ में माया भी नहीं है, मुझमें रागादिमल का कहीं चिह्न भी नहीं है। वह तो भ्रान्त लोगों ने व्यर्थ ही मुझमें आरोपित कर रक्खा है।

अस्मिन्नसति सत्ता हि चिद्रूपेण मयार्पिता।
उपसंहृत्य सत्तां तां स्वसत्ताया महं स्थितः ॥१२॥

इस असत् जगत् को मुझ चिद्रूप ने ही अपनी सत्ता दे रक्खी थी। अब मैं अपनी सत्ता को इसमें से उपसंहार कर के आत्मस्वरूप सत्ता में ही फिर स्थित हो गया हूँ।

ओ हो! इस असत् जगत् में मुझ चिद्रूप ने अब तक व्यर्थ ही अपनी सत्ता का आरोप कर रक्खा था (क्योंकि संसार के सभी आरोप चेतन के अधीन होते हैं) अब तो इस व्यर्थ प्रयास को छोड़ कर, नामरूपात्मक इस तुच्छ जगत् में अध्यस्त की हुई अपनी सत्ता को (इस जगत् में से) निकाल कर मैं सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा फिर अपनी ही स्वात्मरूपसत्ता में स्थित हो गया हूँ। अब तो मैं किसी सिद्धहस्त मायावी के समान इस जगत् के क्षण क्षण में होने वाले उत्पत्तिविनाशों को तटस्थ रहकर देख रहा हूँ। अब मैं देखता हूँ कि जब मैं जगद्रूप में दी हुई अपनी सत्ता को वापिस खींचता हूँ तो कैसे क्षण भर में यह जगत् नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। ओहो! कैसी आश्चर्य अवस्था है, कि इस उपसंहार के पश्चात् सर्वत्र आत्मसत्ता के अतिरिक्त अब और कुछ भी मुझे दृष्टिगोचर नहीं होता......

विकृत्या विकृतिर्नाहं प्रकृत्या प्रकृतिर्न च।
तथापि जातं मयि चेत्तर्हि जातमजातवत् ॥१३॥

यद्यपि विकारों से मैं विकृत नहीं होता हूँ तथा जगत् के कारण अव्याकृतादि कारणों के कारण मुझमें कारणता भी नहीं आती है, फिर यदि लोक की दृष्टि में कार्यकारणरूपी द्वैत उत्पन्न भी हो गया हो तथापि वह मृगतृष्णा के जल के समान अजात के तुल्य ही तो है।

क्योंकि यह कार्यकारणरूपी द्वैत उत्पन्न होने से प्रथम भी

न था, नष्ट होने के अनन्तर भी न रहेगा, केवल कुछ काल के लिये वर्तमान में प्रतीत होने लगा है। इसलिये वन्ध्यापुत्रादि के, स्वप्नकाल के रथादि के, किंवा मृगतृष्णाजलादि के समान अजात ही है। फिर इन सब स्थितियों का जानकार मैं भला इस अजात जगत् की कौन सी वस्तु के लिये अपने स्वरूपस्थिति जैसे असङ्ग परमपद को छोड़ दूँ? और क्यों इन अनित्य पदार्थों के मोल तोल में अपना अमूल्य आयुष्य गवाऊँ......?

उपसंहर विश्वात्मन्निति यावद्वदाम्यहम्।
उपसंहृतमेवेदं दृश्यते नैव तिष्ठति ॥१४॥

हे विश्वात्मन्! इस बखेड़े का उपसंहार कर लीजिये इतना जब मैं कहता हूँ कि इस जगत् को उपसंहृत ही पाता हूँ यह फिर नहीं रहता।

इस कल्पित संसार के विषय में, ज्यों ही मैं इस समस्त संसार को सत्ता का दान करने वाले अपने विश्वात्मा से कह देता हूँ, कि हे मेरे विश्वात्मन्! मेरी समाधि के हेतु उपयुक्त परिस्थिति को उत्पन्न करने के लिये कृपया अब अपने इस जगत् का उपसंहार (लय) तो कर लीजिये, त्यों ही मैं क्या देखता हूँ कि यह जगत् कहीं रहता ही नहीं......। इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति तथा संहार दोनों ही मेरे अधीन हैं। जब कि मैं इस जगत् की ऐसी असारता को पहचान गया हूँ तो फिर मैं सकल जगत् के सारभूत इस आत्मदेव का ही निरन्तन चिन्तन क्यों न करूँ......?

इत्याद्युपनिषद्वाक्यपदतात्पर्यचिन्तया।
शब्दानुविद्धनामा हि समाधिर्जायते मुनेः ॥१५॥

ऊपर बताये प्रकार से उपनिषद्वाक्यों के तात्पर्य की चिन्ता करते करते मुनि को शब्दानुविद्ध समाधि होने लगती है।

मैं नित्य हूँ, शुद्ध हूँ, चिद्रूप हूँ, सहजानन्दरूप हूँ इत्यादि ऊपर कहे प्रकार से आत्मविषय में भावना करते करते, जब सम्पूर्ण कामादि वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं, और विजातीय प्रत्ययों का प्रवाह बन्द होकर प्रत्यक्चैतन्य को विषय करने वाली विचारधारा बहने लगती है तो (ध्येयाकार में परिणामरूपी) यह शब्दानुविद्ध समाधि मुनि लोगों को स्वयमेव होने लगती है। वशिष्ठ मुनि ने इस समाधि का निरूपण इस प्रकार किया है कि—'निरीहोस्मि निरंशोस्मि स्वस्थोस्म्यस्मि च निःस्पृहः। शान्तोहमर्थरूपोस्मि चिरायाहमलं स्थितः।' मैं निरीह हूँ, निरवयव हूँ, स्वस्थ हूँ, निःस्पृह हूँ, शान्त हूँ, प्राप्तव्य अर्थों का स्वरूप भी मैं ही हूं इसीलिये अब तो मैं अनन्तकाल के लिये पूर्ण होकर स्थित हो गया हूँ......।

अर्थानुवेधितस्तूक्त स्ततः शब्दानुवेधितः।
तावुभौ सम्यगभ्यस्य विशेन्निरनुवेधितम् ॥१६॥

पहले अर्थानुविद्ध समाधि का निरूपण किया गया, उसके पश्चात् शब्दानुविद्ध समाधि भी बतायी गयी। इन दोनों समाधियों को दृढतापूर्वक अपने अधीन करके साधक को चाहिये कि अननुविद्ध समाधि में प्रवेश कर जाय।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की समाधियों का अभ्यास करते करते जब अधिकारी को स्वानुभव का आवेश आने लगता है तो ये दोनों समाधियाँ (नदी पार करने के अनन्तर नौका की तरह निष्फल होकर) स्वयमेव छूट जाती हैं। तब उस अधिकारी

को एक गम्भीर मौनावस्था आती है......। उस समय स्वानुभूतिरसावेश के कारण जो अलौलिक सुख बरसाने वाली दिव्य पराधीनता उत्पन्न होती है—जिसके उदय होने पर अन्दर बाहर कुछ भी ज्ञान नहीं रहता वही शान्त......अवस्था अननुविद्ध किंवा 'निर्विकल्प समाधि' कहाती है। बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के ज्ञानों किंवा संकल्पों के बन्द हो जाने पर स्वानन्दामृत के गहरे समुद्र में डूबे हुए उस भाग्यशाली को इस अननुविद्ध समाधि के लिये कोई भी उद्योग नहीं करना होता। उस अद्भुत अवस्था का प्रादुर्भाव होने पर जब कि वैषम्य को उत्पन्न करने वाले विकल्प निवृत्त हो चुकते हैं और निरवधि समता ही सर्वत्र छा जाती है तब उस अधिकारी की वृत्ति अत्यन्त निश्चल होकर निरोध नाम के परिणाम को धारण कर लेती है। तब वह ज्ञानी वायुरहित प्रदेश में रक्खे हुए दीपक की निश्चेष्ट ज्वाला की तरह निश्चल हो चुकता है......। इस अननुविद्ध समाधि का निरूपण योगवासिष्ठ में इस प्रकार किया गया है कि—'अन्तः शून्यो बहिःशून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे, अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे। मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव भावनामखिलां त्यक्त्वा यदिष्टं तन्मयो भव। द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह दर्शनप्रथमाभासमात्मानं केवलं भज॥ प्रशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः। जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा॥' आकाश में रक्खे हुए ख़ाली घड़े के समान संसार की वासनाओं से अन्दर बाहर सर्वथा ख़ाली हो जाओ......, समुद्र में डूबे हुए घड़े के समान अन्दर बाहर केवल आत्मचैतन्य से परिपूर्ण हो रहो......। अपने शुद्ध साक्षिरूप को बिगाड़कर कभी भी द्रष्टा किंवा दृश्यस्वरूप मत होने दो। इन सम्पूर्ण वास-

नाओं को छोड़ने के अनन्तर जो शुद्ध प्रियतम आत्मचैतन्य शेष रह जाता है केवल तन्मय ही हो जाओ......। द्रष्टा दर्शन दृश्य तथा इनके सब संस्कारों को छोड़कर सविकल्प ज्ञानों के उदय होने से भी प्रथम प्रतीत होने वाले निर्विकल्प आत्मचैतन्य का भजन किया करो......। इस प्रकार भजन करते करते जब तुम्हारे सम्पूर्ण संकल्प शान्त हो जायँगे और तुम पत्थर के समान अपनी स्वाभाविक निश्चेष्ट अवस्था में पहुँच जाओगे, जाग्रत् तथा स्वप्न से रहित होकर तुरीय धाम में प्रवेश कर लोगे... तब कहा जायगा कि तुमने स्वरूपस्थिति नाम के परमपद का लाभ कर लिया है।

शर्कराद्वितयं धृत्वा प्रणवो लिख्यते यथा।
समाधिद्वितयं धृत्वा प्रणवार्थोऽपि लिख्यताम् ॥१७॥

पत्थर के दो टुकड़े लेकर जैसे कोई (बालक) प्रणव लिखने का अभ्यास करता हो इसी प्रकार (साधक लोग) इन दोनों समाधियों को धारण करके प्रणवव्यक्ति को लिख डालें।

जिस प्रकार लेखनकला के नवाभ्यासी बालक खो जाने के डर से— कि एक खो जायगी तो दूसरी से लिखेंगे—दो अथवा अनेक लेखनियों की सहायता से ओंकार आदि अक्षरों को लिखते हैं, इसी प्रकार नवाभ्यासी लोग उपर्युक्त अर्थानुविद्ध तथा शब्दानुविद्ध दोनों समाधियों का क्रम से अभ्यास करते करते प्रणव के लक्ष्यार्थ निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करना सीखें। तात्पर्य यह है कि—अर्थानुविद्ध समाधि का अभ्यास करते करते जब मन उकता जाय तो स्वाध्याय की सहायता से शब्दानुविद्ध समाधि करने लगें, तथा शब्दानुविद्ध समाधि करते करते जब मन उकता जाय तो अर्थानुविद्ध समाधि करने लगें। इस प्रकार

क्रम क्रम से मनोलय की मात्रा बढ़ते बढ़ते प्रणव का अर्थ ब्रह्म-व्यक्ति उन मुमुक्षु लोगों के मानस नेत्रों के सामने स्वयमेव प्रकट होने लग पड़ती है ।

पटोः प्रणवलेखेषु ते हि नावश्यके यथा ।
समाधिद्वितयं तद्वत् प्रणवार्थपटोरपि ॥१८॥

जब किसी बाललेखक को प्रणवादि अक्षरों के लिखने का पूर्णभ्यास हो जाता है तो फिर उन पत्थर की दोनों किंवा अनेकों लेखनियों की आवश्यकता उसे नहीं रहती। वह तो फिर सहसा ही पत्रादि पर लिख सकता है । इसी प्रकार प्रणव के अर्थ अखण्ड एकरस आत्मतत्व का साक्षात्कार करने की कला जिस मुनि को सिद्ध हो जाती है तो उसके लिये ये अर्थानुविद्ध तथा शब्दानुविद्ध दोनों प्रकार की समाधियों का उपयोग नहीं रह जाता। वह तो फिर विहङ्गमवृत्ति* से सहसा ही प्रणवव्यक्ति का उल्लेख अपने मानस नेत्रों के सामने करने लगता है ।

निर्विकल्पसमाधाने निष्ठा सा बोधयोगिनः ।
कपाटोद्घाटने हेतुरियं कैवल्यकुञ्चिका ॥१९॥

इस कैवल्यकुञ्चिका से अज्ञानरूपी कपाट खुल जाते हैं तथा यही पीछे से ज्ञानी की निर्विकल्प समाधि के रूप में परिणत हो जाती है ।

यह कैवल्यकुञ्चिका नाम का प्रकरण (ब्रह्म का आवरण करने

---

*मनुष्यप्राणी दुमंज़िले मकानों पर सीढ़ी आदि के सहारे से चढ़ता है पक्षी तो एक ही उड़ान में वहाँ जा बैठता है, इसी प्रकार नये साधक जिस अवस्था को बड़े प्रयत्न से पाते हैं पुराने साधक इच्छा करते ही वहाँ पहुँच जाते हैं। इसी को विहङ्गमवृत्ति कहते हैं।

वाले अज्ञानरूपी) कपाट को खोलने का कारण बन जाता है। इसीसे इसको कैवल्यकुञ्चिका कहते हैं (परन्तु यह तो इसका अनिष्टनिवृत्तिरूपी आधा ही फल हुआ। इसके धारण करने पर इष्टप्राप्तिरूपी दूसरा पूर्ण फल तो यह होता है कि) उस योग-योगी के लिये यह उपर्युक्त प्रभाव दिखाने वाली कैवल्यकुञ्चिका ही फलतः निर्विकल्प समाधि में स्थिति हो जाती है (अर्थात् अभ्यास क्रम के बढ़ते बढ़ते अन्त में यह कैवल्यकुञ्चिका ही निर्विकल्पसमाधि के रूप में परिणत हो जाती है)।

रहस्यं हि रहस्यानां निधीनां परमो निधिः।
युक्तीनां परमा युक्ति रियं कैवल्यकुञ्चिका ॥२०॥

यह कैवल्यकुञ्चिका नाम की प्रक्रिया गोपनीयों का भी गोपनीय पदार्थ है। निधियों में श्रेष्ठ निधि है (क्योंकि इसमें सदात्मद्रव्य भरा पड़ा है) तथा योगों में यह सर्वोत्कृष्ट योग कहाता है। (इसी से इसको राजयोग कहते हैं)।

वसिष्ठव्यासपद्धत्या शङ्कराचार्यमार्गतः।
सा पुनः शङ्कराचार्यैः करुणारसनिर्भरैः ॥२१॥
अर्पितानन्दबोधेभ्य स्तत्क्रमेण बुधैर्धृता।
अवधार्या विशेषेण सेयं कैवल्यकुञ्चिका ॥२२॥

वसिष्ठ तथा व्यासमुनि की परम्परा से शंकराचार्य के द्वारा यह कैवल्यकुञ्चिका प्राप्त हुई। करुणारस से परिपूर्ण शंकराचार्य ने अपने आनन्दबोध नामक शिष्य को इसका उपदेश किया। उसी परम्परा से ज्ञानी लोगों को भी इस विद्या की लब्धि हुई। (वहीं से हमने भी इस विद्या को प्राप्त किया)। हे शिष्य!

तुम्हें उचित है कि बड़े आदरपूर्वक इस कैवल्यकुञ्जिका को तुम भी स्वाधीन करलो !

अथ बुद्धिप्रशंसा

व्यवहारस्य सर्वस्य बुद्धिर्मूलं यथा भवेत् ।
तद्वत्तु परमार्थस्य निदानं बुद्धिरेव हि ॥१॥

जिस प्रकार समस्त व्यवहार का मूल कारण बुद्धि होती है। इसी प्रकार मोक्ष नाम के परमार्थ का भी मूल कारण बुद्धि ही होती है (इसलिये बुद्धिप्रशंसा नाम के प्रकरण का आरम्भ किया जाता है)।

यद्बुद्धमप्यबुद्धं तद् बुद्ध्या बुद्धं न चेत्तदा ।
बुद्ध्या बुद्धं तु यद्बुद्धं तन्नाबुद्धं कदापि च ॥२॥

ज्ञानस्वरूप भी जिसको यदि बुद्धि से न जान लिया जाय तो वह अबुद्ध ही बना रहता है, परन्तु वही (ज्ञानियों में प्रसिद्ध) आत्मचैतन्य यदि बुद्धि से एक वार प्रकाशित हो जाय तो फिर कभी भी अज्ञात नहीं हो पाता।

वह आत्मचैतन्य चिन्मात्रस्वरूप है इसलिये सदा ही बोधरूप होता है। परन्तु अज्ञान को हटानेवाली 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार की बुद्धिवृत्ति से यदि उसका साक्षात्कार न किया हो तो वह आत्मरूप सदा ही अज्ञात बना रहता है। उस अज्ञात आत्मा से मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है। क्योंकि अज्ञात आत्मा तो संसार का कारण होता है। यों स्वयं ज्ञानस्वरूप आत्मा में बुद्धत्व को उत्पन्न करनेवाली बुद्धि एक अति श्रेष्ठ पदार्थ मानी गयी है। यह बुद्धिवृत्ति जब नष्ट हो जायगी तब इससे उत्पन्न हुआ बुद्धत्व भी नष्ट हो जायगा, जिससे कि फिर इस आत्मा को

संसार की प्राप्ति होगी, ऐसी शंका मत करो ? क्योंकि ज्ञानियों के अनुभव में आने वाले जिस चिन्मात्र आत्मा को, अज्ञान के हटाने वाली आत्माकारवृत्ति से एक वार भी प्रकाशित कर लिया जाता है, वह आत्मचैतन्य उस वृत्ति के रहने किंवा नष्ट हो जाने पर फिर कभी भी अबुद्ध (अज्ञात) नहीं हो पाता। यह भी इस बुद्धि में एक अत्यन्त विशेषता है कि—यह एक वार जिस आत्मचैतन्य को प्रकाशित कर देती है, वह फिर सदा ही प्रकाशमान रहता है। उसके बुद्धत्व का फिर कभी नाश नहीं होता। तात्पर्य यह है कि—शुद्धआत्मचैतन्य केवल साक्षी मात्र है वह तो ज्ञान की तरह अज्ञान को भी प्रकाशित कर देता है। वह अज्ञान को हटाता नहीं है। अज्ञान को हटाना बुद्धि वृत्तियों का काम है। क्योंकि आत्मा तो निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप होता है। निर्विकल्पक ज्ञान किसी का भी विरोधी नहीं होता। यही कारण है कि निर्विकल्प ज्ञान से कोई भी अज्ञान दूर नहीं होता। सविकल्पक ज्ञान के आश्रय से नाना प्रकार के आकारों के प्रतीत होने के लिये वह तो केवल अधिष्ठानमात्र होता है। निर्विकल्पक ज्ञान को तो शुद्धज्ञान ही जान लेना चाहिये। जब कभी उस में कोई विकल्प उत्पन्न होता है तो वह सविकल्पक हो जाता है। इस प्रकार अज्ञान को भी सविकल्पक ज्ञान ही कहते हैं। इस सविकल्पक अज्ञान का विरोधी कोई दूसरा सविकल्प ज्ञान ही हो सकता है। आत्मस्वरूप को विसरण कराने वाला 'अज्ञान' कहाता है। सर्वत्र परिपूर्ण देश काल आदि की किसी मर्यादा में न आने वाले उस चैतन्य का जब हम किसी शरीर आदि में परिच्छेद कर डालते हैं—जिस के प्रभाव से कि 'मैं अमुक हूँ' तथा 'अमुक स्थान पर हूँ' ऐसा कहने लगते हैं—वह

यह सब अज्ञान की ही महिमा होती है । इस अज्ञान को जब तक हम किसी दूसरे सविकल्प ज्ञान से ही नष्ट न कर डालें तब तक हमारा यह सब संसार ज्यों का त्यों बना ही रहता है । इस संसार का कारण अज्ञान भी तब तक नहीं हटता, जब तक कि सर्वत्र परिपूर्ण आत्मा के शुद्ध स्वरूप को न पहचान लिया जाय, किंवा आत्मा का सविकल्प ज्ञान ही न कर लिया जाय । इस आत्मस्वरूप का परोक्ष ज्ञान तो शास्त्र तथा सद्गुरु की सहायता से भी हो जाता है । 'परन्तु मैं ही ब्रह्म हूँ यह आत्मा ही तो ब्रह्म है" इत्यादि प्रत्यक्षज्ञान तो समाधि का परिपाक होने पर ही उत्पन्न होता है । यही प्रत्यक्षज्ञान अज्ञान तथा अज्ञानजन्य संसार को नष्ट कर सकता है । यह महाफल, ज्ञानपूर्वक समाधि लेने से ही हाथ लगता है । अज्ञात आत्मा का प्रत्यक्ष तो संसार के सब लोगों को प्रतिदिन होता ही रहता है—जब कि वे किसी अत्यन्त दुःखदायक प्रसंग को देखते हैं तो अवाक् हो जाते हैं। वे उस समय निर्विकल्प चैतन्य की अवस्था में गये होते हैं। उनका कुछ काल के लिये देहादियों से सम्बन्ध भी छूट जाता है । परन्तु उपर्युक्त ब्रह्माकार बुद्धिवृत्ति से ज्ञात न होने के कारण वह आत्मतत्व उन के लिये अत्यन्त निरुपयोगी तथा अज्ञात ही बना रहता है । जैसे कि कोई रत्नपरीक्षक देखते ही रत्न को पहचान जाता है तथा उससे अपनी दरिद्रता को नष्ट कर लेता है इसी प्रकार यदि वैसी उत्कृष्ट बुद्धिवृत्ति किसी भाग्यशाली में जागृत होगयी हो, तब तो वह पदे पदे इस आत्मतत्व को पहचान कर परमानन्द समुद्र में डूब कर आनन्दित हो जाता है । एक बार इस बुद्धिवृत्ति से उस के स्वरूप को जान कर फिर कभी भी अज्ञान में फँसने का अशुभ प्रसंग नहीं आता ।

बुद्ध्या न बुद्धो यो बोधो द्वैतबोधबुधैरपि ।
बुद्ध्या बुद्धमिमं विद्धि बुद्धिसाक्षितया बुधैः ॥ ३ ॥

द्वैतबोध में बड़े चतुर पुरुषों ने भी जिस बोधरूप आत्मा को अपनी बुद्धि से नहीं जान पाया, उसी आत्मा को ज्ञानी पुरुषों ने आत्माकार बुद्धि के साक्षी रूप में अपनी बुद्धि से जान ही लिया है, यह बात तुम जान लो ? (तात्पर्य यह है कि अनात्मज्ञ की बुद्धि में आत्मा के अप्रकाश तथा ज्ञानी की बुद्धि में आत्मा के प्रकाश होने का कारण होने से यह बुद्धि एक अति श्रेष्ठ पदार्थ है) ।

न बुद्धमपि यद्बुद्धं यच्च बुद्धमबुद्धवत् ।
बुद्धाबुद्धसमं बुद्ध्या बुद्धाबुद्धविलक्षणम् ॥ ४ ॥

अज्ञात होने पर भी जो ज्ञात ही होता है तथा ज्ञात होने पर भी जो अज्ञात के समान ही रहता है, जो कि बुद्ध और अबुद्ध दोनों में ही सम होता है तथा जो कि बुद्ध और अबुद्ध दोनों से ही विलक्षण होता है वह भी बुद्धि से जान ही लिया जाता है । यही बुद्धि की महिमा है ।

जो आत्मरूप, अज्ञात कहाने पर भी सदा ज्ञानरूप ही होता है (क्यों कि यदि वह ज्ञानरूप न होता तो इस जड़ जगत् का भास ही कैसे होता ?) साथ ही जो आत्मरूप बुद्ध किं वा ज्ञात होने पर भी बुद्धि का विषय न होने तथा स्वयं प्रकाश होने से सदा अबुद्ध (अज्ञात) सा बना रहता है, परन्तु तत्त्वविचार करने पर तो जो कि ज्ञात तथा अज्ञात में सम (एकरूप) ही रहता है अथवा ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में एक समान—निर्विशेष बना रहता है, इसी कारण से जिस को बुद्ध

(बुद्धि से विषयीकृत) तथा अबुद्ध (बुद्धि से विषय न किया गया) इन दोनों से ही विलक्षण मानना पड़ता है, परन्तु फिर भी किसी बुद्धि से तो जान ही लिया जाता है। (तात्पर्य यह है कि ऐसे गहन भी आत्मतत्व को जिस किसी प्रकार जान पाने के कारण बुद्धि की कुशलता तथा श्रेष्ठता ही सिद्ध होती है)।

अथ रङ्गलीलात्रयी

'जगत्प्रतीति जीवन्मुक्त को बाधा नहीं पहुंचाती' यह बात इस प्रकरण में बतायी है।

रञ्जितं रञ्जनै श्चित्रै श्चित्रं जातं हृदम्बरम्।
रङ्गे निरञ्जने क्षिप्तं रङ्गं प्राप्तं निरञ्जनम् ॥ १ ॥

चित्रविचित्र रञ्जन द्रव्यों से रञ्जित हुआ मेरा हृदयाकाश अनेकरूप हो गया था, परन्तु निर्मल (तथा जगत्प्रकाशक) रङ्ग नामक परमात्मा की ओर लगाया हुआ वही हृदयाकाश निरुपाधिक रङ्गरूप आत्मा को प्राप्त होगया किंवा आत्मा ही होगया।

जिस प्रकार कोई स्वच्छ वस्त्र चित्र विचित्र रञ्जक द्रव्यों से चित्रित होकर विचित्र रूप का हो गया हो, उस वस्त्र को यदि किसी गहरे रञ्जक द्रव्य में डुबो दिया जाय तो फिर वह भी अपने चित्र विचित्र रूप को छोड़कर उसी रञ्जक द्रव्य की तरह केवल एक ही रंग का हो जाता है। इसी प्रकार चित्र विचित्र पदार्थों के कारण, नाना रूपधारी यह हमारा हृदयाकाश, हमारी असावधानता के कारण, अनेकरूप वाला हो गया था, इस हृदय के इस प्रकार चित्रित होने से हमें नाना प्रकार के क्लेश उत्पन्न हो गये थे, उन सबको हटाने के लिये मैंने अपने उस हृदय को ले जाकर स्वतः प्रकाशरूप रङ्ग नामक (रज्यते प्रकाश्यते जगदनेनेति रङ्गः परमात्मा)

परमात्मा में लगा दिया। अब तो इस मेरे हृदय ने उस निरुपाधिक आत्मा को ही प्राप्त कर लिया अथवा स्वयं वह निरुपाधिक आत्मा ही हो गया। इसके सबके सब चित्र विचित्र अनेक आकार इसी आत्मप्रकाश से अभिभूत हो गये। मानो कि गहरा रंग चढ़ने पर किसी वस्त्र की पहली चित्रकारी छिप गयी हो।

रङ्गं निरञ्जनं प्राप्त मिदानीन्तु हृदम्बरम्।
रञ्जितं रञ्जनै श्चित्रै रपि रङ्गं बिभर्ति न ॥२॥

निरञ्जन रङ्ग को प्राप्त हुआ वह मेरा हृदयाकाश चित्र रञ्जनों से रञ्जित किया जाने पर भी अब पहले की तरह (रञ्जक) रङ्ग को धारण नहीं करता है।

वह हमारा हृदयाकाश अब निरुपाधिक प्रकाशरूप परमात्मा को प्राप्त होने पर रँगने वाले चित्रतुल्य जगत्पदार्थों से संपृक्त हो तो जाता है, परन्तु पहले की तरह जगत् के पदार्थों का विचार नहीं रखता—अब वह उनके रंग में रँगता है नहीं। व्यवहारकाल में जगत् के पदर्थों से सम्बद्ध सा प्रतीत होने वाला भी ज्ञानी का हृदय उनसे अपना वास्तव सम्बन्ध नहीं जोड़ता। जैसे कि कोई कपड़ा किसी गहरे रंग में डूब जाने पर चित्र विचित्र रंगों को अपने ऊपर चढ़ने नहीं देता हो।

रङ्गलीलाद्वयीमेतां तात चित्तेऽवधारय।
रङ्गं परीक्षय धिया साञ्जनं च निरञ्जनम् ॥३॥

हे शिष्य! रङ्गलीला के इन दोनों श्लोकों को तू अपने चित्त में बैठा ले। फिर इस बुद्धिरूपी कसौटी से उपाधिसहित

प्रकाश तथा निरुपाधि प्रकाश (आत्मानात्मप्रकाश) को पहचान लिया कर।

.. अथ चन्द्रिकाचन्द्रचमत्कारचतुष्टयी

जगत्प्रकाशक चैतन्य तथा आत्मा में कोई भेद नहीं यह इस प्रकरण में बताया है। आत्मचन्द्र की जगत् का प्रकाश करने वाली चेतना का तथा जगदानन्ददायक आत्मचन्द्र का सर्वथा भेद प्रतीत हो रहा है तो भी अभी तक गुप्त अभेद ही बना हुआ है, यह एक असाधारण चमत्कार इन चार श्लोकों में कहा है।

अचन्द्रे चन्द्रिका नास्ति न चन्द्रश्चन्द्रिकां विना।
चन्द्रिकाचन्द्रसंयोगः कथं वा विनिवार्यताम् ॥१॥

अचन्द्र अर्थात् (जगत् के घटादि) जड पदार्थों में तो चेतना है ही नहीं तथा यह आत्मचन्द्र चेतना (जगत्प्रकाशक चेतना) के बिना रहता ही नहीं। ऐसी अवस्था में जगत्प्रकाशक चेतना के साथ आत्मचन्द्र की एकता को कौन रोक सकता है?

अचन्द्र अर्थात् आत्मचन्द्र से भिन्न जगत् के इन घटपटादि अनात्मपदार्थों में जगत् को आनन्द देने वाली या जगत् को प्रकाशित करने वाली चेतना शक्ति रह ही नहीं सकती, इस कारण से यह सब जगत् ही अन्धकार पूर्ण हो जाना चाहिये थां, इसीलिये हमको इनमें आत्मा की सत्ता माननी पड़ती है, नहीं तो इस जड जगत् का प्रकाश भी कैसे हो? तथा इस जगत् को आनन्द की प्राप्ति भी कहां से हो? तब प्रश्न हो सकता है कि फिर चन्द्र तथा चन्द्रिका के समान आत्म-चैतन्य तथा जगत्प्रकाशक चैतन्य पृथक् पृथक् दो पदार्थ ही

क्यों न मान लिये जायँ ? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे चांदनी के बिना चन्द्र कभी नहीं रहता इसी प्रकार जगत्प्रकाशक चेतना के बिना आनन्दरूप आत्मा भी नहीं रहता अर्थात् जहां जगत्प्रकाशक चेतना है वहां अवश्य ही आत्मा की स्थिति जाननी चाहिये, क्योंकि ये दोनों एक ही पदार्थ हैं। ऐसी अवस्था में जगत्प्रकाशक चेतना शक्ति तथा आत्मचन्द्र की एकता को, (कौमुदी तथा चांद की एकता की तरह) किस प्रकार निषेध किया जाय ?

विस्मृत्या चन्द्रिका नाप्ता स्मृत्याप्तेव तु चन्द्रिका।
चन्द्रिकाचन्द्रतादात्म्यं केनाहो विनिवारितम् ॥[illegible]

विस्मरण हो जाने पर चन्द्रिका नहीं दीखती, स्मरण होने पर तो वही फिर प्राप्त हुई सी प्रतीत होने लगती है, फिर बताओ किस कारण से चन्द्रिका तथा चन्द्र का तादात्म्य हटाया जाय ?

निद्रादि के कारण जब चाँद की चाँदनी का विसरण हो जाता है तब वह नहीं दीखती। आत्मचन्द्र की चेतनारूपी चाँदनी भी अज्ञानरूपी विस्मरण हो जाने पर अनुभव में नहीं आती। परन्तु किसी समय सोते सोते अकस्मात् उठकर याद आने पर तो वही चाँदनी फिर दुबारा प्राप्त हुई सी प्रतीत होती है। आत्मचन्द्र की चेतनारूपी चाँदनी भी आत्मज्ञानरूपी जागरण हो जाने पर फिर दुबारा प्राप्त हुई सी प्रतीत होने लगती है। परन्तु गम्भीर विचार करने पर तो जिस प्रकार चन्द्रिका तथा चन्द्र के संयोग वियोग कभी नहीं होते इसी प्रकार आत्मचैतन्य तथा जगत्प्रकाशक चैतन्य के भी संयोगवियोग कभी नहीं होते। उन संयोगवियोगों

की प्रतीति तो भ्रमरूप ही होती है। हे शिष्य! ऐसी स्पष्ट परि-स्थिति में चन्द्रिका तथा चन्द्र की परस्पर एकता को तथा आत्मा और जगद्भासक चेतना के अभेद को कौन रोक सकता है? (उनके कभी प्रतीत होने और कभी प्रतीत न होने का कारण तो अज्ञान होता है यह बात ऊपर बतादी गई है)।

त्वयानुभूतमेवास्ति चन्द्रिकाचन्द्रकौतुकम्।
दृष्टान्तदर्शनायाङ्ग पुनस्तत्प्रकटीकृतम् ॥३॥

हे शिष्य! तुमने चन्द्रिका तथा चन्द्र का यह कौतुक स्वयं अनुभव किया ही है, फिर भी दृष्टान्त दिखाने के लिये हमने उसीको स्फुट कर दिया है।

तात्पर्य—जीवन्मुक्त पुरुषों को जो जगद्भान होता है वह भी आत्मभान ही होता है, इस बात को दिखाने के लिये तुम्हें यह दृष्टान्त देकर समझाया है। क्योंकि वे लोग इस तत्त्व को गम्भीरता के साथ अनुभव करने लगते हैं।

तावती चन्द्रिका प्रोक्ता यावानेव हि चन्द्रमाः।
अनाद्यन्तस्तु चन्द्रोय मनाद्यन्तास्य चन्द्रिका ॥४॥

जितना चाँद होता है उतनी ही उसकी चाँदनी मानी जाती है। (इस आत्मचन्द्र का जितना विस्तार है उतने ही विस्तार वाली इसकी चन्द्रिका [चेतना] भी बतायी गयी है) क्योंकि यह चन्द्र अनादि और अनन्त है तो इसकी चन्द्रिका का भी कोई आदि और अन्त नहीं है।

अथाद्भुतशिरश्छेदनम्

मोक्ष के समस्त साधनों में मनोनिग्रह किंवा मनोबाध ही सबसे श्रेष्ठ साधन कहाता है। यह बात इस प्रकरण में

बतायी है । जिस प्रकार सिर काटने पर प्राणी की मृत्यु हो जाती है इसी प्रकार मनोबाध कर डालने पर जगत् का नाश हो जाता है ।

तत्तद्विचारवैराग्याद्वरिष्ठा विश्वविस्मृतिः ।
छेद्यस्य शिरसश्छेदः प्रत्यङ्गच्छेदनाद्वरः ॥१॥

उन उन अनन्त पदार्थों के विवेक तथा उनसे वैराग्य (करने का महान् प्रयत्न करने की) अपेक्षा विश्व की विस्मृति करना ही मोक्ष का श्रेष्ठ साधन कहाता है । वध्य पुरुष के प्रत्यङ्ग को अलग अलग काटने से उसका सिर ही काट लेना अच्छा होता है।

तात्पर्य—यदि किसी के वध के लिये राजाज्ञा हो गयी हो तो बिना सिर काटे उसका प्राणान्त नहीं होता, इसलिये प्रत्येक अङ्ग को पृथक् पृथक् न काटकर शिर का काट देना ही मृत्यु का उत्तम साधन माना जाता है । इसी प्रकार उन उन नाना पदार्थों का विवेक तथा उनसे वैराग्यादि कर लेने पर भी विश्वविस्मरण-रूपी मनोबाध के बिना मोक्ष की प्राप्ति असम्भव होती है, इस-लिये विश्व नामधारी इस मन का ही बाध कर लेना मुमुक्षु की दृष्टि में मोक्ष का उत्तम साधन कहाता है । विवेकादि साधनों के अनन्त होने से, उन सम्पूर्ण का अनुष्ठान किसी एक अधिकारी से होना भी असम्भव होता है, इसलिये लाघवदृष्टि से भी तो मनोबाध के लिये ही मुमुक्षु लोगों को प्रयत्न करना चाहिये।

प्रत्यङ्गच्छेदनेऽप्यस्य छेद्यमेव शिरो यदि।
प्रथमं तच्छिरश्छिन्धि वृथा किं चेष्टयान्यया ॥२॥

प्रत्यङ्ग को काटने के पश्चात् भी यदि इसका सिर काटना

ही पड़ेगा तो प्रथम इसका सिर ही काट दो, इन दूसरे व्यर्थ परिश्रमों से क्या फल होगा ?

हे शिष्य ! विवेक वैराग्यादि के द्वारा इस जगत् के प्रत्यङ्ग का नाश करने के अनन्तर भी जगत् का नाश करने के लिये यदि मनरूपी सिर काटना ही पड़ेगा, तब तो सब (सत्रह) अङ्गों में मुख्याङ्ग यह मनरूपी सिर ही सबसे प्रथम काट लो। प्रत्येक विषय का विचार तथा सकल विषयों से वैराग्यरूपी इस वृथा चेष्टा में तुम्हें क्या फल प्राप्त हो सकता है ?

दयाशीला हि मुनयो मुनेः सापि दयालुता।
यच्छिनत्ति मनःशीर्षं विनाङ्गच्छेदवेदनाम्॥३॥

मुनिजन दयाशील होते हैं। यह भी तो मुनियों की दया ही है कि वे प्रत्येक अंग को कष्ट न देकर मनरूपी सिर को ही काट देते हैं।

ज्ञानी लोग बड़े ही दयाशील होते हैं, जबकि उन्हें इस जगत् का जीवन नष्ट कर डालना आवश्यक हो जाता है, तो फिर उस दशा में उनकी यह भी दयालुता ही है, कि वे प्रत्यङ्ग को काट काट कर जगत् के जीवन को निर्दयतापूर्वक नष्ट नहीं करते ; किन्तु इस घोर कष्ट को बिना दिये सहसा मनरूपी सिर को ही काट फेंकते हैं। 'प्रत्यङ्ग के छेद से जो दुःख होता है वह असह्य हो जाता है। अकस्मात् सिर काट डालने पर वह असह्य दुःख नहीं होता। क्योंकि उससे दुःखरहित शीघ्रमरण की प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार पृथक् पृथक् वैराग्यादि साधन करने वालों को अनन्त कष्ट उठाने पड़ते हैं तथा उनका संसार चिरस्थायी हो जाता है। सहसा मनोनाश करने वाले को कुछ

भी कष्ट उठाना नहीं पड़ता। उसको तो झटपट ही मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। शरीर को नाना प्रकार के कष्ट देने वालों से मनो-निग्रह करने वाले श्रेष्ठ साधक कहाते हैं।

सद्यो मम शिरश्छिन्धि मामित्याह मनो मम।
मया सोढुं न शक्यन्ते प्रत्यङ्गच्छेददुर्दशाः ॥४॥

मेरा मन मुझसे कहने लगा कि मेरा सिर ही झटपट काट डालो! प्रत्येक अङ्ग के छेदन की दुर्दशा तो मुझसे सही नहीं जातीं।

तात्पर्य—अनन्त, ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेयरूपी अङ्गों को लगातार काटते रहने से तो यही अच्छा होता है कि इस जगत् के शिरोभूत मन का ही बाध कर डाला जाय। इस सम्पूर्ण जगदा-कार (तथा बाधा करने योग्य) मन की दृष्टि में इसके प्रत्यङ्ग को न काटकर केवल मनःशीर्ष की ही बाधा करने वाला मैं दयालु ही समझा जाता हूँगा।

असंख्याश्चित्तजा भावाः शक्याश्छेत्तुं क्रमात्कथम्।
चित्तमेतत्समाच्छिन्नमत एव मया मुने ॥५॥

हे शिष्य! चित्त से उत्पन्न होने वाले अनन्त भावों का क्रम से क्योंकर छेदन किया जा सकता है? हे मुने! इसी कठि-नाई को देखकर मैंने पहले इस चित्त को ही भले प्रकार छिन्न-भिन्न कर डाला है।

यदि तुम्हें भी मोक्ष की इच्छा हो तो तुम भी प्रथम इस संकल्पविकल्परूपी मन को ही नष्ट कर डालो। क्योंकि अनन्त होने से इसके प्रत्येक अङ्ग का बध तो हो ही नहीं सकता। ऐसी

अवस्था में उनमें से कुछेक के काट देने पर भी जगत् का नाश नहीं हो सकेगा।

अथ जातसाक्षात्कारं शिष्यं प्रति श्रीगुरोः प्रश्नामृतम्

इस प्रकरण में उपदिष्ट अर्थ को शिष्य समझा या नहीं इस अभिप्राय को लेकर सुख का आविर्भाव कराने वाले ये अमृत के समान प्रश्न आत्मदर्शी शिष्य से किये जाते हैं।

नित्यानुभूतमपि यन्नानुभूतत्वमागतम्।
अनुभूतिरसस्पर्शै रनुभूतं परं पदम् ॥१॥

नित्यानुभवरूप होने पर भी जो कभी अनुभव का विषय नहीं बनता, क्या तुमने अनुभूति के सुखद स्पर्शों से उस परम पद का साक्षात्कार कर लिया है?

स्वयंप्रकाशरूप होने से जो सदा ही अनुभवस्वरूप होता है, परन्तु अवेद्य होने से जो कभी किसी के अनुभव का विषय नहीं बनता है, क्या तुमने उस परमपद का (ब्रह्मानुभव के सुख-दायक साक्षात्कारों के साथ) साक्षात् कर लिया है? अर्थात् क्या तुम्हें उस परमपद का अनुभव हो चुका है?

प्रत्यक्षलक्षणैरेव पराग्वृत्तिविलक्षणैः।
साक्षात्कृतः शिवः साक्षात् सच्चिदान्दलक्षणैः ॥२॥

बाह्य पदार्थों को जानने वाली जो संसारी वृत्तियां हैं उन से विलक्षण रहने वाले सच्चिदानन्दरूपी प्रत्यक्ष लक्षणों से तुम ने उस साक्षात् शिव का साक्षात्कार किया या नहीं?

तात्पर्य—जो सुखस्वरूप आत्मा सदा ही अव्यवहित रह कर सबका प्रकाश किया करता है, सर्वदा ही ज्ञानियों के अनुभव में आने वाले उसी आत्मशिव का क्या तुमने सत् (त्रिकालाबा-

धित) चित् (ज्ञानस्वरूप) तथा आनन्द नाम के प्रत्यक्ष लक्षणों के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया ? अर्थात् अपने प्रत्यगात्मा में तुमने ब्रह्म के सच्चिदानन्द लक्षणों का समन्वय (साक्षात्कार) किया या नहीं ?

यशोदागीतमधुरै मृदुवेदान्तभाषितैः ।
लालितः प्रापितो निद्रां मुकुन्द इव मोदसे ॥३॥

यशोदा के गीतों के समान मधुर मृदु वेदान्तवाक्यों से लालित होकर, सुखरूपी नींद आ जाने पर, क्या तुम श्रीकृष्ण के समान हृष्ट रहने लगे हो ?

यशोदा के गीतों की मधुरताओं से लालित होकर सोता हुआ श्रीकृष्ण जिस प्रकार निद्रासुख से सुखी हो जाता था इसी प्रकार यशोदा (अर्थात् यश को देने वाली विवेकवती बुद्धि) के मुख से निकलने के कारण सुख देने वाले, उपनिषदों के (सूक्ष्मार्थक तथा सुखजनक होने से अत्यन्त) मृदु वचनों द्वारा लालित होने पर (संसारविस्मरण तथा आत्मसमाधिरूपी) निद्रा को प्राप्त हो कर क्या तुम मुदित रहने लगे हो ? तात्पर्य यह है कि—निद्रा में सर्वदुःखविस्मरण के समान वेदान्तों के श्रवण से तुम्हें, ब्रह्मसुखाविर्भाव हो जाने से, सर्व दुःखों का विस्मरण हुआ या नहीं ?

नवनीतरसग्रासै श्वमत्कारैः स्वसंविदाम् ।
अन्तराप्यायितो बालमुकुन्द इव खेलसि ॥४॥

हे शिष्य, मक्खन के ग्रास के समान आत्मसंविद् (आत्मज्ञान) के चमत्कारों से अपने मन ही मन तृप्त होकर बालमुकुन्द की तरह खेलने लगे हो क्या ?

श्रीकृष्ण जिस प्रकार अपनी बाल अवस्था में नवनीत के ग्रासों को खाकर तृप्त हो कर पड़े पड़े अकेले ही खेला करते थे, इसी प्रकार क्या अब तुम आत्मज्ञान के चमत्काररूपी विलासों से, (जिन विलासों का अनुभवरूपी भोजन नवनीत के तृप्तिकारक रस से किसी प्रकार भी कम आन्ददायक नहीं होता) अपने आत्मा में ही तृप्त होकर क्रीडा करने लगे हो? अब तुम को अपने सुख के लिये किसी सांसारिक विषय की सहायता तो अपेक्षित नहीं रही? अब तुम स्वरूपसुखानुभव से तृप्त होने के कारण अन्दर ही अन्दर मुदित होकर आत्मकाम हो चुके हो क्या?

स्वात्मनि प्रलयं नीत्वा दृश्यमेकाकितां गतः।
किं नृत्यसि निजानन्दे महादेव इवात्मनि ॥५॥

दृश्य को स्वात्मा में लीन कर देने से एकाकी रहकर महादेव के समान अब तुम निजानन्द में ही नाचने लगे हो क्या?

हे शिष्य, जिस प्रकार (अहङ्कार के देवता) रुद्र भगवान् इस समस्त दृश्य जगत् को अपने आत्मभूत अहङ्कार में लय करके, अकेले बनकर, स्वात्मसुख में डूब कर, नृत्य किया करते हैं इसी प्रकार इस समस्त दृश्य जगत् को अपने प्रत्यगात्मा में (निर्बीज) लय करके (बाधा करके) अद्वैत रूप को प्राप्त हो कर—अपने निरतिशय आनन्दरूप में स्थित हो कर—नाचने लगे हो अथवा नहीं? तात्पर्य—तुम्हारी जगदानन्द की अभिलाषा के शान्त हो जाने पर क्या अब तुम स्वरूपानन्द में स्थित हो गये हो?

सायङ्काले समाध्याख्ये स्निग्धां सर्वाङ्गसुन्दरीम्।
निजशक्तिमुमां पश्यन्महेश इव नृत्यसि ॥६॥

हे शिष्य समाधिनामक सायङ्काल के आने पर सर्वाङ्गसुन्दरी लावण्यवती अपनी शक्तिरूपी पार्वती को देख कर अब महेश की तरह तुम भी नाचने लगे हो क्या ?

जिस प्रकार महादेव सायङ्काल के समय प्रेम करने वाली सर्वाङ्गसुन्दरी कमनीया पार्वतीरूपी निजशक्ति को देख कर खुशी के मारे नाचा करते हैं इसी प्रकार सविकल्प समाधि नामक सायङ्काल के आने पर (सविकल्प समाधि में समस्त जगत् की बाधा होने पर भी कुछ कुछ स्फूर्ति बनी ही रहती है इसलिये सविकल्पसमाधि को सायंकाल के तुल्य माना जाता है) आत्मप्रेम से परिपूर्ण अनुभाव्य, अनुभव तथा अनुभवितारूपी सर्वाङ्गों से सुन्दर, 'उ' नामक ब्रह्म का अनुभव करने के कारण 'उमा' कहाने वाली, जगज्जननसामर्थ्यरूपा उस अपनी चिच्छक्ति को देख देख कर, अपने प्रारब्धकर्मों का क्षय होने तक, तटस्थ हो कर व्यापाररूपी नृत्य करते रहते हो अथवा नहीं ? (जग-व्यवहार करते रहने पर भी तुम्हें सविकल्प समाधि रहने लगी है या नहीं ?

दृश्यं निपीय गरलं पाचयित्वा तदात्मनि।
मृत्युञ्जयपदं प्राप्तः किं हृष्यसि हरो यथा ॥७॥

दृश्यरूपी हालाहल को पीकर, अपने अन्दर उसको पचाकर मृत्युञ्जय पद को पाकर क्या तुम भी अब महादेव की तरह हृष्ट रहने लगे हो ?

हे शिष्य, जिस प्रकार महादेव समुद्र से उत्पन्न हुए हालाहल को पी कर, अपनी अनुपम शक्ति से उस हालाहल को अपने देह में ही पचाकर, मृत्युञ्जय नाम को पाकर, मन ही मन हृष्ट रहते हैं

इसी प्रकार इस दृश्यजगद्रूपी हालाहल को पीकर (अपने से पृथक् इसे कुछ भी न समझ कर) तथा इस ग्रस्त जगत् को भले प्रकार अपने आत्मा में पचा कर (इतना पचाकर कि फिर संसार के उदय होने का प्रसङ्ग ही न आये) मृत्यु के कारण संसार को जीत लेने वाले ब्रह्म के पद (स्वरूप) को प्राप्त होकर, क्या अब तुम सदा के लिये तृप्त हो गये हो ? क्या अब तुम्हारा दृश्य-जगत् का विलय परिपक्व हो चुका है ? क्या अब तुम्हें कभी संसार का विचार तो उत्पन्न नहीं होता है ?

यथा संमुखतां नीत्वा मुकुरे मुख मीक्षितम् ।
अखण्डवृत्तौ च तथा स्वरूपं किं विलोकितम् ॥८॥

हे शिष्य, जिस प्रकार किसी दर्पण को सामने लाकर उस में अपने मुख को देखा जाता है इसी प्रकार 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस अखण्ड वृत्ति में अपने सच्चिदानन्दस्वरूप का दर्शन तुमने किया या नहीं ?

बहिरन्तर्हरिं पश्यन्मायां पश्यञ्जगन्मयीम् ।
विस्मयं परमं यासि मार्कण्डेय इवात्मनि ॥९॥

अन्दर बाहर सर्वत्र हरि को देखकर तथा उसके साथ ही इस जगन्मयी माया को देखकर तुम्हें अपने ही अन्दर मार्कण्डेय के समान परम विस्मय होने लगा या नहीं ?

हे शिष्य, जिस प्रकार मार्कण्डेय बाहर वटपत्रों पर बैठे हुए मुकुन्द को देखकर विस्मित हुआ था, तथा मुख खोलने पर मुकुन्द के मुँह में घुसकर अन्दर भी उसी तरह अपने आश्रम को, अपने आप को, तथा विष्णु को देखने के अनन्तर, अन्दर बाहर सर्वत्र (आश्रम आदि का रूप धारण करने वाली) जगन्मयी

माया को देखकर मन ही मन परम विस्मित हुआ था, इसी प्रकार बाह्य जगत् में, अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में विद्यमान रहने वाले तथा आन्तर जगत् में (स्वदेह में) भी सच्चिदानन्द रूप से विराजते हुए आत्मदेव को देखकर, साथ ही अन्दर बाहर जगन्मयी माया को भी देखकर, अपने मन में सर्वोत्तम विस्मय को प्राप्त होने लगे हो या नहीं ? इस जगत् को माया समझ कर तथा अन्दर बाहर सर्वत्र सच्चिदानन्दरूप आत्मा का दर्शन करके तुम को भी ज्ञानियों को होने वाला अलौकिक विस्मय रहने लगा है अथवा नहीं ?

अथ शिष्यप्रतिवचनम्

ऊपर के सब प्रश्नों का उत्तर एक ही श्लोक के द्वारा शिष्य ने दे दिया—

श्रीगुरोः सानुभावानां करुणापूर्णचेतसाम् ।
श्रीमतां कृपया नून मस्माकं किम्नु दुर्लभम् ॥१॥

हे श्रीगुरो ! जिन हम को, अद्भुत अनुभाव (प्रताप) रखने वाले तथा स्वानुभव से परिपूर्ण करुणारूपीजल से अपने चेतोह्रद को सम्पूर्ण भरे हुए, आत्मसाक्षात्काररूपी श्री वाले श्रीमान् जैसे सद्गुरु प्राप्त हों, उन हम को आप लोगों की कृपा हो जाने पर क्या वस्तु अप्राप्य हो सकती है ?

आपकी कृपा से अनुभव के अविषय आत्मदेव का मैंने अनुभव किया है, सच्चिदानन्द लक्षणों से शिव का साक्षात् दर्शन पाया है, मुकुन्द के समान प्रपंचविस्मरणरूपी सुखनिद्रा में सोकर मन ही मन मुदित हुआ हूँ, आत्मज्ञान के चमत्कारों से अन्दर ही अन्दर बालमुकुन्द के समान खेला हूँ, महादेव के समान आत्मानन्द

मैं नाचा हूँ, अपनी चिच्छक्तिरूपी उमा को देखकर महादेव की तरह जी खोलकर नृत्य किया है और कूदा फांदा हूँ, महादेव के समान मृत्युंजय पद को पाकर सदा ही तृप्त रहने लगा हूँ, अपने अन्तः-करण की अखण्डाकार वृत्ति में अपने स्वरूप का दर्शन भी किया है तथा मार्कण्डेय के तुल्य अति विस्मित होकर अन्दर बाहर सर्वत्र ही आत्मदेव के अखण्ड दर्शन भी लेने लगा हूँ। आप जैसे सद्गुरु प्राप्त हों तो फिर हम लोगों को दुर्लभ पदार्थ ही क्या है ? आप की कृपा होते ही विवेक की भीड़ लग जाती है। जैसे कि मेघ अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को प्यासे चातकों के लिये उडेल देता है इसी प्रकार जब आप जैसे सद्गुरु किसी हम जैसे मुमुक्षु पर दयालु हो जाते हैं तो ज्ञान का अक्षय पिटारा ही खोल बैठते हैं—जिसमें से तृप्तिकारक ज्ञानामृत का यथेच्छ भोजन मिल ही जाता है। जब आप किसी का अङ्गीकार करते हैं तो उसके लिये सब संसार मोक्षमय हो जाता है।

अथ चर्याचतुष्टयी

ज्ञानीपने के अभिमान में आकर किसी को भी निषिद्ध कर्मों का आचरण नहीं करना चाहिये। परन्तु पूर्ण ज्ञानी यदि प्रारब्ध के वश में आकर कुछ दोष कर भी बैठे तो उसे दोष नहीं लगता। यह बात इस प्रकरण में दिखायी गयी है। 'ब्रह्म-ज्ञानी को दोष नहीं लगता' इसका यह अभिप्राय नहीं है कि ज्ञानी लोग केवल विगर्हित काम करने पर ही उतारू हो जायँ। उन को भी लोकसंग्रह के लिये तो शास्त्र की आज्ञाओं के अनुकूल ही चलना चाहिये।

जात्या यद्यपि गौरमेव वदनं रूपस्य नास्ति क्षति-
स्तत्किं कज्जलकालिमा मुखतले संलापनीयो बुधैः।
अस्तु ब्रह्मविदः कृतैरपि न तैर्दुष्कर्मभिश्चेत्क्षतिः
किं कामादिकदर्थिता वरमहो निःसंगसौख्यं वरम्॥१॥

दुष्कर्मों के करने पर भी उनसे ब्रह्मज्ञानी की कुछ हानि न भी हो तो भी क्या कामादियों के कारण उत्पन्न हुई तुच्छता अच्छी अथवा निःसङ्गता का निरतिशय सुख अच्छा, यह बताओ ? यदि किसी का मुख स्वभाव से गौर वर्ण का हो तो उस पर कज्जल पोतने पर भी रूप की कुछ हानि तो नहीं हो जाती है, परन्तु क्या केवल इसी कारण से समझदारों को अपने मुख पर कज्जल की कालिमा पोत ही लेनी चाहिये ?

'न मातृवधेन न भ्रूणहत्यया' 'ज्ञानी पर मातृवध किंवा भ्रूणहत्या जैसा पाप भी नहीं चढ़ता' ये श्रुतियां 'ज्ञानी को निषिद्ध आचरण करने पर भी दोष का लेप नहीं होता' यह बताती हैं। परन्तु निषिद्ध आचरण करने की आज्ञा नहीं देतीं। किसी तीव्र प्रारब्ध के कारण यदि किसी ज्ञानी से कोई निषिद्ध कर्म हो जाय तो उसे दोष नहीं लगता यही उसका तात्पर्य है। किसी भी ज्ञानी को निषिद्ध कर्मों का आचरण नहीं करना चाहिये, किन्तु असङ्ग आत्मसुख में ही प्रेम का उपार्जन करना चाहिये। यदि किसी तीव्र प्रारब्ध के वश में आकर ज्ञानी से कोई निषिद्ध कर्म हो जाय तो उस कर्म के कारण पछता पछता कर ज्ञानी को मर नहीं मिटना चाहिये। आत्मा को सब अर्थों में निर्लेप समझ कर प्रारब्धवश किया गया ज्ञानी का निषिद्ध कर्म भी ज्ञानी के लिये गुणकारक (अन्तःकरण की

शुद्धि करने वाला) हो जाता है। परन्तु यदि ज्ञानीपने के अभिमान में आकर ज्ञानपूर्वक निषिद्ध कर्म किया जायगा तो लोकापहासजन्य ऐहिक दुःख तथा नरकादिजन्य पारलौकिक दुःख उसे अवश्य ही प्राप्त होगा। जो बुद्धिपूर्वक निषिद्ध कर्मों का आचरण करता है और मुख से अपने आप को ज्ञानी कहता है वह ज्ञानी ही नहीं होता। ज्ञानियों की प्रवृत्ति कभी भी निषिद्ध कर्मों की ओर नहीं होती। ज्ञानियों को पाप न लगाने वाली श्रुति तो ज्ञानियों की स्तुति के लिये अर्थवाद है। वह विधि नहीं है।

विद्यैवाधिगता सदामृतमयी विद्यावता तत्सुखं
स्थेयं वर्त्मनि संगदोषरहिते संगः पुनः कीदृशः।
किं भूषास्य वरा स्थितिः स्तुतिमयी सा राजसिंहासने
द्वारि द्वारि कपर्दिकार्थमटनं किंवास्य राज्ञो वरम् ॥२॥

ज्ञानी ने अमृतरूप ज्ञान प्राप्त कर लिया, अब तो उसे आनन्दपूर्वक संगदोषवर्जित मार्ग पर चलना चाहिये, ज्ञानी का संग से क्या सम्बन्ध ? क्या भला राजतिलक कराकर शानदार ढंग से राजसिंहासन पर बैठा रहना अच्छा, या कौड़ी कौड़ी के लिये द्वारे द्वारे भटकना अच्छा ?

विद्या वाले ज्ञानी ने अमृत (सुख-ब्रह्म) मयी आत्मविद्या को प्राप्त किया है, इस लिये उसे सुखपूर्वक ऐसे मार्ग में स्थित हो जाना चाहिये, जिसमें कि काम क्रोधादि के संग (सम्बन्ध) से उत्पन्न हुए दुःखरूपी दोष न पाये जाते हों। ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ज्ञानी की पापकृत्यों में रुचि ही नहीं होनी चाहिये। यदि कहो कि ज्ञान हो जाने पर विदेहमुक्ति तो मिलेगी ही, निःसङ्गता

के सुख से हम को क्या लेना है ? तो उसका उत्तर यह है कि जब जीवितकाल में ही तुम ने मुक्तिसुख का अनुभव नहीं कर लिया तो विदेहमुक्ति ही तुम्हें क्योंकर मिल सकती है ! इसलिये निःसङ्गता के सुख का ही आदर ज्ञानियों को करना चाहिये । सर्वलोकादरणीय राजसिंहासन पर बैठा रहना इस राजा की उत्तम शोभा है अथवा राज्य जैसे उत्तम पद को पाकर भी एक एक कौड़ी के लाभ के लिये दर दर मारे फिरना अच्छा है यह बताओ ? निन्दित कर्मों का आचरण करने से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इस पुरुष को जीवन्मुक्ति के असङ्गतासुख का अभी तक अनुभव नहीं हुआ है, साथ ही लोकनिन्दा से उत्पन्न हुआ दुःख उसको और भी अधिक हो जाता है । ऐसे बहके हुए ज्ञानी को कभी भी विदेह-मुक्ति नहीं मिल सकती, प्रत्युत इन सब के बदले में नरक-दुःख ही उस को प्राप्त होता है । इसलिये किसी भी ज्ञानी को निन्दित कर्मों का आचरण नहीं करना चाहिये ।

शिष्टाचारपथं विना यदि भवेदात्मप्रबोधो महां-
स्त्याज्यस्तर्हि तु सर्वदैव विदुषा वर्णाश्रमाणां क्रमः ।
वर्त्म ज्ञस्य विलक्षणं यदि कृतात्किंचाकृतात्कर्मणः
संगृह्णाति जनांस्तदा मुनिजनस्तेनापि नास्य क्षतिः ॥३॥

शिष्टाचार को छोड़कर ही यदि किसी का ज्ञान परिपक्व होता हो, केवल उसी अवस्था में ज्ञानी लोग वर्णाश्रमों के क्रम को छोड़ सकते हैं । यद्यपि ज्ञानी का मार्ग कृतकर्म तथा कर्म-त्याग से अत्यन्त विलक्षण होता है (इस लिये यद्यपि उसे स्वयं कर्म करने का कुछ भी प्रयोजन नहीं होता परन्तु) तो भी

जिस मार्ग से चल कर ज्ञानी ने ज्ञान प्राप्त किया है वह मार्ग दूसरे अधिकारियों के लिये भी वैसा ही अक्षुण्ण बना रहे, इस विचार से लोकसंग्रह के लिये तो ज्ञानियों को भी कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये। उस से उनकी अपनी कुछ भी हानि नहीं होती।

हे शिष्य, शिष्टाचार को छोड़कर निन्दितकर्मों का अनुष्ठान करने पर ही यदि तुम्हारा ज्ञान दृढ हो सकता हो, तभी तुम वर्णों तथा आश्रमों के आचार को छोड़ सकते हो। निषिद्धाचरण से ही यदि किसी को ज्ञान प्राप्त होता हो, तब तो सबकी ही मुक्ति हो जानी चाहिये, तथा जबकि सब ही लोग निषिद्धाचरण में प्रवृत्त होंगे तो सन्मार्ग का उच्छेद ही हो जायगा। परन्तु न तो सन्मार्गगामी पुरुष निषिद्धकर्म करने में प्रवृत्त ही होते हैं और न निषिद्धकर्म करने वालों की मुक्ति ही होती है। प्रत्युत निषिद्धकर्म करने वालों को नरकयातनायें मिलती हैं। यह बात आंखों से देखी तथा शास्त्रों से सुनी जाती है। इस कारण किसी को भी निन्दित कर्मों में प्रवृत्त न होना चाहिये। यदि कहो कि "एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवमिति" इस ज्ञानी को पाप करने किंवा पुण्य करने का फिर कुछ भी दुःख नहीं रहता, तो फिर यह ज्ञानी सत्कर्मों का निष्फल आचरण भी क्यों करे ? उसका उत्तर यह है कि यद्यपि ज्ञानी का आचरणरूपी मार्ग कृतकर्म तथा कर्मत्याग से अथवा स्वर्ग और मोक्ष दोनों से ही भिन्न हो जाता है; तो भी ज्ञानी लोगों का यह कर्तव्य है कि वे लोग स्वयं सत्कर्म करके कर्माधिकारी जीवों के सामने कर्म करने का आदर्श रक्खा करें। यदि लोकसंग्रह के लिये ज्ञानी लोग कर्म करेंगे तो उस सत्कर्म के करने

पर भी उन की कुछ हानि नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि जब ज्ञानियों को पाप कर्म का ही लेप नहीं होता है तो फिर सत्कर्म का आचरण भी उन को बन्धन में नहीं डाल सकता। जिस सन्मार्ग के प्रताप से ज्ञानी को यह उत्तमपद मिला है दूसरों को भी उसी सन्मार्ग में लाने के लिये ज्ञानोत्तर काल में भी ज्ञानी को सत्कर्म करने ही चाहियें। इस के विपरीत यदि ज्ञानी लोग भी दुष्कर्म करने लगेंगे तो सन्मार्ग का उच्छेद हो कर मुक्ति का घण्टापथ (सरल राजमार्ग) ही सदा के लिये वन्द हो जायगा। इस कारण से ज्ञानियों को लोकसंग्रह के लिये सत्कर्मों का आचरण करना ही चाहिये।

इस श्लोक में यह भी भाव निकलता है यदि किसी ज्ञानी को अपनी कई निजी ऐसी कठनाइयां आ गई हों कि जिन से ज्ञानोपार्जन में कठिनता पड़ती हो तो उसे शिष्टाचार को छोड़ देने का हक़ है। दूसरा यह भाव भी पाया जाता है कि यदि अपनी लोकप्रसिद्धि को हटाने आदि के लिये—जिससे ज्ञानसिद्धि में विघ्न होने लगा हो—ज्ञानी लोग कोई साधारण सा शिष्टाचार तोड़ बैठें और कोई निन्दित सा काम कर लें, तो उन्हें वैसा करने का अधिकार है। साधारण रीति से तो ज्ञान के बाद भी शिष्टाचार का पालन सभी को करना चाहिये। ज्ञानमार्ग के अब तक के इतिहास से इन दोनों बातों का अनुमोदन होता है।

दत्तो सावृषभो जडश्च भरतो भङ्किश्च संवर्तकः
कर्मभ्रष्टपथं गताः कथममी चेत्पूर्वपक्षस्तव।
साधो जागरितान् प्रतीदमुदितं पश्यन्ति शृण्वन्ति ये
निद्रान्धा न विलोकयन्ति न पुनः शृण्वन्ति वाच्या न ते॥

यदि यह पूछो कि फिर दत्त, ऋषभ, जडभरत, मङ्कि तथा संवर्तक ये लोग कर्महीन मार्ग में क्यों कर पहुँच गये ? तो हे नवीन साधको ! ये उपर्युक्त बातें तो हम जागने वालों के विषय में कह रहे हैं—जो कि अभी तक जगत् के पदार्थों को आंखों से देखते तथा कानों से सुनते रहते हैं। परन्तु जो निद्रान्ध हो कर जगत् के पदार्थों को न तो आंखों से देखते ही हैं और न कानों से सुनते ही हैं, वे यदि सत्कर्म करना छोड़ भी दें तो भी वे निन्दत नहीं होते ?

हे शिष्य, यदि तुम्हारा यह प्रश्न हो कि वह दत्तात्रेय, ऋषभ नामका राजा, जड भरत, मङ्किमुनि तथा संवर्तक जैसे महापुरुषों ने विहित कर्मों से हीन मार्ग को क्यों कर स्वीकार किया है तो सुनो ? हे नवीन साधक ! जो लोग ज्ञान हो जाने पर भी अभी तक जगत् के पदार्थों का अनुभव करते हैं, कानों से जगत् के पदार्थों के नाम सुनते रहते हैं, उन होश वाले तुम जैसे लोगों के लिये यह ऊपर की लोकसंग्रह वाली बात कही है। जो दत्तात्रेय आदि आत्मदर्शन हो जाने के बाद इतने गहरे उतर जाते हैं कि फिर वे इस संसार में अपनी इन आंखों से न तो कुछ देखते ही हैं और न इन कानों से कुछ सुनते ही हैं, संसारविस्मरणरूपी नींद के प्रताप से अन्धे बने हुए उन (ब्रह्मरूपधारी) लोगों के विषय में कुछ कहना ठीक नहीं होता। वे तो ब्रह्मरूप हो जाने से विधिनिषेध के अधिकार से बाहर हो जाने के कारण सत्कर्मों को छोड़ दें तो भी निन्दित नहीं होते। वैसी जगद्विस्मृति यदि तुम्हें भी हो जाय तो तुम भी उन्हीं की तरह कर्मभ्रष्ट मार्ग में निःशङ्क होकर जा सकते हो।

निरन्तर बहकर आत्मसागर की ओर को जाने वाले ज्ञानरूपी गङ्गा के, संशयरूपी मलों को निवृत्त करने वाले, तरंग-रूपी उनासी श्लोकों का प्रकरण आरम्भ किया जाता है।

ज्ञानगङ्गातरंगोनाशीतिकं शृणु साम्प्रतम्।
एकेनाप्यंगलग्नेन सर्वपापक्षयो भवेत् ॥१॥

हे शिष्य! अब तू ज्ञानगङ्गा के उनासी तरङ्गों को सुन इन का यह प्रताप है कि यदि इनमें से एक तरङ्ग भी किसी के शरीर को छू जायेगा तो उस के सर्वपापों का निश्चय ही क्षय हो जायगा।

जिस प्रकार गंगा का एकभी तरङ्ग शरीर को लगकर सकल पापों का नाश कर देता है इसी प्रकार ज्ञानगंगा के इन तरङ्गों में से एक भी यदि तुम्हारे लिङ्गशरीर (मन) नामक अंग में विचारपूर्वक स्थिर हो बैठेगा तो तत्क्षण ही तुम्हारे सन्देहरूपी सकल पापों का नाश हो जायेगा।

वाङ्मयं खं हि सर्वत्र वाचो मूकस्य दुर्लभाः।
चिन्मयं ब्रह्म सर्वत्र विद्याहीनस्य दुर्लभम् ॥२॥

वाङ्मय आकाश सर्वत्र विद्यमान् भी है परन्तु गूँगे को उसमें से उच्चारण करना नहीं मिलता। इसी प्रकार यद्यपि ब्रह्मचैतन्य सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है परन्तु फिर भी विद्यारहित होने के कारण अभागे लोगों को वह दुर्लभ ही रहता है।

व्यापक होने के कारण चैतन्यरूप ब्रह्म यद्यपि सर्वत्र विद्यमान है तथापि वह किसी को तो प्राप्त हो जाय तथा दूसरा उस

के पवित्र दर्शन से वञ्चित ही रह जाय यह बात अयुक्त है। इस संशय के निवारणार्थ कहते हैं कि—ज्ञानी की दृष्टि में चैतन्य-मात्र आत्मवस्तु समस्त पदार्थों तथा सकल जीवों में परिपूर्ण हो रही है, तथापि ज्ञानरहित पुरुषों को वह दुर्लभ ही होती है। ज्ञानहीन पुरुष नाना प्रकार के श्रवण मनन आदि कष्ट उठाकर ही उसे प्राप्त कर सकते हैं, बिना परिश्रम के उसके पुण्यदर्शन उन को नहीं मिलते। साधनहीन पुरुषों को तो वह आत्मवस्तु सदा ही अप्राप्य रहती है। जिस प्रकार कि—शब्द से व्याप्त यह आकाश सब प्राणियों में एक समान ही है तो भी मूक पुरुष को—जिस की वागिन्द्रिय किसी पाप के कारण नष्ट हो गयी हो, किंवा प्राप्त ही न हुई हो—स्पष्ट वाग्व्यवहार करना दुर्लभ हो जाता है। जिसप्रकार वागिन्द्रिय देने वाले किसी कर्म के अनुष्ठान कर लेने पर वह मूक भी, फिर इसी आकाश में उच्चारण कर सकता है, इसी प्रकार परिश्रमी पुरुष श्रवणादि उपायों का अनुष्ठान करके आत्मज्ञान को प्राप्त होकर सर्वत्र ही चिन्मय ब्रह्म के दर्शन पासकता है।

प्राचीमथ प्रतीचीं वा यत्र क्वचन गच्छतु।
तमसा दृश्यते नैषा ब्रह्मचिद् भास्करो यथा॥३॥

पूर्व अथवा पश्चिम चाहे जहां जाओ तमसे ढका हुआ होने के कारण यह ब्रह्मचैतन्य अंधकार से ढके हुए सूर्य की तरह फिर दीख ही नहीं पड़ता।

रोगी नेत्र वाला पुरुष सूर्य को देखने के लिये पूर्व पश्चिम अथवा और भी चाहे जहां (उत्तर दक्षिण ऊपर नीचे) चला जाय तो भी वह सूर्य इस तिमिरावृत नेत्र वाले पुरुष को दीख

नहीं पड़ता। इसी प्रकार अज्ञानरूपी अन्धकार से ढका हुआ यह अज्ञानी पुरुष चाहे तो उपासना के द्वारा इन्द्रलोक से लेकर ब्रह्मलोक तक पहुँच जाय, अथवा कर्म करके पितृलोक का उपार्जन कर ले, किंवा निषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान करके नरक से लेकर स्थावरपर्यन्त गतियों को प्राप्त हो जाय, तो भी (सकल पदार्थों को सम रूप से प्रकाशित करनेवाली ज्ञानियों को प्रत्यक्ष दीखने वाली सर्वत्र विद्यमान भी) यह ब्रह्मचेतना इसको कहीं भी दिखाई नहीं देती। तात्पर्य यह है कि स्वयंप्रकाश होने पर भी वह ब्रह्मचेतना अज्ञानावृत प्राणियों को नहीं दीखती। परन्तु अज्ञानरूपी आवरण को जिन विद्वानों ने अपने आध्यात्मिक परिश्रम से उतार फेंका हो उनको तो यह नित्य ही प्रत्यक्ष दीखा करती है।

> आकाशमण्डले शून्ये यथा नक्षत्रमण्डलम्।
> चिद्ब्रह्ममण्डले शून्ये तथा संसारमण्डलम् ॥४॥

जिसप्रकार शून्य आकाश में रात्रि के समय नक्षत्रराशि दीख पड़ती है इसी प्रकार चिन्मात्र ब्रह्मस्वरूप में अज्ञानरूपी रात्रि के समय संसारों का समूह दीखा करता है।

इस आकाश में किसी भी वास्तव वायु आदि का सम्बन्ध नहीं होता, इसीलिये नक्षत्रमण्डल का भी सम्बन्ध नहीं है, इसी कारण से सबसे शून्य कहाने वाले आकाश के स्वरूप में भी जिस प्रकार नक्षत्रसमूह प्रतीत हो रहा है इसीप्रकार यह ब्रह्म भी वास्तव प्रपंच के सम्बन्ध से रहित है, यह स्वयं निराकार है तथा कभी भी किसी की प्रतीति का विषय नहीं होता है, इसीलिये वह सदा शून्य रहता है परन्तु ऐसे भी इस चिन्मात्र ब्रह्मस्वरूप

में अज्ञानी लोगों को सृष्टियों का समूह प्रतीत होता रहता है। तात्पर्य यह है कि आकाश का नक्षत्रसमूह के साथ वास्तव सम्बन्ध न होने पर भी प्रातीतिक (केवल प्रतीतिकाल में होने वाला) सम्बन्ध जिसप्रकार होता है इसीप्रकार ब्रह्म तथा संसारमण्डल का वास्तव कोई सम्बन्ध न होने पर भी प्रातीतिक सम्बन्ध ही होता है। ऐसी अवस्था में इस शंका को भी अवकाश नहीं रहता कि जो ब्रह्म प्रपञ्च से सर्वथा असम्बद्ध है उसी में उससे असंबद्ध प्रपंच की स्थिति किस प्रकार संभव हो गई ? क्योंकि जिस प्रकार आकाश से असम्वद्ध नक्षत्रसमूह आकाश में रहता है इसी प्रकार ब्रह्म से असम्बद्ध भी यह जगत्प्रपंच ब्रह्म में रह सकता है।

इन श्लोकों का एक यह भी अर्थ हो सकता है कि—जिस प्रकार प्रकाशक सूर्य के न रहने पर सूने आकाशमण्डल में नक्षत्रमण्डल दीखने लग पड़ते हैं इसी प्रकार प्रकाशक ज्ञान के न रह जाने पर शून्य के समान हो गये हुए इस चिद्ब्रह्ममण्डल में संसारमण्डल दीखने लग पड़ता है।

जाग्रत्स्वरूप एवायं पश्यन्स्वप्नमयं जगत्।
सुषुप्त इव चिद्रूपे मुने स्तुर्यस्थताद्भुता ॥५॥

सोते समय जैसे मनुष्य एकतान होकर सुपने के पदार्थों को देखता है ऐसे ही तुर्या में पहुँचा हुआ ज्ञानी भी केवल चिद्रूप के विषय में ही जागरूक हो जाता है (तब उसे उसके सिवाय और कुछ भी नहीं दीखता) मुनि की तुर्यस्थता भी बड़ी ही अद्भुत हो जाती है।

निद्रा के आ जाने पर जिस प्रकार स्वप्न के पदार्थों को ही

कोई जीव देखता रहता है—उसका ध्यान किन्हीं अन्य पदार्थों की ओर तिलमात्र भी नहीं जाता इसी प्रकार जब कोई मुनि केवल अपने स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप स्वरूप के विषय में ही निरन्तर जागने लग जाता है तथा इस जगत् को स्वप्न के समान मिथ्या समझकर इस की ओर ध्यान बांटना बन्द कर देता है और शान्त स्थिति में बैठ जाता है (मानो उसकी दृष्टि में उस के ध्यान को बटाने वाला जगत् नाम का कोई पदार्थ ही अब शेष नहीं है) तब महामुनियों की यह तुर्यस्थता एक बड़ी ही आश्चर्यकारिणी अवस्था हो जाती है। जभी तो इसका निरूपण करने के लिये इस समस्त जाग्रत् जगत् में हमें कोई दृष्टान्त नहीं मिला। इस महामहिम अवस्था का यथार्थ वर्णन तो कोई भी अपनी वाणी से नहीं कर सकता। यदि इस तुर्या स्थिति का यथार्थ रूप तुमको समझना हो तो स्वयं अनुभव करके ही देखलो।

मुमुक्षा दम्भमात्रं ते न ते तीव्रा मुमुक्षता।
तीव्रा यदि मुमुक्षा स्यान्न विलम्बो भवेदियान् ॥६॥

या तो तेरी मुमुक्षा ढोंग है अथवा वह तीव्र नहीं है। तीव्र यदि होती तो तुझे तुर्या स्थिति मिलने में इतना विलम्ब नहीं होता।

अभूत्कुहूमयं विश्वं पक्षः स मलिनो गतः।
इदानीं निर्मलः पक्षो जातं राकामयं जगत् ॥७॥

हे शिष्य! (अज्ञानावस्था में तुम्हें दीखने वाला) वह मलिन कृष्णपक्ष तो अब बीत गया। उसमें तो यह सब दृश्यमान संसार अमावस्या की घोर रात्रि ही बन रहा था। तब तो इसके यथार्थरूप का परिज्ञान सर्वथा नहीं था। क्योंकि अब जगत् के ये सब पदार्थ पूर्णमासी की रात्रि के समान अपने यथार्थ रूप में

प्रकाशित हो गये हैं इसलिये मानना पड़ता है कि निर्मल शुक्ल-पक्ष आ गया तथा मलिनपक्ष बीत चुका।

अब तो तुम्हारे लिये ब्रह्मपक्षनामक शुक्लपक्ष का प्रारम्भ हो चुका है। जिस प्रकार पूर्णमासी आने पर चन्द्रमा पूर्ण हो जाता है इसी प्रकार यह ज्ञान भी धीरे धीरे पूर्ण होकर वह तुरीया-वस्था तुम्हें प्राप्त हो ही जायगी। उसके प्राप्त होने का सन्देह मत करो! क्योंकि अब तुम्हारी प्रवृत्ति प्रकाशपक्ष की ओर को हो चुकी है।

न तिष्ठति मनो यत्र गोः श्रृंगे सर्षपो यथा।
शैला इव समाधिस्था स्तत्रैव स्थितिमागताः ॥८॥

गौ के सींग की नोक पर यद्यपि सरसों का दाना भी नहीं ठहर सकता परन्तु उन्हीं सींगों पर समस्त पर्वतों का स्थिर होना जिस प्रकार सम्भव हो गया है, ठीक इसी प्रकार इस बात को भी समझ लो कि संकल्पविकल्परूपी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तःकरण भी जिस आत्मा में नहीं पहुँचता—वह वहां पहुँचते ही असत् हो जाता है किंवा स्थिर नहीं होता—निर्विकल्प समाधिस्थ मुनि लोग उसी आत्मा में स्थित हो जाते हैं।

जलप्रवाह इव याऽनवच्छिन्ना स्वभावतः।
चतुर्दशधियां दूरे सा मुने र्मननस्थितिः ॥९॥

हे शिष्य! जिस प्रकार जल का प्रवाह स्वभाव से अखण्ड-रूप में बहता रहता है इसी प्रकार विवेकियों से जानी हुई, स्वभाव से ही निरन्तर रहने वाली, मननशील पुरुषों की स्थिति (किंवा स्थिरता) न तो दूसरे पुरुषों की चौदह प्रकार की (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहङ्कार नामक

चौदह पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाली) वुद्धियों को ही समझ पड़ती है और न उसकी अपनी ही चौदह प्रकार की वुद्धियों की समझ में आती है। वह तो एक आश्चर्यकारिणी स्थिति होती है। (उस अद्भुत स्थिति को वर्णन करने का सामर्थ्य तो इन क्षुद्र शब्दों में है ही नहीं। यदि मुनियों की उस मननस्थिति को जानना हो तो स्वयं मुनि बनकर ही उसका अनुभव ले लेना चाहिये)।

परमात्मपदभ्रष्टः स पुनः परमात्मताम्।
यया प्राप्नोति विश्वात्मा सा मुनेर्मननस्थितिः ॥१०॥

परमात्मा के ऊँचे पद से भ्रष्ट हुआ हुआ यह विश्वात्मा अपने खोये हुए परमात्मपद को, जिस अद्भुत स्थिति के प्रताप से फिर दुबारा प्राप्त हो जाता है, वही तो मुनि की मननस्थिति (मननावस्था) कहाती है।

प्रतिबिम्बं न गृह्णाति निर्मलो निकटस्थितः।
प्रपञ्चवञ्चने युक्तिः सा मुनेरेव नामुनेः ॥११॥

निर्मल भी है निकट भी है परन्तु अपने अन्दर प्रतिबिम्ब को पड़ने नहीं देता है। प्रपंच को वंचन करने की यह युक्ति मुनियों को ही मालूम है। जो मुनि नहीं हैं वे इस युक्ति को नहीं जानते।

सब ही निर्मल दर्पण समीप आये पदार्थों के आभास को ग्रहण कर लेते हैं परन्तु उस मुनि की मननस्थिति को समझने के लिये कल्पना करनी पड़ेगी कि कोई दर्पण निर्मल होने पर भी और पदार्थों के समीप में विद्यमान होने पर भी (अपनी किसी अद्भुतता के कारण) उन पदार्थों के आभास को ग्रहण नहीं कर रहा है। हमारे कल्पित किये हुए उस दर्पण के अनुसार

प्रपञ्च के वञ्चन (संसार के निरास) में कुशलतारूपी यह अद्भुत स्थिति (अवस्था) मननशील मुनियों के ही भाग्य में होती है। वे रागादि मलों से रहित होने के कारण अत्यन्त निर्मल होते हैं तथा जगत् के पदार्थों के समीप विद्यमान होने पर भी उन पदार्थों के आभास को ग्रहण नहीं करते हैं। मननरहित अभागे लोगों को इस अद्भुत स्थिति की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। इस प्रकार शब्द से इस अवस्था का निरूपण न हो सकने पर भी इस विचित्र लक्षण से उस मुनि की मननस्थिति को पहचान लेना चाहिये।

अपसर्पन्त्विति प्रोक्ताः क्षणादपसरन्त्यमी।
यदाज्ञया मनोभावाः स वशी कस्य नाद्भुतः ॥१२॥

ऐ मेरे मन के काम क्रोधादि विकारो! "मेरे मन को छोड़ कर भाग जाओ" इतना कहने पर ही वे कामादि विकार जिस की आज्ञा के अनुसार एक क्षणभर में ही निवृत्त हो जाते हैं। ऐसे अद्भुत वशीकारवाला वह मुनि किसको आश्चर्य में न डाल देगा?

तात्पर्य यह है कि ऊपर से देखने पर चाहे वह संसार में फँसा हुआ ही प्रतीत होता हो परन्तु किसी विषय के भी वश में न आने से वह मुनि आश्चर्यरूप हो जाता है।

जारणात्कालकूटस्य शम्भोराशीविषा वशाः।
मारणान्मनस स्तद्वन्मुने रिन्द्रियवृत्तयः ॥१३॥

जब शम्भु ने कालकूट जैसे भयंकर ज़हर को पचा लिया तो सब सांप उसके वश में आ गये। इसी तरह जब मुनि ने मन को पछाड़ा तो इन्द्रियों की सारी वृत्तियाँ उसके वशीभूत हो गयीं।

कालकूट नाम के विष को अपने देह में पचा लेने के कारण, सर्पों से अधिक विषैला हो जाने पर, अपना कोई बल उस पर चलता न देखकर, सम्पूर्ण सर्प जिस प्रकार शम्भु के वश में आ जाते हैं, इसी प्रकार संकल्पविकल्परूपी अन्तःकरण को मार (नष्ट कर) डालने से अन्तःकरणसहित सब इन्द्रियों की वृत्तियाँ, उस मुनि को अपने से अधिक बलशाली तथा अपने प्रभाव में न आने वाला देखकर, उसके अधीन हो जाती हैं। यही कारण है कि जो मनोवृत्तियाँ अज्ञानी पुरुषों को अपने वश में कर लेती हैं ज्ञानी पुरुष उनके वश में नहीं आता।

अहन्ताममतात्यागः कर्तुं यदि न शक्यते।
अहन्ताममताभावः सर्वत्रैव विधीयताम् ॥१४॥

हे शिष्य, (अपनी निर्बलता के कारण) यदि तुमसे अहन्ता और ममता का त्याग नहीं हो सकता है तो तुम सम्पूर्ण संसार में ही अहन्ता और ममता करने लग पड़ो। (इस रीति से तुमको अहन्ता और ममता से मुक्ति मिल जायगी)।

वर्णाश्रमवयोवेषाध्ययनाचारसुन्दरः।
विना विचारवैराग्यैः पशुरेव न संशयः ॥१५॥

वर्ण, आश्रम, आयु, वेष, अध्ययन तथा आचार इन सब गुणों से युक्त होने पर भी सदसद्विवेक तथा वैराग्य के बिना वह जीव पशु ही होता है, इसमें लेशमात्र भी संशय मत करो।

तात्पर्य यह है कि—वर्णाश्रमधर्मों की क़वायद की अपेक्षा विचार और वैराग्य का ही विशेष आदर (विचार) मुमुक्षु लोगों को करना चाहिये। जिससे कि यह मन शुद्ध होकर आत्म-दर्शन करने के लिये एक पवित्र दर्पण ही बन जाय।

तीक्ष्णे विचारवैराग्ये चित्ते यस्य निरन्तरे।
स पण्डितः, किमेतस्य साधनान्तरचिन्तनैः ॥१६॥

हे शिष्य, जिस महापुरुष के चित्त में सदा ही दृढ विवेक तथा दृढ वैराग्य जागते रहते हों, उस पुरुष को ज्ञानी जान लो, ऐसे महापुरुष को दूसरे साधनों के चिन्तन की क्या आवश्यकता है?

तात्पर्य यह है कि—विवेक तथा वैराग्य सम्पूर्ण साधनों में प्रधान साधन होते हैं। इनके प्राप्त होने पर दूसरे साधन न होने पर भी ज्ञानरूपी महाफल हाथ आ ही जाता है।

वर्धते मूलसेकेन मूलशोषेण शुष्यति।
भस्मसात्क्रियते वन्हिज्वालयेति तरुस्थितिः ॥१७॥
वर्धते मनसः सेकै र्मनःशोषेण शुष्यति।
भस्मसात् क्रियते बोधज्वालयेति भवस्थितिः ॥१८॥

मूल को सींचने से बढ़ता है, मूल के सूखने पर सूख जाता है, फिर अग्नि की ज्वालाओं से राख हो जाता है यह तो वृक्षों की अवस्था है। इसी प्रकार मनरूपी मूल को (विषयरूपी जलों से) सींचें तो बढ़ता है, मन के सूख जाने पर सूख जाता है, उसके पश्चात् बोधज्वाला से राख (बाधित) हो जाता है, यहीं इस संसार की अवस्था होती है।

मुमुक्षु लोगों को तो मोक्ष ही इष्ट होता है, उस मोक्ष का आत्यन्तिक साधन तो ज्ञान ही है, उसीसे कृतार्थता का लाभ हो जायगा, इस मध्यपाती वैराग्य से क्या होगा? इसका उत्तर इन श्लोकों में यह दिया गया है कि—प्रपंचरूपी वृक्ष को सुखाने

वाले वैराग्य के विना कोई भी कृतार्थ नहीं हो सकता। यदि इस गीले प्रपंचवृक्ष को केवल ज्ञानरूपी आग से जलाने का उद्योग किया जायगा, तो गीले काष्ठ को जलाने में जिस प्रकार अधिक प्रयास होता है, इसी प्रकार इस गीले प्रपंचवृक्ष को भी बोधाग्नि से जलाने में साधक को बड़ा प्रयास उठाना पड़ेगा। इसलिये मुमुक्षु साधक पहले वैराग्य से इस प्रपंचरूपी वृक्ष को सुखा दें, तब ज्ञानाग्नि में उसको झोंक दें। अभिप्राय यही है कि मुमुक्षुओं को ज्ञान के समान ही वैराग्य का भी पूरा पूरा विचार करना चाहिये।

परपारस्थितं हंसं द्विधेव प्रतिबिम्बितम्।
तथात्मानं विजानाति तटस्थः सत्यदर्शनः ॥१९॥

जिस प्रकार कोई बुद्धिमान् पुरुष नदी के दूसरे किनारे पर बैठे हुए हंस को, जल में (प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण) दो सा प्रतीत होने पर भी, एक ही जानता रहता है, इसी प्रकार अविद्यारूपी नदी के किनारे पर बैठा हुआ वह सत्यात्मदर्शी विद्वान् (अन्तःकरण आदि उपाधियों में प्रतितिम्बित होने के कारण ही) अनेक सा प्रतीत होने पर भी, उस आत्मा को परमार्थ में एकरूप ही जाने रहता है।

जब कि द्वैत की प्रतीति की सम्पूर्ण सामग्री विद्यमान होती है, तब भी ज्ञानी लोगों को अद्वैतात्मस्वरूप का साक्षात्कार हो ही जाता है।

चित्रमल्पेन कालेन बोधभर्जितचेतसः।
भर्जितस्येव बीजस्य कार्यसाधकता गता॥२०॥

भुने हुए बीज से जिस प्रकार अंकुररूपी कार्य उत्पन्न नहीं

होता, इसी प्रकार कैसे आश्चर्य की बात है कि बोध से भुने हुए चित्त की (संसारकल्पनारूपी) कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति थोड़े से ही काल में नष्ट हो गयी।

जितना लम्बा समय मन से संसार को बनवाने में लगता है, उतना समय उसको बोध से नष्ट करने में नहीं लगता, यही एक आश्चर्य की बात है। जैसे कि अग्नि में भुने हुए चने आदि के बीज की अंकुरजनन शक्ति थोड़े से ही काल में नष्ट हो जाती है, उसी तरह ज्ञानाग्नि में भुने हुए चित्त की भी शक्ति थोड़े ही काल में नष्ट हो जाती है। भुने हुए चने आदि खाने के काम में आकर क्षुधानिवारणरूपी थोड़ा सा काम तो यद्यपि कर सकते हैं परन्तु अंकुर को उत्पन्न करने की शक्ति उन भुने हुए चनों में नहीं रहती। इसी प्रकार ज्ञानाग्नि से दग्ध हुआ मन प्रारब्ध भोगों को तो सिद्ध कर देता है, परन्तु फिर उससे संसारबन्धरूपी कार्य नहीं हो पाता। एक तात्पर्य यह भी निकलता है कि मन से संसार की रचना करने में जितना समय लग जाता है उतना समय बोधाग्नि से उसका नाश करने में नहीं लगता। जिस प्रकार चने आदि से अंकुर उत्पन्न होने में जितना समय लग जाता है उतना समय अग्नि से उस चने को भूनने में नहीं लगता। बस यही एक आश्चर्य की बात है।

पंगवस्तु कृता एव दृगाद्या न चलन्ति यत्।
अन्धानपि करिष्यामि न पश्यन्ति यथा जगत्॥२॥

हे शिष्य इन चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रियों को मैंने लँगड़ा तो कर ही डाला है (क्योंकि अब ये अपने अपने विषयों की तरफ़ को तो नहीं चलती हैं) अब तो मैं शनैः शनैः इनको अन्धा

भी कर डालूँगा जिससे कि इस जगत् को ये फिर कभी देखें भी नहीं ।

मुझे अभी तक अपनी इन्द्रियों से जगत् का भान तो होता है, परन्तु अब मेरी इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों की तरफ भी नहीं चलती हैं यही उनका लंगड़ापन है । अब तो मेरी इच्छा है कि मैं इन इन्द्रियों को अन्धा भी कर डालूँ—जिससे ये इस जगत् को देखना भी बंद कर दें । तात्पर्य यह है कि मैं इतने गहरे आत्मचिन्तन में डूब जाना चाहता हूँ कि मुझे संसार का भान भी बन्द हो जाय ।

जानातु वा न जानातु ब्रह्म जीवस्य जीवनम् ।
जानाति चेत्परो लाभो न जानाति भयं महत् ॥२२॥

यह जीव उस ब्रह्म को जाने या न जाने दोनों ही अवस्थाओं में वह ब्रह्म (अपनी सत्ता देकर) इसके जीवन का कारण हो रहा है । यदि यह जीव उसे जानता है तो उसको (मोक्षरूपी) महालाभ हो जाता है । यदि तो उस ब्रह्म को नहीं जानता तो फिर (जन्ममृत्युरूपी) महाभय को प्राप्त होता है (जिस प्रकार घर में गड़े हुए निधि को यदि कोई जानता है तब तो उसके धनी होने का महालाभ हो जाता है । परन्तु यदि वह उसको नहीं जानता तो दरिद्रतारूपी महाभय उसको घेरे ही रहता है) ।

ब्रह्मधेनोः स्वभावोयं देवधेनो र्विलक्षणः ।
भोक्तैव तद्दुग्धपाना त्सद्यस्तद्रूपतां व्रजेत् ॥२३॥

हमारी इस ब्रह्मधेनु का स्वभाव देवों की कामधेनु से अत्यन्त विलक्षण होता है । क्योंकि इस ब्रह्मधेनु के दुग्ध को पीकर पीने वाला तत्क्षण ही ब्रह्मरूप हो जाता है ।

देवताओं की धेनु उन उन कामनाओं को तो पूरा कर देती है परन्तु किसीको भी अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं करा सकती। परन्तु यह ब्रह्मधेनु जीवों को उनकी इच्छानुसार अनेक प्रकार के सुखों को देकर, अन्त में अच्छे अधिकारियों को अपने स्वरूप की प्राप्ति भी करा देती है। इसी अद्भुत विलक्षणता को देख कर साधकों को ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाना चाहिये।

यदि योगे कृता बुद्धिः सप्तमीं गच्छ भूमिकाम्।
मग्नश्चेद्गच्छ पातालमिति नीतिविदां वचः ॥२४॥

यदि योग में बुद्धि को लगाया है तो (अपने चित्त को भागवत बनाकर) सीधे सप्तमी भूमिका (किंवा तुर्यावस्था) तक ही पहुँचकर विश्राम लो। (योग जैसे पवित्र मार्ग में प्रवेश करने पर बीच में रुक जाना बड़े ही मन्दभाग्यों का फल होता है)। नीतिज्ञ लोग कहते हैं कि यदि (मोती निकालने के लिये) समुद्र में डुबकी लगानी है तो फिर सीधे पाताल (किंवा समुद्र के पैंदे) तक ही पहुँचकर दम लेना चाहिये (बीच में से लौट कर न आना चाहिये। अन्यथा मोती का मिलना असम्भव हो जायगा।)

तात्पर्य यह है कि बड़ी श्रद्धा से अपने अभ्यास को निरन्तर चलाना चाहिये। अभ्यास में विच्छेद होने देना ठीक नहीं होता। जब मुमुक्षु लोग अभ्यास में प्रमाद करते हैं तो माया अर्थात् संसार के विचार बढ़ने लगते हैं।

मध्याह्नभास्करं द्रष्टुं साक्षाद्यदि तु न क्षमम्।
पटव्यवहितं पश्येज्जले वा प्रतिबिम्बितम् ॥२५॥

मध्याह्न के सूर्य को यदि साक्षात् न देखा जा सकता हो तो (सूर्यदर्शनार्थी को उचित है कि) उस मध्याह्न के सूर्य को या तो कपड़े से व्यवहित करके देख ले, अथवा जल में प्रतिबिम्बित को देखे। (ऐसा करने पर जब दृष्टि स्थिर हो जाय तब साक्षात् भी देखा जा सकता है)।

तथा चिन्मात्रचण्डांशुं निर्विकल्पं न चेत् क्षमः।
सर्वव्यापितया पश्ये दन्तर्यामितयाथवा ॥२६॥

सूर्यदर्शनार्थी के समान ही मुमुक्षु को भी उचित है कि यदि निर्विकल्प चैतन्यसूर्य को वह प्रत्यक्ष न देख सकता हो तो सर्वत्र व्याप्त होने वाले स्वभाव के द्वारा उस आत्मा का चिन्तन किया करे। यदि सर्वव्यापी रूप से भी चिन्तन न कर सकता हो तो सब भूतों के प्रेरक अन्तर्यामिरूप के द्वारा उस आत्मा का चिन्तन किया करे।

ऐसा करते करते जैसे जैसे अन्तःकरण शुद्ध होता जायगा तैसे तैसे निर्विकल्प आत्मा का साक्षात्कार भी उसे होने लगेगा। तात्पर्य यह है कि मोक्ष को देने वाली केवल चिन्मात्राकारवृत्ति यदि किसी से न हो सकती हो तो वह पहले सर्वव्यापी किंवा अन्तर्यामिस्वरूप में आत्मा का चिन्तन किया करे।

लक्षं शराः प्रयोक्तव्याः सूक्ष्मे लक्ष्येपि धन्विना।
कदाचिद्दैवसंयोगादेकोपि तु लगिष्यति ॥२७॥
सदैव चेतसो वृत्ति र्ध्यानाभ्यासे विधीयताम्।
कदाचित् कृपया शंभोरखण्डाकारता भवेत् ॥२८॥

यदि किसी धनुर्धारी को किसी सूक्ष्म अदृश्य लक्ष्य का वेध करना हो तो उसे उस लक्ष्य की तरफ़ को लगातार लाखों

बाण फेंकते रहना चाहिये। कभी दैवसंयोग से उनमें से कम से कम एक बाण तो लक्ष्य में जाकर लगेगा ही। इसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष को उचित है कि—चित्त की बुद्धिनामक वृत्ति को सदा ही ध्यान (आत्मविषयक वृत्तियों का ऐसा प्रवाह कि उसमें आत्मविजातीय कोई भी विचार उत्पन्न न हो) के अभ्यास (वार वार आवृत्ति) में लगाये रहे। लगातार ऐसा करते रहने पर यह होगा कि—ध्यानाभ्यास से प्रसन्न हुए आत्मदेव की (विवेकोत्पादनरूपी) कृपा से वह वृत्ति कभी तो अखण्डाकारता (सच्चिदानन्दब्रह्मरूपता) को प्राप्त हो ही जायगी।

इसलिये बड़े अध्यवसाय के साथ ध्यान का अभ्यास करते रहना चाहिये। यह शंका कभी भी न करनी चाहिये कि सर्वव्यापी अथवा अन्तर्यामिरूप की धारणा से अभ्यास करने पर आत्म-साक्षात्काररूपी फल हाथ लगेगा या नहीं? 'कितने काल तक हमें ऐसा अभ्यास करते रहना चाहिये' इस शंका का भी समाधान उक्त श्लोक से ही हो जाता है कि—वृत्ति के अखण्डाकार होने तक यह अभ्यास करना चाहिये।

ब्रह्मणोपि ब्राह्मणः श्रेयानित्याह द्वाभ्याम्—

ब्रह्म की अपेक्षा ब्रह्मवेत्ता अति श्रेष्ठ होता है यह अगले दो श्लोकों में कहा गया है—यदि यह शंका की जाय कि—ध्यान करने अथवा न करने पर दोनों ही अवस्थाओं में ब्रह्म में ध्यान से कुछ भी विशेषता नहीं आती—ये दोनों अवस्थायें जीव में रह सकती हैं, परन्तु वह भी तो पारमार्थिक ब्रह्मरूप ही होता है। इसलिये ब्रह्माकार वृत्तियों के उत्पादन के बखेड़े में क्यों पड़ा जाय? तो इस शंका का उत्तर यह है कि ब्रह्माकार वृत्ति किये बिना मुक्ति

नहीं मिल सकती, इसलिये ब्रह्माकारवृत्ति करनी ही चाहिये। क्योंकि ब्रह्मज्ञानी की अपेक्षा ब्रह्म की प्रतिष्ठा कम मानी जाती है। यही बात दिखाने के लिये अगले दो श्लोक हैं।

लीलासिन्धोः कियदिव हरेः षोडशस्त्रीसहस्रं,
निःसंख्याता विविधरुचिना येन भुक्ताः स्त्रियस्ताः।
ताहङ्नीतः स पुनरनया भामया वश्यभावं,
सम्यग्भुक्तो यदुपतिरतः सत्यभामैव धन्या ॥२९॥

जिस विविधरुचि श्रीकृष्ण ने अनगिनत स्त्रियें भोगी हैं लीला (रूपी जल) के समुद्र, उस हरि के लिये सोलह हजार स्त्रियें होती ही कितनी हैं! वैसे (स्वतन्त्रविहारी) भी उस यदुपति को इस सत्यभामा ने अपने वश में कर लिया और भले प्रकार उसे भोगा है, इस कारण से सत्यभामा उन शेष सब स्त्रियों से (तथा अपने वश में आये हुए श्रीकृष्ण से) भी अधिक धन्य हो गई है।

प्रकृत—जीवों की अनेक प्रकार की लीलाओं के समुद्र, सकल द्वैत को हरने वाले, हरि नामक आत्मदेव के लिये सोलह हजार वृत्तिरूपी स्त्रियें कितनी होती हैं? क्योंकि (समष्टि अहंकार से सम्बद्ध होकर सकल जगत् के साक्षी बने हुए) इस ब्रह्म ने तो त्रिपुटीरूपी अनन्त स्त्रियों को भोगा है (व्यष्टि लिंगशरीरों में जो वृत्तियें सोलह हजार हों समष्टि लिंगशरीर में वे सब मिलकर अनन्त हो ही जाती हैं) अनन्त त्रिपुटीरूपी भोग्य पदार्थों से सम्बद्ध ऐसे स्वच्छन्दचारी उपति (तत्पद के लक्ष्यार्थ ब्रह्म चैतन्य) को भामा नाम की ब्रह्माकार वृत्ति ने अपने वश में कर लिया है (अर्थात् इस भामा ने उस ब्रह्म को ऐसा सधा लिया

है कि उसको जब कभी ब्रह्मानुभव की इच्छा होती है वह ब्रह्म उसी क्षण इसके अनुभव में आ जाता है) उसने असंभावना और विपरीत भावना से विहीन उस ब्रह्म का यथेष्ट भोग भी किया है। यही कारण है कि उन अनन्त त्रिपुटीरूपी स्त्रियों के वीच में सामान्य तथा प्रत्यक्षरूप से विद्यमान् रहने वाले भी उस अविशेषज्ञ ब्रह्म से तो यह हमारी सत्यभामा (ब्रह्मविषयक प्रमारूपी वृत्ति) ही धन्य है (कृतार्थ है श्रेष्ठ होती है)।

वर्तते ब्रह्म सर्वत्र ब्राह्मणो लभ्यते क्वचित् ।
समर्घाद् ब्रह्मणस्तस्मा न्महर्घो ब्राह्मणो भवेत् ॥३०॥

वह ब्रह्म तो सभी जगह है अर्थात् वह जगत् के समस्त पदार्थों तथा जाग्रदादि सकल अवस्थाओं में अनुस्यूत हो रहा है परन्तु ब्रह्म को जानने वाला महात्मा तो कहीं (किसी पुण्यस्थान तथा किसी अतिपवित्र समय में) ही मिलता है। (इस लिये सर्वत्र सामान्यरूप से विद्यमान समर्घ ब्रह्म की अपेक्षा से ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण ही महर्घ [बहुमूल्य] होता है अर्थात् बड़े यत्नरूपी मूल्य से हाथ लगता है। इसलिये मुमुक्षुओं को उचित है कि ब्रह्माकारवृत्ति करके ब्रह्मदर्शी ब्राह्मण बनें।)

परसङ्गसुखासक्तं योगिनां योषितामिव ।
विहाय लोकसिद्धान्तं रमते स्वमते मनः ॥३१॥

ज्ञानी लोगों का मन, परमात्मा के साथ एकता होने पर मिलने वाले सुख में फंसा हुआ होने के कारण, लोकों के ("वर्णाश्रमादि धर्मों का आचरण अवश्य करना चाहिये" इत्यादि) निर्णय को छोड़कर अपने अभिमत ब्रह्मसुख में ही इस प्रकार क्रीडा किया करता है जिस प्रकार कि दुराचारिणी स्त्रियों का मन अन्य

पुरुषों के संगसुख में फँसकर, लोक के सदाचार के सिद्धान्त को छोड़कर, अपने इष्ट परसंग सुख में ही लगा रहता हो। तात्पर्य यह है कि सब लौकिक धर्मों को छोड़कर तुमको अपने अभिमत ब्रह्मसुख में ही रति करनी चाहिये। ऐसा करने पर ही ब्रह्माकार वृत्ति हो सकती है। यदि तो तुम एषणाओं का त्याग नहीं करोगे तो श्रवणादि में प्रयत्न करने पर भी ब्रह्माकार वृत्ति हाथ नहीं लगेगी।

तोयरन्ध्रनिरोधेन भाति पूर्णं सरोवरम्।
वृत्तिरन्ध्रनिरोधेन पूर्णो बोधः किमद्भुतम् ॥३२॥

जिस प्रकार जल के छिद्रों को रोक देने से तालाब पूर्ण होकर शोभा देने लगता है इसी प्रकार वृत्तिरूपी द्वारों को रोक देने से यह बोध भी पूर्ण हो जाता है। इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

हे शिष्य ! जो सरोवर छिद्रों के द्वारा पानी निकलते रहने से अपूर्ण तथा शोभारहित हो रहा हो, वह जिस प्रकार उन छिद्रों को बन्द कर देने पर पूरा पूरा भर कर शोभा देने लगता है, इसी प्रकार इन कामक्रोधादि वृत्तियों तथा इन्द्रियरूपी छिद्रों के द्वारा प्रतिक्षण व्यय होते रहने से सदा ही अपूर्ण रहने वाला यह ज्ञान भी कामक्रोधादि विकारों तथा इन्द्रियरूपी द्वारों को रोक देने से परिपूर्ण किंवा अखण्ड होकर शोभित होने लग पड़ता है, इसमें तुम्हें आश्चर्य ही क्यों होता है ? इसलिये इस मन को सब लौकिक धर्मों से हटा लेने पर भी यह हमारा मन ब्रह्माकार हो सकेगा या नहीं, ऐसा सन्देह मत करो। तात्पर्य यह है कि तुम्हारे ज्ञानरूपी द्रव्य को ये कामादि विकार तथा ये चक्षु आदि इन्द्रियें

प्रतिक्षण ही चुराती रहती हैं किसी क्षण भी तुम्हें तुम्हारे बोध की पूर्णता का अनुभव नहीं होने देतीं। तुम्हें उचित है कि जब कभी तुम्हारे इस ज्ञानद्रव्य की चोरी होने लगे (अर्थात् ये इन्द्रियाँ किसी विषय को देखने के लिये उठें) तो इन्हें तुरन्त रोक दो। जब मन में कामादि विकार उत्पन्न हों तो उसे भी टोक दो कि हे मेरे मन तथा इन्द्रियों! तुमने अनादिकाल से लेकर मेरे इस ज्ञानद्रव्य को अपनी इच्छानुसार चुराया है, तथा इसका यथेष्ट दुरुपयोग भी किया है। परन्तु इस सब के बदले में मुझे कुछ भी फल हाथ नहीं आया है। मैं तो आज भी अनादि-काल जैसा ही दीन और दुःखी बना हुआ हूँ। अब मुझे आप दोनों के प्रयत्नों की सार्थकता पर विश्वास नहीं रहगया है। कृपया अब अपनी इस चोरी को बन्द कीजिये। अब तो मुझे अपनी पूर्णता का सुखद आस्वाद ले लेने दीजिये। मैं अब तक आप के सहारे से अपनी पूर्णता को प्राप्त करने का निष्फल उद्योग करता आया हूँ परन्तु अब मुझे यह निश्चय हो गया है कि आपके किये यह पूर्णता मेरे हाथ न आयेगी। इसके लिये तो मुझे केवल इतना भर करना पड़ेगा कि यह आपकी अनादिकाल की चोरी बन्द करदी जाय, फिर तो मैं पूर्ण का पूर्ण ही शेष रह जाऊँगा।

निर्मूला निष्कला शुष्का कदर्या भोगवासना।
तया तिरोहितः स्वामी तृणेनेव महागिरिः ॥३३॥

अपने ऊपर जमे हुए तिनकों ही की ओट में जिस प्रकार पहाड़ आ जाता है, इसी प्रकार निर्मूल, निष्कल, नीरस तथा दुष्ट भोगवासना ने ही हाय! हाय! हमारे स्वामी आत्मदेव को छिपा रक्खा है।

सांसारिक भोगों की वासना (इच्छा) यद्यपि निर्मूल है (क्योंकि ये सब विषय ही जबकि असत् हैं तो इस वासना का वास्तविक मूल तो कुछ भी नहीं है) निष्फल है (क्योंकि इसमें सत्यभाग कुछ भी नहीं है) शुष्क है (क्योंकि यह वासना नीरस अथवा सुखहीन है) तथा कदर्य अथवा कमीन है (क्योंकि यह वासना अपने प्रेमी पुरुषों को ही दुःख देती है)। उसको हटाना इसलिये आवश्यक हो जाता है कि उस भोगवासना ने अपने सत्ता देकर पालने वाले स्वयं अपने स्वामी आत्मदेव को ही छिपा डाला है। इसी कारण से वह स्वामी अब सब लोगों को दीख नहीं रहा है। यदि कहो कि इतनी तुच्छ वस्तु ने ब्रह्मरूप आत्मा को किस प्रकार आच्छादित कर लिया है तो सुनो ! जिस प्रकार वर्षाकाल में उसी पर्वत से उत्पन्न हुए अति सूक्ष्म तुच्छ तृणों से, अत्यन्त स्थूल पर्वत भी ढक दिया जाता है, इसी प्रकार तुच्छ वासना ने आत्मदेव पर परदा डाल रक्खा है। यद्यपि यह वासना स्वभावतः अत्यन्त तुच्छ पदार्थ है परन्तु यह अनेक विषयाकार धारण करके अपने ही कारण ब्रह्मात्मा जैसे बड़े पदार्थ को भी ढक लेती है। तात्पर्य यह कि जब तक इन तुच्छ जगद्विषयक वासनाओं को सर्वात्मना नहीं हटाया जायगा तब तक सर्ववृत्ति निरोध नहीं हो सकेगा और ज्ञान में पूर्णता कदापि न आयेगी। इसलिये उन वासनाओं को ही नष्ट करने का उद्योग साधकों को करना चाहिये।

न देशकालौ न वयो न युक्ति र्न विदग्धता।
यदैव वासनात्याग स्तव मुक्ति स्तदैव हि ॥३४॥

मुक्ति होने में देश, काल, अवस्था युक्ति तथा पाण्डित्य ये कुछ

भी उपयोगी नहीं होते। याद रक्खो! जब तुम्हारी वासनायें छूट जायंगी उसी क्षण तुम्हारी मुक्ति हो जायगी।

हे शिष्य! यदि तुम इन वासनाओं का पिण्ड न छोड़ोगे तो फिर चाहे जितने विजन देश में चले जाओ, चाहे नित्य ही उषःकाल में उठा करो, अभ्यास करते करते चाहे जितने परम-वृद्ध हो जाओ, चाहे जितनी युक्तियें चलाओ, चाहे जितने योग-साधन करो, तथा चाहे जितने बड़े पण्डित बन जाओ, इनसे भी मुक्ति जैसी पवित्र वस्तु तुम्हारे हाथ न आयेगी। परन्तु भोगवास-नाओं के छोड़ने में ऐसी बात नहीं होती। ऊपर कहे साधनों में से कोई साधन हों या न हों जिस क्षण तुम भोगेच्छा के सूक्ष्म संस्कारों को निकालकर फेंक दोगे उसी समय तुम्हारी मुक्ति हो जायगी। तात्पर्य यह है कि यद्यपि उत्तम देश तथा उत्तम काल आदि भी मुक्ति के साधन कहाते हैं परन्तु मुक्ति में इनका कोई विशेष उपयोग नहीं है। मुक्ति का सबसे प्रधान साधन तो वास-नाओं का त्याग ही होता है।

उपायैः शोधिते क्षेत्रे निर्मलं बीजमर्पितम्।
किं चित्रं धान्यसम्पत्तौ स देवो यदि वर्षति ॥३५॥

(हल से जोतने आदि) उपायों से खेत को तैयार कर लेने पर जबकि उसमें शुद्ध (कीड़े आदि से न खाया हुआ) बीज बो दिया जाता है तब यदि इन्द्र भगवान् बरस पड़ें और कृषक को उसमें से धान्य प्राप्त हो जायं तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है?

प्रकृत तात्पर्य यह है कि—अन्तःकरणरूपी क्षेत्र को वैराग्य आदि उपायों से निर्मल कर लेने पर जबकि उसमें मायारूपी

मल से रहित, सकल जगत् के कारण ब्रह्मरूपी बीज को अपनी धारणा से स्थिर कर लिया जाय, तब यदि (देशिक के रूप में महा-वाक्यों का उपदेश करने वाला) वह आत्मदेव (वेदान्तार्थ के निरूपणरूपी जल से) ज्ञानामृत की वर्षा कर दे और किसी भाग्यशाली अधिकारी को कृतकृत्यतारूपी धन्यता हाथ आ जाय, तो फिर इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? (तात्पर्य यह है कि उक्त रीति से अभ्यास करने पर भी हमें ज्ञान जैसी पवित्र तथा बहुमूल्य वस्तु हाथ लगेगी या नहीं? यह शंका किसी को भी न करनी चाहिये।)

कृतवाक्यविचारस्य परमार्थमभीप्सतः।
ज्ञानं गरिष्ठमज्ञानमज्ञानं ज्ञानमुत्तमम् ॥३६॥

अद्भुत प्रसंग देखो कि—वाक्यविचार किये हुए तथा मोक्षरूप परमार्थ को चाहने वाले की दृष्टि में यह (लौकिक पदार्थों का) ज्ञान तो घोर अज्ञान हो जाता है तथा अज्ञान (लौकिक पदार्थों का ज्ञान सर्वथा न रहना) ही उत्तम ज्ञान हो जाता है।

आत्मबोधक वाक्यों का विचार करने वाले, मोक्षरूप परमार्थ को ही सर्वभावेन चाहने वाले, विद्वान् की दृष्टि में कैसे अद्भुत परिवर्तन हो जाते हैं कि यह लोकप्रसिद्ध जगद्विषयक पदार्थों का पाण्डित्य नामक स्थूलज्ञान तो उसकी दृष्टि में 'अज्ञान' होजाता है (अथवा, यह लोकप्रसिद्ध ज्ञान ही बड़ा भारी अज्ञान सिद्ध हो जाता है) तथा जबकि जगत् के पदार्थों अथवा ब्रह्म का ज्ञान होना भी बन्द हो जाय तो यही 'उत्तमज्ञान' बन जाता है। क्योंकि जब ज्ञानज्ञेयादि भेद बन्द हो जाते हैं और ज्ञानमात्र शेष रह जाता है तब वह स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही होता है।

मुमुक्षुओं को उचित है कि वे मोक्ष के लिये उस अज्ञानरूपी ज्ञान का ही सम्पादन करलें।

व्याख्यासि वेदान्तगिरो जयसि द्वैतवादिनः।
नान्तर्विंशसि तन्मन्ये तत्रास्ति मरणं तव ॥३७॥

तुम वेदान्त के वाक्यों का व्याख्यान करते हो, द्वैतवादियों को परास्त भी कर डालते हो, परन्तु यदि तुम स्वयं अन्दर प्रवेश नहीं कर पाये हो, किंवा आत्मा में लीन नहीं होने लगे हो, तो इन सब व्यापारों से तुम्हारा मरण ही होगा। क्योंकि आत्म-विस्मरण अथवा देह को आत्मा मान लेना ही मृत्यु कहाती है।

जब तक आत्मा को भूलकर देहाध्यास नहीं हो जाता तब तक वादिपराजय और वेदान्तकथा जैसे कामों को कौन कर सकता है। आत्मविस्मरण ही सबसे बड़ी मृत्यु होती है। लोकप्रसिद्ध मृत्यु तो एक शरीर को ही नष्ट किया करती है, परन्तु यह आत्मविस्मरण तो अनन्त मृत्युओं का कारण हो जाता है। यदि तुम आत्मा का साक्षात् दर्शन नहीं कर सकते हो तो इससे मरणरूपी फल ही तुम्हारे हाथ लगेगा। मोक्ष की प्राप्ति कदापि न हो सकेगी। इहैव सन्तोऽथविद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती-विनष्टिः ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति अथेतरे दुःखमेवापियन्ति। अनेक अनर्थों से परिपूर्ण इस संसार में रहते हुए, अज्ञानरूपी दीर्घनिद्रा से जागकर, यदि इस आत्मतत्त्व को जान लिया गया, तब तो कृतकृत्य हो जायंगे, यदि हमने इस आत्मतत्त्व को न जान पाया तो हम अज्ञानी कहलायेंगे और अनन्त जन्ममरणरूपी महा-विपत्ति हमारे ऊपर अपना अधिकार जमा लेगी। वे बड़े भाग्य-शाली हैं जोकि इस बड़ी बरबादी से छुटकारा पा गये हैं क्योंकि

उन्होंने ब्रह्म को जान लिया है। अन्य भी जो लोग इसी प्रकार ब्रह्म को जान लेंगे वे भी अमृत हो जायंगे। परन्तु दूसरे अज्ञानी लोग तो जन्ममरणादि कष्टों को प्राप्त होते ही रहेंगे। अज्ञानी लोग उससे कभी छूट ही नहीं सकेंगे। क्योंकि उन लोगों ने तो अपनी मूर्खता से इस दुःखरूप शरीरादि को ही अपना आत्मा समझ कर जन्ममरण को ही अपनाया है।

मित्रेण कुशले पृष्टे पूर्वावस्थामनुसरन्।
इदानीं कुशलं जातमिति हृष्यति योगवित् ॥३८॥

योग को जानने वाले किसी नवज्ञानी से उसके किसी हित मित्र ने जब उसका क्षेम पूछा तो वह अपनी पूर्व अवस्था को याद करते हुए (जबकि अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था होने के कारण ब्रह्मसुख का थोड़ा थोड़ा ही अनुभव होता था) "उसकी अपेक्षा अब तो उत्तरोत्तर अधिक ही कुशल हो गया है" यह कहकर मन ही मन मुदित होने लगा। (इसी प्रकार तुमको भी वैसा अभ्यास करना चाहिये कि जिससे उत्तरोत्तर वह ब्रह्मसुख तुम्हारे अन्तःकरण में स्थिर होता चला जाय।)

कर्मठः काञ्चनालिप्तशून्यताम्रघटोपमः।
विद्वांस्तु रत्नसंपूर्णहेमकुम्भ इवोत्तमः ॥३९॥

सोने का झोल फिरे हुए तांबे के खाली घड़े के समान, कर्मठ पुरुषों की स्थिति होती है (वे उस घड़े के समान ऊपर से ही शुद्ध दीखते हैं परन्तु अन्दर तो अज्ञान से परिपूर्ण [ज्ञान से खाली] होते हैं) ज्ञानी (पुरुषों की स्थिति इनके विपरीत होती है वे) तो हीरे आदि रत्नों से भरे हुए सोने के घड़े के समान (अन्दर बाहर सर्वात्मना) श्रेष्ठ होते हैं (क्योंकि वे अन्दर तो

ब्रह्मसुख से परिपूर्ण होते हैं तथा बाहर मुमुक्षु लोगों को ज्ञान का दान करते रहते हैं)।

भूरुहत्वाविशेषेपि द्वयोरन्तरमीदृशम्।
इक्षुकाण्डसमो विद्वान् दण्डकाष्ठसमः पशुः ॥४०॥

गन्ना और डण्डा दोनों ही यद्यपि भूमि से उत्पन्न होते हैं परन्तु उनमें यह बड़ा अन्तर है कि विद्वान् पुरुष इक्षुदण्ड के समान होते हैं तथा अज्ञानी पुरुष डण्डे के समान माने गये हैं। (गन्ना लोगों को मिठास से तृप्त करता और डण्डा लोगों को पीटने के काम आता है।)

ज्ञानी पुरुष मुमुक्षु लोगों को मुक्तिरूपी सुख देकर नित्य तृप्त करते रहने से इक्षुदण्ड के समान होता है, अज्ञानी पुरुष तो लाठी की लकड़ी के समान होता है—उससे तो दूसरों को तथा स्वयं अपने आप को दुःख ही दुःख पहुँचता है। तीनों देहों के जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति नामक व्यवहार यद्यपि ज्ञानी और अज्ञानी में समान ही दीखते हैं, परन्तु उनमें यह बड़ा अन्तर है कि एक तो जीवों को अमृतसुख का दान करता है, दूसरा तो दुःख ही देता रहता है।

विशालदृष्टौ रमते न त्वन्यत्र पतिर्मम।
येन दृष्टि र्विशाला स्यात्स मन्त्रो मम दीयताम् ॥४१॥

मेरा पति विशाल नेत्रों वाली से प्रसन्न होता है, छोटे नेत्र वाली से नहीं। जिस मन्त्र अथवा जिस औषध से मेरी दृष्टि विशाल हो जाय वह मन्त्र मुझे बताइये?

संसार की सब दृष्टियों में 'मैं ब्रह्म हूँ' यह सबसे बड़ी दृष्टि कहाती है। मुझ चिदाभास का परमात्मारूपी पति वैसी अत्यन्त

विशाल दृष्टि वाले से ही प्रसन्न होता है—साधक की ऐसी दृष्टि हो जाने पर ही दर्शन देकर उसे कृतार्थ किया करता है—वह अपना सच्चिदानन्दरूप उस साधक को सौंपकर उसे कृतकृत्य कर देता है। वह तो किसी भी परिच्छिन्न दृष्टि से प्रसन्न नहीं होता। अर्थात् संसारविषयक उत्तम से उत्तम भावनायें भी आत्म-दर्शन में विघ्नकारिणी होती हैं। इसलिये हे गुरो! जिस ओंकार आदि मन्त्र अथवा योगज्ञानादि साधन से मेरी दृष्टि इतनी विशाल हो जाय अर्थात् ब्रह्म के समान ही अपरिच्छिन्न (पूर्ण) हो जाय, (अपनी शरण में आये हुए) मुझ को वही रहस्य आप बता दीजिये।

तात्पर्य यह है कि ब्रह्माकार अपरिच्छिन्नवृत्ति में ही ब्रह्म का आविर्भाव होता है। मनुष्य को उचित है कि उस वृत्ति की प्राप्ति के लिये किसी ब्रह्मदर्शी गुरु के समीप जाकर उससे ही उस की प्राप्ति का उपाय पूछे।

पूज्योऽयमिति विज्ञाय पूजितः स्वापितो गृहे।
न भुक्तो मूढया स्वामी कश्चित्पुरुष इत्ययम् ॥४२॥

जिस प्रकार किसी मूढ स्त्री ने (रात्रि के समय चिरकाल के पश्चात् देशान्तर से आये हुए) अपने ही स्वामी को कोई साधारण अन्य पुरुष समझ कर, सामान्यतया सत्करणीय अतिथि जानकर भोजनादि के द्वारा उसका सत्कार किया और उसे अपने घर में सुलाया भी, परन्तु उस का भोग नहीं किया।

इसी प्रकार अज्ञानी पुरुष की मुमुक्षाबुद्धि ने किसी आत्म-दर्शी महापुरुष को साधारण लौकिक पुरुष जानकर तथा पूजनीय समझकर भोजनादि के द्वारा उसका सत्कार आदि भी किया,

उसे अपने घर में ठहराया भी, परन्तु यह मुझे आत्मज्ञान जैसी पवित्र वस्तु देने वाला स्वामी पालक किंवा गुरु ही है यह न पहचाना और उससे ज्ञान की चर्चा नहीं की। यद्यपि उसकी सेवा से उस सेवक को पारलौकिक सुख भले ही मिले परन्तु मुमुक्षु को तो मोक्ष ही इष्ट होता है। उस मोक्ष का साधन ज्ञान ही यदि प्राप्त न किया तो समझ लो कि उसने व्यर्थ ही अपनी आयु को व्यय कर डाला है।

भोगयोग्येन वेषेण व्यतीत्य शयने निशाम्।
प्रियस्य भोगमप्राप्य प्रातः क्रन्दति कामिनी ॥४३॥

कोई कामिनी भोग के योग्य (अलंकृत) वेष धारण करके (पति के साथ क्रोध या मान आदि प्रतिबन्ध हो जाने के कारण) भोग को न पाकर (अकेले ही बिस्तरे पर रात बिताकर) प्रातः काल हो जाने पर पश्चात्ताप करने लगती है।

इसी प्रकार आत्मदर्शन के अनुकूल संन्यासादि वेष तथा वैराग्यादि चिह्न धारण करने पर भी जब कोई मुमुक्षुबुद्धि समस्त प्रपंच को लीन कर लेने वाली मूढसमाधि में ही प्रपंच की अस्फूर्तिरूपी रात्रि को बिता देती है और जब कि उस अज्ञान-योगी की मूढसमाधि खुलती है और उसे यह ज्ञान होता है कि ओहो! मुझे तो आत्मसुख का भोग प्राप्त ही नहीं हुआ, मैं तो व्यर्थ ही इतने समय मूढसमाधि में पड़ा रहा तो उसे बड़ा खेद होता है कि—हाय! मेरा इतना समय आत्मसाक्षात् के बिना व्यर्थ ही चला गया है। (तात्पर्य यह है कि समाधि सिद्ध कर लेने से ही हमारा मोक्ष हो जायगा, ज्ञान की हमें क्या आवश्यकता है? ऐसा विचार ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञान के बिना तो

यह संसार कदापि निवृत्त नहीं होगा। अतः समाधि से उत्थान होने पर फिर भी दुःख की ही प्राप्ति होगी। इसलिये अज्ञानपूर्वक की हुई वैसी मूढसमाधि से कोई विशेष उपकार नहीं होता। केवल थोड़ी देर के लिये संसार का भान बन्द हो सकता है। संसार की आत्यन्तिक निवृत्ति तो केवल ज्ञान से ही होती है।

चित्रपत्रे कृता नारी विचित्रा रूपसम्पदा।
दृश्यते तावदेवाहो यावन्नायाति सुन्दरी ॥४४॥

कामी लोग चित्रपट पर बनायी हुई तथा रूपशोभा के कारण विचित्र दीखनेवाली स्त्री को तभी तक प्यार से देखते हैं, जब तक कि कोई सजीव सुन्दर स्त्री उन्हें नहीं मिलती। (उसके मिलने पर वे कामी लोग उस नारीचित्र को छोड़ देते हैं)।

इसी प्रकार सकल जगत् के आधार ब्रह्मरूपी चित्र पर बनायी हुई (वैराग्यादिसम्पन्न पुरुष की, मूढसमाधि में हुई) मुमुक्षुबुद्धिरूपी नारी चाहे (उस समय अद्वैतसुख की प्राप्ति हो जाने के कारण सांसारिक बुद्धियों की अपेक्षा) विचित्र भी लगती हो, परन्तु हे शिष्य, मुमुक्षु लोग तो उसको तभी तक देखते हैं, अर्थात् वे मूढसमाधि को तभी तक पसन्द करते हैं, जब तक कि सुखरूप ब्रह्मचैतन्य के प्रत्यक्ष दर्शन उन्हें नहीं मिल जाते। उसके प्रत्यक्ष हो जाने पर तो ज्ञानी लोग मूढसमाधि को छोड़ देते हैं। (आत्मसाक्षात्कार की अपेक्षा समाधिसुख कृत्रिम होने से न्यून होता है, इसलिये साधकों को आत्मसाक्षात्कारसुख के लिये ही उद्योग करना चाहिये)।

चिन्तामणिं कराद्भ्रष्टं मा शुचः प्राह मे गुरुः।
दिनैः कतिपयैरेव पुनरेव मिलिष्यति ॥४५॥

मेरे हाथ में से जब चिन्तामणि गिर पड़ी थी तो मेरे गुरु ने कहा था कि शोक मत करो, वह तो अभी कुछ दिनों में तुम्हें फिर मिल जायगी।

मोक्षरूपी परमपुरुषार्थ को देने वाला चिन्तामणि के तुल्य ज्ञान यदि किसी प्रबल रागद्वेषादि प्रतिबन्ध के कारण भ्रष्ट (नष्ट—छिपा हुआ) हो जाय तो उसके विषय में शोक मत करो। (क्योंकि शोक करते हुए उसके लिये फिर उद्योग कैसे कर सकोगे? और फिर वह दुबारा प्राप्त ही किस प्रकार होगा?) शोक को त्याग कर उसके लिये फिर फिर उद्योग करो! उद्योग करते ही कुछ ही दिनों में फिर भी वह ज्ञान प्राप्त हो ही जायगा। इसमें संशय मत करो! यह बात मेरे आचार्य ने एक वार मुझसे कही थी, उसके वचन पर विश्वास करके उद्योग करने पर मैंने फिर भी उस ज्ञान को प्राप्त कर लिया था। इस ज्ञानमार्ग में अपने आचार्य पर विश्वास रखने से सम्पूर्ण विघ्न निवृत्त हो जाते हैं और परमफल की प्राप्ति होती है। क्योंकि वे लोग इस मार्ग के पथिक रह चुकने के कारण इसकी सब ऊँचनीच अवस्थाओं को भले प्रकार जानते हैं।

करोमि संशयं यावन् मुकुन्दमुखदर्शने।
आश्वासयति मां तावत् परमा देवता मनः ॥४६॥

जब कि मैं मुकुन्द के मुखदर्शन में संशय किया करता था तो इतने में मेरा परमदेवता मन मुझको आश्वासन दे देता था।

जब मेरी अज्ञानावस्था थी और मैं आत्मदेव के ब्रह्माकारवृत्तिरूपी मुख के दीखने के विषय में संशय किया करता था कि गुरुमुख से सुने हुए महावाक्य के विचार से मुझे आत्म-

साक्षात्कार होगा या नहीं! तो इतने ही में मेरा विवेकी मनरूपी परमदेवता मुझे आश्वासन दिया करता था कि तुम्हें आत्मसाक्षात्कार अवश्य होगा। इसलिये मुमुक्षुओं को उचित है कि विवेक के द्वारा अपने मन को संस्कृत करते रहें तथा उस संस्कारी मन की सम्मति के अनुकूल वर्ताव किया करें। मन में विवेक के जागृत रहने पर ही सकल संशयों की निवृत्ति हो सकती है। वही जागृत विवेक ज्ञानयोगी को सीधे मार्ग में डाल देता है।

कन्दर्पकोटिलावण्यं सत्यमुक्तं जनार्दने।
कन्दर्पप्रमुखाः सर्वे तत्प्रकाशे पलायिताः ॥४७॥

जो कि उस जनार्दन में करोड़ों कामों के समान मोहकता का पुराणादियों में वर्णन किया है वह यथार्थ ही है। तभी तो उस आत्मा का प्रकाश जब किसी अधिकारी के अन्तःकरण में प्रकाशित हो जाता है तो समस्त कामक्रोधादि भाग जाते हैं।

अश्रु मुक्तं वियोगिन्या राधया मेलनाशया।
तत्रैव मायया गुप्तः प्राप्तः प्रकटतां हरिः ॥४८॥

वियोगिनी राधा ने कृष्ण के मिलने की इच्छा के प्रबल हो जाने पर जब आँसू टपकाने शुरू किये, तो इतने ही में अपनी अन्तर्धानशक्ति से वहीं छिपा हुआ हरि प्रगट हो गया।

कृष्ण को देखने वाली राधा की आँखें रजोगुण की कामादि वृत्तियों से ढकी हुई थीं। यही कारण था कि कृष्ण का अन्तर्धान हो रहा था। इसी प्रकार मुमुक्षु की भी आत्मदेव का दर्शन कराने वाली आँखें जब विद्यामद, कुलमद, जातिमद आदि प्रतिबन्धों से ढक जाती हैं और वह विद्याप्राप्ति के लिये गुरु के पास नहीं जाता, तो फिर उसको वह आत्मविद्या का आचार्य—जिसमें कि

शास्त्र के अनुसार परमात्मा के समान ही भक्ति होनी चाहिये थी, साधारण मनुष्य सा दीखने लगता है। यों साधनाभाव हो जाने से आत्मा के दर्शन नहीं मिलते। उस सबका कारण उस अधिकारी की अपनी वैसी मनोवृत्ति ही होती है। क्योंकि सदा ही स्वयंप्रकाश होने से ब्रह्म में तो आवरण हो ही नहीं सकता। परन्तु जैसे कि राधा ने अश्रुत्याग के द्वारा रजोगुण से उत्पन्न मान आदि को छोड़ दिया था और उसे तुरन्त ही कृष्ण के दर्शन हुए थे इसी प्रकार जब मुमुक्षु लोग अपने मदमानादि को छोड़ देते हैं और जब वे आत्मदर्शन के लिये व्याकुल हो जाते हैं, तो उसी साधारण से दीखने वाले मनुष्य में उन्हें गुरुभावना उत्पन्न हो जाती है। उसके अनन्तर उसके उपदेश से रागादि रजोवृत्तियों का त्याग हो जाने पर ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। रजोगुण के विकार रागादि को छोड़े बिना अविद्यारूपी आवरण का क्षय नहीं हो सकता तथा उस आवरण के क्षय हुए विना किसी को भी आत्मसाक्षात्कार नहीं होता।

सौरभ्याय भ्रमन्त्येके मधु कांक्षन्ति चापरे।
न भ्रमन्ति न कांक्षन्ति मधुमत्ता मधुव्रताः ॥४९॥

कोई (भौंरे) तो सुगन्ध के लिये उड़ते फिरते हैं, दूसरे मधु की इच्छा करते हैं, परन्तु जो भौंरे मधु को पीकर मस्त हो चुके हैं वे (मधुव्रत भौंरे) न तो इधर उधर उड़ते ही फिरते हैं और न उनको अब मधु की ही इच्छा शेष रही है।

प्रकृत—कर्मों से उत्पन्न हुआ, स्वर्गादि विषयों से मिलने वाला सुख किसी की भी पूरी तृप्ति नहीं कर सकता, वह तो सर्वोत्तम ब्रह्मसुख का प्रतिबिम्ब होता है इसलिये उसको केवल

सुख की वासनामात्र होने से गन्धतुल्य समझना चाहिये। उस गन्धतुल्य सुखाभास के लिये ही जो लोग वैदिक कर्मों में सिर-तोड़ परिश्रम करते हैं, उन्हीं को यहाँ भौंरे के भ्रमण की उपमा दी गयी है। वह वैदिककर्मानुष्ठान अति सामान्य लौकिक कर्मों की अपेक्षा अच्छा होता है। ब्रह्मसुख का साक्षात् अनुभव करने के लिये की गई समाधिपर्यन्त उपासनायें यहाँ पर भौंरे की मधुपान की इच्छा के समान मानी गयीं हैं। वे तो उन वैदिक कर्मानुष्ठानों की अपेक्षा भी ऊँची श्रेणी की होती हैं। उसके अनन्तर महावाक्यों का विचार करके साक्षात् ब्रह्मसुख का अनुभव लेकर सदा के लिये तृप्त हो जाने वाले लोग ही यहाँ पर मधुमत्त भ्रमर कहे जाते हैं। वे मधुमत्त भ्रमर नित्य ब्रह्म-सुख का पान करके फिर मधुपान की तरफ़ से भी उदासीन हो जाते हैं। अर्थात् फिर तो उनको ब्रह्मसुख की भी इच्छा नहीं रह जाती। वे उन पहले कर्मी तथा मुमुक्षु लोगों की भी अपेक्षा अतिश्रेष्ठ होते हैं।

धनं प्राप्नोति कष्टेन प्रदोषे काष्ठभारिकः।
सुखासनस्थो विपुलं धनं रत्नपरीक्षकः ॥५०॥

विचारा लकड़हारा दिन भर के परिश्रम के बाद सायंकाल के समय थोड़ा बहुत धन प्राप्त कर लेता है। परन्तु रत्नपारखी (जौहरी) तो बढ़िया बढ़िया गद्दों पर तकिये लगाकर बैठा हुआ भी हज़ारों लाखों रुपया बात की बात में कमाता है।

ऐसा कोई नियम नहीं है कि बहुत धन की प्राप्ति में बहुत परिश्रम करना आवश्यक होता हो तथा अल्पधन के लिये अल्प परिश्रम करना पड़ता हो। तात्पर्य यह है कि—हठयोग तथा

पातंजलविधि से समाधि करने में प्रथम तो अष्टांगसाधनों में बड़ा श्रम करना पड़ता है तथा उस समाधि का सुख केवल समाधि के समय में ही रहता है। समाधि से व्युत्थान होने पर उस समय प्रतीत होने वाले संसार के दुःखों से वह सुख दबा दिया जाता है। इसलिये वह सुख लकड़हारे के कमाये हुए धन के समान अल्प ही होता है। अष्टांगयोग के उस लम्बे श्रम को देखने पर तो वह सुख किसी गिनती का ही नहीं होता। परन्तु जब कि वेदान्त की बतायी प्रक्रिया से सब जगत् का बाध कर दिया जाता है तब चाहे तो समाधि की जाय और चाहे व्युत्थान में रहा जाय दोनों ही जगह समानरूप से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। समाधि किंवा व्युत्थान से भी उस सुख का कोई खण्ड नहीं हो सकता। देश, काल तथा वस्तु की मर्यादाओं से भी वह ब्रह्मसुख कभी परिच्छिन्न नहीं होता। वह ब्रह्मसुख अपने भक्तों को नित्यतृप्ति का दान करता रहता है। उसके लिये साधनों का परिश्रम करना नहीं होता। वेदान्तमार्ग से ज्ञान के द्वारा प्राप्त होने वाला ब्रह्मसुख, बिना परिश्रम के जौहरी से कमाये हुए बहुत धन के समान होता है। इसीलिये हठनिग्रह के परिश्रमों को छोड़कर महावाक्यों के विचार के द्वारा वेदान्त की प्रक्रिया से नित्यसुखानुभव की प्राप्ति के लिये ही पुरुषार्थ करना चाहिये।

नर्तकी स्वाङ्गभङ्गेन धनं प्राप्नोति वा न वा।
कुलाङ्गना कटाक्षेण स्वं वशीकुरुते पतिम् ॥५१॥

नाचने वाली नटी अपने हाथ पैर आदि अंगों के भंग से धन को प्राप्त कर भी लेती है और नहीं भी, परन्तु कुलकामिनी

तो केवल अपने कटाक्ष से ही पति को वश में कर लेती है (और उसे यथेष्ट भोगती भी है।)

प्रेम ही पुरुष को वश में करने का नियत कारण होता है। प्रेम के वशीभूत होकर तो वह फिर स्वयमेव घर का मालमताल उसे ही सौंप देता है। जिस प्रकार स्वाङ्गभंग करने पर भी नटियों को नियम से द्रव्य की प्राप्ति नहीं होती, इसी प्रकार हठियों के अष्टाङ्गयोग के साधन आसनादि भी, नियम से आत्म-सुख को प्राप्त कराने वाले नहीं होते—अष्टाङ्गयोग का साधन करने वाले भी बहुत से हठी लोग ब्रह्मानन्द से वञ्चित देखे जाते हैं तथा अष्टाङ्गयोग का साधन न होने पर भी केवल महावाक्यविचार से ही ब्रह्मानन्द की प्राप्ति देखी जाती है। उससे यही निर्णय होता है कि प्रेमपूर्वक केवल महावाक्य का विचार ही ब्रह्मसाक्षात्कार का हेतु है। निन्दित सिद्धियों में आसक्त रहने वाले हठी लोग नर्तकी के समान कहे गये हैं। हठ में वर्णित आसनादि नर्तकी के अङ्गनर्तन के समान हैं। नर्तकी का अपने अङ्गों का नर्तन जिस प्रकार द्रव्यप्राप्ति का मुख्य साधन नहीं है इसी प्रकार आसनादि भी ब्रह्मसाक्षात्कार के साधन नहीं होते। जिस प्रकार कि कुलीन स्त्रियें अपने अङ्गों का नर्तन किये बिना केवल कटाक्ष से ही पति का वशीकार कर लेती हैं, इसी प्रकार वेदान्त-निष्ठ पुरुष ब्रह्मप्रेम का सहारा लेकर, भागत्यागलक्षणारूपी कटाक्षतुल्य विचारों से ही ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं और आनन्द की अक्षयनिधि को पा लेते हैं। तात्पर्य यह है कि आस-नादि के कष्टों से डर कर इस उत्तम मार्ग को छोड़ देना उचित नहीं होता क्योंकि वह परमपद तो केवल विचार से प्राप्त हो सकता है। आसनादि उसके निमित्त नहीं हैं।

तव बुद्धिप्रकाशोयं निकटां मुक्तिमाह माम् ।
नूनं निर्वाणसमये दीपो देदीप्यते भृशम् ॥५२॥

(श्रवण आदि करने पर भी मुझे ब्रह्मसुख का अनुभव होकर मुक्ति मिलेगी या नहीं ? अथवा इसका साधन ज्ञान भी प्राप्त होगा या नहीं ? हे शिष्य ! तुम ऐसा सन्देह मत करो ! क्योंकि) यह तेरा अन्तःकरण का ज्ञान अदूरवर्ती मोक्ष को सूचित कर रहा है । (अर्थात् पहले की अपेक्षा अब तुझ में ज्ञान का प्रकाश बढ़ रहा है, उससे मुझे तेरे शीघ्र ही मुक्त होने का अनुमान होता है।) बुझने के समय दीपक निश्चय ही बहुत जोर से चमकने लगता है । (इसी प्रकार तेरा अन्तःकरण का प्रकाश भी अपने आपको नष्ट करके मोक्ष को प्राप्त करने को उद्यत हो रहा है ।)

एके खनन्ति वसुधां तथा विक्रयिणः परे ।
घर्षयन्त्यपरे रत्नं भोगं गृह्णाति भाग्यवान् ॥५३॥

(हीरे आदि रत्नों को पाने के लिये) बहुत से मजदूर भूमि को खोदा करते हैं। दूसरे लोग (उन हीरों को) बेचने का ही रोजगार करते हैं। तथा कोई लोग उन हीरों को शाण पर घिसा करते हैं। किन्तु चौथे प्रकार के भाग्यशाली लोग (अपने शरीरों पर उसे पहनकर) उस हीरे का भोग लेते हैं।

इन चारों में जैसे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हैं, इसी प्रकार प्रथम तो अन्तःकरणरूपी क्षेत्र को शुद्ध करते हुए वेदान्तार्थ को पढ़नेवाले अधिकारी होते हैं। दूसरे अपने शिष्यों की की हुई सेवा के मूल्य में वेदान्त के गूढ अर्थों का ज्ञानदान करने वाले उन रत्नविक्रेताओं के तुल्य होते हैं जोकि खोदने वालों को उनके

परिश्रम के बदले में कुछ धन दे देते हैं। तीसरे वेदान्त को सुनकर त्यागादिपूर्वक रहकर अपने अन्तःकरण को आत्मा के दर्शन के लिये सूक्ष्म कर लेते हैं, वे रत्नघर्षकों के तुल्य कहे जाते हैं। चौथे केवल आत्मा में ही निष्ठा रखने वाले, (दूसरे किसी साधन की अपेक्षा न करने के कारण) रत्नों को भोगने वाले पुरुषों के समान हैं। यद्यपि ये चारों ही उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं तथापि इनमें चौथा—केवल आत्मा में निष्ठा वाला—पुरुष ही सर्वश्रेष्ठ होता है। तात्पर्य यह है कि वेदान्त पढ़ने वाले, वेदान्तार्थों का व्याख्यान करने वाले, दूसरे से कहे हुए वेदान्तों के मर्म को जानने वाले तथा स्वात्मा का अनुभव करने वालों में स्वात्मानुभवी ही श्रेष्ठ होता है।

एके तक्रेण तुष्यन्ति दधिदुग्धेन चापरे।
तत्त्वज्ञा नैव तुष्यन्ति नवनीतघृतं विना ॥५४॥

कोई बालक तो तक्र पीकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, दूसरे दही किंवा दुग्ध पीकर तृप्त हो रहते हैं, परन्तु दधि और दुग्ध के तत्त्व (नवनीत किंवा घृत) को पहचानने वाले बालक तो नवनीत किंवा घृत को पाये बिना, कभी तृप्त नहीं होते।

कर्मजन्य विषयसुख जैसे क्षुद्रसुख को ही परमसुख मानने वाले लोग मट्ठे से तृप्त होने वाले लोग कहाते हैं। उपासना आदि से प्राप्त होने वाले सायुज्यादिसुखों को ही परमसुख मानने वाले लोग दही और दुग्ध से तृप्त होने वाले माने गये हैं। परन्तु ज्ञानजन्य ब्रह्मसुख में लवलीन रहने वाले लोगों को माखन या घृत से ही प्रसन्न होने वाला कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि कर्मजन्यसुख, उपासनाजन्यसुख तथा ज्ञानजन्यसुख में से

ज्ञानजन्यसुख ही सर्वोत्तम सुख होता है, तथा ज्ञानजन्य सुख से तृप्त रहने वाला पुरुष ही सबसे श्रेष्ठ है।

यत्र क्वापि स्वपामीति जाता निद्रालुता मम।
विस्तीर्णं शयनं प्राप्तं कोमलं ब्रह्म निर्मलम् ॥५५॥

मुझे तो अब ऐसी निद्रालुता हो गई है कि मैं जहाँ कहीं भी सोने लग पड़ा हूँ क्योंकि अब मैंने सोने के लिये कोमल निर्मल ब्रह्मरूपी विस्तीर्ण बिस्तरा पा लिया है।

चाहे तो मैं कर्म करूँ, चाहे उपासना में लगा रहूँ, चाहे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अथवा साक्षात् तुर्या में ही चला जाऊँ, यह सब कुछ करता हुआ भी मैं प्रपंचविस्मरणरूपी निद्रा में ही डूबा रहता हूँ। ज्ञान का अभ्यास करते करते उसका परिपाक हो जाने से मुझे स्वभाव से ही ऐसे सोने में रुचि हो गयी है। क्योंकि अब तो मैंने एक अनन्त, कोमल, (सुखद स्पर्श को पैदा करने वाला) देशकाल तथा वस्तुओं की मर्यादा में न आने वाला, परमात्मारूपी बिस्तरा पा लिया है। इसलिये अब तो मुझे सर्वदा ही प्रपंच का भान न होनें देने वाली निद्रा बनी रहती है। यह निद्रालुता मेरे ज्ञानाभ्यास का ही शुभ परिणाम है। इसलिये और लोग भले ही कर्मादि दुःखदायक पदार्थों में रुचि रक्खें, मुझे तो ज्ञानाभ्यास करते करते सर्वत्र ब्रह्मसुख का अनुभव होने लग पड़ा है, इसलिये मेरी तो ज्ञानाभ्यास में ही रुचि रहती है। तुमको भी उसी में रुचि करनी चाहिये।

दृश्यं बोधेन निर्घृष्टं तच्चिदाकारताङ्गतम्।
यत्र यत्रैव पश्यामि स्वं रूपं तत्र दृश्यते ॥५६॥

(यदि कहो कि सब दृश्य पदार्थों के विद्यमान रहते हुए

प्रपंच की ऐसी अप्रतीति [जैसी कि ऊपर वर्णन की गयी है] किस प्रकार हो सकती है तो सुनो !) इस जगत् को जब मैंने ज्ञानरूपी शाण पर रगड़ा तो यह सब जगत् ज्ञानस्वरूप ही हो गया, तब से मैं जिस किसी पदार्थ की तरफ़ को दृष्टि फेरता हूँ उसी उस पदार्थ में अब मुझे केवल आत्मस्वरूप ही दृष्टिगोचर होने लग पड़ा है ।

यदेकोपि जनो गीर्णः स्तुवन्त्यजगरं जनाः ।
मां न स्तुवन्ति किं येन गीर्णा ब्रह्माण्डकोटयः ॥५७॥

जिस अजगर ने केवल एक ही मनुष्य को खा लिया हो, तो अन्य मनुष्य उस सर्प की स्तुति करने लगते हैं (कि यह सर्प बहुत बड़ा है यह तो मनुष्य को भी खा लेता है।) परन्तु यह तो बताओ कि जिस मैंने (अनादिकाल से लेकर अब तक) करोड़ों ब्रह्माण्डों को निगल डाला है, ये संसारी लोग उस मुझ ब्रह्मस्वरूप की प्रशंसा क्यों नहीं करते ?

मय्यसूया न कर्तव्या बहु जल्पामि यद्यपि ।
ब्रह्मासीति वदाम्येव श्रुति र्मां नाभ्यसूयति ॥५८॥

यद्यपि मैं 'मैं ब्रह्म ही हूँ' यह बड़ी बात अपने मुँह से बोलता हूँ तथापि मेरी बात का बुरा न मानना चाहिये। क्योंकि जब मैं 'मैं ब्रह्म हूँ' यह कहता हूँ तो श्रुतियें इस बात का बुरा नहीं मानतीं ।

'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि', 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इत्यादि वाक्यों से वे मेरी इसी बात का अनुमोदन करती हैं। इसी लिये मुझसे यह न कहना चाहिये कि तीनों देहों के परिच्छेद में रहने पर, हम संसारी लोगों की तरह ही तुम भी अपने आप

को ब्रह्म मत कहो। क्योंकि श्रुति के प्रमाण तथा मेरे अनुभव से इस बात की पुष्टि हो रही है।

सिंहासनं समाधिर्मे वेदान्ता मम वन्दिनः।
मारितो मोहनामारि र्मम राज्यमकण्टकम् ॥५९॥

समाधि मेरा सिंहासन है, वेदान्त मेरे वन्दिगण हैं, मोह नामक शत्रु को मैंने मार डाला है। अब तो मेरा निष्कण्टक राज्य हो चुका है।

जिसमें सदा ही आत्मस्फुरण बना रहता है वह निर्विकल्प समाधि ही मेरा सिंहासन (राज्यासन) है। तत्त्वमसि आदि वेदान्तवाक्य मेरे स्तुतिपाठक हैं। स्वाराज्यप्राप्ति के लिये मैंने मोह नामक शत्रु को पछाड़ दिया है। इसलिये अब मेरा राज्य निष्कण्टक हो गया है—अर्थात् सकल प्रतिबन्धों से रहित आत्मराज्य की प्राप्ति अब मुझको हो गयी है।

दृष्टं चिदम्बरं नाम मया विस्तीर्णमम्बरम्।
इदं जडम्बरं शून्य मत्यल्पं यदपेक्षया ॥६०॥

हे शिष्य, मैंने उस अतिविस्तीर्ण चिदाकाश के दर्शन पा लिये हैं, जिसकी अपेक्षा यह शून्य (असत्) जडाकाश एक अत्यन्त छोटी सी वस्तु है।

इष्टमन्नं क्षुधार्तस्य, कृपणस्य धनं प्रियम्।
तृषितस्य जलं त्विष्टं, चैतन्यं मम वल्लभम् ॥६१॥

जिस प्रकार भूखे को भोजन, प्यासे को पानी और कृपण को धन ही प्रिय होता है, इसी प्रकार मुझ मुमुक्षु को तो चैतन्य (ज्ञप्तिमात्र आत्मस्वरूप) ही प्यारा प्रतीत होने लगा है।

रसायनप्रसङ्गेन गतं ताम्रमताम्रताम् ।
तथास्माकमहङ्कारो निरहङ्कारतां गतः ॥६२॥

जिस प्रकार रसायन के योग से ताम्र का अताम्र (सुवर्ण आदि) हो जाता है इसी प्रकार हम ब्रह्मज्ञानियों का अहङ्कार भी निरहङ्कारता अर्थात् आत्मरूपता को प्राप्त हो चुका है। (यही कारण है कि और लोगों के समान हममें बाधित अहङ्कार के दीख पड़ने पर भी, हमको उस चिदाकाश के दर्शन हो गये हैं, दूसरों को नहीं हुए, क्योंकि उनका अहङ्कार उनको ब्रह्मदर्शन नहीं होने देता।)

पूर्वमासीदहङ्कारो मम दुःखस्य कारणम् ।
रिपुरद्य मृतो दृष्टः परमानन्दकारणम् ॥६३॥

पहले (अज्ञानी अवस्था में) यह अहङ्कार मुझे दुःख दिया करता था, इसीलिये तब मेरा शत्रु था। परन्तु अब (ज्ञानी अवस्था में) जब कि मैं उसको मरा हुआ देख रहा हूँ किंवा बाधित समझ कर बैठा हूँ तो वह मेरे परमानन्द का कारण बन गया है। (अब वह मेरे चिदाकाश के दर्शन करने में बाधा नहीं डालता है। प्रत्युत अब तो वह ब्रह्माकार हो जाने से सुखकारी हो गया है।)

भोगेप्सूनां सभामध्ये भोक्ता कान्तो यथा युवा ।
मुमुक्षूणां तथा मध्ये राजते परमार्थवित् ॥६४॥

भोगेप्सू (स्त्रैण) लोगों की सभा में जिस प्रकार भोक्ता सुन्दर युवा पुरुष सुशोभित होता है, इसी प्रकार परमार्थज्ञानी पुरुष मुमुक्षु लोगों के ही बीच में सुशोभित हुआ करता है।

गृहकार्यप्रसक्तापि भुक्तभोगेव कामिनी ।
मनसैव मनो नून मानन्दयति योगवित् ॥६५॥

(ऊपर के मन से) घर के कामों में लगी हुई भुक्तभोगा कामिनी की तरह योगी लोग भी अपने (ज्ञानसंस्कारी) मन से (संसारी) मन को आनन्दित करते रहते हैं।

योगवित् पुरुष शरीररूपी घर के स्नान सन्ध्या आदि वैदिक-कर्मों में, गर्भाधानादि से लेकर मरणपर्यन्त स्मार्त कर्मों में, खाना पीना आदि लौकिक कर्मों में फँसा रहने पर भी अथवा द्रव्योपार्जन आदि घर के कामों में लगा हुआ सा रहने पर भी, अपने आत्मसुखानुभव करने वाले मन से, शरीर के व्यापार में लगे हुए मन को भी, आनन्दित करता करता है। अर्थात् प्रपञ्च के दुःख का स्पर्श अपने मन में नहीं होने देता। तात्पर्य यह है कि लोकदृष्टि से ज्ञानी में व्यवहार के प्रतीत होने पर भी उसको सदा ही ब्रह्मसुख की अखण्ड स्फूर्ति बनी ही रहती है।

मुनिमानन्दितं दृष्ट्वा ग्रामीणो वक्ति तं मुहुः ।
त्वया यस्तु निधिः प्राप्तस्तं प्रदर्शय मामपि ॥६६॥

(सुख के साधन विषयों के पास न होने पर भी) मुनि को अत्यन्त आनन्दित देखकर कोई ग्रामीण मनुष्य उससे बार बार पूछने लगा, कि तैंने जिस निधि को पाया है, (जिससे तू इतना आनंन्दित हो रहा है) उसको मुझे भी तो दिखा दे ?

अज्ञानी लोगों की दृष्टि में भी कभी कभी ज्ञानी लोगों में ब्रह्मानन्द का भान हो जाता है। ज्ञानी लोगों की आनन्दित आकृतिँ उनके शान्त ब्रह्मदर्शीपने को झलकाने लगती है।

वञ्चकै र्विषयै स्तात वद के के न वञ्चिताः।
गुरुभिः पुरुषव्याघ्रै र्नूनमेतेपि वञ्चिताः ॥६७॥

हे शिष्य, लोगों को धोखे में डालने वाले इन विषयों ने किन किन लोगों को धोखे में नहीं डाल दिया! परन्तु सकल जगत् के हितोपदेशक उद्योगी मुमुक्षु पुरुषसिंहों ने तो इन विषयों को भी ठग डाला है।

इस पराक्रम के कारण ऐसे महात्मा गुरु लोग ही अपने शरणागत के दुःख को हटा सकते हैं। मुमुक्षु लोगों को उचित है कि सर्वभाव से ऐसे गुरुओं की शरण में जाकर आत्मनिवेदन कर दें। अन्यथा उस निरतिशय आनन्द को प्राप्त करने की तालिका का हाथ लगना असम्भव ही है।

शीर्षे घटसहस्राम्भः पातयन्तु जडा जनाः।
मौनमेवावलम्बेत शिवलिङ्गमिवात्मवित् ॥६८॥

मूर्ख लोग चाहे ज्ञानी के सिर पर हज़ारों घड़े पानी उडेल दें परन्तु ज्ञानी को शिवलिंग की तरह चुप्पी साधे रहना चाहिये।

शिवलिंग पर जिस प्रकार लोग हज़ारों घड़े पानी डालते हैं और वह मौन ही रहता है (न उसे हटाता ही है और न उसे असहन ही करता है) इसी प्रकार आत्मदर्शी विद्वान् को भी उचित है कि अज्ञानी लोग इस दृश्यदेहरूपी सिर को तंग करने के लिये चाहे निन्दा आदि हज़ारों उपद्रव करें, तथापि यह निश्चय करके कि—इन बुराइयों तथा कष्टों का मेरे देहत्रयातीत आत्मा से तो कुछ भी सम्बन्ध नहीं हो पाता है—मौन ही कर लिया करे—अर्थात् मनोलयरूपी ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाया करे, उनके लगाये दूषणों का प्रत्याख्यान करने के लिये

अपने मन को कदापि विक्षिप्त न करे। ऐसा करने पर कोई भी उपद्रव मोक्षमार्ग में विघ्न नहीं कर सकेगा।

सविचारास्तु गुरवो विरक्ता गुरुसत्तमाः।
विचारेऽपि विरक्ता ये गुरूणां गुरवो हि ते ॥६९॥

विचारवान् भी गुरुभाव से पूजने चाहियें। यदि विचार और वैराग्य दोनों से युक्त हों तब तो वे ही श्रेष्ठ गुरु कहाते हैं। परन्तु जिनको विचार में भी वैराग्य हो गया हो वे तो गुरुओं के भी गुरु कहे जाते हैं। वे ही श्रेष्ठतम हैं।

दुस्त्यजान् विषयान् मूढो जिज्ञासुरपि मुञ्चति।
विदां तद्रागदोषस्य त्यागे किमिव दुष्करम् ॥७०॥

देखते हैं कि मूर्ख अज्ञानी लोग तो क्रोध आदि के कारण दुस्त्यज स्त्री पुत्र आदि विषयों को छोड़ देते हैं और मुमुक्षु लोग जिज्ञासु होने के कारण बड़े दुःख से छूटने वाले धनादि विषयों को (बड़ी प्रसन्नता से) छोड़ बैठते हैं। फिर भला उनके रागरूपी दोष को जानने वाले ज्ञानी लोग विषयों को छोड़ बैठें तो इसमें कौनसी कठिन बात है ? (ऐसी अवस्था में यह शंका न करनी चाहिये कि अदृश्य ब्रह्मानन्द की इच्छा से दृश्य विषयसुख का त्याग क्योंकर किया जा सकता है ?)

जायेत जातबोधानामपि सांसारिकी कथा।
जागरे समनुप्राप्ते यथा स्वप्नकथा नृणाम् ॥७१॥

जिस प्रकार जाग जाने पर भी मनुष्य सुपने की कथा किया करते हैं इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष भी सांसारिक बातें कर ही सकते हैं। (केवल सांसारिक कथावार्ता करते देखकर ही उनके अब्रह्मज्ञ होने में सन्देह करना ठीक नहीं होता)।

मोहेन विस्मृते दृश्ये सुषुप्तिरनुभूयते।
बोधेन विस्मृते दृश्ये तुरीयमवशिष्यते ॥७२॥

मोह से जब कोई जीव दृश्यजगत् को भूल जाते हैं तो वे सुषुप्ति में पहुँच जाते हैं। परन्तु आत्मदर्शनरूपी बोध से जब इस दृश्यजगत् का विस्मरण होता है तो तुरीय ब्रह्म ही शेष रह जाता है।

तात्पर्य यह है कि सुषुप्ति तथा तुर्यावस्था में दृश्यजगत् का न दीखना यद्यपि समान ही होता है परन्तु मोह और बोध के कारण इन दोनों में भेद हो गया है। यदि सुषुप्ति में मोह न रहे तो वही तुर्यावस्था हो सकती है।

दृश्यं चेत्स्याद्रविर्न स्यात्तम एकं तदा किल।
रविश्चेत्स्याज्जगच्च स्याद्व्यवहारस्तदा किल ॥७३॥

यह दृश्य जगत् तो बना रहे परन्तु सूर्य न हो तो उस समय केवल अन्धकार ही अन्धकार दीख पड़ेगा। परन्तु जब कि सूर्य भी हो और जगत् भी हो तो उस समय सकल व्यापार दिखाई देने लगते हैं। (तात्पर्य यह है कि जगत् के होने और सूर्य के न होने पर अन्धापन तथा सूर्य और जगत् दोनों के होने पर व्यापार हुआ करता है)।

रविरस्ति जगन्न स्याज्ज्योतिरेकं तदा किल।
इति लोकस्थितिः पुत्र परमार्थगतिं शृणु ॥७४॥

कल्पना करलो कि सूर्य तो है परन्तु यह दृश्यजगत् नहीं रहा है, तो उस समय केवल एक ज्योतीरूप सूर्य ही सूर्य होगा। यह हमने लोक की मर्यादा दिखाई। हे पुत्र! इसके पश्चात् अब तुम हमसे परमार्थ की स्थिति को भी (इसी दृष्टान्त के अनुसार) समझ लो।

नित्यो हि रविरस्माकं तस्य नाशो न विद्यते।
तमोभूतेऽपि सकले तमःसाक्षी सदव्ययः ॥७५॥

हम ज्ञानी लोगों का चैतन्यसूर्य तो एक नित्य पदार्थ है। इसका तो कभी भी नाश नहीं होता। जबकि यह सब जगत् तमोरूप प्रकृति में लीन हो रहा था, उस तम का साक्षी सद्रूप तथा अपरिणामी यह चिदादित्य तो तब भी विद्यमान था ही।

रविरस्ति जगन्नास्ति समाधानवतो मुनेः।
अनेन हेतुना साधो ज्योतिरेकं तदा किल ॥७६॥

निर्विकल्प समाधि में डूबे हुए मुनि की दृष्टि में (समाधि का साक्षी) वह चित्सूर्य तो रहता ही है परन्तु तब यह जगत् नहीं रह जाता। हे साधो! इसीसे तुम यह भी समझ लो कि समाधि के समय एक केवल अद्वितीय आत्मज्योति ही शेष रह जाती है।

रविरस्ति जगच्चास्ति व्यवहारावलोकिनः।
रविर्नास्ति जगन्नास्ति तम एकं तदा किल ॥७७॥

(ज्ञानी अथवा अज्ञानी) जब व्यवहार को देखने लगते हैं तो उस समय यह चैतन्यसूर्य भी (जोकि उस अवस्था का साक्षी है) विद्यमान रहता है। उसके साथ ही यह विश्व भी रहता ही है। परन्तु जब तो वे सुषुप्तावस्था में पहुँच जाते हैं तो (अज्ञानावृत हो जाने के कारण प्रतीत न होने से) यह रवि (चैतन्यसूर्य) भी नहीं रहता तथा (लीन हो जाने से) यह विश्व भी नहीं रह जाता। तब तो केवल अज्ञान ही अज्ञान शेष रह जाता है।

प्रकाश्यापगमे पुत्र प्रकाशः किं प्रकाशयेत्।
प्रकाश्यत्वविनाशेपि प्रकाशत्वमखण्डितम् ॥७८॥

हे शिष्य ! (समाधि अवस्था में) जबकि यह प्रकाश्य जगत् ही नहीं रहता तो फिर यह हमारा चैतन्यसूर्य किस पदार्थ को प्रकाशित करे ? (यही कारण है समाधि अवस्था में विद्यमान भी यह आत्मप्रकाश जाग्रत् अवस्था की तरह किसी को प्रकाशित नहीं करता है)। प्रकाश्यता के न रहने पर भी प्रकाशता (चिन्मात्ररूपता) तो अविनाशी रूप से बनी ही रहती है।

अयातु यातु वा भानोः प्राकाश्यं निजहेतुभिः।
न मम स्वप्रकाशस्य किञ्चिदायाति गच्छति ॥७९॥

लौकिक सूर्य में अपने कारणों से प्राकाश्य आये या चला जाये। परन्तु मैं जो स्वप्रकाश सूर्य हूँ मुझमें तो न कहीं से कुछ आता ही है और न कहीं को कुछ जाता ही है।

यह लौकिक सूर्य स्वयंप्रकाश नहीं है किन्तु यह रूप तो इसे कर्म तथा उपासना आदि के कारण मिला हुआ है। जब वे कर्म तथा उपासनायें भोग के द्वारा क्षीण हो जायंगे तब यह सूर्य न तो तेजोरूप ही रहेगा और न तब यह जगत् का प्रकाश ही कर सकेगा। परन्तु मैं जो स्वतःसिद्ध प्रकाशरूप आत्मसूर्य हूँ, मुझ में न तो कुछ कहीं से आता ही है और न कुछ कहीं को जाता ही है। इस आत्मसूर्य का प्रकाश नित्य है, इसकी प्रकाशनशक्ति भी नित्य ही है; तथा यह जगत् भी इससे भिन्न कुछ नहीं है, इसलिये इस आत्मसूर्य में न कुछ उत्पन्न ही होता है और न कुछ नष्ट ही होता है। इस लौकिक सूर्य से इस आत्मसूर्य में यही विशेषता है।

अथ मनोमहिमा

'मन को रोकने में ही साधकों को अत्यधिक यत्न करना चाहिये' यह दिखाने के लिये 'मनोमहिमा' नाम का यह प्रकरण आरम्भ किया जाता है।

> किं बद्धमसि मुक्तं वा मनः पृच्छ महामुने।
> यदि बद्धमिति ब्रूयात् तर्हि बद्धोस्यसंशयः ॥१॥
> किञ्चिन्मुक्तमिति ब्रूयात् किञ्चिन्मुक्तोसि मोहतः।
> यदि मुक्तमिति ब्रूयात् तर्हि मुक्तोसि मोहतः ॥२॥

हे महामुने, तुम अपने मन से पूछकर देख लो कि मन ! तुम (गुणों से) बद्ध हो किंवा मुक्त हो गये हो? यदि वह मन तुम से यह कहे कि 'मैं तो बद्ध (संसारी) हूँ' तब तो तुम यह जान लो कि तुम वस्तुतः बद्ध ही हो। (क्योंकि तुममें मन का किया हुआ बन्धन विद्यमान ही है) यदि तो इसी प्रश्न के उत्तर में तुम्हारा मन यह कहे कि 'मैं तो कुछ कुछ मुक्त हूँ' तब तुम यह समझ लो कि तुम भी अभी तक अज्ञान से थोड़े से ही मुक्त हो पाये हो। परन्तु यदि तुम्हारा मन यह कहने को तैयार हो कि 'मैं मुक्त हो गया हूँ' तो तुम भी यह निश्चय कर लो कि मैं अज्ञान से सर्वथा मुक्त हो चुका हूँ।

> बद्धेन मनसा बद्धो मुक्तो मुक्तेन चेतसा।
> न बद्धो न च मुक्तोऽयमिति वेदान्तनिर्णयः ॥३॥

यह हमारा आत्मा बद्ध अर्थात् विषयासक्त मन से तो बद्ध हो जाता है तथा मुक्त अर्थात् विषयों से विरक्त चित्त से मोक्ष को पा लेता है। यह आत्मा अपने आप न तो बद्ध ही है और न मुक्त ही है, ऐसा वेदान्तों ने निर्णय किया है।

स्फुरन्ति महिमानो ये यत्र यत्र जगत्त्रये।
ते सर्वे मनसो धर्मा मनो हि महिमाश्रयम् ॥४॥

इस त्रिलोकी के अन्दर जहां कहीं भी महत्तायें प्रतीत हो रही हैं, वे सब इस मन के ही तो धर्म हैं। क्योंकि यह मन ही महिमा का आधार है। (संसार के सकल महत्वों को इसी ने कल्पित कर रक्खा है)।

अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्य मीशित्वं वशित्वं मनसो गुणाः ॥५॥

योग से उत्पन्न होने वाली, अणिमा (सूक्ष्म हो जाना) महिमा (बहुत बड़ा बन जाना) लघिमा (हल्का हो जाना) गरिमा (भारी बन जाना) प्राप्ति (दूर के चन्द्र आदि पदार्थों को भी इन्द्रियों से प्राप्त कर सकना) प्राकाम्य (यथेच्छ कार्य कर सकना, जल के समान भूमि में भी प्रवेश कर सकना आदि) ईशित्व (नये पदार्थों को उत्पन्न अथवा नष्ट कर देना) तथा वशित्व (सब भूतभौतिक पदार्थों पर अपना प्रभुत्व जमा सकना, नदी के प्रवाह तथा अग्नि की ज्वालाओं तक को अपने पास न आने देना) ये भी सब मन के ही तो धर्म हैं।

मनो धनु र्मनो मौर्वी मन एव धनुर्धरः।
मनो लक्ष्यं मनो वेधो मनो विद्धं विमुक्तये ॥६॥

मन ही धनुष है, मन ही मौर्वी (प्रत्यञ्चा—धनुष की रस्सी) है, मन ही धनुर्धारी है, मन ही लक्ष्य है, वेधनक्रिया भी मन ही है। बींधा गया मन ही मुक्ति दे देता है।

'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते' इस मुण्डक की श्रुति में ओङ्कार को धनुष, आत्मा को बाण तथा ब्रह्म को उसं का

लक्ष्य बताया गया है। परन्तु हम तो कहते हैं कि वह प्रणव (ओङ्कार) नामक धनुष भी मन है। क्योंकि उस प्रणव को भी तो मन ने ही कल्पित कर रक्खा है। उस धनुष में जोकि मौर्वी (धनुष की रस्सी) होती है वह भी मन ही है। उसे भी इस मन ने कल्पित कर रक्खा है। उस प्रणवरूप धनुष का धनुर्धारी (प्रणव धारण का अभ्यास करने वाला) भी तो यह मन ही है। क्योंकि वह भी एक मन की कल्पना ही तो होती है। इसलिये उसे भी मनोमात्र ही जानना चाहिये। लक्ष्य (लक्षणावृत्ति से वोध्य) ब्रह्म भी मन के (मन की कल्पना के) अतिरिक्त कुछ नहीं होता। क्योंकि वह ब्रह्म परमार्थ दृष्टि से तो कभी भी लक्ष्य नहीं बनता, इसीलिये उस को भी मनोरूप ही जानना चाहिये। ब्रह्म और मन को एकाकार कर देना ही वेधक्रिया कहाती है। इसे भी मन ही समझना चाहिये। यह वेधक्रिया भी मन की कल्पित होने से मनोमात्र ही होती है। ऐसे सर्वरूप अन्तःकरण को यदि किसी अधिकारी ने बींध डाला हो तो उस को मुक्ति के परमपद की प्राप्ति हो सकती है। सब शास्त्र इसी बात का प्रतिपादन कर रहे हैं कि मनोलय हो जाने पर ही मुक्ति मिलती है। जिस से यह तात्पर्य निकलता है कि लय हुआ मन ही मुक्ति है। यों मुक्ति को भी मनोरूप ही जानना चाहिये। क्योंकि परमार्थ विचार करने पर आत्मा में न तो बन्ध ही है और न मोक्ष ही है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
इतोधिकन्तु किं वाच्यमद्वये तु स्थितं न तत् ॥७॥

जीवों के बन्ध तथा मोक्ष का कारण अन्तःकरण ही होता है इसलिये मन से बड़ा और किस को मानें। परन्तु (यह बात

साधकों को सदा ही याद रखनी चाहिये कि) ऐसा महिमाशाली भी वह मन उस अद्वय परमात्मा में पहुँचने पर नहीं रहता।

अथ चिच्चण्डीपशुघातनम्

उस मन को लय करने के लिये साधकों को लय के उपायों में लग जाना चाहिये। साधक लोगों की रुचि मनोलय की ओर को हो जाय इस उद्देश्य से मनोलय का अद्भुत फल दिखाने के लिये 'चिच्चण्डीपशुघातन' नाम का प्रकरण आरम्भ किया जाता है।

चित्ताहङ्कृतिबुद्धिमानसमयैर्युक्तं चतुर्भिः पदै
श्छित्वान्तःकरणं पशुं परशुना बोधेन तीक्ष्णेन यः।
चिच्चण्डीचरणाम्बुजार्चनमनुप्राप्तः प्रसादं परं
किश्चित्रं चरणे लुठन्ति रभसा तस्याखिलाः सिद्धयः ॥१॥

मन बुद्धि चित्त अहङ्कार नाम के चार पैरों वाले इस अन्तःकरणरूपी पशु को, बोधरूपी तीक्ष्ण परशु से काट कर, चैतन्यरूपी चण्डी देवी के चरणकमलों का पूजन करके, जब कोई परम प्रसन्नता को प्राप्त हो जाता है तो सम्पूर्ण सिद्धियां उसकी इच्छा न रहने पर भी उस के चरणों में आकर लोटने लगती हैं।

अथ जीवन्मुक्त्यष्टादशी

जबकि हमें आत्मज्ञान प्राप्त हो गया, तो अन्तःकरण के विद्यमान रहने पर भी, प्रारब्धभोग के पश्चात् विदेहमुक्ति प्राप्त हो ही जायगी तथा उसी से कृतकृत्यता का लाभ भी हो ही जायगा, फिर इस मनोनाश वाली जीवन्मुक्ति से हमें क्या लेना है, इस शङ्का को हटाने तथा जीवन्मुक्ति में आदरभाव बढ़ाने के लिये इस प्रकरण का आरम्भ किया जाता है—

सङ्कल्पबद्धं सङ्कल्पाद्विमोच्यात्मानमात्मना।
आत्मनात्मनि सन्तुष्टः स्वात्मारामः स्वयं हरिः ॥१॥

जो कोई संकल्प(रूपी अन्तःकरण) से बँधे हुए अपने आत्मा को अपने आत्मा की सहायता से संकल्प (रूपी मन में) से छुड़ा कर अपने आप से अपने आप में ही सन्तुष्ट रहने लगता है, वह अपने आप में ही रमण करने वाला महापुरुष तो साक्षात् हरि ही है।

जिसने अपने आत्मा को इस मन के पञ्जे से छुड़ा लिया वह साक्षात् ईश्वर ही होता है। इसलिये सब मुमुक्षुओं को मनोनाश करने में जुट जाना चाहिये।

स्वरूपमेव कैवल्यं संसारः शुद्धमूर्खता।
अतिचित्रा गतिः पुत्र जीवन्मुक्तस्य या स्थितिः ॥२॥

कैवल्य (जिसको कि विदेहपना भी कहते हैं वह) तो आत्मा का अपना स्वरूप ही है तथा यह संसार तो केवल मूर्खता ही है। (इस प्रकार यद्यपि जड रूप वाला संसार तथा चेतन रूप वाला आत्मा ये दोनों परस्पर अत्यन्त विरोधी होते हैं, ये दोनों एक जगह कदापि नहीं रह सकते थे) परन्तु हे शिष्य ! तुम अचम्भे की बात देखो कि जीवन्मुक्त महापुरुषों की जो अवस्था है वह तो अत्यन्त आश्चर्यकारिणी हो जाती है। (क्योंकि उन में ये दोनों विरुद्ध बातें एक ही जगह रहने लगती हैं)

जीवन्मुक्तिसुखप्राप्त्यै स्वीकृतं जन्म लीलया।
आत्मना नित्यमुक्तेन, न तु संसारकाम्यया ॥३॥

नित्यमुक्त भी उस आत्मा ने लीला में आकर जो कि जन्म को स्वीकार किया है वह तो जीवन्मुक्ति के सर्वोत्तम सुख को

भोगने के लिये ही किया है। इस संसार के क्षुद्र सुखों की इच्छा से उस ने यह जन्म धारण नहीं किया (क्योंकि यह संसार दुःखरूप है। कोई भी ज्ञानी अथवा अज्ञानी दुःख की इच्छा ही नहीं करता)।

यदि न स्यादविद्याख्यमिदं कपटनाटकम्
कथं लभेत विश्वात्मा जीवन्मुक्तिमहोत्सवम् ॥४॥

यदि यह अविद्या नामक कपटरूपी नाटक न होता तो बताओ कि यह विश्वात्मा (जगत् का असली आत्मा) जीवन्मुक्ति के बड़े उत्सव को क्योंकर प्राप्त कर सकता।

जीवन्मुक्ति का आनन्द तभी आसकता है जब कि कोई अविद्याजन्य दुखों का अनुभव कर चुका हो 'सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्'—दुःख को भोगकर ही सुख की क़दर मालूम होती है। घोरान्धकार के बाद जब हमें दीपक का दर्शन हो तो वह बड़ा आनन्ददायक होता है—उतना आनन्द तो हमें दिन के प्रकाश में प्राप्त ही नहीं होता। इसी प्रकार यदि यह आत्मा पहले अविद्या का अङ्गीकार न करता और दुःखों को अनुभव न कर लेता तो फिर उसकी दृष्टि में जीवन्मुक्ति का सुख कुछ बड़ा सुख ही न जान पड़ता—उसमें कुछ मज़ा ही न आता।

अद्वैतं न सदेहेस्ति विदेहे द्वैतमस्ति न।
जीवन्मुक्तस्य नान्यस्य द्वैताद्वैतमहोत्सवः ॥५॥

जिस पुरुष को सदेहता का भान हो रहा है उसमें अद्वैत (नामक ब्रह्मसुख) नहीं रहता। जो पुरुष विदेह हो चुका है उसकी दृष्टि में फिर यह द्वैतनामक देहादि प्रपंच नहीं रह जाता।

परन्तु जो महापुरुष जीवन्मुक्त (अर्थात् जीता हुआ ही मुक्त) हो गया हो उस को तो द्वैत और अद्वैत दोनों का महोत्सव देखना मिल जाता है। दूसरों को यह महोत्सव देखना नहीं मिलता।

जीवन्मुक्त पुरुष सांसारिक विषयसुखों को भी भोग सकता है तथा केवल आत्मसुख का भोग भी ले सकता है। यह द्वैताद्वैत-महोत्सव न तो नित्यमुक्त को ही देखना मिल सकता है और न किसी बद्ध संसारी को ही दीख सकता है।

सदेहे न विदेहत्वं विदेहे न सदेहता।
सदेहत्वं विदेहत्वं जीवन्मुक्ते प्रवर्तते ॥६॥

जो अभी तक सदेह है (जिसको देहादि पदार्थ सत् प्रतीत होते हैं) उसमें विदेहता (अर्थात् आत्मरूपता) नहीं हो सकती। तथा देहविहीन आत्मा में सदेहता भी नहीं देखी जाती। परन्तु जीवन्मुक्त महापुरुष में तो सदेहता और विदेहता दोनों ही पायी जाती हैं। (जीवन्मुक्त पुरुष ही समाधि तथा संसार के सुख को भोग सकते हैं)।

सदेहस्य विदेहत्वं यदि न स्यात्तदा वद।
जनकस्य सदेहस्य कथं प्रोक्ता विदेहता ॥७॥

यदि लोक की दृष्टि में सदेह दीखने वाला कोई पुरुष विदेह न हो सकता होता तो उपनिषदों ने सदेह जनक को विदेह क्यों कहा है ? (सदेह होने पर भी विदेहपना हो सकता है यही उनका तात्पर्य है)।

विदेहस्य सदेहत्वं यदि न स्यात्तदा वद।
जनकस्य विदेहस्य कथं प्रोक्ता सदेहता ॥८॥

विदेह लोग यदि सदेह न हो सकते होते तो बताओ कि उपनिषदों में विदेह जनक को सदेह क्यों कहा है ? (विदेह भी सदेह हो सकता है। यही उन उपनिषदों का मन्तव्य है)।

विमुक्ति र्निश्चिता शास्त्रे जीवन्मुक्तिः सुनिश्चिता।
जीवन्मुक्तत्वमप्राप्य न विदेहविमुक्तता ॥९॥

वेदान्त शास्त्र में जिस प्रकार विदेहमुक्ति का प्रतिपादन किया गया है जीवन्मुक्ति का भी उसी प्रकार अपितु उससे भी अधिक प्रतिपादन किया गया है। याद रखिये, जीवन्मुक्ति को पाये विना किसी पुरुष को विदेहमुक्ति नहीं मिलती। (यदि किसी को केवल विदेहमुक्ति की ही इच्छा हो तो भी पहले उसे जीवन्मुक्ति को प्राप्त करना ही होगा। उसके पश्चात् वह स्वयमेव विदेहमुक्त हो जायगा)।

ज्ञानं विना न कैवल्यं न मृतो मुक्तिभाग् भवेत्।
जीवतो ज्ञानलाभः स्यात् सा जीवन्मुक्तिरक्षता॥१०॥

ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती। यदि ज्ञान होने पर भी कोई विदेहमुक्त हो सकता हो तो हम कहेंगे कि मरा हुआ मनुष्य मुक्तिगामी क्यों नहीं होता ? जीवित पुरुष को ही ज्ञान का लाभ हो सकता है (क्योंकि जीता हुआ पुरुष ही ज्ञान के साधन श्रवणादि का अभ्यास कर सकता है) उस ज्ञानप्राप्ति को ही अविनाशिनी जीवन्मुक्ति कहते हैं।

जीवन्मुक्तिसुखं स्वल्पकालं किं तेन चेच्छृणु।
ब्रह्मलोके विराजन्ते कथं ते सनकादयः ॥११॥

यदि यह प्रश्न किया जाय कि जीवन्मुक्ति का सुख तो थोड़े से समय रहता है उस (स्वल्पकालस्थायी सुख) से तो कुछ भी

फल नहीं हो सकता। इसका समाधान यह है कि यदि जीवन्मुक्ति दीर्घकाल तक रहने वाली नहीं है तो सनकादि जीवन्मुक्त लोग जबसे अब तक ब्रह्मलोक में क्योंकर रह रहे हैं। (तात्पर्य यह है कि जीवन्मुक्ति का सुख चिरकालस्थायी भी होता है। यह तो जीवों के प्रारब्ध पर निर्भर है)।

तस्मादीश्वरलीलेयं काचिदीश्वररूपिणी।
जीवन्मुक्ति महामुक्तेः सम्प्रदायप्रवर्तिनी ॥१२॥

यह सब देखकर हम तो इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि यह जीवन्मुक्ति तो ईश्वर की एक लीला है। इस जीवन्मुक्ति का विचारगम्य तात्विक स्वरूप भी ईश्वर ही है। इस जीवन्मुक्ति से ही विदेहमुक्ति का सम्प्रदाय प्रारम्भ हुआ करता है। (अर्थात् यही उसकी साक्षात् कारण होती है)।

यस्यां खेलन्ति मुनयो नारदाद्या निरन्तरम्।
ज्ञानिभिर्यानुभूतैव सा जीवन्मुक्तिरक्षता ॥१३॥

नारद तथा सनक आदि ज्ञानी लोग जिस जीवन्मुक्ति में सदा ही क्रीडा करते हैं तथा आजकल के ज्ञानी लोग भी जिस जीवन्मुक्ति का साक्षात् अनुभव कर रहे हैं उस जीवन्मुक्ति की अवहेलना कौन कर सकता है ? (विदेहमुक्ति की ही इच्छा होने पर भी जीवन्मुक्ति का त्याग नहीं करना चाहिये।)

चित्तविक्षेपकर्तारं विहारं तु विहाय ये।
स्थिता निर्वाणनिष्ठायां त एव सनकादयः ॥१४॥

अन्तर्बोधमया लोके व्यवहारपरा इव।
ये स्थिता निजानिष्ठायां त एव जनकादयः ॥१५॥

चित्त को विक्षिप्त करने वाले व्यवहार को छोड़ कर जो महापुरुष निर्वाणनिष्ठा (अखण्ड तथा एकरसाकारवृत्ति में स्वभाविक प्रेम) में ही स्थित हो जाते हैं वे सनक सनन्दादि तो त्यागी जीवन्मुक्त कहाते हैं । जो महापुरुष अन्दर सर्वथा बोधरूप होने पर भी ऊपर से संसार के कारवार में फँसे हुए से प्रतीत होते हैं तथापि तात्त्विक निरीक्षण करने पर जो सदा आत्मनिष्ठा में ही स्थिर हुए रहते हैं, वे जनकादि व्यवहारी जीवन्मुक्त कहाते हैं ।

त्याग तथा व्यवहार के कारण दोनों ही प्रकार के जीवन्मुक्तों में यद्यपि कुछ विलक्षणता आजाती है परन्तु जीवन्मुक्ति अवस्था का कारण ज्ञान तो दोनों में ही समान रहता है । इसलिये जीवन्मुक्तपना उन दोनों में ही तुल्य होता है ।

गृहं वास्तु वनं वास्तु येषां निष्ठा न वर्तते ।
सनकादिषु नैवैते न च ते जनकादिषु ॥१६॥

हे शिष्य, जिन लोगों को आत्मा के विषय में स्वाभाविक प्रेम नहीं है वे चाहें तो घर के लिये व्यवहार करते रहें और चाहें घर बार सब कुछ त्याग कर वन को चले जांय । ऐसे ज्ञानहीन गृही अथवा ऐसे ज्ञानहीन त्यागी न तो सनकादि त्यागी जीवन्मुक्तों में ही गिने जा सकते हैं और न जनकादि व्यवहारी जीवन्मुक्तों ही में उन की गणना हो सकती है ।

व्यवहार को करते रहने किंवा छोड़ देने से किसी को भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती । किन्तु ज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है । वह ज्ञान इन दोनों प्रकार के महापुरुषों में पाया जाता है, इसलिये ये दोनों प्रकार के लोग जीवन्मुक्त कहाते हैं।

अन्तःसारा हि गुरवः स्वल्पवाचाऽमृतप्रदाः ।
मन्द्रं मन्द्रं हि गर्जन्ति प्रावृषेण्याः पयोधराः ॥१७॥

गुरुओं के अन्दर सार भरा रहता है वे थोड़ी बात चीत से ही अमृतवर्षा कर देते हैं। लोक में भी वर्षा ऋतु के बादल धीरे धीरे ही गरजते हैं।

जिस प्रकार जल बरसानेवाले बादल गम्भीर तथा थोड़ा गरजते हैं इसी प्रकार जीवन्मुक्त लोग थोड़ा सा बोल कर ही, दो चार शब्द कह कर ही, अधिकारी को मोक्ष जैसे सर्वोत्तम महाफल को दे देते हैं। उन के दो चार शब्द ही अधिकारी के हृदय में बैठ जाते हैं। इस लक्षण से जीवन्मुक्त गुरुओं को पहचान कर, स्वयं भी जीवन्मुक्ति के परम पद को पाने के लिये उन की सेवा करनी चाहिये। जो लोग तो आत्मतत्व को समझाने में लम्बे लम्बे व्याख्यान देने लगें, जिन की बात सुनते सुनते साधक का चित्त ऊब जाता हो, उनको निःसार जान कर उन का परित्याग साधक लोग करदें।

सदैवाध्ययनीयेयं भावनीया सदैव हि ।
जीवन्मुक्तिपदप्राप्त्यै जीवन्मुक्तिचतुर्दशी ॥१८॥

जीवन्मुक्ति के परम पद को पाने के लिये हमारी बतायी हुई इस जीवन्मुक्तिचतुर्दशी को सदा ही पढ़ते तथा विचारते रहना चाहिये। (इस प्रकरण में तेरह से लेकर सोलह तक के चार श्लोक प्रक्षिप्त हैं यह बात श्लोक के 'जीवन्मुक्तिचतुर्दशी' इस पद से प्रतीत होती है।)

स्वल्पाक्षरों से तथा गम्भीर वाणी से ही जीवन्मुक्त लोग किस प्रकार अमृत का प्रदान करदेते हैं यह दिखाने के लिये अब इस प्रकरण का आरम्भ किया जाता है।

आयान्ति तत्र विलसन्ति वसन्ति च द्रा-
गुड्डीय यान्ति च कुलानि विहङ्गमानाम्।
भावास्तथा मयि समा विषमा विचित्रा
देवालयाग्रमिव केवलमस्मि नित्यः ॥ १ ॥

पक्षियों के झुण्ड जिस प्रकार देवालय के शिखर पर आकर बैठते हैं, विलास करते हैं तथा फिर कभी अचानक ही उड़ कर चले जाते हैं। इसी प्रकार सम विषम तथा विचित्र भाव मुझ में आते हैं, कभी चले जाते हैं, कभी कुछ विलास करते हैं, कभी कुछ देर ठहरते हैं, तथा फिर कभी अकस्मात् ही चले जाते हैं। मैं तो उस देवालय के शिखर के समान सदा एकरूप ही रहता हूं।

सुख के साधन शमदमादि सम भाव, दुःख के साधन राग-द्वेषादि विषम भाव, सुख और दुःख दोनों के ही कारण स्त्री पुत्रादि अनेक रूप वाले विचित्र भाव तथा इन सब के नाना प्रकार के विषय मुझ में कभी तो उत्पन्न हो जाते हैं, कभी नष्ट हो जाते हैं, कभी विचित्र रूप धारण करके शोभित होने लगते हैं, कुछ देर ठहरते हैं, तथा कभी अकस्मात् सब के सब वियुक्त हो जाते हैं। यह सब कुछ होने पर भी जिस प्रकार देवालय के शिखर में पक्षियों के आने जाने विलास करने ठहरने तथा उड़ कर चले जाने आदि किसी क्रिया का भी कोई प्रभाव

अथवा उन से कोई भी परिवर्तन नहीं होता है, इसी प्रकार मैं आत्म-देव भी सम विषम तथा विचित्र भावों की उत्पत्ति वाला नहीं हो जाता हूँ। इन के नष्ट होने से मुझ में नाशक्रियारूपी विकार नहीं आता। इनके प्रकट होने से प्रकट होनारूपी विकार भी मुझ में नहीं होता। इन के स्थित होने से स्थितिरूपी विकार भी मुझ में नहीं पाया जाता। इन सब के नष्ट हो जाने से वियोगरूपी विकार भी मुझे प्राप्त नहीं होता। अनादिकाल से चली आती हुई अपनी इस गम्भीर स्थिति को देख कर ही मैंने यह निश्चय कर लिया है कि मैं तो केवल त्रिकालाबाधित नित्य पदार्थ हूँ। ये सम विषम पदार्थ यद्यपि मेरे आश्रय से ही रहते हैं तथापि इन के किये हुए जन्मनाश आदि विकार मुझ में कभी नहीं आते। आत्मा की इस असंग स्थिति को पहचान कर सभी अधिकारियों को निर्लेप निर्द्वन्द्व तथा निर्विकार रहना सीख लेना चाहिये।

उन्मज्ज्य मज्जति जगन्मयि दैवयोगा-
दुच्चावचा नगणिता अपि ते तरङ्गाः।
निष्ठाङ्गतः स्वमहिमन्यचलप्रतिष्ठे
तिष्ठामि सागर इव स्वरसादपारः ॥२॥

दैवयोग से यह जगत् मुझ में से निकल कर मुझ में ही डूब जाता है और बुरे भले अनगिनत विचार भी मुझ में यों ही उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं। स्वरस के कारण अब मैं अपार सागर की तरह अपनी अचल महिमा का ही प्रेमी हो गया हूं।

वायु का योग होने पर जिस प्रकार छोटे बड़े अनगिनत

तरङ्ग समुद्र में से ऊपर उठ कर फिर उसी में लीन होते रहते हैं, तो भी वह सागर अचलप्रतिष्ठावाली अपनी महिमा में स्वभाव से स्थित हुआ रहता है तथा स्वरूप (जल) की अधिकता के कारण अपार हो जाता है वह कभी भी अपनी महिमा को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार मुझ आत्मदेव में भी छोटे बड़े अगणित ब्रह्माण्ड प्रारब्ध कर्मों की प्रबलता से कभी तो उत्पन्न हो जाते हैं, प्रारब्ध कर्मों के क्षीण हो जाने पर कभी फिर मुझ में ही लीन हो जाते हैं। यह सब कुछ होने पर भी मैं अपनी स्थिरप्रतिष्ठावाली ब्रह्मत्वरूपी महिमा में ही स्वभाव से प्रीतिवाला होकर, स्वरस अर्थात् आत्मसुख का अनुभव कर लेने के कारण, पार रहित होकर स्थित हो गया हूँ। इन सब विकारों से मेरी अनन्तता का नाश नहीं हो पाता है। मेरी पारमार्थिक अनन्तता सदा ही अप्रतिहत बनी रहती है।

जन्माद्यो वनचराः प्रवहन्तु कामं
घर्षन्तु कुम्भमभितो मयि वृत्तिनागाः।
अस्मिन् युगे परयुगे च युगान्तरे वा
तिष्ठामि निश्चलतया गिरिराजतुल्यः ॥३॥

इस युग में दूसरे युग में और अनन्तयुगों में जन्म आदि जंगली जानवर भले ही घूमा करें। वृत्तिरूपी हाथी मुझ से अपने कुम्भों को भले ही रगड़ा करें। मैं तो हिमालय के समान निश्चलरूप में रह रहा हूँ।

भूत वर्तमान तथा भविष्यत् के किसी युग किंवा युग जितने लम्बे समय तक हिमालय आदि बड़े पर्वतों पर, वनचारी सिंह तथा हरिण आदि जन्तु स्वेच्छा से कहीं भी घूमा करें, तथा

चित्तवृत्तियों के समान चञ्चल हाथी, अपने गण्डस्थल को कहीं भी यथेच्छ रगड़ते रहें, तो भी वह गिरिराज उन वनचरों के घूमते रहने से, न तो बढ़ता ही है और न कुम्भों के रगड़ने से उस का कुछ घटता ही है। वह दोनों अवस्थाओं में वैसा ही निश्चल बना रहता है। ठीक इसी प्रकार विषयिजनों के सेवन करने योग्य इस देहरूपी वन में निवास करने वाले जन्म आदि छओं विकार इस प्रत्यगात्मारूपी गिरिराज में भी भले ही प्राप्त हो जाया करें, तथा अन्तःकरण के काम क्रोधादि वृत्तिरूपी हाथी अपने अपने विषयरूपी कुम्भों (कपोलों) को इस में संयुक्त भी कर दिया करें। इन विकारों के प्राप्त होने तथा विषयों के संयुक्त होने का व्यापार भी चाहे जितने लम्बे समय तक बराबर चलता रहे, तो भी यह आत्मदेव सदा ही उस गिरिराज के समान जन्मादि विकारों से रहित ही बना रहता है। इस में कभी भी विषय तथा उन की वृत्तियों का सम्बन्ध नहीं हो पाता है। यह तो सदा ही स्थिर हुआ रहता है। जिस प्रकार वन के सिंह मृग आदि पशु तथा अपने कपोलों को घिसने वाले हाथी पर्वत को विचलित नहीं कर सकते, इसी प्रकार मुझ ब्रह्मरूप प्रत्यगात्मा को भी ये प्रतीत होने वाले जन्मादि विकार तथा ये कामादि वृत्तियां अपने स्थिर रूप से कभी भी विचलित नहीं कर सकतीं।

नीचैर्निपातितविमोहमहीधरस्य
विन्ध्यस्य मूर्धनि पदं विनिधाय सम्यक् ।
इष्टां दिशं प्रतिगतः पुनरागतो न
स्वच्छन्दमेव विहरामि तदस्म्यगस्त्यः ॥४॥

जो अगस्त्य मुनि नीचे गेरे हुए विमोहक (सूर्य को ढककर

मनुष्यों को दिग्भ्रम कराने वाले) विन्ध्य पर्वत के शिखर पर भले प्रकार (कि वह फिर उठ ही न सके) पैर रख कर अपनी इष्ट (दक्षिण) दिशा को चले गये थे और फिर लौट कर नहीं आये थे, सो मैं भी दूसरा अगस्त्य मुनि* ही हूँ। मैं भी उनकी ही तरह स्वच्छन्द विहार कर रहा हूँ।

मैंने भी विमोह (प्रपंच का निर्वाह करने वाले विपरीत-ज्ञान अथवा मूलाज्ञान) को नीचे डाल दिया है (आत्मा से नीचे कर दिया है) यह मोह ही विन्ध्य पर्वत के समान हो रहा था क्योंकि यही आत्मा के भेद का निमित्त बन रहा था। मैंने इस के सिर पर अपना पैर बड़ी दृढता से रख दिया है कि फिर यह उठकर कभी आत्मा से सम्बद्ध ही न हो सके। अब मैं निश्चिन्त होकर अपने प्यारे आत्मचैतन्य में पहुँच गया हूँ। अब मैं इस शरीराध्यास में कभी लौट कर नहीं आऊँगा। अब तो मैं वहीं (आत्मसुख में) स्वच्छन्द होकर विहार करने लग पड़ा हूँ। अब तो मैं पूरा अगस्त्य हो चुका हूँ। अर्थात् अग (अज्ञान) का नाश करने वाला हो गया हूँ। अब तो मैं अपने शरणागत मुमुक्षुओं के अज्ञान को नष्ट करने लगा हूँ।

---

* एक वार विन्ध्य पर्वत इतना ऊँचा होने लगा था कि उस ने सूरज को भी ढक लिया था। तब लोगों के प्रार्थना करने पर अगस्त्य-मुनि उस के पास गये और उस से दक्षिण दिशा को जाने के लिये मार्गयाचना की। उस पर्वत ने नीचा होकर मार्ग दे दिया। अगस्त्य-मुनि उस से कह गये थे कि जब तक मैं वापिस आऊँ, तब तक इतने ही नीचे बने रहना। तब से वह इतना ही रह गया है। क्योंकि फिर अगस्त्यमुनि उधर से लौट कर ही नहीं आये। यह कथा काशीखण्ड में आयी है।

दृष्टो मयाद्य विगलद्वदनप्रसादः
कश्चित्तृतीयपदतः पतितः पृथिव्याम् ।
तन्मे मतिः समुदियाय परावरज्ञा
स्वर्गस्तु हन्त नरकादपि दुर्विपाकः ॥५॥

आज रात को* मैंने तृतीयपद अर्थात् स्वर्गलोक से पृथिवी पर उतरे हुए, उदास मुँहवाले एक स्वर्गभ्रष्ट को देखा था। उसको देखकर मुझे यह परावरज्ञा (पर स्वर्गलोक तथा अवर

---

* क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति इस के आधार पर यह एक पुराना विचार चला आता है कि रात्रि के समय जो उल्कापात होते हैं वे नक्षत्रादि लोक को देहरूप में धारण करने वाले स्वर्ग के भुक्तभोगी मर्त्यलोक को लौटने वाले प्राणी हैं। वे फिर मेघ में रह कर बरसते हैं अन्न में आते हैं तथा अन्न के द्वारा वीर्यदान करने वाले प्राणी के पेट में आकर स्त्री के गर्भाशय में पहुँचते हैं। अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा (वेदान्त) इस आधार पर नक्षत्रों किंवा लोकलोकान्तरों की गर्मी भी उन में लिंगशरीर के होने को और यों उनके शरीरी होने को सिद्ध करती है। हमारे ज्ञान के साधन इतमे अपूर्ण हैं कि उन के भरोसे पर ही इस तत्व को अस्वीकार कर देना बुद्धिमान् की शक्ति के बाहर की बात है। इस प्राचीन विचारवालों का कहना है कि हमारे शरीर में जो जूं (यूका) होती है वह अपने शरीर का तो अभिमानी जीव कहाती है। परन्तु वह हमारे शरीर का अनुशयी जीव ही है। हम इस अपने शरीर के अभिमानी जीव हैं। वह जूँ जब हमारे शरीर पर घूमती है, तो हम को चेतन प्राणी न समझ कर एक पृथिवी ही समझती है, उस के शरीर में उस से छोटे छोटे और भी बहुत से जीव होते हैं, वे उस के अनुशयी जीव कहाते हैं। वे भी उस को एक विस्तीर्ण पृथिवी ही समझते होंगे। जब हम हाथी पर बैठते हैं, तब हाथी उस शरीर का अभिमानी

मर्त्यलोक इन दोनों की अवस्थाओं को खूब पहचानने वाली अथवा ऊँच नीच भेद को जानने वाली) बुद्धि उत्पन्न हुई कि (जिसके लिये दुनिया मरी मिटती है) वह स्वर्गलोक (सुख-मय जीवन अथवा लोकविशेष) तो (पाप का फल भुगाने वाले अधिक दुःखदायी) नरक (दुःखमय जीवन अथवा किसी लोक-विशेष) से भी अधिक दुर्विपाक (दुःखदायी) होता है। अर्थात् स्वर्ग का परिणाम तो नरक से भी अधिक दुःखदायी है।

हमको तो अब यह समझ पड़ता है कि नरक तो थोड़े पापों का फल है तथा स्वर्ग उससे अधिक भयानक पापों का फल है। स्वर्ग में सत्वगुण की अधिकता रहती है, इस कारण उस स्वर्गी को प्रपंच का ज्ञान भी अधिक ही रहता है,

---

और हम उस के अनुशयी जीव होते हैं । प्राचीन दार्शनिक लोग मानते आये हैं कि पृथिवी भी अपने शरीर का अभिमानी जीव ही है और हम सब उस के अनुशयी जीव हैं। इस वर्णन से इस तत्व के समझने में सहायता मिलेगी, कि नक्षत्र और उल्कायें भी एक प्रकार के शरीर ही हैं। क्या मालूम कि उन नक्षत्रों को जीव न मान कर हम भी उस जूँ वाली भूल ही करते हों—जो हमें जीव न समझ कर निर्जीव पृथिवी ही समझ रही हो। इतना ही क्यों विचार तो यहां तक है कि ये पृथिवी सूर्य और नक्षत्र आदि सब उस विराट् के अनुशयी जीव हैं इन सब का अभिमानी जीव तो विराट् ही है। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ओ मनुष्य नाम के क्षुद्र प्राणी ! जितना ज्ञान तुझे हो चुका है इस के आगे कुछ है ही नहीं, इस तरह का दुरभिमान मत कर। अनन्तज्ञान को मर्यादित मत कर। ओ मनुष्य ! तेरे ज्ञान को साधन बड़े क्षुद्र हैं, बड़े ही क्षुद्र हैं, तू इस बात को कभी मत भूल।

जिससे कि 'वह मुझसे अधिक सुखी है, मैं उससे न्यून सुखी हूँ' यह ज्ञान बना रहता है। जब कि वह अपने से किसी अधिक सुखी को देखता है, तो उसे ईर्ष्या भी होती ही है। दूसरे का स्वर्ग से पतन देखकर अपने पतन का जब अनुमान करता है तो अपने पतन को याद करके ही दुःखी होता है। स्वर्ग के अनुपम सुख को भोगते भोगते जब कि किसी भी दुःख को सहन करने का स्वभाव नहीं रह जाता तो वह स्वर्ग से पतन का दुःख उसे बहुत बड़ा दुःख प्रतीत होता है। 'स्वर्ग जैसे उच्चपद को प्राप्त करने के अनन्तर निकृष्ट पद पाना है' यह भी एक बड़ा भारी दुःख उस स्वर्ग में होता है। इस प्रकार हम तो यह देखते हैं कि यह स्वर्ग प्रत्येक दृष्टि से दुःखदायी है। जब कि यह एक सर्वसम्मत बात है कि कोई भी दुःख पाप का ही फल होता है तो फिर हम निःशङ्क होकर यह कह सकते हैं कि यह स्वर्ग तो बहुत से पापों का फल है। इसके विपरीत नरक में तो मूढता का भी एक बड़ा भारी सुख रहता है। इस के अतिरिक्त जब कि नरकयातनायें भोगनी पड़ती हैं तो उनके दुःख से चित्त में पश्चात्ताप पैदा होता है कि हाय! हमने ये अशुभ कर्म न करके यदि शुभकर्म किये होते, तो यह दुःख हमें क्यों मिलता। इस पश्चात्ताप के करने से पुण्यकर्मों की वासनायें उत्पन्न हो जाती हैं। इससे हम तो इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह नरक तो थोड़े से ही पापों का फल है। परन्तु यह स्वर्ग घोर पापों का फल है।

आरुह्य तुङ्गपदवीं पतितादनार्या-
नारूढ एव हि वरं प्रकृतौ स्थितो यः।

अङ्गानि हन्त किल तस्य न चूर्णितानि
खेदो न चेतसि न वा परिहासपीडा ॥६॥

ऊँची पदवी को पाकर नीचे गिरे हुए उस अनार्य से तो वह ही अच्छा है जो कि कभी उच्च पद को प्राप्त ही नहीं हुआ। क्योंकि वह तो अभी तक प्रकृति में (अर्थात् स्वर्गपद को प्राप्त करा देने वाले मर्त्यलोक में) ही स्थित है (सब से उच्च पद में पहुँच जाने पर किसी उच्च पद की प्राप्ति के लिये साधन ही नहीं किया जा सकता। उस उच्च पद को भोग कर वहां से गिरना भी आवश्यक होता है। इस के विपरीत नीचे पद में ठहरा हुआ प्राणी ऊँचे पद की प्राप्ति के लिये साधन भी कर सकता है इस लिये नीचे स्थान में ठहरा हुआ मनुष्य ही श्रेष्ठ है) विचारणीय बात यह है कि उस नीचे पद में स्थित हुए मनुष्य के न तो अङ्ग ही टूटे हैं न उस के मन में ऊँचे पद से गिरने का पश्चात्ताप ही है और न उसे लोगों की हँसी उड़ाने से कुछ दुःख ही पहुँचा है (ज्ञान न होने पर परिणाम में नीचपदस्थ मनुष्य ही उच्च-पदस्थ से श्रेष्ठ होता है।)

नाडीं प्रविश्य यदि जीवति भीतभीतः
प्रान्ते च खादति मृतिश्चिरजीवनं किम्।
देहस्वभावरहितः परमात्मभावे
तिष्ठन्मृतिं जयति चेच्चिरजीवनं तत् ॥७॥

महाडरपोक हठयोगी, यदि ब्रह्मनाडी में घुस कर जीता है और समाधि टूटने पर उसे फिर मौत खाने लगती है (मौत का डर व्याप जाता है) तो यह उस का कैसा चिरजीवन हुआ! यदि कोई देह के स्वभाव से रहित होकर, परमात्मभाव में स्थिर

हो जाय और यों ज्ञान द्वारा मौत को जीत ले, तो यह ही सच्चा चिरजीवन है।

जब तुम नाडी में प्रविष्ट हो कर मूढसमाधि करते हो तो उस समय धर्म, अर्थ या काम किसी का भी उपार्जन नहीं कर सकते। तुम्हारी वह अवस्था ज्ञान के साधनों के उपयोग की भी नहीं होती। मृत्यु के भय से नाडी में घुसने के कारण तुम्हारा अज्ञानी होना स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। जिस प्रकार जन्म से लेकर मरणपर्यन्त रोगी रहने वाले मनुष्य का जीवन मरण के समान होने से, मरण ही होता है इसी प्रकार उस निष्फल चिरजीवन को तो चिरमरण ही कहना अधिक उचित होगा। इस लिये चिरजीवन के तुम्हारे साधन ठीक नहीं हैं। चिरजीवन के मुख्य साधन तो ये हैं कि देहाध्यास को छोड़ कर सदा ही परमात्मभाव में स्थित रह कर मरण को वश में कर लिया जाय

आलोकितानि च मतानि मुनीश्वराणा-
मालोकिताश्च बहवो बहुसिद्धमार्गाः।
अद्यापि तं मलिनभावमपास्य दूरं
सिद्धस्तु किं न यदि सिद्ध्यति नित्यसिद्धः॥८॥

हे शिष्य, हम ने मुनीश्वरों के मतों का विचार किया है, बहुत से कपिल आदि सिद्धों के मार्गों को भी उन के बनाये शास्त्रों में देखा है। (उन सब का विचार करने के पश्चात् हम ने तो यही निश्चय किया है) कि उस सर्वलोकप्रत्यक्ष मलिनभाव को त्याग कर यदि उस नित्यसिद्ध आत्मा को सिद्ध न कर लिया (अर्थात् मुक्त न हो गये) तो फिर वह सिद्ध ही क्या हुआ।

योग के द्वारा तात्कालिक मुक्ति की प्रतीति हो जाने पर भी

उस योगी में इस प्रपञ्च को पैदा करने वाले अज्ञानरूपी बीज के विद्यमान रहने से वेदान्तजन्य आत्मैक्यसाक्षात्कार हुए बिना तथा प्रपञ्च की असत्ता का ज्ञान हुए बिना कभी भी नित्यमुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

अङ्गं प्रसार्य पतितः खलु चित्स्वरूपे
निद्रालुतां गत इति प्रविनष्टचेष्टः।
विन्ध्यस्य योजनशतायतिका शिलेव
नैव ह्रसामि न च वृद्धिमुपैमि पूर्णः ॥९॥

मैं तो अपने (चिदाभासरूपी सुकड़े हुए अङ्ग को खूब फैला कर अर्थात् उस को व्यापक ब्रह्मरूप करके) चित्स्वरूप (ब्रह्म) में गिर पड़ने (एकता को प्राप्त होने) के पश्चात् (प्रपञ्चविस्मरण-रूपी) निद्रालुता को प्राप्त हो जाने से चेष्टा (मन तथा इन्द्रियों के व्यापारों) से रहित हो गया हूँ। अब तो मैं विन्ध्य पर्वत की सैकड़ों योजन लम्बी अति विस्तीर्ण शिला के समान, न तो कभी क्षय को ही प्राप्त होता हूँ और न कभी वृद्धिरूपी विकार के ही वश में आता हूँ, किन्तु पूर्ण ब्रह्मरूप ही हो गया हूँ।

तात्पर्य यह है कि इन मन तथा इन्द्रियों के व्यापारप्रवाह के बने रहने पर, मुझ में अपूर्णता सी आ गयी थी। अब तो उस के बन्द हो जाने से मैं फिर परिपूर्ण ब्रह्मरूप हो गया हूँ। मेरा यह अन्तःकरण मेरे आत्मचैतन्य में लय हो गया, तो प्रपञ्च का भान भी बन्द हो गया और चेष्टायें भी सब रुक गयीं। इस पद्धति से मुझे मेरी स्वाभाविक परिपूर्णता हाथ लग गयी। यदि औरों को भी ऐसी पूर्णता की अभिलाषा हो तो वह

भी अपने मन को चैतन्य में लय करना सीखें और मेरे समान ही परमपद को प्राप्त करें।

परिलसति पिता मे सर्वलोकस्य राजा
धृतिमतिबलहेतु यौवनं मे नवीनम्।
इयमपि च सुबुद्धिः काचिदूढा वराङ्गी
सुखमधिकमतः किं मत्परो नास्ति धन्यः ॥१०॥

मुझ चिदाभास का परमात्मारूपी पिता जो कि इस सकल जगत् का एकमात्र प्रकाशक है सब जगह साक्षात् प्रकाशित हो रहा है। मुझ को एक ऐसा नवीन यौवन (आत्मा तथा अनात्मा का विवेचन) प्राप्त हुआ है कि उस के प्रताप से मुझ में धैर्य भी आ गया है (जिस से मुझ में आतमधारणा भी रहने लगी है, अब विषयों को देख कर भी मैं अक्षुब्ध ही बना रहता हूँ।) शास्त्रार्थों का मनन भी भले प्रकार होता रहता है। आत्मा की प्राप्ति के साधनों में मुझ को वल अर्थात् अपरिमित उत्साह भी हो गया है। (इस यौवनावस्था के अनुरूप ही) मैंने एक अत्यन्त श्रेष्ठ अङ्गों वाली तथा अनिर्वचनीय आनन्द देने वाली सुबुद्धि-रूपी स्त्री से अपना उद्वाह कर लिया है। इस सुख से उत्तम और क्या सुख हो सकता है ? यही कारण है कि अब मुझ से अधिक सौभाग्यशाली और कोई भी नहीं है। मैं तो सर्वथा कृतकृत्य हो गया हूँ।

समरसपदचिन्तानन्तसन्तोषवन्तः
क्षणसुखकणतृष्णातन्तु मन्तर्विमुच्य।
निजसुखनिधिविद्याराजसिंहासनस्था
वयमिह कलयामः कालमालम्ब्य देहम् ॥११॥

समरस ब्रह्म पद की चिन्ता से अनन्त सन्तोष को पा लेने वाले हम लोग, क्षणिक सुखकणों के तृष्णारूपी तन्तुओं को अन्दर से तोड़ तोड़ कर, आत्मसुखनिधि के ज्ञानरूपी राजसिंहासन पर बैठ चुके हैं। अब तो हम प्रारब्ध काल तक इस देह के सहारे से अपनी उमर के शेष दिन गिन रहे हैं।

अब हम ने कर्मों का आचरण करके दूसरा जन्म पाने के लिये इस देह को धारण नहीं कर रक्खा है। किन्तु आत्मसुख को प्राप्त हो चुकने से कृतकृत्य हो जाने के कारण केवल प्रारब्ध भोगों के लिये ही इस शरीर को धारण कर रक्खा है। अब यह हमारा अन्तिम देह है।

> कति कति नहि जीवा देवराजादयोऽमी,
> पदपतनहताशाः संसृतौ संसरन्ति।
> गुरुपदमवलम्ब्य ब्रह्मविद्यातरिस्था,
> अधिगतपरपारास्ते वयं धन्यधन्याः ॥१२॥

क्या देवराज प्रभृति कितने ही जीव इस संसार में नहीं भटक रहे हैं, जोकि पदच्युत होने से हताश हो चुके हैं। धन्य तो हम हैं जोकि गुरु के चरण पकड़कर, ब्रह्मविद्यारूपी नौका पर बैठकर, इस संसारसागर के पर पार तक जा पहुँचे हैं।

तात्पर्य यह है कि उन इन्द्रादियों ने तथा हम ज्ञानियों ने यद्यपि शरीर का धारण तो समानरूप से ही कर रक्खा है परन्तु उन लोगों का पदभ्रंश होगा और वे फिर फिर जन्म-मरण को प्राप्त करेंगे। हम लोगों का न तो पदभ्रंश ही होगा और न हमें जन्ममरण की प्राप्ति ही होगी। उन देवेन्द्र आदियों से हम ज्ञानी लोगों में यही विशेषता है।

व्योम व्योमचरै र्न लिप्तमपि यत्तत्सर्वदा नीरसं,
क्षीराब्धिः सरसोऽपि वृद्धिमधिकां लब्ध्वा पुनर्मुञ्चति ।
हेमाद्रि र्जनको मुदामपि मुदां नैवाश्रयो नीरसो ।
न क्षीणो न च नैव मोदरहितोऽहं तत्तुला नास्ति मे ॥१३॥

यह आकाश आकाशचारियों से लिप्त तो नहीं होता परन्तु उसमें यह दोष है कि यह सर्वथा नीरस है । यह क्षीरसागर सरस तो है परन्तु यह भी बढ़ बढ़ कर फिर फिर घट जाता है। यह हिमालय पर्वत प्रसन्नता को उत्पन्न तो करता है परन्तु स्वयं इस विचारे को कभी प्रसन्नता नहीं होती। यही इनमें बड़े दोष हैं। इन तीनों के विपरीत मुझमें इन तीनों के गुण तो हैं (मैं निर्लेप भी हूँ सरस भी हूँ प्रसन्नता का जनक भी हूँ) परन्तु इनके दोष मुझमें नहीं हैं—इनकी तरह मैं नीरस भी नहीं हूँ, घटता भी नहीं हूँ, मोदरहित भी नहीं होता हूँ । मुझे मालूम हो गया है कि मेरी उपमा देने को इस संसार में कुछ रहा ही नहीं। यों मैं निरुपम ही रह जाता हूँ ।

सायंप्रातरनेकरङ्गमपि तन्नानेकरङ्गाश्रयं,
यान्त्यायान्ति पयांसि तत्र न पयोरेखापि दृष्टा क्वचित् ।
सज्ज्ञानेन मया विगाह्य तदहो दृष्टं नभो निर्मलम्,
नीलं नीलमिति प्रथैव नभसो मिथ्या नभोनीलिमा ॥१४॥

सायंकाल और प्रातःकाल वह आकाश अनेक रंग वाला दीखता तो है परन्तु वह वैसा होता नहीं है । उस आकाश में जल से भरे मेघमण्डल आते हैं, जाते हैं, परन्तु उसमें पानी की बूँद भी कहीं नहीं रहती । मैंने ज्ञानपूर्वक विचार कर उस

निर्मल आकाश के दर्शन किये हैं। उसे लोग नीला नीला कहते ही कहते हैं। उसका नीलापन तो सर्वथा झूठ ही है।

इसी प्रकार यद्यपि लौकिक दृष्टि में यह आत्मा साकार, सुखी, दुःखी, कामी, क्रोधी आदि ही क्यों न प्रतीत होता हो, परन्तु विवेकी लोगों की दृष्टि में तो आत्मा में कोई भी आकार या विकार नहीं होता है।

रूप्ये रूप्यमतिः कृता कृतधिया रङ्गे पुनर्दुर्धिया,
सत्यं द्वावपि संस्थितौ निजधिया स्वे निश्चये निश्चले।
एकस्यैव दरिद्रता व्यपगता तस्थौ द्वितीयस्तथा,
सञ्जाते क्रयविक्रयव्ययविधौ व्यक्तो विशेषस्तयोः॥१५॥

(मार्ग में कहीं चांदी और रांग पड़े थे दो यात्रियों में से) एक बुद्धिमान् यात्री ने चांदी को ही चांदी समझा (और उठा लिया) दूसरे भ्रान्तबुद्धि वाले यात्री ने रांग को ही चांदी समझा (और उठा लिया) अपनी अपनी समझ के अनुसार तो वे दोनों ही अपने निश्चल (अटूट) निश्चय में स्थिर हो गये। यद्यपि यह बात यथार्थ ही है, परन्तु उन का भेद तो तब खुला जब कि उन दोनों ने अपने अपने पाये हुए द्रव्य को क्रयविक्रय (खरीदना बेचना) तथा दानभोगरूपी व्यय करना चाहा। उन दोनों में से एक की (जिस ने चांदी को ही चांदी समझा था) तो दरिद्रता नष्ट हो गयी। दूसरा तो पहले जैसा ही दरिद्री बना रहा।

तात्पर्य यह है कि—जिस समझदार ने आत्मा को ही आत्मा समझा हो उस ज्ञानी का अज्ञान तथा अज्ञानजन्य सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। वह गुरुसेवा के रूप में उस का मूल्य दे कर दूसरों से ज्ञानग्रहणरूपी क्रय (ख़रीदारी) भी कर सकता है दूसरे

जिज्ञासुओं से सेवा के रूप में उसका मूल्य लेकर उनको ज्ञान-दानरूपी विक्रय (बेचना) भी कर सकता है। सेवा आदि की कुछ परवाह न करके ज्ञानप्राप्ति के लिये ग्रन्थरचना किंवा कथा करना रूपी दान भी कर सकता है। अपने ज्ञान की दृढता के लिये लोगों से ज्ञानवार्तारूपी भोग भी कर सकता है। परन्तु जो तो इन शरीर इन्द्रिय तथा मन आदि अनात्मपदार्थों को आत्मा समझ लेता है वह दुर्बुद्धि अज्ञानी कहाता है। जिस प्रकार रांग को चांदी समझने वाले की दरिद्रता नष्ट नहीं होती, इसी प्रकार उस का अज्ञान तथा अज्ञानजन्य दुःख कभी नष्ट नहीं होते। भाव यह है कि स्वाभिमत ज्ञान को दूसरे से लेने, दूसरों को ज्ञान का दान करने, तथा ज्ञान की दृढता के लिये विचार करने पर ज्ञानी और अज्ञानी का भेद प्रकट हो ही जाता है।

निम्ना नून मुदन्वतः स्थितिरियं कल्लोलिनी चेत्कृता
विक्षिप्तेन कुतश्चिदागतवता विन्ध्याटवीवायुना।
तत्किं नायमपांनिधिः किमथवा स्थानादसौ चालितः
किन्तु प्रत्युत तादृशोपि महिमा विख्यापितो वारिधेः ॥१६॥

समुद्र की स्थिति बड़ी ही गम्भीर होती है यदि कहीं से आया हुआ कोई विन्ध्याटवी का विक्षिप्त वायु उस गम्भीर अवस्था को बड़ी बड़ी तरङ्गों के रूप में परिवर्तित कर डाले तो क्या उन तरङ्गों के आजाने से वह समुद्र समुद्र नहीं रह जाता ? अथवा क्या वह समुद्र उस स्थान से कहीं अन्यत्र हट जाता है ? प्रत्युत उस वायु ने ही तो आकर समुद्र की उस अपार महिमा को जगत् में विख्यात कर डाला है।

यहां पर ध्वन्यार्थ यह है कि समुद्र के समान आनन्दरूपी जल से परिपूर्ण आत्मा की स्थिति बड़ी ही गम्भीर होती है। अज्ञान अथवा विक्षेपों से उस का आलोडन हो ही नहीं सकता। मोहरूपी विन्ध्यपर्वत के द्वैतरूपी जंगल में से उठ उठ कर आये हुए (जीवों के चित्त को वायु के समान चञ्चल करने वाले इस संसार के निर्वाहक) विक्षेपों ने, यदि उस आतमसमुद्र में शोकमोह जरा-मृत्यु, तथा भूखप्यासरूपी लहरें उठा भी डाली हों और आत्मा की गम्भीर स्थिति को भंग भी कर डाला हो, तो भी समुद्र में से जैसे समुद्रत्व नष्ट नहीं होजाता इसी प्रकार आत्मा का आत्मत्व बना ही रहता है। वह कभी भी नष्ट नहीं होता। समुद्र जिस प्रकार अपने स्थान से नहीं हटता इसी प्रकार आत्मा भी अपनी स्वाभाविक स्थिति से तिलमात्र भी विचलित नहीं होता है। प्रत्युत इस विक्षेप ने आकर तो, आत्मा का नाश न कर सकने के कारण तथा आत्मा को उस की स्वाभाविक स्थिति से विचलित न कर सकने के कारण, इसके महत्व को ही लोगों पर प्रकट कर दिया है कि—आत्मा की महिमा इतनी अपार है कि इस समस्त संसार के सकल व्यापारों के विद्यमान रहने पर भी आत्मा का आत्मत्व तथा स्वप्रतिष्ठितत्व मुझ से नष्ट नहीं हो सका है। तात्पर्य यह है कि संसार के सब विक्षेपों के विद्यमान रहने पर भी वे आत्मदर्शी के आत्मरूप की बाधा नहीं कर सकें, आत्मा को भुला नहीं सकें, ऐसी महत्वपूर्ण स्थिति को प्राप्त करने का उद्योग प्रत्येक साधक को कर डालना चाहिये।

माधुर्यं च पयस्त्वमाश्रितवता तुच्छे दधित्वाम्लते,
रूपे सम्प्रति बिभ्रता तु पयसा सर्वं यशो हारितम्।

ग्रैवेयत्व मथाङ्गदत्व मथ च क्षुद्रत्वमक्षुद्रतां,
पर्यायैर्भजतः स्वभामजहतो हेम्नस्तु नास्ति क्षतिः ॥१७॥

मधुरता तथा दुग्धता को धारण करने वाले दुग्ध ने तो अब उनके स्थान में अम्लता (खट्टापन) तथा दधिभाव को धारण करके अपनी सब कीर्ति को ही नष्ट कर डाला है। परन्तु जो सुवर्ण क्रम क्रम से कभी ग्रैवेय (कण्ठ का भूषण) होता है कभी अङ्गद (बाहु का भूषण) बनता है कभी हलका होता है तथा कभी भारी हो जाता है, तथापि वह किसी भी अवस्था में अपनी क्रान्ति को नहीं छोड़ रहा है। ऐसे उस सुवर्ण के स्वरूप की हानि कभी भी नहीं होती है।

जिस प्रकार दूध का परिणाम दही होता है इस प्रकार यदि इस जगत् को ब्रह्म का परिणाम माना जायगा तो जिस प्रकार दही का दूध नहीं बनता इसी प्रकार यह जीव फिर कभी भी ब्रह्मभाव को प्राप्त नहीं हो सकेगा और मोक्षरूपी परमपुरुषार्थ से सदा वञ्चित ही रह जायगा। इस जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर ब्रह्मनामक कोई वस्तु भी न रहेगी। इन सब कारणों से परिणामवाद को स्वीकार न करना चाहिये। सुवर्ण यद्यपि अनेक भूषणों का आकार धारण करता हुआ प्रतीत होता है, तो भी उसमें सुवर्णत्व बना ही रहता है। जिस प्रकार अलङ्कारों का लय हो जाने पर भी सुवर्ण में सुवर्णत्व सिद्ध ही रहता है, इसी प्रकार जगत और जीव के लय हो जाने (किंवा बने रहने) पर भी, ब्रह्म का ब्रह्मत्व कभी नष्ट नहीं होता। इस कारण से परिणामवाद पक्ष की अपेक्षा से विवर्तवाद ही न्याय-संगत है। उसी को ग्रहण करना चाहिये।

नहि नहि चतुरास्ते यैर्न बुद्धं विशुद्धं,
नहि नहि कृतिनस्ते ये न पारं प्रयाताः।
नहि नहि तु कुलीना यैर्न तत्त्वं विविक्तं,
नहि नहि मुनयस्ते यैर्धृता लोभवार्ता॥१८॥

वे किसी प्रकार भी चतुर नहीं हैं, जिन्हें विशुद्ध तत्त्व का ज्ञान नहीं है। वे कृतकृत्य नहीं हैं जो पार तक नहीं पहुँचे हैं। वे कुलीन नहीं कहा सकते, जिन्होंने तत्त्व का विवेक नहीं किया है। जिन पर अभी तक लोभ सवार है, वे लोग मुनि नहीं कहा सकते।

संसार के अज्ञानी लोग इन परिणामवादियों को भले ही चतुर समझते रहें। परन्तु तत्त्वदृष्टि से तो वे लोग चतुर नहीं होते। क्योंकि उन परिणामवादियों को परिणामरहित शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्म नामक तत्त्व का यथावत् ज्ञान नहीं होता। इस लिये उनका वह ज्ञान भ्रान्तज्ञान कहाता है। वे परिणामवादी लोग अपनी परिषद् में बैठकर अपने आपको कृतकृत्य मान लेने से कृतकृत्य नहीं हो सकते। क्योंकि संसाररूपी समुद्र के पार ब्रह्मनामक सदाशिवस्थान पर वे नहीं पहुँच सके हैं। इसलिये वेदान्त का श्रवणमननादि अभी तक उनके लिये कर्तव्य शेष चला ही जाता है। फिर भला वे कृतकृत्य क्योंकर हों? जिन परिणामवादियों ने अनारोपित आत्मतत्त्व को, इस आरोपित अनात्मरूप संसार में से, पृथक् करके नहीं पहचाना है, उनको कुलीन भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कुनामक ब्रह्म में लीन न होने से वे कुलीन नहीं कहा सकते। उनका कुलीनत्वाभिमान भी व्यर्थ ही है। उन परिणामवादियों को मुनि

कहना भी उचित नहीं होता क्योंकि विषयभोगों की इच्छा से वे द्वैत को छोड़ते हुए डरते हैं। इसीलिये उन्होंने परिणामवाद रूपी लोभ की बात को अङ्गीकार कर लिया है। मुनि लोगों को तो यथार्थब्रह्मज्ञान हो जाने के कारण विषयसुख की इच्छा ही नहीं रहती—वे तो ब्रह्मसुख से परिपूर्ण हुए रहते हैं। उनकी तो फिर द्वैत में रुचि ही नहीं रहती। इसीलिये वे परिणाम-वाद को स्वीकार नहीं करते।

हेऽहंकृते तव न कृत्यमिहास्ति किञ्चि-
छीना भव स्वमहिमन्यचलप्रतिष्ठे।
चेतस्त्वमेहि परमं स्वसुखाधिमन्तः
सोढुं न शक्नुम इमास्तव दुष्टवृत्तीः ॥१९॥

हे अहङ्कार! मुझ स्वयंप्रकाश आत्मा में तुम्हारा कुछ भी काम नहीं है अथवा मुझ मुमुक्षु को मोक्ष का साधन ज्ञात हो जाने पर अब तुम्हारा कुछ भी प्रयोजन नहीं रहा है इसलिये तुम मर्यादा से विचलित न होने वाली आत्मा की (ब्रह्मत्वरूपी) महिमा में ही लीन हो जाओ, (अर्थात् ब्रह्मरूपता को प्राप्त हो कर नष्ट हो जाओ। अथवा ब्रह्माकार ही बन जाओ।) हे मेरे मन! तुम भी अपने अन्दर के परमश्रेष्ठ आत्मसुखसमुद्र में घुस जाओ। हे चित्त! अब हम तुम्हारी विषयों से दूषित काम क्रोध आदि वृत्तियों को क्षमा नहीं कर सकेंगे।

हे मन! तुम्हारे विषयदूषित होने से ही अहङ्कार में बन्धकता आगयी है। तुम्हारे निर्मल होते ही यह हमारा अहङ्कार मुक्ति का कारण हो जायगा। उस अहङ्कार को भी तुमने हीं विकृत कर रक्खा है। मुझे बन्धन में रखने में उस

अहङ्कार का स्वतन्त्र अपराध कोई भी नहीं है। इसलिये तुम आनन्दसमुद्र में प्रविष्ट हो जाओ और मुझे आत्मानन्द का भोग कर लेने दो।

आयान्ति नैव सुत तत्र मनोविकारा
आयान्ति चेदिह विचारय जोषमास्यम्।
त्वं चापि मन्दमिह सञ्चर मुञ्च मोहं
सोहम्पदे सुखनिधौ यदि ते मनीषा ॥२०॥

हे पुत्र, उस आत्मा में मनोविकार आते ही नहीं, ऐसा तुम निश्चय कर रक्खो। यदि फिर भी मनोविकार न रुकें, तो चुप होकर विचार किया करो (कि यह कोई प्रारब्ध आया दीखता है इसी से यह मनोविकार विचार करने पर भी हट नहीं रहा है, यदि केवल मनोविकार होता तो हट जाता)। यदि सुख के समुद्र 'सोहं' पद की अभिलाषा हो तो ऐसे मनोविकारों के आने पर मन्द (धीरे से) अथवा उदासीन होकर (बेगारी की तरह) वर्ताव किया करो और मोह को तो पास भी मत फटकने दो।

धीरे से प्रवेश का अभिप्राय यह है कि विषयों में मन के पैर को डरते डरते रक्खो। उस मन के साथ मिल कर ऐसा व्यवहार किया करो कि प्रारब्ध कर्मों का भोग तो हो जाय परन्तु आगामी कर्मों का सञ्चय न हो सके। कर्मों को करते हुए उनमें उलझ मत जाओ। मोहत्याग का अभिप्राय यह है कि मोहत्याग आदि उपायों के बिना आत्मैक्य का साक्षात् अनुभव हो ही नहीं सकेगा।

तीव्रं तमः समय एष निशीथनामा
देशोपि चौरबहुलः शिथिला च भित्तिः।

इत्थं स्थिते निजधनं प्रति सावधानो
जागर्ति चेद्गृहपति र्विफला हि चौराः ॥२१॥

अन्धकार बड़ा ही गहन है अर्धरात्रि का समय है। इस देश में चोर भी बहुत से हैं। भित्ति भी कमजोर हैं। ऐसी विपरीत अवस्था के होने पर यदि घर का स्वामी अपने द्रव्य की रक्षा में सावधान होकर जागता रहेगा तो ये चोर अवश्य ही विफल-मनोरथ हो जायँगे।

ध्वन्यार्थ यह है कि हे शिष्य, यह प्रत्यक्ष दीखने वाला अज्ञान बड़ा ही गहन है। ज्ञानी लोगों की दृष्टि में यह अर्धरात्रि का समय हो रहा है। क्योंकि ये सम्पूर्ण जीव अज्ञाननिद्रा में सोये हुए ही सब लोकव्यवहारों को कर रहे हैं। व्यवहारिकज्ञानरूपी इस देश में, ज्ञानरूपी द्रव्य को चुराने वाले, इन्द्रियरूपी बहुत से चोर हैं। उन से ज्ञानरूपी धन की रक्षा करने के लिये यम-नियमादिसाधन, समाधि अवस्था नित्यानित्यवस्तुविचार तथा श्रवणमननादि रूप में बनायी हुई भित्ति भी अभी कुछ दृढ नहीं हो पायी है। ऐसी विपरीत परिस्थिति में, इस शरीररूपी गृह का स्वामी अथवा इन्द्रियरूपी गृहों का पालने वाला जीवात्मा, अपने सुखरूप आत्मधन की रक्षा के लिये, यदि सावधान बना रहे, अज्ञानरूपी नींद न लेने लग जाय तो आत्मधन को चुराने वाले इन्द्रियरूपी चोर चोरी करने में निष्फल हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियरूपी चोरों से स्वात्मारूपी धन की रक्षा के लिये साधकों को आत्मा के विषय में सदा सावधान रहना चाहिये।

भूपालकै र्निशितशस्त्रधरै रुदारै-
र्दुष्टं मृगं शमयितुं मृगया विधेया।

दुष्टो मृगो न निहतो निहतास्तदन्ये
व्यर्थस्य तत्क्षितिपते र्वद कः प्रभावः ॥२२॥

तीक्ष्ण शस्त्रों को धारण किये हुए उदार भूमिपतियों को उचित है कि हिंसक मृगों को मारने के लिये मृगया (शिकार-आखेट) किया करें (यह धर्मशास्त्र की आज्ञा है)। परन्तु किन्हीं मूर्ख भूमिपतियों ने उन दुष्ट मृगों को तो नष्ट नहीं किया किन्तु दीन हरिण शशादियों को मार डाला। निर्दोष प्राणियों को मारने वाले, व्यर्थ ही भूमिपति कहाने वाले उन राजाओं का क्या प्रभाव हो सकता है, यह तुम ही बताओ ?

प्रकृत तात्पर्य यह है कि जो अज्ञान तथा उस के कार्य इस जगत् की बाधा कर सकें जो जीवब्रह्मैक्यरूपी अर्थ को धारण कर सकें, जो जिज्ञासुओं को ज्ञानदान करने में बड़े ही उदार हों ऐसे भूपालकों अर्थात् मुमुक्षु जीवों को चाहिये कि विषय-वासनाओं से दूषित मनरूपी मृग को मारने के लिये ही वे मृगया करें अर्थात् संसार तथा जीवभाव को नष्ट करने के लिये नित्या-नित्य वस्तुओं का विवेक, इस और परलोक के भोगों से वैराग्य शमदमादि साधनों की संपत्ति तथा मुमुक्षुत्वरूपी चारों साधनों से युक्त हो कर, वेदान्त के श्रवण मनन तथा निदिध्यासन में लग जायँ। जिस जीव ने, संसार को पैदा करके दुःख देने वाले विषयवासनाओं से विदूषित, इस मनरूपी दुष्ट मृग को तो नष्ट नहीं किया, किन्तु चक्षु आदि दीन इन्द्रियों को रोक रोक कर शरीर को भूखा रख कर किंवा पञ्चाग्नि में तपा कर इन्हें निकम्मा कर डाला हो, मोक्षरूपी परमपुरुषार्थ से वञ्चित उस क्षेत्रपालरूपी जीव का क्या प्रभाव हो सकता है ? यह हम तुम से पूछते हैं।

तात्पर्य यह है कि मनोनिग्रह न होने पर इन्द्रियों का निग्रह करना व्यर्थ ही होता है । केवल इन्द्रियनिग्रही लोग मिथ्याचारी हैं। उन का यह निग्रह टिकाऊ नहीं होगा। ऐसे लोग विषयों को देखते ही फिसल पड़ेंगे ।

इष्टे नष्टे नश्वरे त्यक्तभोगः
सञ्जातालंप्रत्ययो वीतरागः ।
तां तां कक्षां स्वैरमभ्येति सूक्ष्मां
यां यामन्ये साधकाः साधयन्ति ॥२३॥

जो प्रिय वस्तु नष्ट हो गयी या जो नष्ट होने को है, उन सब में से भोगवासनाओं को निकाल कर 'बस अब मुझे तो कुछ भी नहीं चाहिये' इस प्रकार वीतराग हुआ पुरुष उन उन सूक्ष्म भूमिकाओं को अनायास ही पाता चला जाता है, जिन को कि दूसरे (अवैरागी) साधक बड़े यत्न से बहुत दिनों में सिद्ध कर पाते हैं ।

अपनी प्रीति के विषयों में से कुछ को भूत काल में नष्ट हुआ देख कर तथा कुछ को भविष्यत् में नाश के जबाड़े में कुचला जाने वाला समझ कर, उन में से सुखाभिलाषा को छोड़ कर, बड़ी दृढतापूर्वक आत्मतृप्त हो कर, जो महापुरुष वीतराग हो जाता है, वह मन और वाणी की अगम्य उस उस सूक्ष्म मोक्षभूमिकारूपी अवस्था को अपने पूर्ण वैराग्य के प्रभाव से अनायास ही प्राप्त होता जाता है, जिस को कि मोक्ष के साधनों में लगे हुए मन्द वैराग्य वाले अधिकारी किंवा हठयोगादि के साधन में लगे हुए मुमुक्षु बड़े प्रयत्न से सिद्ध करते हैं। तात्पर्य यह है कि मन को लय करने वाले ज्ञान को दृढ करने के लिये

विषयों से तीव्र वैराग्य ही मुख्य साधन होता है और कोई नहीं। वैराग्य पूर्ण हो तो साधक को ज्ञानभूमिकायें विना ही परिश्रम के प्राप्त होने लगें।

हृदि यदि सविचारा स्तर्हि सम्यक्प्रचारा
गतिमनुगतिभाजः केवलं दुःखभाजः।
परिकलय यदन्धै र्नीयमाना इवान्धा
युगपदपि समेता अन्धकूपे पतन्ति ॥२४॥

हे शिष्य (तीव्र वैराग्य न होने पर भी) यदि किसी के हृदय में विवेक बना रहता है तो उनको क्रम से मुक्तिरूपी उत्तम प्रचार (गति) प्राप्त हो ही जाता है। यदि तो वे भी दूसरों की गति (आचार) को देखकर अपनी गति (आचार) निश्चित कर लेते हैं तो उनको अत्यन्त क्लेश होता है (क्योंकि गतानुगतिक लोगों को केवल दुःख ही मिलता है।) उन गतानुगतिक पुरुषों को तो तुम ऐसा समझो जिस प्रकार कि अन्धों से ले जाये हुए अन्धे सब इकट्ठे होकर किसी गहरे कुएँ में गिर पड़ते हों (अर्थात् अविचारी लोग अन्धकूप के समान मोह में पड़ जाते हैं)।

तात्पर्य यह है कि तीव्र वैराग्य न होने पर भी जो लोग वेदान्तश्रवणादि में लगे रहते हैं, वे यदि सदा विचार ही करते रहें, तो उनको भी क्रम से मुक्ति के परमपद का लाभ हो सकता है। यदि वे लोग विचार को छोड़ दें तो उनका संसार का वन्धन कभी भी निवृत्त नहीं हो सकता। प्रत्युत विपरीताचरण करने से अनर्थ ही होता है।

एकः प्राह पठेति मां तदितरः प्राहाट दूराटवी-
मन्यः प्राह समेधयाग्निमपरः प्राहार्कमालोकय ।
खिष्टेप्सुं प्रति मां वचो गुरुजनै रुक्तं त्वमेवासि तत्
खिष्टासे मम घूर्णितेपि नयने अन्धा न पश्यन्त्यमी ॥२५॥

कोई (धर्मशास्त्री मेरे कल्याण के लिये) मुझ को पढ़ने के लिये कहता था, दूसरा (तीर्थचारी) तो मुझे दूर (धर्मारण्यादि में) भ्रमण करने की सम्मति देता था, तीसरा (कर्मकाण्डी श्रौत स्मार्त) अग्नि की सेवा करना बताता था तथा कोई (सूर्योपासक) सूर्यदर्शन के लिये कहता था। परन्तु इन सब के विपरीत आत्मविद्या के आचार्यों ने मोक्षरूपी पुरुषार्थ के अभिलाषी मुझ को यह बता दिया कि वह सर्वानुगत ब्रह्मचैतन्य तुम ही तो हो। उनके कहने से अपने इष्ट ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही मेरे नेत्रों में घूर्णन आगया है। (अब वे बाह्य संसार को देखना नहीं चाहते हैं, वे तो अब अन्तर्मुख हो गये हैं) उन मेरे घूर्णित नेत्रों को क्या ये ब्रह्मज्ञानहीन अन्धे लोग (जो कि मुझे पढ़ने आदि की सलाह देते हैं) नहीं देखते हैं ?

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार लौकिक जनों के कहने से मैंने अपने मोक्षमार्ग को नहीं छोड़ा इसी प्रकार अन्य मुमुक्षुओं को भी लोगों की भिन्न भिन्न सम्मतियों का अनादर करके आत्मचिन्तन में ही तत्पर रहना चाहिये।

येषां वज्रदृढं कपोलमथवा जिह्वा वितस्त्यायता
ख्यात्यर्थं कलहाय पुस्तकपिशाचानां कथा तिष्ठतु ।
मां पृच्छाच्छमते कथं विलसति ध्यानं कथं धारणा
को भावः स्वरसेन केन विधिना चेतः परे लीयते ॥२६॥

(वादिनिग्रह के लिये लौकिक शास्त्रों का अभ्यास करते करते) जिनके कपोल वज्र के समान दृढ हो गये हैं अथवा जिनकी जिह्वा बारह अंगुल लम्बी हो गयी है, अपनी ख्याति अथवा दूसरों से कलह करने के लिये उन पुस्तकों के पिशाचों की सी बातें रहने दो (अर्थात् वे झगड़े की बातें मुझ से मत पूछो)। हे निर्मल बुद्धि वाले ! मुझ से तो तुम यह पूछो कि ध्यान (ब्रह्मचिन्तन) किस प्रकार होता है ? ब्रह्म की धारणा कैसे की जाती है ? आत्मस्वरूप आनन्द से किस स्वरूप की प्राप्ति होती है ? तथा किस पद्धति से यह मन पर आत्मा में लीन हो जाता है ?

जिह्वे देवि, गृहाण मौनमधुना भूयस्त्वया जल्पितं
प्रत्यग्वस्तुनि निष्ठिता यदि मति स्तत्किं प्रलापास्तव।
स्वच्छन्दोपरमामृताब्धिलहरीलावण्यलग्ने हृदि
प्रायः कर्कशतां गतासि कुटिले तस्मान्न मे रोचसे ॥२७॥

हे जिह्वे देवि ! अब तो तुम मौन धारण करलो। तुम अब तक बहुत कुछ निरर्थक बोल चुकी हो। हे जिह्वे ! क्योंकि मेरी बुद्धि अब निर्विकार साक्षिचैतन्यरूपी ब्रह्म में निष्ठित (प्रीति-वाली) हो गयी है, इसलिये तुम्हारे व्यर्थ वचनों से अब हमें कुछ भी प्रयोजन नहीं रहा है। जब से मेरे चित्त में स्वभाव से उपरम आया है और उस अमृतसागर की ब्रह्माकारवृत्तिरूपी लहरें उठीं हैं, तब से उनके लावण्य में मेरा अन्तःकरण फँस गया है। तभी से हे कुटिले ! तुम कर्कश हो गयी हो और मुझे प्यारी नहीं लगती हो। इसलिये अब से लेकर तुम बहुत भाषण करना छोड़ दो।

तात्पर्य यह है कि जो कोई जीव मुक्ति के परम पद को प्राप्त करना चाहे तो वह अपने चित्त का निरोध करने के लिये सब से प्रथम वाणी का निरोध करे अर्थात् व्यर्थ बातें करना त्याग दे।

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमा
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिचयाः पुण्याः समस्ताः क्रियाः
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिगिरो वाराणसी मेदिनी
सर्वैव स्थितिरस्य मुक्तिपदवी दृष्टे परे ब्रह्मणि ॥२८॥

परब्रह्म का दर्शन कर लेने पर उस ब्रह्मदर्शी की व्यापक दृष्टि में यह सकल जगत् नन्दनवन, इस जगत् के सम्पूर्ण देह कल्पवृक्ष, सकल जलराशियां गङ्गाजल, सारी लौकिक वैदिक क्रियायें पुण्यकर्म, प्राकृत संस्कृत सारी वाणियें वेदवाक्य, तथा यह समस्त पृथिवी वाराणसी बन जाती है। कहाँ तक कहें इस ब्रह्मदर्शी की सब ही स्थिति (अवस्थायें) मोक्ष की पदवी हो जाती है।

ओतं प्रोतमिदं विचित्रमखिलं यस्मिञ्जगद्वर्तते
यत्रोदेति विलीयते पुनरिदं तोये तरङ्गादिवत्।
तच्चेतो मयि लीयते प्रतिदिनं मय्येव तज्जायते
मह्यं तर्हि वदन्तु हे लयविदः सोऽहं तु लीये क्व नु ॥२९॥

जल में तरंग की तरह यह सम्पूर्ण विचित्र जगत् जिस मन में ओत प्रोत हो रहा है, जिस मन के उत्पन्न हो जाने पर यह जगत् उत्पन्न हो जाता है, जिस मन के लीन हो जाने पर यह जगत् लीन हो जाता है (जगत् की उत्पत्ति तथा लय का आधार) वह चित्त भी प्रतिदिन किंवा प्रतिक्षण ही मुझ में लीन

होता और मुझ में से ही उत्पन्न होता रहता है। ऐसी परिस्थिति में हे लययोग जानने वाले लोगो! मैं भला किस में लीन हो जाऊँ यह मुझे बताओ। (तात्पर्य यह है कि लय का प्रतिपादक शास्त्र लय न होने वाले इस आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं करा सकता। उस शास्त्र का विचार तथा उसके प्रतिपादित साधनों में प्रयास, उन्मत्तचेष्टा के समान निष्फल होगा। क्योंकि उससे आत्मदर्शन नहीं हो सकेगा)।

बाला श्वश्रूजननियमिता देहलीदत्तदृष्टि-
र्दीर्घं चक्षुः किरति वदने यौवनालंकृतस्य।
युक्तस्यैवं न चलति ततो भ्रूतटे दत्तदृष्टे-
श्चेतोवृत्तिः स्फुरति पुरुषे मोक्षलक्ष्मीनिवासे ॥३०॥

श्वश्रू (आदि मान्य स्त्रियों) से नियमित की हुई कोई नवविवाहिता स्त्री जिस प्रकार लोगों की दृष्टि में नीचे भूमि पर दृष्टि लगाये रहने पर भी अपनी लम्बी दृष्टि को यौवन से सुशोभित अपने प्रियतम के मुख पर फैलाया (फेंका) करती है, इसी प्रकार भ्रू अर्थात् भौं में अथवा संकल्पविकल्प के सन्धिरूपी तट में अपनी दृष्टि (ज्ञान) को ठहरा ने (जमाने) वाले (अर्थात् संकल्पविकल्प से रहित होकर अपने ज्ञान को स्थिर करने वाले) युक्त पुरुष की चेतोवृत्ति मोक्षरूपी लक्ष्मी के निवासभवन परिपूर्ण ब्रह्म में ही सदा लगी रहती है।

ऐसा पुरुष चाहे तो संसार के व्यवहारों को करता रहे अथवा त्याग दे। उसको सदा ही आत्मस्फुरण बना रहता है। इसीलिये वह सदा ही समाधि अवस्था में रहता है। भ्रू के दूसरे अर्थ में भाव यह है कि एक संकल्प नष्ट हो चुका हो और दूसरा

अभी उत्पन्न न हो पाया हो यह अवस्था संकल्प और विकल्पों की सन्धि कहाती है—यदि कोई साधक इस सन्धि पर अड़-कर बैठ जाय—संकल्प विकल्पों को उदय न होने दे—इस अवस्था को बलात् ठहराये रहे और बीच बीच में सच्चिदानन्द तत्व की ओर को दृष्टि फेंकता रहे तो आत्माकारवृत्ति जाग उठती है। फिर इस वृत्ति को धीरे धीरे बढ़ाता चला जाय तो वही वृत्ति पकते पकते समाधि बन जाती है।

पर्यन्तै रहितस्य यस्य महती गम्भीरता तादृशी
मग्ना यत्र विभान्ति नोअगणिता ब्रह्माण्डमृत्पिण्डिकाः
यादृक्तस्य चिदर्णवस्य सुरसो यादृक्स्वरूपं महत्
तत्कस्मै कथयामि कस्य विषयः को वास्य वक्ता भवेत् ॥३१

(विद्वानों को प्रत्यक्ष दीखने वाले) जिस पर्यन्तरहित (अनन्त) चित्समुद्र की इतनी बड़ी गम्भीरता है कि उस चित्समुद्र में भूतकाल में जो अनन्त ब्रह्माण्डरूपी मिट्टी के ढेले समा गये हैं अब वे कहीं भी दीख नहीं पड़ते हैं। उस महान् चैतन्य समुद्र का जैसा कुछ सुरस (आनन्द) है अथवा जितना बड़ा आकार है चित्समुद्र के उस सुख और उस अनन्त स्वरूप को किस श्रोता से कहूँ? उस चित्समुद्र के रस और स्वरूप को किस शब्द से कहा अथवा सुना जा सकता है 'यतो वाचो निवर्तन्ते'। उस चित्समुद्र के रस और स्वरूप को कहने वाला भी कौन हो सकता है?

आख्यास्यामि रमावरस्य पुरतो गौरीवरस्याथवा
शब्दब्रह्ममयीवरस्य पुरत स्त्वन्यस्य कस्यापि न।
प्रह्लादप्रवणं प्रकाशपरमं सम्वेदितं सम्विदा
शान्ते चेतसि यत्कुतूहलमये निर्जिह्म मुज्जृम्भितम्॥३२॥

मेरे कुतूहलवाले शान्त चित्त में ज्ञान की महिमा से निःसन्दिग्ध, मायारूपी कपट से रहित, प्रकाशरूप होने से अत्यन्त श्रेष्ठ, प्रह्लाद से परिपूर्ण, जो ब्रह्मसुख, बड़े गौरवयुक्त रूप से प्रकाशित हुआ है, आत्मा का साक्षात् करने वाला मैं उस ब्रह्मसुख को या तो रमापति विष्णु के सामने निरूपण करूँगा अथवा गौरीपति महेश के सामने कहूँगा अथवा शब्दब्रह्ममयी गायत्री के पति ब्रह्मा के सामने वर्णन करूँगा, (क्योंकि अनुभवी लोगों के सामने कहने से ही मेरे आनन्द की वृद्धि होगी। उन विष्णु आदि महानुभावों को आत्मसुख का अनुभव है इस लिये उन्हीं के सामने आत्मानुभव से आने वाले सुख का निरूपण करना उचित होगा) जो तो आत्मा के अनुभव से रहित हैं जो अभी जीवभाव में फँसे हुए हैं उन किन्हीं भी सामान्य प्राणियों के सामने मैं उस आत्मानुभव का वर्णन नहीं करूँगा।

आत्मानुभव से हीन लोगों के सामने यदि आत्मानुभव के सुख का वर्णन किया जायगा तो वे प्रथम तो अपने संस्कारों के विपरीत बात सुनकर उसको सहन ही न कर सकेंगे और उस अद्वितीय सुख का परिहास भी करेंगे, अथवा उस अनुभवी से ईर्ष्या करने लगेंगे इत्यादि बहुत प्रकार के दुःखों को पैदा करके उससे दुःख की सृष्टि ही वृद्धि पा जायगी।

तृष्णाभिर्गलितं, क्षमाभिरुदितं, प्रज्ञाभिरुन्मीलितं
मोहैरस्तमितं, भ्रमैः प्रचलितं, द्वन्द्वैश्च दूरं गतम्।
बोधै रुल्लसितं, सुखैर्विलसितं, सम्मीलितं संशयैः
स्वं धाम स्फुरितं यदैव मुनिना निर्मायमालोकितम् ॥३३॥

क्षमाओं ने जन्माया था तो तृष्णाओं ने उसे मार डाला,

प्रज्ञाओं ने जगाया था तो मोहों ने उसे फिर सुला दिया, भ्रमों ने उसे हिला दिया, द्वन्द्वों ने उसे दूर भगा कर ही छोड़ा, बोधों ने विकसित किया था सुखों ने फैलाया था तो संशयों ने आकर उसे फिर ढक दिया (यों उस आत्मज्ञानरूपी बालक को किसी ने जीवित रहने ही नहीं दिया) परन्तु जब किसी मुनि ने अपने मायारहित आत्मा के दर्शन किये तो उस का अपना आत्मा सदा के लिये चमक उठा। (फिर उसे कोई दबा ही नहीं सका)

अथवा—ज्यों ही किसी मुनि ने मायारहित आमधाम के दर्शन किये त्यों ही उसकी तृष्णायें नष्ट हो गयीं, क्षमायें जागीं, प्रज्ञायें खिल उठीं, मोह मर गये, भ्रम भाग गये, द्वन्द्वों ने दूर जाकर दम लिया, वोध चमके, सुखों को होश आया और संशय तो सदा के लिये नष्ट ही हो गये।

जब तक माया विद्यमान रहती है तब तक कभी कभी आत्मा की प्रतीति हो तो जाती है परन्तु आत्मा का वह स्वरूप शुद्ध नहीं होता। क्योंकि वह कभी तो तृष्णा आदि प्रतिकूल वृत्तियों से ढक दिया जाता है तथा कभी क्षमा आदि अनुकूल वृत्तियों से उदित सा हो जाता है परन्तु जब कोई मुनि उस माया का निषेध (वाध) कर देता है तो उस को केवल शुद्ध आत्मा का दर्शन हो जाता है। उस माया के लय हो जाने के अनन्तर, प्रारब्ध कर्मों की प्रबलता से, तृष्णा क्षमा आदि प्रतिकूल अथवा अनुकूल वृत्तियों के उदित हो जाने पर भी, वह आत्मप्रकाश फिर कभी आच्छादित नहीं हो पाता। तात्पर्य यह है कि यदि कोई अकेली क्षमा, अकेले विवेक, केवल ज्ञान तथा केवल सुखाकारवृत्तियों से ही आत्मज्ञान को सिद्ध करना चाहेगा तो ऐसा आत्मज्ञान उन उन प्रतिकूल वृत्तियों से विनष्ट होता रहा

करेगा और कभी भी स्थिर नहीं हो सकेगा। इस लिये माया-रहित आत्मस्वरूप का ज्ञान ही सिद्ध करने योग्य ज्ञान है। उसी से कृतकृत्यता हो सकती है।

पूर्वं नाम किमन्तरं समभवद्यन्नेदमालोकितं
किंवा कारणमस्ति जातमधुना येनेदमालोक्यते।
इत्थं विस्मयवन्मनो हि विदुषां विज्ञाननिद्राघने
तत्रानन्दवने मुनीन्द्रसदने लीनं परब्रह्मणि ॥३४॥

पहले क्या भेद हो रहा था ? कि यह (आत्मा) दीखता नहीं था, अब कौन सा कारण हो गया ? कि वह दीखने लग पड़ा है, यों अचम्भे में पड़ा हुआ ज्ञानी का मन विज्ञान की गहरी नींद में डूबे हुए, आनन्द के वन, मुनीन्द्रों के शान्तिनिकेतन, ब्रह्म में जाकर लीन हो गया।

तात्पर्य यह है कि प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त हो जाने पर ज्ञानी लोगों का मन आत्मा के भान होने और न होने का कुछ भी कारण न पाकर आश्चर्य में पड़ कर ब्रह्म में लीन हो जाता है अर्थात् स्वयमेव नष्ट हो जाता है।

शुद्धे बोधे स्फुरति परितः क्षालिता वासनाङ्काः
क्षीणं चित्तं विरतिरुदिता कर्मपाशा विशीर्णाः।
भग्नो भेदः सुखमधिगतं कल्पना दूरमुक्ता
दृष्टे तत्त्वे करबदरवन्नास्ति कर्तव्यशेषः ॥३५॥

जब चारों ओर से शुद्धबोध चमकने लगा तो यह सब अपने आप ही हो गया कि वासनारूपी धब्बे छूटे, चित्त क्षीण हुआ, वैराग्य का उदय हुआ, कर्मबन्धन टूटे, भेद फूटा, सुख

मिला, कल्पना दूर रह गयी। हस्तामलक की तरह आत्मतत्त्व के दीख पड़ने पर पता चला कि अब तो कुछ भी कर्तव्य नहीं है।

जब कि मुझे शुद्धबोध (अर्थात् ज्ञानरूप आत्मा) की स्फूर्ति होने लगी तथा हाथ पर रक्खे हुए बेर के समान (सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्माभिन्न) प्रत्यगात्मा का साक्षात् अनुभव हो गया तो (प्राप्तव्य के प्राप्त हो जाने के कारण) अब मुझे कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा। बोध की स्फूर्ति से जब मुझे विषयों के मिथ्यापन का निश्चय हो गया तो उन विषयों के वासनारूपी चिन्ह भी स्वयमेव धुल गये। (यही कारण है कि मुझे वासनालय के साधनों के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रही)। मेरा चित्त क्षीण हो गया (यही कारण है कि मुझे मनोनाश के लिये योगादिकर्तव्यता नहीं रही)। वैराग्य भी स्वयमेव उत्पन्न हो गया (इसी कारण से विषयों से वैराग्य करना भी मुझे शेष नहीं रहा) मेरे कर्म-रूपी वन्धन भी स्वयमेव टूट गये (इसलिये कर्मपाश को हटाने वाले संन्यास आदि का ग्रहण भी मुझे शेष नहीं रहा)। भेद नष्ट हो गया (इस कारण द्वैत का निरास करना भी मुझे शेष नहीं रहा) सम्पूर्ण सुखों का निधान ब्रह्म नामक अलौकिक सुख मैंने प्राप्त कर लिया। आत्मा में अनात्मा (देह तथा इन्द्रियादि) की कल्पना को भी मैंने दूर छोड़ दिया। तात्पर्य यह है कि आत्म-ज्ञान हो जाने से अब मुझे कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा है और मैं कृतकृत्य हो गया हूं।

अथ नरहरिषट्कम्

नाम्नैव नो नरहरेर्हि विदीर्यतेऽसौ
दुष्टो हिरण्यकशिपुर्नितरां बलिष्ठः।

तस्मात्त्वया नृहरिरूपधरेण चित्त
मोहो हिरण्यकशिपुस्तु विदारणीयः ॥१॥

हे चित्त के साक्षी, यह पापी हिरण्यकशिपु बड़ा ही बलवान है यह नरहरिरूपधारी तुम्हारा नाम लेने मात्र से नष्ट नहीं होता है। तुम को उचित है कि नृसिंह का रूप धारण करके ही इस मोहक हिरण्यकशिपु दैत्य को मारो। (उस को मार कर अपने भक्त देवों की रक्षा करो)।

प्रकृत तात्पर्य यह है कि—केवल अपने आप को ब्रह्म कह लेने मात्र से ही किसी का अज्ञान नष्ट नहीं हो जाता किन्तु अपने में ब्रह्मत्व का संपादन करने से ही वह नष्ट होता है। इसलिये हे मेरे चित्त, तुम नरहरि का रूप धारण करके इस अज्ञान को नष्ट करो। इस प्रकार मुमुक्षु लोग अपने चित्त से प्रार्थना किया करें और उसे समझाया करें कि यह मोह बड़ा ही दुष्ट है, यह अपने वश में आये अज्ञानी जीवों को अत्यन्त दुःख देता है। यह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाले प्रत्यगात्मा में अनित्य अशुद्ध अज्ञानबद्ध तथा विकारी स्वभाव उत्पन्न करके सकल दोषों का कारण होने से सर्वदोषरूप हो रहा है। इस को हिरण्यकशिपु भी कहते हैं क्योंकि इस धृष्ट ने हिरण्य के समान प्रकाशबहुल आत्मचैतन्य को ही अपना कशिपु (शयन करने का गद्दा) बना लिया है। यह उसी को अपने नीचे दबा कर सोया करता है। यह आत्मचैतन्य में रह कर भी आत्मविस्मृतिरूपी नींद ले रहा है। यह बड़ा ही बलशाली है। यही कारण है कि नरहरि (मनुष्य ही ईश्वरतत्व है) इस कल्पित नाममात्र के ले लेने से वह नष्ट नहीं हो जाता है। इसलिये तुम्हें उचित है

कि नरहरि रूप धारण करके अर्थात् नृनामक जीव तथा हरिनामक आत्मा के अखण्ड एकरस चिन्मात्र रूप को धारण करके (अर्थात् प्रत्यगभिन्न ब्रह्म का पूर्णतया साक्षात्कार करके) इस हिरण्यकशिपु नामके अज्ञान को नष्ट करो। जिस ने कि आत्मविस्मरणरूपी निद्रा लेने के लिये आत्मचैतन्य को ही अपना बिस्तरा बना रक्खा है। निष्कर्ष यह हुआ कि अपने ब्रह्माभिन्न आत्मा का पूर्ण साक्षात्कार कर लेने पर ही अज्ञान नष्ट होता है। केवल 'अहं ब्रह्मास्मि' रट लेने मात्र से किसी का अज्ञान नष्ट नहीं होता। वह तो समाधि का पूर्ण परिपाक होने पर ही नष्ट होता है। समाधि के परिपाक से उत्पन्न हुआ साक्षात्कार (ज्ञान) ही अज्ञान और अज्ञानजन्य संसार को नष्ट करने में समर्थ है।

इन्द्रस्य राज्यमपि सम्प्रतिलभ्य लुब्ध-
स्तृष्णामयो निजरिपु र्न जगाम तृप्तिम्।
अस्याधुना प्रलय एव हितं ममेति
प्रज्ञात्मना नृहरिणा प्रलयं प्रणीतः ॥२॥

तृष्णाओं से भरा हुआ लोभी हिरण्यकशिपु नाम का अपना (इन्द्र अथवा प्रह्लाद का) रिपु इन्द्र के राज्य को पाकर भी अभी तक तृप्त नहीं हुआ है। अतः अब तो इस असन्तोषी का सर्वथा नाश कर देना ही मुझे सुखदायक होगा (तभी मेरे भक्त सुख चैन से बैठ सकेंगे) यह विचार कर ज्ञानस्वरूप हरि ने उस हिरण्यकशिपु को मार डाला।

प्रकृत तात्पर्य यह है कि लोभी तथा तृष्णाओं से भरा हुआ आत्मा के सच्चिदानन्दादि गुणों को छिपा लेने वाला यह मोह

इन्द्र नाम वाले मुझ चिन्मात्र आत्मा के (आत्मत्वरूपी) राज्य को (विषयप्राप्ति आदि के समय) प्राप्त करके भी अभी तक (निरंकुश) तृप्ति को प्राप्त नहीं कर सका है (यह अभी तक ज्यों का त्यों असन्तुष्ट ही बना हुआ है) इस असन्तोषी मोह का तो नाश ही अब मेरे लिये हितकारी है। इस मोह के नष्ट होने से ही मुझ में ब्रह्मत्व की स्फूर्ति हो सकेगी। यही सब निश्चय करके प्रज्ञात्मा (ब्रह्मात्मस्वरूप) मुझ नृहरि ने (जो कि यद्यपि लोकदृष्टि के अनुसार जीव ही है परन्तु परमार्थ दृष्टि से जो साक्षात् हरिरूप हो गया है, उभयरूप धारण करके) मोहरूपी शत्रु को नष्ट कर डाला। निष्कर्ष यह हुआ कि अन्य मुमुक्षु लोग भी जब तक मेरे ही समान मोह को नष्ट नहीं करेंगे तब तक उन्हें सच्चे स्वात्मसुख की प्राप्ति हो ही नहीं सकेगी।

वक्षो हिरण्यकशिपोः किल वज्रसारं
शस्त्राणि तत्र सकलान्यपि कुण्ठितानि।
तादृक् पुनस्तव नखै र्नृहरे विदीर्ण-
मत्यद्भुतो भवत एष नखप्रभावः ॥२॥

हिरण्यकशिपु नामक दैत्य का वक्षःस्थल वज्रसार (के समान बड़ा ही दृढ) है जिस पर प्रहार करने पर वज्र आदि सम्पूर्ण हथियार कुण्ठित हो जाते हैं। हे नृहरे! उतना कठोर भी वह उस का वक्षःस्थल तुम्हारे नखों से विदीर्ण हो गया है। इस महत्वपूर्ण विजय को प्राप्त करने से तुम्हारे नखों का प्रभाव अति ही आश्चर्यरूप है।

प्रकृत परमार्थ यह है कि—हे नृहरे! हिरण्यकशिपु नामक मोह का (सत् असत् किंवा द्वैत अद्वैत का अन्योन्याध्यासरूपी)

वक्षःस्थल वज्र से भी कठोर हो गया है। हितोपदेश देने वाले सम्पूर्ण शास्त्र इसी अन्योन्याध्यासरूपी वक्षःस्थल पर टकरा टकरा कर कुण्ठित हो चुके हैं । उन के उपदेश का लोगों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता—वे भी इस अध्यास का निवारण नहीं कर सके हैं। हे नृहरे ! हे अद्वैतरूप गुरुदेव ! उतना कठोर भी वह मोहरूपी वक्षःस्थल तुम्हारे अद्वैतात्मबोधक नखरूपी वाक्यों के प्रहार से समूल नष्ट हो चुका है। 'सत् अद्वैत तथा अनृत द्वैत के अन्योन्यारोपरूपी वक्षःस्थल को विदीर्ण कर डालना' यह तुम्हारे नखरूपी केवल सन्मात्रबोधक वाक्यों में एक अति ही अद्भुत प्रभाव भरा हुआ है ।

अध्यात्मदृष्टि हृदयं हृदयाग्रसंस्थं
तेजोमयोऽरिमनयन्नृहरि स्तमस्तम् ।
कष्टं समस्तमपि नष्टदशां प्रयातं
प्रह्लाद एव परमं महिमानमाप ॥४॥

नरहरि का हृदय अध्यात्मदृष्टि है (आत्मा में अध्यस्त समस्त अहङ्कारादि को उस से जाना जा सकता है।) तेजोमय नृसिंह ने अपने हृदयाग्र में स्थित हुए (हिरण्यकशिपु नाम के) शत्रु को अस्त कर दिया। उस के नष्ट होते ही वैसे तो सम्पूर्ण संसार का ही कष्ट नष्ट हुआ परन्तु उस के नष्ट होने से परम महिमा तो केवल प्रह्लाद को ही प्राप्त हुई (जिस से कि वह सुरासुरों का पूज्य हो गया) ।

परमार्थ यह है कि—स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप मनुष्यशरीरधारी ब्रह्म (अर्थात मेरे गुरुदेव) ने आत्मज्ञानरूपी हृदय में ठहरे हुए मोहनामक शत्रु को (जिस ने कि अभी तक मेरे असङ्गत्व आदि

गुणों का आच्छादन कर रक्खा था) सर्वथा नष्ट कर डाला। उस से यह फल हुआ कि तभी से सकल संसार के ही सकल क्लेश नाश को प्राप्त हो गये। परन्तु सब से वड़ा लाभ तो प्रह्लाद नाम के विद्यानन्द को ही प्राप्त हुआ (कि वह अपरिच्छिन्न ब्रह्मरूपतारूपी महिमा को प्राप्त हो गया)। मोह के नष्ट हो जाने पर प्रथम तो तीनों प्रकार के ताप नष्ट हुए उस के पश्चात् तो जब कि विद्यानन्द की भी विद्यारूपी उपाधि हटी तो ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो गयी। इस प्रकार अनिष्टनिवृत्ति तथा इष्टप्राप्तिरूपी दोनों प्रकार के ही प्रयोजन सिद्ध हो गये।

नान्तस्तु नापि च बहिर्न दिवा न रात्रौ
नार्द्रेण शुष्कवपुषा च न मार्यते यः।
नायं नरेण न मृगेण निपातनीय-
स्तादृग्रिपुं नरहरि र्हतवान् विचित्रम् ॥५॥

(ब्रह्मा के वरदान के प्रभाव से) जो हिरण्यकशिपु घर के अन्दर या बाहर रात अथवा दिन में गीले अथवा सूखे आयुध की सहायता से नहीं मारा जाता था, जो न मनुष्य से ही मार खाता था और न वराह आदि मृग से ही मरता था। (वरदान के बल के कारण उत्पन्न हुई इसी असमञ्जसता के कारण नृसिंह का अकल्पित रूप धारण करके) नरहरि ने ऐसे अवध्य रिपु को भी मार डाला, यह अद्भुत पराक्रम नरहरि का ही है।

जो मोह अन्दर ध्यान धारणा तथा समाधि नामक उपायों से भी नष्ट नहीं होता (क्योंकि ये ध्यान धारणादि भी तो मोह से ही उत्पन्न होते हैं)। जिस मोह का नाश बाहर के वर्णाश्रम धर्मों के अनुष्ठान से नहीं हो सकता (क्योंकि ये वर्णाश्रमादि भेद

भी मोह के कारण ही उत्पन्न हो जाते हैं)। लोकव्यवहार करते हुए दिन के समय में भी जिस मोह का नाश नहीं हो सकता, तथा मूढ समाधिरूपी रात्रि में भी (जब कि संसार के समस्त व्यवहार बन्द हो जाते हैं) जो नष्ट नहीं होता, प्रेम-युक्त उपासनारूपी आर्द्र उपायों से भी जो विलीन नहीं होता (क्योंकि वह प्रेम भी तो मोह से ही उत्पन्न होता है) तथा प्रेमहीन केवल शुष्कज्ञान से भी जिस मोह का मूलोच्छेद नहीं हो पाता (क्योंकि आत्मप्रेमहीन शुष्कज्ञानी को विषय-भोगों में प्रेम बना रहता है, इसीलिये उसका ज्ञान दृढ नहीं हो पाता)। इसी कारण से यह माना गया है कि प्रेम तथा ज्ञान दोनों का संयोग होने पर ही मोह की निवृत्ति हो सकती है। इस मोह नामक शत्रु को केवल वैराग्यशील नर भी नहीं मार सकते क्योंकि प्रारब्ध कर्मों के शेष रहने से केवल वैराग्य-शील पुरुष को विक्षेप होते ही रहेंगे। अतः केवल वैराग्य से मोह की निवृत्ति असम्भव है तथा केवल विषयासक्त मनुष्यरूपी मृग से भी यह मोहरूपी शत्रु मार नहीं खाता। क्योंकि विषया-सक्त मनुष्य को तो सदा ही विक्षेप बने रहते हैं। इसलिये साधारण जीव भी इस मोह को नष्ट नहीं कर सकते। परन्तु नरहरि ने (जो कि लौकिक दृष्टि से व्यवहारासक्त दीखने के कारण यद्यपि मनुष्य ही है परन्तु परमार्थदृष्टि से सम्पूर्ण द्वैत को भस्म करने वाला ब्रह्म ही होता है) जीव तथा ब्रह्म का उभयरूप धारण करके (जिस उभयरूप को धारण करने के प्रभाव से व्यवहार तथा समाधि दोनों ही साथ साथ चलते रहते हैं, जिसमें भक्ति तथा ज्ञान दोनों ही एकत्रित हो जाते हैं)

कठिनता से मरने योग्य मोहनामक शत्रु को मार डाला। नरहरि ने यह एक बड़ा ही अद्भुत पराक्रम किया है।

सर्वत्रैव सदा स्थितो नरहरि र्यत्स्थावरे जङ्गमे
दैवाद्व्यक्तिमुपागतः पुनरसौ पाषाणपिण्डेपि यत्।
नास्तित्वं गमितो हिरण्यकशिपु स्तादृक्प्रपञ्चाश्रयः
तत्सर्वं किल कौतुकं निजजनप्रह्लादहेतोः कृतम् ॥६॥

वह नरहरि क्या स्थावर क्या जंगम सभी जगह स्थित है, फिर भी वह दैवयोग से पत्थर के खम्भे में ही प्रकट हुआ और वैसे प्रपंची हिरण्यकशिपु को उसने मारा, यह सब कौतुक उसने अपने भक्त प्रह्लाद के कारण ही तो किया।

जीव तथा ब्रह्म के उभयरूप को धारण करने वाला आत्मा सामान्यरूप से सब वृत्तियों में सदा ही स्थित रहता है। परन्तु फिर भी "ब्रह्माहमस्मि—मैं ब्रह्म हूँ" इसी वृत्ति में जो कि विशेषतया प्रकट होता है, उसका कारण तो यह है कि वह हिरण्यकशिपुरूपी मोह (जिससे कि आत्मविस्मृतिरूपी निद्रा आजाती है) नास्तिक होगया था जिससे कि वह 'मेरे और इस जगत् के सिवाय और कोई सत्ता है ही नहीं' ऐसा निश्चय कर बैठा था तथा प्रप्रंच में इस प्रकार लिप्त हो गया था कि किसी प्रकार भी इस आत्मतत्व की प्रतीति न हो सकी थी। परन्तु जीव तथा ब्रह्म के उभयरूप को धारण करने वाला वह नृहरि, श्रवणमननादि से उत्पन्न हुए अदृष्ट संस्कारों के कारण, पाषाणपिण्ड के समान अत्यन्त जडरूप इस मोह से उत्पन्न हुई 'अहं ब्रह्मास्मि' इस साक्षात्काररूपी वृत्ति में ही व्यक्त हो उठा। उसने यह सब कौतुक अपने से उत्पन्न हुए विद्यानन्द

के लिए ही किया। अथवा यह जानलो कि ब्रह्मानन्द को व्यक्त करने वाले विद्यानन्द के लिये ही यह सब कुछ किया गया। गूढ़ तात्पर्य यह है कि प्रेमरूप वृत्ति में जब आत्मा व्यक्त होने लगता है तो आनन्द की स्वभाव से ही अधिकता हो जाती है। दूसरी वृत्तियों में तो वह आत्मा अपने सच्चित्‌रूप से ही प्रकट होता है। उन साधारण वृत्तियों में आनन्द का आविर्भाव कभी नहीं होता। यही कारण है ब्रह्माकारवृत्ति में ही आत्म-देव व्यक्त हुआ करता है।

जित्वेन्द्रियरिपुषट्कं हृदि गायति वारषट्कं चेत्।
एतन्नरहरिषट्कं विकारषट्कं निवारयति ॥७॥

हे तात, पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन इन छओं इन्द्रियों को नियम में रखकर, इस नरहरिषट्क नाम के प्रकरण को (जिस में कि जीव तथा ब्रह्म उभयरूपधारी चिदात्मा की लीला का वर्णन है) कोई अधिकारी विचारपूर्वक छ वार भी यदि अपने (एकान्त) हृदय में पढ़ ले तो (भूख, प्यास, शोक, मोह तथा जरामृत्यु नामक) छओं विकारों अथवा (जायते अस्ति आदि छओं) परिणामों को सर्वथा निवृत्त कर देगा।

अथोन्मत्तप्रलापशतकम्

(पागल की सौ बड़)

इस प्रकरण को पढ़ने से विद्वत्समाज का विनोद होगा, मूर्खों को यह उल्टासा जँचेगा, ज्ञानावस्था पकने पर उन्मनी की मस्ती में निकले हुए ये वचन उन्मत्त के से लगेंगे, परन्तु गम्भीर विचार करते ही इनका गूढ अर्थ समझ में आजायगा।

शुद्धबोधसुधास्वादी प्रलपामि प्रमत्तवत् ।
तत्प्रलापनिगूढार्थं शोधयन्तु सतां धियः ॥१॥

हे शिष्य, शुद्ध (चिन्मात्ररूप) आत्मबोधरूपी सुधा (अमृत) का परमास्वाद लेने वाला मैं (साधारण दृष्टि में तो) पागलों की तरह बकना प्रारम्भ करता हूँ। परन्तु इस प्रलाप में जो गम्भीर विचार छिपे हैं, मुमुक्षु लोगों की बुद्धियें उन गम्भीर विचारों को खोज निकालें। (श्रद्धा आदि से युक्त मुमुक्षु लोग ही इस प्रकरण को सुनने के अधिकारी हैं दूसरों के लिये इस में कुछ भी नहीं है)।

कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहश्च मदमत्सरौ ।
संसारतारका यद्वत्तथा तद्विवृतिं शृणु ॥२॥

काम, क्रोध (काम के रुकने पर उसी का रूपान्तर) लोभ (प्राप्त विषयों से तृप्ति न होना) मोह (पूर्वापरविस्मरण) मद तथा मत्सर ये छओं दोष (यद्यपि मोक्षशास्त्रों के कथनानुसार मोक्ष के विरोधी हैं परन्तु ये भी) जिस रीति से मुमुक्षु को संसार से पार कर देते हैं, उसका विवरण हम (ज्ञानोन्मत्तों) से सुन लीजिये ।

विश्रान्तिसुन्दरीसंगरतिलावण्यलम्पटाः ।
एकान्तलीलाचतुराः कामिनो मुक्तिगामिनः ॥३॥

विश्रान्ति नाम की सुन्दरी के संग के, उसकी रति तथा उसी के लावण्य के लम्पट कामी लोग जब उसके साथ एकान्त-लीला करने में प्रवीण हो जाते हैं तो वे मुक्तिनगरी में पहुँच जाते हैं, यह आश्चर्य देखो।

अनादिकाल से संसारारण्य में भटकते हुए इस जीव को जिस ब्रह्माकारवृत्तिरूपी स्त्री के मिलजाने (किंवा ब्रह्माकारवृत्ति के उदय हो जाने) पर समस्त विक्षेपों से रहित परमानन्दरूपी विश्राम प्राप्त हो जाता है, तीनों तापों को निवृत्त करने वाली, सुखदस्पर्शरूपिणी, उसी विश्रान्तिरूपी सुन्दरी के साथ संग करने, उसी के साथ रमण करने तथा उसी के लावण्य पर मोहित होने वाले कोई जीव जब एकान्त (विजनदेश किंवा ब्रह्म) में ही समाधिरूपी लीला करने में परम चतुर हो जाते हैं, तो ऐसे कामी लोग भी मुक्ति के परमपद को प्राप्त कर लेते हैं।

यद्बलान्मोहदैत्यस्य योगी नरहरिः स्वयम् ।
वक्षो विदारयाञ्चक्रे स क्रोधो मुक्तिसाधनम् ॥४॥

योगीरूपी नरहरि ने स्वयं जिस (क्रोध) के बल से मोह-रूपी दैत्य का वक्षःस्थल विदीर्ण कर डाला था ऐसा क्रोध भी मुक्ति का साधन हो जाता है ।

योगी को नरहरि कहने का तात्पर्य यह है कि वह व्यवहार-दृष्टि से तो वैराग्यादियुक्त नर ही दीखता है परन्तु परमार्थ में वह सब प्रकार के द्वैत को हरण करने वाला हरिरूप ब्रह्म ही हो जाता है । सात्विक क्रोध में आकर योगी लोग नरहरि बनकर मूलाज्ञानरूपी मोह के चिज्जडग्रन्थिनामक वक्षःस्थल को छिन्न भिन्न कर डालते हैं। ऐसे क्रोध से भी तो मुक्ति का परमपद हाथ आ ही जाता है ।

भ्रुकुटीकुटिलं यस्य मुखमीक्षितुमक्षमाः ।
कामलोभादयो भावाः स द्वेषी केशवप्रियः ॥५॥

काम तथा लोभ आदि भाव जिस ज्ञानी के, भ्रुकुटी के कारण कुटिल से प्रतीत होने वाले चित्तरूपी मुख को देख भी नहीं सकते, ऐसे 'द्वेषी' ज्ञानी को भी परमात्मा प्यार करता है।

वह ज्ञानी जब काम क्रोधादि की ओर को कुटिल दृष्टि से देखता है तो उसका सात्विक रोष कामादियों से सहा नहीं जाता। वे उतने से ही मर जाते हैं।

शाश्वते सुप्रसन्नानां नश्वरे भ्रुकुटीभृताम्।
रागद्वेषवतां तात मुक्तिः करतले स्थिता ॥६॥

शाश्वत ब्रह्म में ही जो लोग सुप्रसन्न रहते हैं—केवल उसी में परम राग रखते हैं—तथा इस नश्वर संसारजाल की ओर को जो सदा ही क्रोधभरी भौंएँ चढ़ाकर द्वेषपूर्वक देखते रहते हैं ऐसे रागी और ऐसे द्वेषियों की हथेली पर भी मुक्ति बैठी रहती है। (वे लोग और भी जिस किसी को मुक्ति देना चाहें उसे भी दे सकते हैं)।

मनःकाचमणिं दत्त्वा ज्ञानचिन्तामणिं मुनिः।
क्रीणाति येन लोभेन स लोभो मुक्तिसाधनम् ॥७॥

जिस लोभ के वश में आकर यह मुनि, मनरूपी अपनी काचमणि को देकर उसके बदले में ज्ञानरूपी अमूल्य चिन्तामणि बदल लेता है ऐसा लोभ भी तो मुक्ति का साधन हो जाता है।

अब भी यदि कोई साधक ज्ञान के लोभ में मन को खो दे तो उसे मुक्ति का साधन ज्ञान प्राप्त होकर ही रहे।

येन वर्णाश्रमाचारदेहभोगधनादिकम्।
विसरन्ति चितः प्रेम्णा स मोहः परमं पदम् ॥८॥

जिस चैतन्य के प्रेम में मतवाले होकर ज्ञानी लोग वर्णों, आश्रमों, इनके आचारों, देहों, भोगों, धनों तथा हाथी, घोड़े राज्य आदि तक को भूल जाते हैं ऐसा वह अद्भुत मोह (अज्ञान, विस्मरण) ही परमपद (आत्मस्वरूप में सच्ची स्थिति) कहाता है।

जब किसी को चैतन्य का प्रेम उदय हो जाता है तो उसका स्वाभाविक परिणाम यही होता है कि वह वर्णाश्रमादि की खट-पट को एकपदे भूल जाता है। इस भूल को ही परमपद या शुद्ध आत्मस्थिति जान लो।

मत्तो नान्यत्परं किञ्चिदहमेव महेश्वरः।
अहमेवोत्तमश्चेति मदो मुक्तिप्रदो मतः ॥९॥

मेरे सिवाय और कोई भी श्रेष्ठ पद नहीं है। सकल जगत् का साक्षी वह महेश्वर तत्व भी तो मैं ही हूँ। सारांश में मैं ही सर्वोत्तम हूँ। ऐसे अलौकिक मद को भी तो (मुनि लोग) मुक्तिदायक मानते हैं।

दृश्योत्कर्षं न सहते ज्ञानोत्कर्षबलात्तु यः।
स तु सम्वत्सरशतं ज्येष्ठो निर्मत्सरान्मुनेः ॥१०॥

जो आत्मदर्शी ज्ञानी ज्ञान की महिमा का आश्रय लेकर इस दृश्य जगत् के उत्कर्ष (अधिकता) को कभी सहता ही नहीं, ऐसे उस असहनशील ज्ञानी को निर्मत्सर (सहनशील) मुनियों से सैकड़ों वर्ष बड़ा समझलो।

क्षणं न क्षमते यस्तु बाह्यस्फुरणमक्षमी।
तद्वामचरणाङ्गुष्ठे निबद्धाः क्षमिणां गुणाः ॥११॥

जो अक्षमाशील ज्ञानी बाह्य (घटादि दृश्य) पदार्थों के स्फुरण को क्षण भर के लिये भी सहन नहीं कर सकता (बाह्य-

स्फूर्ति की जगह जिसको सदा ही आत्मस्फूर्ति बनी रहती है) उसकी महिमा को कहां तक कहें, लौकिक क्षमी लोगों के सम्पूर्ण गुण उस अक्षमी ज्ञानी के बायें पैर के अँगूठे में निवास किये रहते हैं।

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इस श्रुति के अनुसार बाह्य दृश्यों का अक्षमी वह ज्ञानी साक्षात् ब्रह्म ही हो चुका है। उसके जगदारोपाधिष्ठान तथा जगदपवादाधिष्ठानरूपी दो कल्पित पाद कहाते हैं। वामचरण जगदारोप का अधिष्ठान कहाता है उसी वामचरण से यहां अभिप्राय है। योग ही उस वामचरण का अंगुष्ठ माना गया है। क्षमा तथा क्षमा के साथी अन्य वैरत्याग आदि गुणों के होने से योग में ही अनुकूलता आती है। इन लौकिक क्षमी लोगों के गुणों को ज्ञानी के वामचरणाङ्गुष्ठ में बँधा हुआ माना है। अर्थात् उस ज्ञानी की दृष्टि में क्षमी लोगों के गुण कुछ भी मान्य वस्तु नहीं होते।

कामादयो महाधूर्ता धूर्तितं यैर्जगत्त्रयम्।
तान् धूर्तयति यो युक्त्या स धूर्तो धूर्जटिप्रियः ॥१२॥

काम क्रोधादि बड़े ही धूर्त हैं यह बात जगज्जाहिर है क्यों कि इन्होंने तीनों लोकों को ठग रक्खा है, परन्तु जो ज्ञानी युक्ति से इन महाधूर्तों को चकमा देदे ऐसा धूर्त ज्ञानी धूर्जटि शिव को बड़ा प्यारा लगता है।

इन कामादियों को ठगने की ज्ञानी की युक्ति तो यह है कि पहले इन्हें जगत् की विरसता दिखायी जाय, उसके अनन्तर मनोनिरोधनामक योग की युक्ति लड़ाई जाय तथा अन्त में तो विषयों की असत्ता का निश्चय करा दिया जाय।

यो लालयति लोभादी नन्तर्मूलानि कृन्तति ।
बहिरन्योऽन्य एवान्त र्मुक्तिमेति कपट्यसौ ॥१३॥

जो ज्ञानी महात्मा व्यवहारदृष्टि से तो लोभादि विकारों को पालता रहता है परन्तु अन्दर तो (आत्मानात्मविवेकरूपी पैनी छुरी से) इन लोभादियों की जड़ों (अज्ञान तथा अज्ञान के आश्रय पर रहने वाली काम्यपदार्थों की वासनाओं) को काटता रहता है । इस प्रकार अन्दर बाहर दो तरह का वह कपटी मुनि भी मुक्ति को पा लेता है ।

ऐसा ज्ञानी देखने में तो कामादि विकारों में फँसा हुआ प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः वह उन से सर्वथा पृथक् रहता है। गृहस्थी तत्वज्ञानी इसी श्रेणी में गिने जाते हैं ।

गुणात्मकेषु सर्वेषु दोषमेवान्तरात्मनः ।
कर्णे जपति यो नित्यं पिशुनोऽसौ विमुक्तिभाक् ॥१४॥

जो ज्ञानीरूपी पिशुन (चुग़लख़ोर) इन त्रिगुणात्मक भावों के दोष ही दोष अन्तरात्मा के कानों में कहता रहता है (जो इन सांसारिक पदार्थों के अनित्यता दुःखदायित्व तथा स्वबन्धकत्व आदि दोष ही सदा आत्मा को सुझाता रहता है) ऐसा वह पिशुन भी विदहमुक्ति के परमपद को पा जाता है ।

परापवाद एवास्ति हृदये यस्य सर्वदा ।
परां गतिं गतो दृष्टः स मया मुनिशेखरः ॥१५॥

जिस ज्ञानी के हृदय में पर (अज्ञान तथा अज्ञान से उत्पन्न हुए इस जगत्) का अपवाद (निषेध-मिथ्यात्वनिश्चय) ही सदा बना रहता है ऐसे उस परनिन्दक मुनिशेखर को मैंने उत्कृष्ट गति को पाये हुए देखा है ।

मिथ्यैवेदं जगत्सर्वमिति निश्चयचेतसाम् ।
स मिथ्यावादिनां लोको दुर्लभः सत्यवादिनः ॥१६॥

यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है । ऐसा निश्चय जिन के चित्तों में हो गया है (जो दूसरों को भी इस मिथ्यावाद का उपदेश देते रहते हैं) उन (लोकोत्तर मिथ्यावादियों) को जो (बोधरूपी) लोक मिलता है वह इन लौकिक क्षुद्रसत्यवक्ताओं को कभी भी हाथ नहीं आता ।

नैव किञ्चित्करोमीति यः सदाचारवर्जितः ।
आचारिणो न गच्छन्ति तस्यानाचारिणो गतिम् ॥१७॥

जो महापुरुष यह कह उठे कि ओहो ! मैं तो कुछ भी कभी नहीं करता हूँ, जो इस परमार्थ के ज्ञात हो जाने पर सदा के लिये आचार से रहित हो जाता है (अपने कर्तृत्व को बाधित समझने लगत है) ऐसे उस आचारहीन मुंनि को जो सद्गति मिलती है वह गति आचारी लोगों को (तो सुपने में भी) नसीब नहीं होती ।

पूर्वं यानि च मित्राणि विचारादीनि तान्यपि ।
विहाय तत्परं यातो मित्रद्रोही स मुच्यते ॥१८॥

जो विचार आदि पहले जिज्ञासुकाल में मित्र की तरह उपकारी हो रहे थे उन सब को निराश्रय छोड़ कर जो मित्रद्रोही ज्ञानी अकेला ही परमपद को चला जाता है ऐसा मित्रद्रोही भी मुक्त हो जाता है ।

विचार आत्मानात्मविवेक श्रवण मनन आदि उपाय तथा योग के नियमादि साधन मुमुक्षु के मित्र समान होते हैं। मुमुक्षु लोग क्षण भर भी इन के बिना नहीं काट सकते, परन्तु ज्ञानी-

वस्था आने पर वे यमनियमादि आत्मसुखानुसन्धान में विघ्न डालने लगते हैं—आत्मसुख को खण्डित करने लगते हैं, इस लिये ज्ञानी लोग उन्हें भी छोड़ कर अगली ऊँची अवस्था में अकेले ही पहुंच जाते हैं।

पंचभूतात्मकं विश्वं निर्मितं येन मायया।
स एव हि मया दृष्टो मायावी मुक्तिभाजनम् ॥१९॥

जिस ने अपनी (जगदुत्पादनेच्छारूपी) माया से इस पंच-भूतात्मक संसार को बना कर खड़ा कर दिया है ऐसे उस मायावी को भी मैंने मोक्ष के परमपद को पाते देखा है। (मायावी को नियम से नरकयातना ही भुगतनी पड़े यह विचार सर्वांश में सत्य नहीं है)।

स्वेच्छयैव कृतं विश्वं स्वेच्छयैव निहन्ति यः।
कृतज्ञादपि पूज्योऽसौ कृतघ्नो मोक्षमश्नुते ॥२०॥

जिसने पहले तो अपनी ही 'सोऽकामयत' इस इच्छा से इस जगत् को बनाया तथा फिर (मनोरथ के बनाये हुए महल आदि की तरह) अपनी ही मरजी से नष्ट भी कर डाला। मुमुक्षु लोगों को तो ऐसे कृतघ्न मुनि की पूजा कृतज्ञों से भी अधिक करनी चाहिये। क्योंकि ऐसे कृतघ्न लोग मोक्ष पाये बिना कभी नहीं चूकते। (कृतघ्न को नियम से अधोगति मिलने की लौकिकशास्त्रों की बात ठीक नहीं है)।

आश्चर्यं योऽभिमन्येत जीव आत्मानमीश्वरम्।
सोऽभिमानी गतिं याति निरहङ्कारदुर्लभाम् ॥२१॥

हे शिष्य, अचम्भे की बात देखो कि जो जीव अपने आप को ईश्वर परमात्मा ही समझने लग पड़ता है उस अभिमानी

जीव को ऐसी उत्तम गति मिलती है कि वह गति अहंकार-रहित भी लौकिक पुरुषों को मिलनी दुर्लभ हो जाती है। (सब अभिमानी मुक्ति से वंचित ही रह जाते हों, लौकिक शास्त्रों का ऐसा आग्रह, हमारी समझ में नहीं आता)।

गुणेषु दोषं पश्यन्तो विश्वमात्रविनिन्दकाः।
आत्मस्तुतिपरा यान्ति नित्यं वैकुण्ठमन्दिरम् ॥२२॥

गुणों (सत्व, रज, तम तथा इन गुणों से उत्पन्न पदार्थों किंवा वृत्तियों) में भी जो सदा दोष ही टटोलते हैं (जो इन सब को आत्मसुखानुभव का विरोधी समझ लेते हैं) जो संसार भर की निन्दा और अपने आत्मा की ही स्तुति करते हैं, यों तीन महा-निन्दित काम करने वाले ये तीनों ही वैकुण्ठमन्दिर में पहुँच जाते हैं (ऐसी अवस्था में लौकिक शास्त्रों की परगुणों में दोष-दर्शन, परनिन्दा तथा स्वात्मस्तुति को नरकसाधन बताने की बात को सर्वांश में सत्य कैसे मान लें ?)

बुद्ध्वापि शुद्धमात्मानं व्यावहारिकलोकवत्।
करोति, न करोमीति दम्भकृच्छम्भुवल्लभः ॥२३॥

जो ज्ञानी अपने शुद्ध आत्मरूप को पहचान कर भी संसार के (आजीवन सदस्य) व्यवहारी लोगों की तरह ही कर्म तो करता है परन्तु अन्दर यह माने रहता है कि ओहो! मैं तो कुछ भी नहीं करता हूँ। ऐसा वह दाम्भिक ज्ञानी शम्भु (जगदानन्द-दायक आत्मदेव) का अत्यन्त प्रिय होता है। (यों सभी दाम्भिक नरकगामी होते हैं यह विचार ठीक नहीं)।

दाम्भिक लोग अपने को धर्मात्मा जताने के लिये कर्म करते हैं, ज्ञानी लोग लोगों को कर्म का मार्ग दिखाने के लिये (लोक-

संग्रहार्थ) कर्म करते हैं, कर्म में आस्था (श्रद्धा) दोनों को ही नहीं होती ।

बोधखड्गेन तीक्ष्णेन मोहाहङ्कारदुर्धियाम् ।
घातकः पातकं हन्ति पूर्वजन्मशतार्जितम् ॥२४॥

जो बोधरूपी पैनी तलवार लेकर मोह (अज्ञान) अहंकार (अज्ञान से उत्पन्न हुए शरीर इन्द्रिय आदि पदार्थों में तादात्म्य-कर लेना) तथा विषयवासना से दूषित बुद्धि इन तीनों का घात कर देता है ऐसा वह घातक (हिंसक) भी बीते हुए असंख्य जन्मों में कमाये हुए पापों को नष्ट कर देता है। (फिर सभी घातकों की दुर्गति होती है ऐसा कहना ठीक नहीं है)।

अहंकारं हरिरहं ब्रह्मैवाहमहं शिवः ।
इति विश्वास्य हन्तारः पुण्या विश्वासघातकाः ॥२५॥

जो अहंकार को पहले तो यह विश्वास दिलाते हैं कि मैं ही हरि हूँ, मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही प्रजापति ब्रह्मा हूँ, मैं ही (जगदानन्द-दायक) शिव हूँ। यों विश्वास दिला दिला कर पीछे से मार डालते हैं (उन के विश्वास में आकर अहंकार को यह भ्रम हो जाता है कि यह तो मुझ को अत्यन्त ऊँचे पद दे रहा है) वे विश्वासघातक बड़े पवित्र होते हैं (सभी विश्वासघातक पापी नहीं होते)।

मुक्तो विधिनिषेधाभ्यां निश्चिन्तः स्वेच्छया चरन् ।
कर्मठाना मपांक्तेयः सोऽस्माकं पंक्तिपावनः ॥२६॥

विधि और निषेध से छुट जाने के कारण (स्वर्ग और नरक की ओर से) निश्चिन्त हुआ (केवल आत्मदर्शन की इच्छा से प्रेरित होकर) स्वेच्छा से वर्ताव करता हुआ जो ज्ञानी कर्मियों

की पंक्ति में बैठने योग्य नहीं रह जाता, वही पंक्तिबहिष्कृत ज्ञानी, हम ज्ञानी तथा जिज्ञासु लोगों की पंक्ति को पवित्र करने वाला होता है (ऐसी अवस्था में सब कर्मभ्रष्ट तथा पुण्य पाप की चिन्ता से विहीन लोगों को, पंक्तिबहिष्कृत कर देने की तथा उन को नरक की प्राप्ति होने की बात सर्वथा माननीय नहीं है।)

निन्दितावभिनिर्मुक्ताभ्युदितौ यौ तु तौ हि नः।
पूतौ, कर्माभिनिर्मुक्तोऽभ्युदितश्च चितौ सदा ॥२७॥

कर्मकाण्ड में अभिनिर्मुक्त (सूर्यास्त के समय सोने के कारण जिस के कर्म छूट गये हों) तथा अभ्युदित (सूर्योदय के समय सोने के कारण जिस के प्रातःकाल के कर्म छूट गये हों) ये दोनों ही निन्दित कहे हैं। परन्तु ये दोनों ही हम ज्ञानी लोगों के सम्प्रदाय में पवित्र गिने जाते हैं—प्रथम तो वह जो कि विहित और निषिद्ध कर्मों से सर्वभाव से निर्मुक्त हो कर (छूट कर) अकर्तृ ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गया हो तथा दूसरा वह जो कि चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म के चिन्तन में सदा ही अभ्युदित अर्थात् तत्पर रहने लगा हो।

दत्त्वा द्वारि कपाटं यः खण्डलड्डुकवन्मुनिः।
एकाकी मिष्टमश्नाति स याति परमां गतिम् ॥२८॥

हे शिष्य, जो महामुनि इन्द्रियरूपी दशों द्वारों पर संयमरूपी कपाट लगा कर खांड के बने मीठे लड्डू के समान मधुर ब्रह्म-सुख का भोग अकेला ही लेता रहता है, वह अकेला मिष्टभोजी पुरुष परमश्रेष्ठ गति को प्राप्त हो जाता है। (ऐसी परिस्थिति में लौकिक शास्त्रों का यह कहना कि 'द्वार बन्द करके अतिथियों

को भी न खिलाकर अकेले ही मिष्ट पदार्थ खानेवाला पुरुष नरकगामी होता है' सर्वांश में प्रामाणिक नहीं है)।

ज्ञानकर्मेन्द्रियगणो निरुद्ध्य निजमन्दिरे।
पंक्तीकृत्य हतो येन सोऽस्माकं पंक्तिपावनः ॥२९॥

श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियों वागादि पांच कर्मेन्द्रियों (तथा इन के विषयों) को जिस ज्ञानी ने अपने (लिंगशरीर नामक) मन्दिर में बन्द कर के एकदम ही मार डाला हो (आत्मा से पृथक् इन को असत्व रूप से देख लिया हो) ऐसा वह पंक्ति-घातक ही हम मुमुक्षु और मुक्त लोगों की पंक्ति को पवित्र कर देता है। (ऐसी अवस्था में सभी पंक्तिघातकों की अधोगति होना प्रामाणिक नहीं है)।

पश्य संसारनाशार्थ मात्मनाशं सहन्ति ये।
संसारद्वेषिणां तेषां मुक्तिः शास्त्रेषु वर्णिता ॥३०॥

हे शिष्य, जो (ज्ञानी और जो मुमुक्षु लोग) इस जन्म-मरणरूपी संसार को नष्ट करने के लिये अपना (मिथ्या जीवत्वरूपी भ्रम का) नाश भी सह लेते हैं (जैसे संसार के अत्यन्त मूर्ख लोग अथवा अपने गृहजनों से लड़कर मरने वाली द्वेषिणी स्त्रियें, उनको राजशासन में फांसने के लिये, अपने मरने को प्रसन्नता से सह लेती हैं या जैसे लोग दूसरों का शकुन बिगाड़ने के लिये अपनी नाक कटा लेते हैं इसी तरह के मूर्ख से दीख पड़ने वाले) उन संसारद्वेषियों की मुक्ति भी अध्यात्मशास्त्र में कही है। (इससे यह निश्चय कर लो कि सभी संसारद्वेषी मुक्ति से वंचित रहकर नरकगामी होते हों यह विचार ठीक नहीं है)।

अहं ममेति सर्वस्वं बोधद्यूतेषु हारितम्।
येनासौ मुक्तिभाक् प्रोक्तो बृहदारण्यकश्रुतौ ॥३१॥

अहन्ता (तीनों शरीरों में तादात्म्य) तथा ममता (स्त्री, पुत्र, गृहादि में मेरेपन का भाव) ये ही दोनों तो अज्ञानी के सर्वस्व कहाते हैं। जिस जुआरी ज्ञानी ने अपने इस सर्वस्व को ज्ञान के जुए में हार दिया हो, बृहदारण्यक श्रुति में ऐसी जुआरी को मुक्ति मिलने की बात कही है। (सम्पूर्ण जुआरियों की अधोगति हो जाना प्रामाणिक नहीं है)।

दीनेन्द्रियमृगेष्वेव दया यस्य न विद्यते।
स एव देवकीसूनो र्दीनबन्धोरतिप्रियः ॥३२॥

जिसको (अपने अधीन, अपने पोष्य इन) श्रोत्रादि दीन इन्द्रियरूपी मृगों पर भी दया नहीं आती, जो कभी भी इन के मुँह में विषयरूपी ग्रास नहीं देता, ऐसा निर्दय पुरुष ही दीनों के बन्धु भगवान् को अत्यन्त प्यारा होता है (फिर दीनों पर दया करने वाले को ही भगवान् प्यार करते हों, यह कैसे मान लें ?)

आत्मभोगरतो राजा यस्तु नावेक्षते पुरीम्।
लिप्यते न स पापेन प्रमाणं मुण्डकश्रुतिः ॥३३॥

जो ज्ञानी राजा आत्मसुख के भोग में ही रत रहकर इस (देहत्रय नाम की) पुरी की देखभाल नहीं करता, इस शरीर के वासी भूतों तथा इन्द्रियों की रक्षा नहीं करता, यों आत्मसुख के लोभ से अपनी रैयत के पालन में उपेक्षा (लापरवाही) करने वाला भी वह ज्ञानी राजा, पाप से लिप्त नहीं होता। आश्चर्य तो यह है कि मुण्डक उपनिषत् की 'आत्मक्रीड आत्मरतिः' इत्यादि श्रुति उसकी इस उपेक्षा का अनुमोदन कर रही है।

(ऐसी स्थिति में पुरी की देखभाल न करके केवल आत्मभोग में लगे हुए सभी राजा पापी और नरकगामी होते हों सो ठीक नहीं है)।

ज्ञानवैराग्यपाशेन हतो येन मनोधनी।
यः स्यादेवंविधः पाशी तस्य काशी पदे पदे ॥३४॥

जिस किसी ने ज्ञान और वैराग्य से बने हुए पाश (जाल) से (जगत्‌रूपी सम्पत्ति का संग्रह कर रखने वाले) किसी मन रूपी धनी को मार डाला हो, तो ऐसा वह पाशी जहां जहां पैर रखता जाता है वहीं वहीं काशी का पुण्य धाम बनता चला जाता है (उसके पदचिन्हों पर जो कोई मुमुक्षु चल पड़ता है वही मुक्ति पा लेता है। ऐसी अवस्था में समस्त पाशी नरक-गामी होते हों सो ठीक नहीं है)।

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम्।
बलात्कारेण यो भुंक्ते स रण्डाव्यसनी शुचिः ॥३५॥

गङ्गा (इडा=चन्द्रनाडी) तथा यमुना (पिङ्गला=सूर्यनाडी) नाम की नाडियों के बीच में निवास करने वाली तपस्विनी बाल-रण्डा (वाल अर्थात् केश के समान सूक्ष्म गति वाली) सुषुम्णा नामक मोक्षनाडी को जो योगाभ्यासी बलात्कार से अपने वश में कर लेता है, ऐसा वह रण्डाव्यसनी (सुषुम्णाप्रेमी) भी पवित्र होता है।

बोधदावाग्निना दग्धं येन द्वैतवनं घनम्।
अतिपुण्यां गतिं याति स हि दावाग्निदायकः ॥३६॥

जिसने ज्ञानरूपी दौं लगाकर इस द्वैतरूपी वन को जला कर खाक कर डाला हो, द्वैतवन में आग लगानेवाला वह महा-

पराधी भी अतिपुण्य गति को प्राप्त हो जाता है। (अर्थात् सभी दावाग्नि लगाने वाले नरकगामी नहीं होते)।

गृहे स्थितानामपि यो गवां ग्रासं ददाति न।
आचरत्यात्मनः पुष्टिं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३७॥

जो ज्ञानी अपने देहरूपी घर में (प्रारब्ध के क्षय होने तक) रहने वाली इन्द्रियरूपी गौओं को भी (विषयरूपी) ग्रास नहीं डालता और केवल अपने आत्मा की ही पुष्टि करता है (इन्द्रियरूपी गौओं को घर में बांधकर उन्हें भूखा मारने वाला तथा केवल अपने आत्मा का ही पोषण करने वाला) वह पापी भी सकल पापों से छुट जाता है (ऐसी अवस्था में लौकिक शास्त्रों का यह कहना ठीक नहीं है कि गौओं को सर्वदा घर में न बांधे रहना चाहिये। यदि बांधा भी जाय तो उन्हें घास तथा जलादि के ग्रास देते रहना चाहिये, तब कहीं जाकर स्वयं भोजन करने का अधिकारी होता है अन्यथा नरक मिलता है)।

रसाः सर्वेऽपि विक्रीता धर्माधर्ममजानता।
ग्रन्थौ बद्धं बोधधनं स धन्यो रसविक्रयी ॥३८॥

यदि कोई ब्राह्मण धर्म की बात माने तो उसे रस (दूध घी आदि) नहीं बेचना चाहिये। परन्तु जिसने धर्म अधर्म का कुछ भी विचार न करके सम्पूर्ण रसों (विषयसुखविशेषों) को बेच डाला हो और उसके बदले में ज्ञानरूपी धन को लेकर उसे अपनी (अहंकाररूपी) गांठ में बांध लिया हो—धारण कर लिया हो—ऐसा यदि कोई रसविक्रयी हो जाय तो वह कृतकृत्य हो जाता है। (अर्थात् रसों के बेचने वाले सभी निन्दित नहीं होते हैं)।

अन्तर्याम्यात्मना येन रचितो वर्णसंकरः।
स्वयं शङ्कर एवासौ वर्णितो वर्णसङ्करी ॥३९॥

जिस ज्ञानी ने अपने ब्राह्मण आदि वर्णों की अन्तर्यामी तत्व के साथ संकरता कर डाली हो (उससे उन्हें अभिन्न जान लिया हो) ऐसे वर्णसंकरकारक को नरकवास तो क्या मिलता, वह तो साक्षात् जगदानन्ददायक शंकर ही हो गया है।

येन वेदाः समभ्यस्य विदित्वार्थं स्वचिन्तया।
प्लाविताः सह वेदान्तै र्वेदप्लावी स मुच्यते ॥४०॥

जिसने पहले तो वेदों का अभ्यास किया फिर आत्मचिन्तन करके उनके परमार्थ को पहचाना और अन्त में (आत्मचिन्तन को निर्विघ्न चलाने के लिये) उपनिषदों के साथ ही साथ वेदों को भी बहा (छोड़) दिया हो, ऐसा वेदप्लावी (वेदाभ्यास-त्यागी) भी मुक्त हो जाता है।

शिवे निवेदितं सर्वं शिवनिर्माल्यतां गतम्।
तद्भुनक्ति पवित्रात्मा शिवनिर्माल्यभोजनः ॥४१॥

ज्ञानी ने तो इस सब जगत् को ही आत्मशिव के सामने निवेदन कर दिया है। उसकी दृष्टि में अब यह सब जगत् शिव-निर्माल्य (शिव की सम्पत्ति) हो गया है। अब जब कि यह ज्ञानी इस समर्पित (निवेदित) जगत् में से अपने किसी प्रारब्धशेष को भोगता है तो वह शिवनिर्माल्य को ही भोगता है और पवित्र अन्तःकरण वाला होकर मुक्त हो जाता है (लौकिक शिवनिर्माल्यभोजी की दुर्गति भले ही हो जाय, परन्तु ऐसे अलौकिक शिवनिर्माल्यभोजी की दुर्गति कभी नहीं होती)।

ब्रह्मचर्यं गतो भुंक्ते सर्वा नगरनायिकाः ।
लिप्यते न स पापेन चित्रं वेदान्तदर्शनम् ॥४२॥

ब्रह्मचर्य (अपने में ब्रह्म के साथ एकता के परिज्ञान) में रहकर भी सारी नगरनायिकाओं (इस शरीररूपी नगर में रहने वाली वृत्तिरूपी सब नायिकाओं) को भोगता (अनुभव करता) हुआ भी वह ब्रह्मचारी पापी नहीं होता। ऐसी अद्भुतता केवल वेदान्तदर्शन में ही पायी जाती है।

योगिना मवधूतानां शुकादीनां मुखाच्च्युतम् ।
किञ्चिदुच्छिष्टमास्वाद्य मुच्येदुच्छिष्टभोजनः ॥४३॥

शुक, दत्त तथा भरत आदि जो योगी तथा अवधूत (वर्णाश्रमधर्मातीत) हो गये हैं उनके मुख से निकले, उच्छिष्ट वाक्यों का थोड़ा सा भी स्वाद लेकर (उनके अनुभव के आधार पर चल कर) प्रारब्धयात्रा करने वाले उच्छिष्टभोजी लोग भी मुक्त हो जाते हैं। (वे लोग उच्छिष्ट भोजन के कारण लौकिक मनुष्यों की तरह पतित नहीं होते)।

ब्रह्म जानाति तस्यैव ब्राह्मणस्य स्वचेतसः ।
वृत्तिलोपः कृतो येन स धन्यो वृत्तिलोपकृत् ॥४४॥

जो ब्रह्म को पहचाने वही ब्राह्मण है, इस अर्थ में चित्त ही सच्चा ब्राह्मण है, उस ब्राह्मण (चित्त) की वृत्ति (विचारधारा या जीविका) का लोप जिसने कर दिया हो वह वृत्तिलोप करने वाला भी धन्य होता है (ब्राह्मण की वृत्ति को हरण करने वाले ऐसे महापुरुष को अनेकानेक साधुवाद)।

यस्तु वृन्ताकदग्धान्नं कलिङ्गादि यदृच्छया ।
लब्धमश्नाति हि मुनि स्तस्यादूरतरो हरिः ॥४५॥

(मैं विहित अन्न ही खाऊँ ऐसा यदि वहम करेगा तो मनन में विक्षेप होगा इस विचार से) जो ज्ञानी बिना ही प्रयत्न किये प्राप्त हुए बैंगन, पात्रों की खुरचन, तथा कलिंज आदि निषिद्ध अन्नों तथा दुरागतादि दूषणों से दूषित भोजनों को भी खा लेता है, उस निषिद्धभोजी से परमात्मा दूर नहीं रहता (किन्तु उन्हें भागवत पद की प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है)।

भृगवे वरुणेनोक्ता ब्रह्मविद्या तु वारुणी।
तद्वारुणीरसास्वादमत्तानामुत्तमा गतिः ॥४६॥

जब भृगु ऋषि अपने पिता वरुण की शरण में गये तो उन्होंने उनको ब्रह्मविद्या का उपदेश किया तभी से उसका नाम 'वारुणी' विद्या पड़ गया। (वरुण की कही हुई विद्या भी 'वारुणी' और मदिरा भी 'वारुणी' कहाती है) उस वारुणी के रसास्वाद से जो लोग मत्त हो जाते (उन्मनी अवस्था को पा लेते) हैं उनको श्रेष्ठ गति मिलकर ही रहती है।

पराग्वृत्तिं परित्यज्य या प्रत्यक् सा तु वारुणी।
तदभ्यासरतानां च न दूरे परमं पदम् ॥४७॥

बाह्य वृत्तियों को छोड़कर, जो कि ज्ञानी लोगों में, अन्तरात्म-विषयक एक अद्भुत वृत्ति रहती है (जिसको अपरोक्षानुभूति भी कहते हैं) वही वारुणी (वरुण ऋषि की बतायी हुई) वृत्ति कहाती है। उस वृत्ति के अभ्यास में जो लोग सर्वात्मना रत रहते हैं उनसे परमपद दूर नहीं रहता।

सुन्दरीं वीक्ष्य चित्कान्ता मिन्द्रियेश्वरमिन्द्रियम्।
मानसं स्खलितं येषां ते मुक्ता अजितेन्द्रियाः ॥४८॥

सुन्दरी (सुखरूपिणी) चैतन्य नाम की कमनीय स्त्री को देखकर (उसका साक्षात्कार अथवा अनुभव करके) जिनका सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता मन स्खलित (नष्ट) हो जाय, स्खलितेन्द्रिय होने से अजितेन्द्रिय कहे जा सकने वाले वे लोग भी मुक्त हो जाते हैं।

योगभूमिं समारुह्य गम्भीरे ब्रह्मसागरे ।
पश्चान्निपतितो लीन आरूढपतितः शुचिः ॥४९॥

जो कोई महापुरुष योग की (सातवीं या चौथी) भूमिका पर चढ़कर फिर अतिगम्भीर ब्रह्मसागर में गिर पड़ा और वहीं लीन हो गया हो ऐसा आरूढपतित (ऊँचा चढ़कर गिरा हुआ) पुरुष भी शुद्ध होता है। (सभी आरूढपतित पापी नहीं होते प्रत्युत ऐसे आरूढपतित होने में तो प्रत्येक मुमुक्षु और मुक्त को गर्व होना चाहिये)।

चिद्विद्याकर्मनाशायां नद्यां स्नानं मया कृतम्।
कर्मनाशाजलस्पर्शात् कर्मबन्धो निवर्तते ॥५०॥

हे शिष्य, आत्मविद्यारूपी कर्मनाशा नदी में मैंने तो स्नान कर डाला है। इस विचित्र कर्मनाशा नदी के (ब्रह्मरूपी) जल का स्पर्श (अनुभव) कर लेने से ही कर्मबन्धन सर्वथा नष्ट हो जाता है। (यह मैंने अपने कर्मबन्धन के नष्ट हो जाने से अनुभव किया है। फिर मैं कर्मनाशा के जलों के स्पर्श को सर्वथा निषिद्ध क्योंकर मान लूँ)।

अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च ।
सर्वत्र परिपूर्णोहं पुनः संस्कारवर्जितः ॥५१॥

अङ्ग (भागलपुर के समीप का प्रान्त) वङ्ग (समुद्र से ब्रह्मपुत्र तक का देश) कलिङ्ग (जगन्नाथ से कृष्णा के तीर तक का देश) सौराष्ट्र (सूरत) मगध (बिहार का दक्षिण प्रदेश) तथा और भी बहुत से (निषिद्ध एवं निवासयोग्य) देशों में मैं चिदात्मा परिपूर्ण हो रहा हूँ। इन देशों में जाने पर भी, फिर शुद्ध होने के लिये मुझे कोई भी प्रायश्चित्त आदि संस्कार करना नहीं पड़ता। अथवा इन अनन्त स्थानों में भ्रमण कर आने पर भी, वार वार जन्म दिलानेवाले वासनारूपी संस्कार मुझ में प्रवेश नहीं कर सके हैं।

निजं गृहं परित्यज्य रमते परमन्दिरे।
स गृहस्थो गतिं गच्छेत् परामिति विदां मतम् ॥५२॥

जो कोई गृहस्थ अपने (तीनों शरीरोंरूपी) घर को छोड़ कर (इन तीनों शरीरों में से मैं और मेरेपन के भावों को निकाल कर—इन तीनों शरीरों को भूलकर) परमन्दिर (अर्थात् परब्रह्म नामक चतुर्थ चैतन्य के घर) में क्रीडा करता रहता है, ऐसा गृहस्थ (लौकिक दृष्टि से तीनों शरीरों में फँसा हुआ) अतिश्रेष्ठ गति को प्राप्त हो जाता है। यह ज्ञानी लोगों का मन्तव्य है। (अपना घर छोड़कर परघर में रमण करने वालों को निकृष्ट गति मिलने की लाकिक शास्त्रों की बात अज्ञानी लोगों के लिये है)।

आत्मनः सुखलोभेन सुकृतं येन हारितम्।
स एव सुकृती शेषः सुकृत्यपि हि दुष्कृती ॥५३॥

आत्मा के सुख के लोभ में आकर जिस ने अपने पुण्य को भी नष्ट कर डाला हो (ईश्वरार्पण कर दिया हो किंवा आत्मसुख

के जुए में हार दिया हो) तो इस प्रकार सुकृतों का उदात्त त्याग करने वाला ही सच्चा सुकृती कहाता है। शेष तो सारे पुण्यशील भी पापशील ही हैं।

विचार कर देखो तो कर्तृत्व भी परमात्मा से पृथक् कोई पदार्थ नहीं है इस से अपने किये हुए पुण्यों को अपना न समझ कर परमात्मा का ही समझना चाहिये—उन में से अपनापन खींच लेना चाहिये। वह ज्ञानी इन पुण्यों का त्याग इस लिये करता है कि उस पर सकल पुण्यों के फल, आत्मसुख का अलौकिक लोभ ही सवार हुआ रहता है। ऐसे सुकृती (पुण्यशाली) से भिन्न लौकिक सुकृतियों को पापी कह देने का भाव तो यह है कि जो मनुष्य आज पुण्यशाली है कल उसे जब पुण्यभोग मिलेगा तो वह प्रमादी होते होते पापाचारी हो जायगा, फिर पापाचरणों का दुष्परिणाम जब उसे भुगतना होगा तो उसे बड़ा ही पछतावा होगा कि हाय ! मैंने पुण्यकर्म नहीं किये थे। यदि मैंने पुण्यकर्म किये होते, तो आज मुझे यह महादुःख क्यों भोगना पड़ता। बस इसी पश्चात्ताप से पुण्यवासना उत्पन्न हो जायगी। फिर पुण्यकर्म करेगा। पुण्यकर्मों का मधुर भोग उसे जब मिलेगा तब फिर पहले की तरह प्रमादी हो जायगा। यों यह जीव कभी पुण्यात्मा और कभी पापात्मा होता ही रहता है। ऐसे लौकिक पुण्यात्माओं को वेदान्तसिद्धान्त में पुण्यात्मा समझा ही नहीं जाता। अपने पुण्यों को आत्मसुख के जुए में हार जाने वाले अर्थात् निष्काम कर्म करनेवाले लोग ही इस मार्ग में सच्चे सुकृती गिने जाते हैं।

अज्ञानमेव विज्ञान मविवेको विवेकिता।
सर्वात्मकत्वं कैवल्यं येषां ते सिद्धसत्तमाः ॥५४॥

और अचम्भे की बात देखो कि सब से श्रेष्ठ सिद्ध तो वे हैं जिन के मत में अज्ञान ही विज्ञान है, जिन के विचार में अविवेक ही विवेक समझा जाता है तथा जो सर्वात्मकता को ही कैवल्य समझ बैठते हैं।

लौकिक लोग भले ही ज्ञान को ज्ञान, विवेक को विवेक तथा अद्वैत को ही कैवल्य समझते रहें, परन्तु सर्वश्रेष्ठ सिद्ध तो वे ही हैं जिन की सूक्ष्मदृष्टि में अज्ञान (ज्ञेयपदार्थों के न रहने पर चिन्मात्ररूप ब्रह्मचैतन्य) को ही विशेषज्ञान कहा जाता है, अविवेकरूपी आत्मतत्व को ही विवेकिता अर्थात् विवेक का फल समझा जाता है तथा सर्वरूपता ही पूरा कैवल्य हो जाती है।

बोधो यदवधानेन तन्मनो नाशयन्ति ये।
विपरीतकृतां तेषां मुक्तिरित्याह शंकरः ॥५५॥

जिस मन के किये हुए अवधान (अनुसन्धान) से (श्रवणादि के द्वारा) बोध जैसी पवित्र वस्तु हाथ लग जाती है उस (अपने उपकारी) मन को भी जो (निर्दय) लोग नष्ट कर डालते हैं वे विपरीतकारी लोग भी मोक्ष को पाते हैं यह बात शंकर ने कही है। (सब विपरीतकारी नरकगामी ही होते हों यह बात हमें माननीय नहीं है। यहां पर मन को नष्ट कर डालने से अभिप्राय उस को आत्मा से पृथक् असत् समझ लेने से है।)

वेदान्तपाठरूपेण स्वधर्माः कीर्तिता मया।
स्वधर्मकीर्तनादेव सायुज्यं पदमर्जितम् ॥५६॥

वेदान्तपाठ के रूप में (उपनिषदादि वेदान्त ग्रन्थों के स्वाध्याय का बहाना बना कर) मैंने अपने (असंगता निर्विकारता आदि अलौकिक) धर्मों का कीर्तन अपने ही मुंह से कर डाला

है और इस स्वधर्मकीर्तन की महिमा से ही मैंने सायुज्य (ऐक्य) पद का अर्जन कर लिया है। (ऐसी अवस्था में 'धर्मः क्षरति कीर्तनात्' इत्यादि लौकिक शास्त्रों का, सब ही स्वधर्मकीर्तनों को निषिद्ध बताना उचित नहीं)।

द्विभार्यो ब्राह्मणो यस्तु त्यजेत् पूर्वां पतिव्रताम्।
परस्या गुणलोभेन स याति परमां गतिम् ॥५७॥

यदि कोई दो भार्या वाला ब्राह्मण दूसरी भार्या के (शान्ति आदि) गुणों का लोभी होकर पहली पतिव्रता को छोड़ बैठे तो, उसे परमगति मिल जाती है यह आश्चर्य तो देखो।

एतस्य विवरणम्—

इस श्लोक को मैं (ग्रन्थकार) स्वयं ही विस्तारपूर्वक समझाता हूँ—

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च द्वे भार्ये वेदबोधिते।
प्रथमा कर्मनिष्ठा स्याद् ब्रह्मनिष्ठा तथाऽपरा ॥५८॥

वेद ने प्रवृत्ति और निवृत्ति नाम की दो भार्यायें बतायी हैं। उन में से प्रवृत्तिभार्या का तो स्वाभाविक प्रेम विहित कर्मों में ही रहता है दूसरी निवृत्तिभार्या तो स्वभाव से ही ब्रह्म के साथ गाढ प्रेम रखती है।

लोगों की दो प्रकार की बुद्धियें पायी जाती हैं। कुछ लोग स्वभाव से कर्म के प्रेमी होते हैं तथा कुछ स्वभाव से ब्रह्मप्रेमी पाये जाते हैं।

कर्कशा रसिका चेति तयो र्नामान्तरं क्रमात्।
कर्कशा कर्मकाण्डस्था रसिका ब्रह्मवादिनी ॥५९॥

उन दोनों भार्याओं के कर्कशा और रसिका ये दो और नाम भी पाये जाते हैं। उन में से कर्कशा नाम की भार्या अधिकतर कर्मकाण्ड में ही लगी रहती है। दूसरी रसिका भार्या तो ब्रह्मवादिनी है।

कर्कशा रसिका चेति यद्यपि द्वे पतिव्रते।
रसिका स्वपतिं भुंक्ते कर्कशा कष्टभागिनी ॥६०॥

यद्यपि कर्कशा और रसिका ये दोनों ही पतिव्रता हैं (इन दोनों ने ही अपने पति की कर्मप्रवृत्ति तथा ज्ञानप्रवृत्ति को ही अपना अपना व्रत बना लिया है) तो भी रसिका में यह विशेषता है कि वह अपने पति आत्मदेव को भोगा करती है दूसरी विचारी कर्कशा प्रवृत्तिभार्या (कष्टरूप संसार में फँसी रह जाती है और) कष्ट ही भोगती रहती है।

कर्मनिष्ठा तु दासीव गृहकर्मरता सदा।
ज्ञाननिष्ठा महाराज्ञी राजसिंहासने स्थिता ॥६१॥

बिचारी यह कर्मनिष्ठा प्रवृत्तिभार्या तो (घर को लीपने पोतने बुहारनेवाली) दासी की तरह सदा ही इस शरीररूपी घर के कामों (अपने वर्णाश्रम में विहित सन्ध्यावन्दनादि तथा जातकर्म आदि कर्मों) में फँसी रहती है। दूसरी ज्ञाननिष्ठा निवृत्तिभार्या तो महारानी बनकर (सकलद्वैतापवादरूपी) राजसिंहासन पर विराजती रहती है।

पतिहेतो र्दिवानक्तं गृहकर्म करोति सा।
पतिं नालिङ्ग्य निद्राति कथं सौभाग्यभागिनी ॥६२॥

वह कर्कशा भार्या अपने पति को प्रसन्न करने के लिये भले ही दिन रात इस शरीररूपी घर के कामों (सन्ध्यावन्द-

नादि वैदिक तथा भोजनादि लौकिक कर्मों) को करती रहो, परन्तु वह बिचारी अपने आत्मारूपी पति का आलिङ्गन करके (उसके साथ एकता को प्राप्त होकर) कभी नहीं सो पाती। फिर भला वह सौभाग्यभागिनी कैसे होगी ? (इसी कारण से उसे दासी के समान कहा है)।

रसरीतिं न जानाति कर्कशा कर्मवादिनी।
प्रतिव्रता स्वभावेन भर्तारं स्तौति केवलम् ॥६३॥

रस किस को कहते हैं यह तो उस बिचारी कर्कशा को मालूम ही नहीं। वह तो केवल काम काज का ही वर्णन करना जानती है। केवल पतिव्रत धर्म को स्वीकार करके अपने सहज प्रेम से अपने भर्ता की स्तुति करती रहती है (भर्ता के तात्विक रूप को जानकर उसके सुख को भोगने की रीति तो उसे ज्ञात ही नहीं होती)।

ज्ञाननिष्ठा तु रसिका तत्तत्संस्कारलक्षणैः।
आनन्दयति भर्तारं तमेवाश्लिष्य खेलति ॥६४॥

ज्ञान में निष्ठा (भक्ति) वाली निवृत्तिभार्या तो रसिका है अर्थात् रसनामक आत्मसुख को खूब ही पहचानती है। वह उन शम दम आदि संस्कारों के कारण अपने भर्ता आत्म-देव को आनन्द पहुँचाती रहती है और उसी सुखरूप आत्मा को आलिङ्गन करके—उसके साथ एकता को प्राप्त होकर—(जीवन्मुक्तों की तरह) खेलती रहती है।

आसने शयने याने भोजने सा तदन्विता।
क्षणं न तिष्ठति स्वामी तां विना रसलालसः ॥६५॥

वह निवृत्तिभार्या बैठते, उठते, सोते, जागते, यात्रा में,

भोजन के समय, या फिर विषयभोग करते हुए भी उसी (सुखरूप) आत्मा से चिपकी रहती है। उधर उस निवृत्तिभार्या का पति भी मुक्तिरस का लोभी होकर उस निवृत्तिवनिता के बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता।

यस्तु जानाति चातुर्या न्महदन्तरमेनयोः।
स कथं तत्र मूढायां रमेत किमु तत् सुखम् ॥६६॥

जो कोई ज्ञानी अपनी चतुराई से इन दोनों के भेद को जाने रहता है वह भला उस दुःखरूप मूढ प्रवृत्तिभार्या में किस प्रकार रमण कर सकता है ? उस में सुख ही क्या है ?

यस्तु कश्चिन्महामूढः पामरः पशुधर्मवान्।
कर्कशायां रमते रसिकां च न विन्दति ॥६७॥
तस्यां च दुःखमाप्नोति, प्रत्यहं कलहायते।
भूयस्तामेव भजते, दौर्भाग्यं तस्य तादृशम् ॥६८॥

जो कोई महामूर्ख गँवार पुरुष बिल्कुल पशुओं की सी वृत्ति वाला हो गया है (उन्हीं से दुःख पाता और उन्हीं पदार्थों में आसक्त हुआ रहता है—जिसने अपनी वृत्ति कुत्ते आदि निकृष्ट पशुओं की सी बना ली है) वह उस कर्कशा प्रवृत्ति भार्या को ही अपने रमण के लिये पसन्द करता है और रसिका को नहीं पा सकता तथा उसी प्रवृत्तिभार्या के दिये हुए क्लेशों को भोगता और हर समय उसी से झगड़ता रहता है। परन्तु हाय ! फिर भी उस दुःखदायिनी को ही पसन्द करता है। इस सबको उसके दुर्भाग्य के अतिरिक्त और क्या कहा जाय।

दुःख का अनुभव होने पर भी जब वह बार बार उसी की इच्छा करता है तो यही कहा जायगा कि उसका कोई

दुष्कर्म उदय हो रहा है, जिससे वह अपने आत्मसुख को ही नहीं पहचान पाता है।

अत्र द्विभार्यशास्त्रार्थे विषयोऽयं व्यवस्थितः।
निवृत्तिवनितां त्यक्त्वा प्रवृत्तो नरकं व्रजेत् ॥६९॥
प्रवृत्तिवनितां त्यक्त्वा निवृत्तो मोक्ष मश्नुते।

इस 'द्विभार्यशास्त्रार्थ' में यह निश्चय हो चुका कि निवृत्तिवनिता को छोड़कर प्रवृत्तिभार्यागामी पुरुष संसाररूपी नरक में झोंक दिया जायगा तथा प्रवृत्तिवनिता को छोड़कर निवृत्तिभार्यागामी पुरुष को मुक्ति की प्राप्ति होगी।

विषमोप्येष शास्त्रार्थः प्रमाणं व्यासवाक्यतः ॥७०॥

इस शास्त्रार्थ ने जो निर्णय किया है वह देखने में विषम (विरुद्ध) सा लगता है। परन्तु व्यास के कथनानुसार इसे प्रमाण मानते हैं। व्यास जी का कहना है कि—गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः। अर्थात् गुण और दोष इन दोनों की ओर को दृष्टि रखना ही 'दोष' कहाता है। इसे ही प्रवृत्ति भी कहते हैं तथा इन गुणदोषों को छोड़ देना ही 'गुण' कहाता है। इसी को निवृत्ति कहा जाता है। उपनिषद् में कहा है 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' कुछ ने त्याग (निवृत्ति) से अमरभाव पाया था।

इति प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्रविवरणम्—

प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्र का व्याख्यान समाप्त हुआ।

अथान्यदपि—

अब फिर वही उन्मत्तप्रलाप प्रारम्भ किया जाता है—

एको विष्णु र्महद्भूतं व्यासेनोक्तं लगेद्यदि।
तन्महाभूतसंचारे न दूरे परमं पदम् ॥७१॥

व्यासदेव ने जिस एक ब्रह्मनामक महाभूत का वर्णन वेदान्त में किया है वह यदि भूतपिशाच (अदृश्य रहकर प्राणियों के शरीर में संचार करने वाला) होकर किसी के अन्तर में घुस बैठे तो फिर उससे वह परमपद दूर नहीं रह जाता (ऐसी अवस्था में भूतबाधा को सर्वथा निन्दित ही नहीं कहा जा सकता)।

डाकिनीसिद्धमन्त्रोऽयं ब्रह्मासीत्यक्षरात्मकः।
भावनामात्रतो यस्य सद्यस्तद्रूपतां व्रजेत् ॥७२॥

'मैं ब्रह्म हूँ' इसे एक डाकिनीसिद्धमन्त्र समझना चाहिये। डाकिनियों के सिद्धमन्त्र से जिस प्रकार डाकिनीपन प्राप्त होना मानते हैं इसी प्रकार इस मन्त्र की भावना करने पर साधक पुरुष उसी क्षण ब्रह्मरूपता को पालेता है। (फिर डाकिनी-सिद्धमन्त्रों को जप करने वाले सभी नरकगामी होते हों यह कैसे मानें ?)।

गुरुशास्त्रप्रसादेन संप्राप्य परमं पदम्।
ममैवेदं मया प्राप्तमिति प्राह स उत्तमः ॥७३॥

जो पुरुष पहले तो गुरु तथा अध्यात्मशास्त्र की कृपा से परमपद (कार्यकारणातीत पद) को पाये और फिर यों कहने लग पड़े कि ओह ! यह क्या मिला, यह तो मुझे मेरा ही रूप मिला है, बस उसी कृतघ्न को उत्तम पुरुष समझ लो।

यस्तु जन्मशताभ्यस्तविज्ञानैरपि वस्तुतः।
न किञ्चिदपि सम्प्राप्तं तस्य प्राप्तिर्महीयसी ॥७४॥

जो यह मानने के लिये विवश हो चुका हो कि ओहो ! सैकड़ों जन्मों के अभ्यस्त विज्ञानों से मुझे आज तक कुछ भी लाभ

(प्राप्ति) नहीं हुआ है, तो समझ लो कि उस का यह कुछ न पाना ही उसे बड़ा भारी लाभ हो गया है (ऐसी अवस्था में लौकिक लोगों का यह कहना कि कुछ पाना ही 'लाभ' है तथा कुछ न पाना ही 'अलाभ' है सर्वांश में ठीक नहीं है)।

यह मनुष्य अनन्त जन्मों में जिन ज्ञानों का अभ्यास किया करता है, तत्व विचार करें तो उन से उसे कुछ लाभ नहीं होता, भूतों का ज्ञान मरने पर भूतों में रह जाता है। किया कराया सब प्रत्येक जन्म में, मिट्टी में मिलता जाता है। उन से आत्मा की स्थिति में तिलमात्र भी उन्नति या अवनति नहीं हो पाती। जिस आत्मरूप को पाने के लिये बड़े बड़े कठोर तप किये जाते हैं लम्बे लम्बे ब्रह्मचर्य पाले जाते हैं, इनके बाद जो आत्मतत्व पाया हुआ सा लगा करता है, वह तो सब को सदा ही प्राप्त रहता है। वह तो स्वयंप्रकाश तत्व है। फिर प्राप्त पदार्थ को, ज्ञान से प्राप्त होने वाला कैसे कह दिया जाय? यह तो सदा अप्राप्त ही रहता है। इसे पाने वाले को तो कहना चाहिये कि कुछ भी नहीं मिला। परन्तु यह कुछ न मिलना, मामूली बात नहीं है। यही एक महलाभ गिना जाता है।

अणीयसो महयीस्त्वं नेदीयस्त्वं दवीयसः।
परस्य निजरूपत्वं यत्प्रत्येति प्रमा हि सा॥७५॥

हम ज्ञानोन्मादी लोग तो 'प्रमा' (ठीक ज्ञान) उसी को कहेंगे जिस से कि सब से सूक्ष्म ही सब से महीयान् बन जाय, सब से दूर की अदृश्य वस्तु ही सब से समीप की दृश्य वस्तु हो गयी हो, तथा पररूप ही निजरूप प्रतीत होने लगा हो। (इस प्रकार कुछ का कुछ कर डालने वाली अद्भुत आत्मस्थिति

मिल जाने पर लौकिक लोग भले ही उस को 'प्रमा' कहते रहें जिस से कि सूक्ष्म को सूक्ष्म, महान् को महान्, दृश्य को दृश्य, अदृश्य को अदृश्य, पर को पर, तथा स्व को ही स्व, पहचाना जाता है। हम ज्ञानोन्मत्त लोग तो उसे 'अप्रमा' ही कह देंगे)

यद् दृश्यते तत्तु मिथ्या तत्सत्यं यन्न दृश्यते।
एतत्प्रामाणिकत्वं हि महोपनिषदां मतम् ॥७६॥

जानते हो महोपनिषदों में प्रामाणिकता किस बात की है? वे जो यह कहती हैं कि जो कुछ (आँखों से) दीख पड़ रहा है—प्रकट है—वह तो मिथ्या है तथा सत्य वह है जो तुम्हें (आँखों से) दीख नहीं रहा है—गुप्त है—बस यही उपनिषदों में प्रामाणिकता है।

जो भी कुछ पदार्थ दीखता अर्थात् ज्ञान का विषय होता है वह तो मिथ्या है। क्योंकि वह तो देश काल तथा वस्तु की मर्यादा में बंधा है। वह किसी विशेष देश किसी परिमित काल तथा किसी एक परिच्छिन्न वस्तु के रूप में ही तो होगा। यों वह सत्य नहीं है। सत्य तो वही होगा जो समस्त देशों, तीनों कालों तथा सब वस्तुओं में एक समान रहने वाला तत्व हो। जो आत्मतत्व किसी को भी दीख नहीं पड़ता अर्थात् किसी के ज्ञान का विषय नहीं होता वही तो पूरा सत्य है। "अतोऽन्यदार्तम्" इससे भिन्न सभी मिथ्या हैं मौत के लपेट में आये हुए हैं "यच्चक्षुषा न पश्यति" जो आखों से दीख नहीं पाता "यत्तदद्रेश्य मग्राह्यम्" जो ज्ञानेन्द्रियों से जाना और कर्मेन्द्रियों से पकड़ा नहीं जाता इत्यादि उपनिषदों में उस तत्व को विस्तारपूर्वक कहा है। संसार के अन्य सम्पूर्ण शास्त्र किसी विशेष अविद्या को नष्ट करते हैं परन्तु उपनिषदों की

अध्यात्मविद्या तो सम्पूर्ण अविद्याओं को तथा उन सबकी जननी मूलाविद्या को नष्ट करती है। यही कारण है कि उस का नाम 'राजविद्या' पड़ गया है।

विचित्रा यस्य रचना समस्ता भाति नीरसा।
जीवन्मृतकतुल्योसौ जीवन्मुक्तः श्रुतौ श्रुतः ॥७७॥

जिस को यह सारी विचित्र जगद्रचना (जिस को देख कर पामर प्राणी वाह वाह करते नहीं थकते) सर्वथा नीरस प्रतीत होने लगे अथवा फाड़खाने को दौड़ने लगे (संसारी लोगों की दृष्टि में) जीते मुरदे के समान बने हुए उसी पुरुष को उपनिषदों में जीवन्मुक्त कहा है। (फिर दुनियां के लोग ऐसे महापुरुषों को भले ही निकम्मा कहा करें। उनकी बात को प्रमाणिक कैसे मानें ?)।

स्वयमेव प्रकाशेत दीपः शून्यालये यथा।
तस्य व्यर्थप्रकाशस्य सार्थकं जन्म वर्णितम् ॥७८॥

मान लो कोई सूना घर हो। उस घर में प्रकाश का उपयोग करने वाला कोई भी न हो। वहां कोई दीपक अकेला व्यर्थ ही जल रहा हो। उस व्यर्थ जलते हुए दीपक की तरह यदि कोई महापुरुष (अपने जन्मजन्मातर के आध्यात्मिक परिश्रम से) अपने आत्मप्रकाश को व्यर्थ कर डाले—अपने आत्मप्रकाश को धर्म, अर्थ, काम, तथा मोक्ष नाम के मिथ्या पुरुषार्थों में व्यय न होने दे—बस केवल ऐसे ही महापुरुष का जन्म सार्थक कहा गया है। (ऐसे लोगों के जन्म को निरर्थक [बेमतलब] कहना ठीक नहीं होता)।

न बोधयति भावाना मात्मनो भेद मण्वपि।
अबोधदीप एवाय मस्माकं बोधदीपकः ॥७९॥

(सांसारिक पदार्थों के आपस के स्थूल भेदों को जताने की तो हम बात ही क्या कहें) जो अलौलिक दीपक संसार के पदार्थों को अपने से भी किञ्चित् पृथक् सिद्ध नहीं कर पाता है, साधारण समझ के लोग उसे भले ही अबोधदीपक कहा करें परन्तु हम ज्ञानी लोगों को दृष्टि में तो वही सच्चा बोधदीपक है। फिर संसारी लोग भले ही बोधदीपक को बोधदीपक कहा करें हम तो इस अबोधदीपक को ही बोधदीपक कहते रहेंगे।

निशायामेव जागर्मि निद्रामि सकलं दिनम्।
न च रोगाः प्रबाधन्ते मां.जरामरणादयः ॥८०॥

मैं तो रात को ही जागता हूँ और सारे दिन सोता हूँ परन्तु आश्चर्य यह है कि जरा, मरण आदि कोई भी रोग मुझे नहीं हो पाते हैं।

चिकित्साशास्त्री लोग रात को जागने और दिन के सोने को भले ही अनेक रोगों का कारण बताया करें, मैं तो दुनिया के लोगों की घोर रात के समान आत्मज्ञानरूपी निशा में ही जागता हूँ (संसार के अन्य सम्पूर्ण प्राणी इस आत्मविषय में सदा ही सोते रहते हैं इस से उस को निशा कहा गया है) तथा व्यवहाररूपी दिन जब निकला रहता है तो मैं सोया पड़ा रहता हूँ—उस समय मैं प्रपंच की ओर से पूरा उदासीन रह कर आत्मनिरीक्षण में तत्पर रहता हूँ। इस प्रकार विपरीत आचरण करने का प्रभाव देखो कि अब मुझे जन्म मरण आदि रोगों के होने का डर ही जाता रहा। हम तो समझते हैं कि यह रात्रि और यह दिन तो भिषक्शास्त्रियों के ध्यान में भी नहीं आया होगा, जभी तो दिवाशयन और रात्रिजागरण को रोगों का कारण लिख मारा है।

उत्तमाधममध्यानां भेदभानं धियां फलम्।
ताभिर्हीनस्य हरिणा प्रोक्ता पण्डितराजता ॥८१॥

बुद्धियों का तो संसार में यही फल माना जाता है कि उन से उत्तम मध्यम और अधम के भेद की प्रतीति होती रहे, परन्तु जो महापुरुष इन तीनों प्रकार की बुद्धियों से हीन हो चुका हो, भगवान् कृष्ण ने उसी को बुद्धिमानों का शिरोमणि कह डाला है। (ऐसी परिस्थिति में लोक तथा शास्त्रों का केवल बुद्धिमान् को ही पण्डित कहना तथा ऐसे निर्बुद्ध को सर्वथा निर्बुद्ध समझ बैठना माननीय नहीं है)।

जडेन येन सन्त्यक्ते उभे सुकृतदुष्कृते।
बुद्धियुक्तः स एवेति पार्थं प्राह जनार्दनः ॥८२॥

(ज्ञानियों में तो परम माननीय परन्तु संसारी दृष्टि में) जड कहाने वाले जिस मूढ पुरुष ने पुण्य और पाप दोनों ही को इस प्रकार छोड़ दिया हो कि ये फिर कभी उदय ही न हो सकें तो बस उसी को कृष्ण ने अर्जुन के प्रति सच्चा बुद्धिमान् कहा है।

जिस पुरुष को ऐसा अद्भुत और अलौकिक ज्ञान हो जाय कि फिर उसे पुण्य पाप का परिज्ञान ही न रहे तो वही सच्चा बुद्धि-मान् है। जिस ज्ञानसूर्य के उदय हो जाने पर पुण्यपापज्ञानरूपी टिमटिमाते हुए दीपक स्वयमेव निष्प्रभ हो जायँ, ऐसा ज्ञानसूर्य ही मुक्ति जैसे प्रकाशस्वरूप पद को देने में समर्थ हो सकता है। ऐसा ज्ञान जिसे मिल जाय वही सच्चा ज्ञानी है। लोक में बुद्धि-मान् को बुद्धिमान् कहने की परिपाटी पड़ गयी है, परन्तु गीता के मत से तो ऐसे जड लोग ही सच्चे ज्ञानी कहाने योग्य हैं। शेषों की बुद्धिमत्ता तो धूल फांकती है और सैकड़ों ठोकरें खाती है।

कृताकृतैर्न यस्यार्थो नाश्रयो यस्य कुत्रचित् ।
पार्थसारथि रित्याह स तुच्छः स्वच्छमुक्तिभाक् ॥८३॥

जिस पुरुष को कृत (अर्थात् कर्मफलों) से कुछ प्रयोजन न रहा हो जो पुरुष अकृत (अर्थात् मोक्ष) से भी कुछ वास्ता न रखता हो, अथवा जिस को किये न किये या अधकिये की कुछ परवा न रही हो, जिस को किसी भी वस्तु में मोह ममता न रही हो, अथवा जिस का कहीं भी घर द्वार न हो, ऐसे तुच्छ (उपेक्षणीय) पुरुष को ही पार्थ के सारथि श्रीकृष्ण ने, निर्मल आत्मस्थिति में पहुँचा हुआ बताया है। (उन के मत से ऐसे तुच्छ को ही स्वच्छ मुक्ति की प्राप्ति हुई रहती है)।

धर्माधर्मौ न जानाति न जानाति शुभाशुभे ।
सुखदुःखे न जानाति स ज्ञानीति मतं हरेः ॥८४॥

(ज्ञानोन्माद में आकर) जिस पुरुष को धर्म अधर्म का विचार न रह गया हो, जिस की शुभाशुभ की पहचान जाती रही हो, बात यहां तक बढ़ गयी हो कि अब जिसे सुख दुःख की प्रतीति भी बन्द हो गयी हो (लौकिक लोग भले ही उसे पूरा पूरा अज्ञानी समझते रहें परन्तु) हरि के मन की बात तो यह है कि वह (बेसुध) ही सच्चा ज्ञानी है।

चिन्तनेनैव मुक्तिः स्यादिति सर्वत्र वर्णितम् ।
अस्माकं तु मते स्वस्मिन्न किञ्चदपि चिन्तयेत् ॥८५॥

प्रायः सब ही शास्त्रों में (साकार अथवा निराकार का) चिन्तन करने से मुक्ति पाने की बात कही है। परन्तु हम ज्ञानोन्मादियों के मत में तो सब ही प्रकार का चिन्तन बन्द कर डालना चाहिये। (चिन्तन से मुक्ति मिलने की सम्पूर्ण शास्त्रों

की बात हमारी समझ में ठीक नहीं है, क्योंकि सकल चिन्तनों के पूर्णरूप से रुक जाने पर जब कि इन चिन्तनों का साक्षी आत्मा ही अपने कैवल्य रूप में शेष रहने लग पड़े, तभी मुक्ति का दुलर्भ पद किसी के हाथ आता है)।

चिन्तनं सर्वशास्त्राणां मतमन्यन्मतं मम।
न किञ्चिच्चिन्तनादेव स्वयं तत्त्वं प्रकाशते ॥८६॥
स्वयं प्रकाशिते तत्त्वे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत् ॥

इति सार्धश्लोकौ

सम्पूर्ण शास्त्र एकस्वर से चिन्तन (ध्यान) को ही मोक्ष का परम साधन कहते हैं, परन्तु हमारा तो उन सब से ही भिन्न मत है। हमारे मत में तो जब कोई सब कुछ सोचना छोड़ देता है, वह परमतत्व तब अधिकारी पर प्रकाशित होकर रहता है। जब वह तत्व प्रकाशित होता है तो उस की महिमा या पहचान यह है कि वह साधक भी तत्क्षण ही स्वयंप्रकाश आत्म-स्वरूप ही हो जाता है। यह डेढ़ श्लोक समाप्त हुआ, अब दूसरी बात कहेंगे।

एकोऽपि न गुणो यस्मिन् द्वौ त्रयो वा कुतः किल।
गुणान् गायति गोविन्दो निस्त्रैगुण्यस्य तस्य हि ॥८७॥

विचार करने पर जिस आत्मतत्व में एक भी गुण नहीं है, दो और तीन का तो कहना ही क्या! दूसरे शब्दों में कहें तो जो आत्मतत्व सर्वथा निर्गुण है (जिस में अद्वैतरूपी एक महागुण भी नहीं रहता, जिस में प्रकृति पुरुष नामक दो गुण तथा सत्व रजस् तमस् नामक तीनों गुण तथा इन के अभिमानी ब्रह्मा विष्णु महेश आदि तीनों की तीन संख्यायें भी नहीं रहतीं) उसी

निस्त्रैगुण्य (निर्गुण) ज्ञानी के (असंग सच्चिदानन्द आदि) गुणों को श्रीकृष्ण स्वयं अपने कण्ठ से गाते हैं।

यस्य नैवाधिकारोस्ति कस्मिंश्चिदपि कर्मणि।
मुख्योधिकारी कैवल्ये स गीतो नन्दसूनुना ॥८८॥

('अर्थी ह्यधिक्रियते' चाहवाला अधिकारी होता है इस न्याय से चाह न रहने के कारण) जिस का किसी भी काम में अधिकार न रहा हो, कृष्ण भगवान् ने तो उसी को मोक्ष का मुख्य अधिकारी कह डाला है।

पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् यः प्रत्यक्षापलापकृत्।
नैव किञ्चित् करोमीति तमार्यं प्राह केशवः ॥८९॥

सब कुछ देखता सुनता छूता तथा सूंघता हुआ भी जो ज्ञानी 'मैं असंग आत्मा वस्तुतः कुछ भी नहीं करता हूँ' इस उदात्त विचार के प्रभाव में फँसकर, सब लोगों के प्रत्यक्ष का ही अपलाप करने लगे कि 'मैं तो कुछ भी नहीं करता हूँ' उस (विरुद्ध-भाषी अनार्य) को ही केशव ने गीता में यथार्थवक्ता आर्य माना है।

जानन्तोऽपि न सन्मार्गं मूढायोपदिशन्ति ये।
मूढमार्गं प्रशंसन्ति तान् साधूनाह माधवः ॥९०॥

जो पुरुष (मोक्षदायक ज्ञानरूपी) सन्मार्ग को जानते तो हैं, परन्तु (ज्ञानमार्ग के अनधिकारी) मूढ लोगों को उस मार्ग का उपदेश कभी नहीं करते। किन्तु जिस कर्म अथवा उपासना के मार्ग में वे लोग लगे रहते हैं उसी मार्ग को उन के लिये 'हां यही ठीक है' कह देते हैं, ऐसे उन खल लोगों को ही माधव ने साधु कह डाला है।

जो लोग ज्ञान के गहन तत्व को समझ ही नहीं सकते उन को भूल कर भी ज्ञान की बात न कहनी चाहिये। गीता के शब्दों में उन का बुद्धिभेद कभी न करना चाहिये, प्रत्युत उन के स्वीकृत मार्ग की ही प्रशंसा ज्ञानी लोग किया करें। जिस से कि उनका अन्तःकरण शुद्ध होता जाय और वे लोग काल पा कर ज्ञानमार्ग के अधिकारी बन सकें।

यस्मिन् मार्गे प्रविष्टस्य भ्रष्टताऽग्रिमजन्मनि।
तमेव योगिनां मार्ग मस्तौषीत् पार्थसारथिः ॥९१॥

जिस (ज्ञान अथवा ब्रह्मानन्दरूपी) मार्ग में प्रविष्ट हो जाने पर अगले जन्म में भ्रष्टता आ जाय (अगला जन्म मिले ही नहीं) पार्थ के सारथि श्रीकृष्ण ने भ्रष्ट कर डालनेवाले योगियों के उसी मार्ग की भरपेट प्रशंसा की है।

यथेष्टचेष्टारोधो हि सिद्धिदो हठयोगिनाम्।
यथेष्टचेष्टा कैवल्य मस्माकं ज्ञानयोगिनाम् ॥९२॥

हठयोगी के मत में देह इन्द्रिय आदि की यथेष्ट चेष्टाओं (स्वाभाविक क्रियाओं) को रोक लेने से मुक्ति नामक सिद्धि का मिलना माना गया है। (उन का वह मत ठीक नहीं है)। हमारा सिद्धान्त तो उन से सर्वथा ही विलक्षण है—हम ज्ञानयोगियों के मत में तो यथेष्टचेष्टायें (शरीर और आत्मा को सर्वात्मना पृथक् पृथक् जान कर प्रारब्ध भोग के अनुसार केवल शरीर-यात्रा के लिये, केवल शरीर आदियों से ही जब स्वाभाविक क्रियायें होने लगें—जब उन क्रियाओं में हमारा थोड़ा सा भी अहंभाव न रहे—तो यही यथेष्टचेष्टायें कहाती हैं) ही मोक्ष कहाती है।

हत्वापि य इमांल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ।
अस्माकन्तु मते तस्य संगतिः शान्तिसाधनम् ॥९३॥

जो कोई महापुरुष इन समस्त लोकों को मार कर भी (समस्त प्राणियों का वध करके भी) तत्वदृष्टि के अनुसार न तो मारता ही है और न मारने के पाप का भागी ही बनता है, ऐसे उस घातक की संगति करने (उस के मुख से निकले हुए अनुभवपूर्ण वाक्यों को सुनने) से मोक्षनामक परमशान्ति के दर्शन हो जाते हैं । (ऐसी अवस्था में धर्मशास्त्र का लोकघातकों की संगति को नरक देनेवाली बताना, हमें सर्वांश में माननीय नहीं है) ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु र्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
एतस्यापरिहार्यस्य परिहारो मतं मम ॥९४॥

उत्पन्न हुए का मरना तथा मृत का दुबारा जन्म लेना, ये दोनों बातें लोक में अपरिहार्य समझी जाती हैं । मेरे मत में तो इन अपरिहार्य बातों का भी परिहार (निवृत्ति) हो जाता है ।

जन्ममरणशील शरीरादि के साथ जब हम तादात्म्य छोड़ देते हैं और केवल आत्मस्वरूप में स्थित होना सीख जाते हैं, तो ये अपरिहार्य समझे जाने वाले जन्ममरण आदि भी सदा के लिये निवृत्त हो जाते हैं ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि कुरुते यस्य भस्मसात् ।
न तस्य कर्मभ्रष्टस्य कर्मठैर्लभ्यते पदम् ॥९५॥

यह बिचारा धर्मशास्त्र कर्मभ्रष्ट लोगों को अधोगति का मिलना भले ही बताया करो, परन्तु (सकल संसार को भस्मसात्

कर डालने वाली) ज्ञानाग्नि जिस के (संचित प्रारब्ध और क्रियमाण) सम्पूर्ण कर्मों को भस्मसात् करके कर्मभ्रष्ट कर चुकी हो, ऐसे उस कर्मभ्रष्ट के (जीवन्मुक्तिरूपी) परम पद को कर्मी लोग कभी भी प्राप्त नहीं हो सकते।

यस्तु कापुरुषः कामात् सर्वस्मादपि निर्गतः।
स एव पुरुषार्थीति जगाद पुरुषोत्तमः ॥९६॥

(संसार के झंझटों से घबराया हुआ) जो कोई भीरु (डरपोक) पुरुष (धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष नामक सम्पूर्ण) कामनाओं से सर्वथा निवृत्त हो चुका हो, पुरुषोत्तम ने गीता में उसी भीरु को सबसे बड़ा पुरुषार्थी कह दिया है।

ये कामादि सकल पुरुषार्थ, विचार की अन्तिम श्रेणी में जब हम पहुँचते हैं तब केवल आत्मरूप ही पाये जाते हैं। अपने विचार की प्रबलता से जो मनुष्य सदा ही केवल आत्मकाम हो सकता है, जो किसी भी अनात्मपदार्थ की इच्छा ही नहीं करता, सबसे बड़े पुरुषार्थ को प्राप्त कर लेने वाले ऐसे सर्वकामहीन पुरुष को कापुरुष कहना कदापि युक्तिसंगत नहीं है।

विष्णुगीता मयाधीता निर्णयस्तत्र निर्गतः।
सर्वधर्मपरित्यागी सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥९७॥

(धर्मशास्त्र के कथनानुसार सब धर्मों का त्याग कर देने वाले को अवश्य ही नरकयातनायें भोगनी पड़ेंगी, परन्तु) मैंने जो भगवद्गीता का स्वाध्याय किया तो मुझे उसमें से केवल यही निर्णय हाथ आया कि जो कोई सकल वर्णाश्रम के उचित भी धर्मों अथवा कर्मों का सच्चे अर्थों में परित्याग कर सके (केवल आत्मैक-

शरण होकर रह सके) तो वह सभी पापों से मुक्त हो जाय और मुक्ति के परमपद को पाकर ही छोड़े ।

असंगवस्तुविषये प्रलापोऽयन्तु सङ्गतः ।
ध्यातो मुहु र्मुहु र्दद्यात् सतां पूर्णामसङ्गताम् ॥९८॥

असंग वस्तु के विषय में हमने जो यह प्रलाप किया है यह बड़ा ही संगत है । इसका बार बार ध्यान करने से साधन-सम्पन्न पुरुषों को पूरी असंगता प्राप्त हो सकेगी । (इस कारण इसकी उपेक्षा न करनी चाहिये)

अगोचरविचारेऽस्य निन्द्यकामादिवर्त्मना ।
शतकस्य प्रवृत्तस्य व्यक्तोन्मत्तप्रलापता ॥९९॥

संसार में निन्दनीय समझे जाने वाले काम क्रोधादि के द्वारा ही इस शतक में अगोचर आत्मतत्त्व का विचार किया है, इसी से उसका नाम 'उन्मत्तप्रलाप' अर्थात् उन्मत्त का सा प्रलाप रक्खा है ।

इन काम क्रोध आदि मनुष्य के शत्रुओं का झुकाव जब तक संसार की ओर रहता है तभी तक ये निन्द्य अथवा हानि-कारक समझे जाते हैं, परन्तु जब इनका झुकाव ईश्वरतत्त्व की ओर हो जाता है तो ये हमारे पक्के मित्र होकर हमें अपने साथ ही ईश्वरतत्त्व की ओर ले जाते हैं । संसारसागर को पार करने में वे ही निन्द्य काम क्रोध आदि किस किस रीति से हमारी सहायता करके हमें अगोचर ब्रह्म को प्राप्त करा देते हैं, यही सब इस सौ श्लोक के प्रकरण में कहा है ।

अस्योन्मत्तप्रलापत्वादुपेक्षां तात मा कुरु ।
नूनमेतस्य भावार्थो दुर्बोधो विषयात्मभिः ॥१००॥

केवल उन्मत्तप्रलाप समझ कर इस सुन्दर प्रकरण का अनादर मत करना। इस प्रकरण का भावार्थ उन लोगों की समझ में बड़ी ही कठिनता से आयेगा, जिनका अन्तःकरण सदा ही विषयों (भोगों) में उलझा रहता है। इसका भाव तो सहज में वे ही समझ सकेंगे जिन्होंने अपने अन्तःकरण को भोगों से पृथक् कर लिया होगा।

इत्युन्मत्तप्रलापोऽयं नाम्ना प्रोक्तो मया तव ॥१०१॥

यही सब सोचकर मैंने इस प्रकरण का नाम 'उन्मत्तप्रलाप' रक्खा है और तुम्हें यह सब कह सुनाया है।

नूनमेकान्तनिष्ठेन नित्यमेकाग्रचेतसा।
इत्युन्मत्तप्रलापोयं विचार्यः कृतबुद्धिना ॥१०२॥

क्योंकि यह प्रकरण सामान्य प्रकरण समझकर उपेक्षणीय नहीं है, इसलिये किसी निर्जनस्थान में अपने चित्त को ब्रह्म में एकाग्र करके कृतबुद्धि लोगों को यह प्रकरण सदा ही विचारना चाहिये।

अवस्थाया मनोन्मन्या उन्मत्ता ये महाधियः।
निधिस्तेषां प्रलापोयं स्थाप्यो हृदयमन्दिरे ॥१०३॥

हम साधारण लौकिक उन्मत्तों की बात नहीं कहते, किन्तु जो लोग मनोन्मनी (मनोनाशरूपी ब्रह्माकारवृत्ति) अवस्था के प्रभाव में आकर उन्मत्त अथवा नष्टमानस हो जाते हैं, यह भाषण उन महाबुद्धि लोगों का एक अत्यन्त गोपनीय निधि है। मुमुक्षुओं को उचित है कि वे अपने हृदयरूपी मन्दिर में बड़े प्रयत्न से इस प्रकरण को धारण किये रहें।

अथ शिवपूजाशतकम्

अब शिवपूजाशतक नामका प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

शिवपूजात्मकं कर्म कर्मनिर्मूलनक्षमम् ।
संकल्पः शिवपूजायाः सर्वसंकल्पदुःखहृत् ॥१॥

(सामान्य नियम यह है कि कर्म से प्राणी बन्धन में पड़ जाता है परन्तु) शिवपूजा नाम का कर्म तो कर्मों को उखाड़ फेंकने में समर्थ है । (इसी प्रकार सामान्यतया संकल्पों से दुःख ही दुःख पैदा होते हैं परन्तु) शिवपूजा का संकल्प तो संकल्पों से होने वाले समस्त दुःखों को ही हर लेता है ।

जब सम्पूर्ण वृत्तिरूपी पुष्पों से इस सदाशिव आत्मदेव की पूजा की जाती है अर्थात् ब्रह्माकारवृत्ति कर ली जाती है तो इस कर्म का यह प्रभाव होता है कि इस वृत्ति के करने में जो जो कर्म विघ्न डाला करते हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं। उनके साथ ही उन सबका कारण मूलाज्ञान तथा उससे उत्पन्न हुआ कर्तृत्व आदि सम्पूर्ण संकट एक दम नष्ट हो जाता है ।

यदि कोई अधिकारी इस सदाशिव आत्मदेव की पूजा का संकल्प भी कर लेता है तो उस संकल्प का ही इतना अद्भुत प्रभाव होता है कि संकल्पों से पैदा होने वाले उसके समस्त दुःख स्वयमेव निवृत्त हो जाते हैं ।

इसका दूसरा भाव यह भी है कि सृष्टि के प्रारम्भ में इस समस्त जगत् को बनाने के लिये जोकि एक बड़ा संकल्प किया गया था—जिसको 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' इत्यादि शब्दों में कहा गया है—जगद्धाता की उस बड़ी भूल से इस संसार में जोकि दुःखों के बड़े बड़े ढेर उत्पन्न हो गये हैं इस शिवपूजन के

संकल्प के प्रभाव से वे सब दुःखों के ढेर एकपदे ही न मालूम कहाँ उड़ जाते हैं। इसलिये मुमुक्षु लोग शिवपूजा करें या कम से कम इसका संकल्प तो कर ही लें।

शिवपञ्चाक्षरी दीक्षा शब्दब्रह्ममयी हिता।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥२॥

शब्दब्रह्म* के रूप में संसार में अवतीर्ण हुई यह शिव-पंचाक्षरी† दीक्षा (विद्या) मुमुक्षु लोगों के बड़े ही लाभ की वस्तु है। क्योंकि जब कोई अधिकारी शब्दब्रह्म में पारंगत हो जाता है (ध्यान आदि के द्वारा प्रणव के अर्थ [ब्रह्म] में रत हो जाता है किंवा ओंकार के अर्थब्रह्मनामक पदार्थ का चित्र अपने मानस नेत्रों के सामने अनायास खड़ा कर लेता है) तब उसके पश्चात् उसको परब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है—वह स्वयं ब्रह्म ही हो गया होता है। मुमुक्षु लोग इस विद्या को अवश्य ही अंगीकार करें।

तिस्रो रेखा विभूतेस्तु श्रद्धाभक्तिविरक्तयः।
पूजाधिकारसिद्ध्यर्थं धार्याः स्वाङ्गेषु शाम्भवैः ॥३॥

(जीव को उस का भूला हुआ ब्रह्मभाव फिर प्राप्त हो जाय यही एक बड़ी भारी विभूति कहाती है इस) विभूति की श्रद्धा-

---

* 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' इत्यादि श्रुतियों में वाच्य और वाचक (शब्द और अर्थ) में अभेद मानकर प्रणव को ही ब्रह्म माना गया है। वह प्रणव शब्दरूप होता है इससे उसको ब्रह्म भी कहते हैं।

† 'ओम् नमःशिवाय' यह शिवपंचाक्षरी दीक्षा कहाती है।

भक्ति तथा वैराग्य* नामक तीन रेखायें मानी गयी हैं। शाम्भव (शम्भु नामक सदाशिव आत्मा के उपासक मुमुक्षु) लोगों को चाहिये कि वे अपने (वृत्तिरूपी) अंगों में पूजा करने का अधिकार सिद्ध करने क लिये इन तीनों रेखाओं को सदा ही धारण किये रहें।

तीनों रेखाओं को धारण करने से ही उन की आगे वर्णित पूजा करने की योग्यता सिद्ध हो सकती है अन्यथा नहीं। लौकिक विभूति को मलना छोड़ कर यही अलौकिक विभूति शिव के भक्तों को अपने वृत्तिरूपी अंगों में मल लेनी चाहिये।

रुद्राभरणमुद्रास्तु धार्या रुद्राक्षमालिकाः।
देवो भूत्वा यजेद्देव मितीयं शाश्वती श्रुतिः ॥४॥

पहले तुम देव बन लो और फिर देव (चिन्मात्रदेव आत्मा) का भजन करना प्रारम्भ करो। यह शाश्वत उपनिषद् में कहा है। इस लिये पहले रुद्राक्षमालाओं को, जो कि रुद्र के आभरण तथा रुद्र की मुद्रा हैं धारण कर लो।

पूजा के उपयुक्त वायुमण्डल बनाने के लिये यह आवश्यक है कि रुद्र नामक अहंकार के ससंगत्व तथा दुःखित्व आदि स्वभाव

---

*गुरु या वेदान्त के वाक्यों में विश्वास 'श्रद्धा' कहाती है, इसकी सहायता से जीव को अपने में ब्रह्मत्व की स्मृति हो जाती है। गुरु में तथा ब्रह्म के अभेद में स्वाभाविक प्रेम को 'भक्ति' कहते हैं, यह भी अपने ब्रह्मभाव के स्मरण का कारण होता है। आत्मा से भिन्न विषयों में विरसता 'वैराग्य' कहा जाता है, उससे भी अपने ब्रह्मभाव का स्मरण हो जाता है। तीनों ही ब्रह्माकारवृत्तिरूपी विभूति के आवश्यक अंश हैं इनके बिना ब्रह्मभाव का स्मरण होता ही नहीं।

को भुला दिया जाय और असंगत्व तथा आनन्द आदि धर्मों को प्रकट करने वाली शाम्भवी आदि मुद्राओं को ही शम्भु के पहनने की रुद्राक्षमालिका समझ कर उसे अपने वृत्तिरूपी अंगों में धारण कर लिया जाय। ऐसी अलौकिक तीन विभूतिरेखाओं तथा ऐसी अलौकिक रुद्राक्षमालाओं को धारण कर लेने पर जब तुम साक्षात् रुद्र हो जाओगे तभी रुद्र भगवान् का सफल पूजन कर सकोगे।

अथ पूजाक्रमः—

पूजा के सम्पूर्ण साधनों को बताने के अनन्तर अब पूजा का क्रम अथवा उसका अनुष्ठान करने की पद्धति बताई जाती है—

यद्यपि शैवतन्त्रों में जहाँ तहाँ मणि आदि अनेक अनेक प्रकार के शिवलिंग बनाने की बात कही है, परन्तु मिट्टी के लिंग का ही सबसे अधिक माहात्म्य होता है। इसलिये मृण्मय लिंग ही बनाना और पूजना चाहिये। उसके लिये जिस अलौकिक मृत्तिका की आवश्यकता होती है, वही इस अग्रिम श्लोक में बतायी जाती है—

आकाराः कल्पिता यस्यां ब्रह्माद्याः स्थिरजङ्गमाः।
तन्मृत्तिकामयं शैवैः शिवलिंगं प्रपूज्यते ॥५॥

जिस (अलौकिक ब्रह्मरूपी) मिट्टी में ब्रह्मा से लेकर क्या स्थावर क्या जंगम सभी आकृतियें (लौकिक घड़े आदि की तरह) कल्पनामात्र से बना डाली गयी हैं, शैव लोग ऐसी उस (ब्रह्ममयी) अद्भुत मिट्टी के बने शिवलिंग को ही पूजते हैं।

तत्र प्रथमं 'हराय नम' इति मृत्तिकाग्रहणम्।

सबसे प्रथम 'हर के लिये नमस्कार' यह कह कर मिट्टी उठानी चाहिये।

इस सब द्वैतजाल को एकदम हर लेने वाले परात्मा को, जो समस्त द्वैतजाल की बाधा करने पर भी शेष रह ही जाता है, हमारा साष्टांग प्रणाम हो। इस प्रणाम को करते हुए हम ऐसे गिरें कि आठ प्रकृतिरूपी* आठ अंगों से युक्त परमेश्वर की तथा परमेश्वरसहित हमारे जीवभाव की पूर्णरूप से बाधा हो जाय। इस प्रणिपात के बाद इन दोनों का चिन्ह कहीं भी देखने को न मिले। ये दोनों कहीं खोजने पर भी हाथ न आयें। ऐसी गम्भीर अवस्था में प्रवेश कर जाना ही इस पूजा में शिवलिंग बनाने के लिये मिट्टी उठाना कहा जा सकता है।

मृत्सत्या यच्छरावास्तु श्रुता ब्रह्माण्डकोटयः।
हराय नम इत्येवं ग्राह्या सा मृत्तिका बुधैः ॥६॥

सत्य (अर्थात् त्रिकालाबाधित) ब्रह्म ही (सकल द्वैत का उपमर्दन करने वाली) मृत्तिका कहाती है। (मृत्तिका तो उसे केवल इसलिये कहते हैं कि) ये अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड उसी ब्रह्मरूप मृत्तिका के शरावों के समान अति तुच्छ कार्य हैं। (यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते इत्यादि श्रुतियों में यही बात प्रतिपादित की गयी है) बुध अर्थात् विवेकी लोगों को उचित है कि उस मृत्तिका नामवाली ब्रह्मरूप स्थिति को ही 'हराय नमः' इस मन्त्रार्थ का विचार करते हुए ग्रहण कर लें। (यदि वे ऐसा न करेंगे तो शिवलिंग बनाने के लिये मृत्तिका ही उनके हाथ न लगेगी और फिर उनकी पूजा का भ्रंश हो जायगा)।

---

*पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार ये आठ प्रकृतियाँ कहाती हैं।

महेश्वराय नम इति लिंगसंघट्टनम् ।

महेश्वर के लिये नमन इस विचार को लेकर लिंग का निर्माण करना चाहिये ।

जो ब्रह्म मायोपाधि से बाहर है, अन्तर्यामी आदि का भी आरोप जिस के आधार पर ही कर लिया गया है, ऐसे उस सर्वेश्वर को (उसकी सर्वेश्वरता पर अपना पूर्णाधिकार जमाने के लिये) हमारा साष्टांग प्रणाम हो। इस प्रणाम को करते हुए हम बेसुध होकर ऐसे गिरें कि वह हमारा अष्टांग सहित परमेश्वर तथा ईश्वरसहित जीवभाव सर्वथा नष्ट हो जाय। इस प्रणिपात का यह प्रभाव हो कि हम गिरने वाले तथा हमारे गिरने की भूमि वह परमेश्वर, कोई भी इस अतीतगाथा को कहने के लिये शेष न रह जायँ। ये सब गाथायें अनन्तकाल के लिये विलीन हो जायँ। इस प्रकार क्रमानुसार गम्भीर, गम्भीरतर तथा गम्भीरतम होते चले जाना ही इस शिवपूजन में 'लिंगसंघट्टन' अथवा लिंगनिर्माण कहाता है। जब किसी को ऐसा लिंगनिर्माण करना आ जाय तो हम कहेंगे कि उसे ब्रह्माकार वृत्ति करना भी आगया और ब्रह्म के साथ एकता सम्पादन करने की कला भी उसके हाथ लग गयी है ।

अखण्डाकारवृत्तिस्तु वेदान्ते या निरूपिता ।
नमो महेश्वरायेति लिंगसंघट्टनं हि तत् ॥७॥

वेदान्त में जिस अखण्डाकार वृत्ति का वर्णन किया है जब किसी ज्ञानी में वह वृत्ति रहने लगे, तो 'नमो महेश्वराय' इस भावलहरी में बहते ही (उसमें ऐसा प्रह्वीभाव [नम्रता] आता है कि फिर उसका कहीं भी पता ही नहीं रहता। उसका जीवभाव

वही पलायन कर जाता है) उसी में समा जाने वाली, सर्वथा तन्मय हो जानेवाली, यह नम्रता ही सच्चा 'लिंगनिर्माण' कहाता है।

इस मन्त्र का विचार करते करते जब ऐसी अवस्था का प्रादुर्भाव हो जाय कि ब्रह्म का लिंग यह जगत् फिर कभी भी उससे पृथक न दीख पड़े (यह ब्रह्माकारवृत्ति फिर कभी भी उससे छूट न सके) तब कहा जायगा कि ब्रह्म के साथ एकता का सम्पादन करने के मुख्य मार्ग पर उसने अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया है।

शूलपाणये नम इति प्रतिष्ठापनम्।

शूलपाणि अर्थात् (शान्ति वैराग्य तथा बोध नाम के तीन तीक्ष्ण शूलों से मिलकर बने हुए ज्ञानशूल को सदा ही अपने हाथ में लिए हुए) गुरुदेव को (उनके गुरुरूपी ब्रह्मत्व को भी प्राप्त कर लेने के लिए) हमारा साष्टांग प्रणाम हो। यही तो इस पूजा में 'प्रतिष्ठापन' कहाता है।

त्यक्त्वा सम्भावनां तद्वद्विपरीतत्वभावनाम्।
शूलपाणिः प्रतिष्ठाप्यः पीठे निष्ठामये बुधैः ॥८॥

असम्भावना तथा विपरीतभावना को सर्वथा निकाल डालने के अनन्तर बुद्धिमान् लोगों को उचित है कि अपने हृदय की अभेदनिष्ठारूपी पीठ (चौकी) बनाकर शूलपणि (ब्रह्म से अभिन्न आत्मस्वरूप गुरुदेव) को उस पर प्रतिष्ठित करदें अर्थात् बार बार विचार करें कि मैं, मेरा गुरु तथा वह परब्रह्म, तीनों अन्ततोगत्वा एक ही हैं। यही इस शिवपूजन में प्रतिष्ठापन कहाता है।

पिनाकधृते नम इत्यावाहनम्।

ओंकार के अर्थरूपी पिनाक (धनुष) को जिन्होंने धारण

कर रक्खा है उन गुरुदेव के स्वरूप को प्राप्त करने के लिये वही पहले जैसा साष्टांग प्रणिपात हो। यही इस शिवपूजन का 'आवाहन' कहाता है।

सर्वगस्यापि देवस्य भक्तिरावाहनं तव।
आवाहयामि भक्त्या तमित्यावाह्यः पिनाकधृत् ॥९॥

सर्वत्र व्याप्त हुए तुम आत्मदेव की भक्ति (सच्चिदानन्दरूप से स्वीकार) कर लेना ही तुम्हारा सच्चा आवाहन (समीप बुलाना) कहाता है। मैं तो सर्वत्र परिपूर्ण तुम सदाशिव को सदा अपने समीप बुला कर बिठाये लेता हूँ। इस रीति से प्रणवनामक धनुष को धारण करने वाले ब्रह्म को सदा ही प्रत्यक्ष करते रहना चाहिये। ऐसा अलौकिक आवाहन ही इस शिवपूजन में उपयोगी हो सकता है।

अथ ध्यानम्—

आवाहन के पश्चात् अब ध्यान को बताया जाता है—

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्
पद्मासीनं समन्तात्स्तुतममरगणै र्व्याघ्रकृत्तिं वसानं
विश्वाद्यं विश्ववन्द्यं निखिलभयहरं पंचवक्त्रं त्रिनेत्रम् ॥१०॥

देखने में चांदी के पर्वत के समान उज्ज्वल वर्णवाले, सुन्दर चन्द्रमा को अपने सिर पर भूषण की जगह धारण किये हुए, श्रेष्ठ रत्नों को पहनने के कारण जगमगाते हुए अंगों वाले, एक हाथ में परशु दूसरे में मृग तथा तीसरे में वर को संभाल कर अभयदान देते हुए, प्रसन्न मुखवाले, पद्म पर आसन जमाए हुए, चारों तरफ़ से घेर कर बैठे हुए देवों के समूहों से प्रशंसा

पाये हुए, व्याघ्रचर्म को पहने हुए, इस समस्त जगत् के आदि-कारण, इस समस्त विश्व के वन्दनीय, सम्पूर्ण भयों को अथवा सब लोगों के भयों को हटाते हुए, पांच मुख तथा तीन नेत्र वाले, महेश को ही नित्य समझ कर उस का ध्यान किया करे। ध्यान श्लोक का यह लौकिक अर्थ हुआ।

अथास्य विवरणम्—

इस ध्यान श्लोक का जो शिवपूजा में उपयोगी अर्थ है उस का वर्णन किया जायगा—

तत्र ध्यायेदित्यादिपदत्रयस्य विवरणम्।

ध्यानश्लोक के 'ध्यायेन्नित्यं महेशम्' इन तीनों पदों का विवरण सुन लो—

अनित्ये नित्यं विरसा नित्ये नित्यं धृतव्रताः।
नित्यं महेशं ध्यायन्ति नित्यानित्यविवेकिनः ॥११॥

इस अनित्य द्वैतप्रपञ्च के विषय में जो सदा ही उदासीन रहते हैं (इस से मिलने वाले किसी भी काल्पनिक सुख की ओर जिन का मन नहीं चलता) नित्य आत्मस्वरूप को अनुभव करने का जो सदा ही व्रत धारण किये रहते हैं (श्रवणादि के द्वारा इस नित्य आत्मस्वरूप को प्राप्त करने का जो सदा ही गम्भीर प्रयत्न करते रहते हैं) ऐसे वे नित्यानित्य पदार्थों को पहचानने वाले महापुरुष नित्य महेश्वर का सदा ही ध्यान करते हैं। यही तो इस शिवपूजन में ध्यान कहाता है।

अथ रजतगिरिनिभमित्यस्य विवरणम्—

अब 'रजतगिरिनिभम्' इस पद का व्याख्यान किया जाता है।

रजतस्य गिरिः शम्भुः शाम्भवानां परं धनम् ।
धनेन तेन पूर्णानां दरिद्रत्वं न विद्यते ॥१२॥

यह आत्मशम्भु आनन्दरूपी रजत के एक बड़े पर्वत हैं, शम्भु के भक्तों का यही परमधन है, इस धन से जो परिपूर्ण हों, वे कभी दरिद्र नहीं होते ।

जैसे कि इस सकल प्रपञ्च का व्यवहार रजत अथवा सुवर्ण के आधार पर चलता है, इसी प्रकार यह सब जगद्व्यवहार आनन्ददायक पदार्थ से चल रहा है । जोकि रजत के समान ही सुखजनक है 'एप ह्येवानन्दयाति' 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' । यही आत्मदेव सकल विश्व को आनन्दित कर रहा है । ये सम्पूर्ण प्राणी इसी आत्मानन्द की मात्रा (कण) का उपभोग कर रहे हैं । यह शम्भु उसी आनन्दरूपी रजत का एक बड़ा गिरि है । अथवा यों कहना चाहिये कि वह आनन्द की एक बड़ी राशि है । यह सम्पूर्ण सुख उसी में से आ रहे हैं और जगत् में कर्मों के अनुसार बांटे जा रहे हैं । सदाशिव आत्मदेव के भक्तों का परमगुह्य धन भी यही शम्भुदेव है । जो लोग इस आत्मधन के धनी बन जाते हैं, उन की फिर कभी दुर्गति नहीं होती । वे फिर कभी भी पामर प्राणियों की तरह दीन नहीं बनते । तात्पर्य यह है कि रजत के समान सुखदायक होने के कारण, दुःखरूप दरिद्रता को नष्ट करने के कारण तथा आनन्द का एक अक्षय भण्डार होने के कारण, आनन्दात्मा शिव को रजतगिरि के समान कहा गया है ।

अथ चारुचन्द्रावतंसमित्यस्य विवरणम्—

अब 'चारुचन्द्रावतंसम्' इस पद का विवरण लिखा जाता है।

शुद्धात्मा शीतला कान्ता सूक्ष्मा बोधकला परा
वक्रायते दुरापेयं चन्द्रचूडो बिभर्ति ताम् ॥१३॥

अत्यन्त पवित्र, शीतल, कमनीय तथा सूक्ष्म यह बोधचन्द्र की कला बहुत ही दुरापा है। इसी से उसे वक्रा कहा जाता है। इस चन्द्रकला को धारण करने से ही योगी आत्मदेव को चन्द्र-चूड कहा गया है।

इस स्त्रीपुत्रादि प्रपञ्च का रागादि कलङ्क जिस में सर्वथा नहीं है, जो स्वयं परमशुद्ध है, इसी परमशुद्धता के कारण जो परमशीतल (अर्थात् जो आध्यात्मिकादि तीनों तापों को हटाने वाली तथा स्वयं भी तीनों प्रकार के तापों से सर्वथा रहित) है जो मुमुक्षु लोगों को बड़ी ही कमनीय हो रही है, जो बड़ी ही सूक्ष्म है (क्योंकि प्रथम तो वह सूक्ष्म आत्मा को विषय करती है, तथा अन्य किन्हीं भी वृत्तियों से व्यवहित अथवा खण्डित नहीं होती) ऐसी वह सर्वोत्कृष्ट तथा प्रपञ्च से अतीत रहने वाली आत्मज्ञानरूपी बोधकला (बोधरूपी चन्द्रमा का एक छोटा सा भाग) बड़ी ही कठिनता से किसी बड़भागी के हाथ लगती है। इसी कठिनता के कारण सम्प्रदाय में उस को चन्द्रमा की कला के समान वक्र माना गया है। (उस की दुरापता ने ही उसे वक्र कहला दिया है)। परम आह्लाद देने वाली, उस सूक्ष्म ज्ञानकला को ही जब कि वह सदाशिव अपने मस्तक पर धारण कर लेता है, तब उस को चन्द्रचूड नाम से कहा जाता है।

'अथ रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गम्' इत्यस्य विवरणम्—

अब "रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गम्" का व्याख्यान किया जाता है।

योगदीक्षामयान्येव बोधरत्नानि कानिचित्।
दधाति शङ्करोऽतोऽस्य रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गता ॥१४॥

योग (ऐक्य) की वासनाओं से भरे हुए कुछ अनिर्वचनीय बोधरूपी रत्नों को धारण किये रहता है। इसी से उस का स्वरूप रत्न के समान उज्ज्वल हो गया है। (अपने को ज्ञानदान करने वाले उस उज्ज्वलाङ्ग परमात्मरूपी गुरुदेव की साधकों को पूजा करनी चाहिये)।

अथ परशुहस्तपदविवरणम्—

अब 'परशुहस्तम्' इस पद का व्याख्यान किया जाता है।

येन मोहवनं छिन्नं कदाचिन्न प्ररोहति।
स बोधः परशुस्तीक्ष्णो हस्ते रुद्रस्य वर्तते ॥१५॥

जिस बोधरूपी खड्ग से (कामादि भयानक व्याघ्रों की निवासभूमि) इस मोहरूपी अरण्य को इस प्रकार समूल काट डाला जाता है कि फिर कभी भी उस में शाखाएं नहीं फूटतीं, ऐसा वह विचित्र तीक्ष्ण परशुरूपी बोध, रुद्र नामक गुरुदेव के हाथ में सदा ही रहता है (अपने सांख्यनामक हाथ में वह ज्ञानी गुरुदेव सदा ही ज्ञानरूपी खड्ग को लिए रहते हैं और उस से मोहरूपी वन की जड़ें काट कर फेंक देते हैं। उनकी इस अपार दया से सैंकड़ों जीव मुक्ति को पा जाते हैं)।

अथ मृगहस्तपदविवरणम्—

इस शिवपूजनपद्धति में शिव को मृगहस्त कहने का तात्पर्य बताया जाता है।

धर्तुं न शक्यते धीरै र्यो धृतोऽपि पलायते।
लीलयैव धृतो हस्ते शम्भुना स मनोमृगः ॥१६॥

धीर योगी लोगों के भी वश में जो नहीं आता, तथा वश में आ जाने पर भी कभी कभी दूर से दूर निकल भागता है, उसी मनरूपी अत्यन्त चंचल मृग को शम्भु ने अपने योगनामक हाथ में बड़ी सरलता से पकड़ लिया है, अर्थात् उसे स्थिर कर के अपने वश में कर डाला है।

अथ वरहस्तत्वविवरणम्—

अब शिव को वरहस्त कहने का तात्पर्य बताया जाता है।

वरार्थिभि र्वरेण्याय वृतो यैस्तु वरः स तम्।
वरं ददाति हस्तेन वरदस्तेन शङ्करः ॥१७॥

जिन वरार्थी मुमुक्षु लोगों ने वरेण्य ब्रह्मसुख को पाने के लिये जिस (सदाशिव) को वरण किया है, उसी (ब्रह्मभाव किंवा मोक्षरूपी स्पृहणीय) वर को वह अपने हाथ से दूसरों को दिया करता है, इसी कारण से उस शंकर को वरद कहा जाता है, (वह समस्त स्वशरणगत जन्तुओं को सदा ही मोक्षरूपी वरदान देता रहता है)।

अथाभीतिहस्तत्वविवरणम्—

अब शिव के 'अभीतिहस्तत्व' का विवरण किया जाता है।

मृत्यो र्बिभेति ब्रह्मापि मृत्युरेव भयं महत्।
तस्मादमृत्युरभयं हस्ते मृत्युञ्जयस्य तत् ॥१८॥

स्वयम्भू ब्रह्मा भी मृत्यु से डरते हैं, इसीलिये सब से बड़ा भय मृत्यु ही है। परन्तु अमृत्यु तथा अभय नाम का परमपद तो मृत्युञ्जय गुरुदेव के (योग नामक) हाथ में रखा रहता है। तात्पर्य यह है कि योग करने से मृत्युरूपी द्वैत की प्रतीति सर्वथा बन्द हो जाती है।

अथ प्रसन्नमित्यस्य विवरणम्—

अब श्लोक में 'प्रसन्नम्' इस पद का व्याख्यान करते हैं।

सिद्धिमेकामपि प्राप्य कश्चिदन्तः प्रसीदति।
निधानं सर्वसिद्धीनां प्रसन्नः सर्वदा हरः ॥१९॥

जब कोई साधक किसी एक सिद्धि को प्राप्त कर लेता है, तब अपने मन में बड़ा ही प्रसन्न होता है, परन्तु सम्पूर्ण सिद्धियों का भण्डार वह हमारा शिवगुरु तो सदा ही प्रसन्नमुख (किंवा सुखरूप) बना रहता है।

अथ पद्मासीनमित्यस्य विवरणम्—

अब 'पद्मासीनम्' इस पद का व्याख्यान किया जाता है।

सतां हृदयपद्मेषु यदासीनः सदाशिवः।
अत एव हि वेदेषु पद्मासीन इतीरितः ॥२०॥

शिवरूपधारी गुरु (आत्मसाक्षात्कार करने वाले) सत्पुरुषों के हृदयरूपी कमलों में सदा ही (प्रतीति के द्वारा) आसन जमाए बैठा रहता है। यही कारण है कि श्रुतियों में उस को 'पद्मासीन' कहा गया है।

अथ समन्तात् स्तुतममरगणैरित्यस्य विवरणम्—

अब 'समन्तात् स्तुतममरगणैः' इन तीनों पदों की व्याख्या की जाती है।

स्तुवन्ति देवान् मनुजास्ते देवा देवनायकान्।
देवदेवो महादेवः स्तूयते देवनायकैः ॥२१॥

साधारण मनुष्य तो (मरुत् प्रभृति) देवताओं की स्तुति किया करते हैं, वे देवता लोग देवनायकों (इन्द्र ब्रह्मा आदि) का यशोगान करते हैं, परन्तु इन सब देवों के भी देव (चिन्मात्ररूप

स्वयंप्रकाशक) महादेव की स्तुति तो देवनायक भी करते हैं। तात्पर्य यह है कि सब देवों का आत्मा होने से शिव ही पूरा स्तुत्य कहा जाता है।

अथ 'व्याघ्रकृत्तिं वसानम्' इत्यस्य विवरणम्—

अब 'व्याघ्रकृत्ति वसानम्' इन दो पदों की व्याख्या करते हैं।

शङ्करेण किरातेन मोहव्याघ्रो निपातितः।
कटौ कृत्तिस्वरूपेण पश्य तस्य निदर्शनम् ॥२२॥

शङ्कररूपी किरात ने (आत्मा को भुलाने वाले) मोहरूपी व्याघ्र को (जो कि आत्मा के दुःख तथा भय का कारण बना हुआ था) मार गिराया है। उस (मार गिराने) का चिन्ह देखो कि उस मोहव्याघ्र की (दोनों देहों सहित चिदाभासरूपी) कृत्ति (चर्म) उस आत्मशङ्कर की अहङ्काररूपी कटि में बँधी हुई है।

तात्पर्य यह है कि स्वात्मशिवरूपी गुरु ने मोहरूपी व्याघ्र को मार डाला है। यह बात उस के दोनों देहों सहित चिदाभास-रूपी चर्म को केवल अहङ्कार में लटकता हुआ देख कर निश्चय करलो। देखो कि उस शिवगुरु के दोनों देहों तथा उन देहों में परिच्छिन्न चिदाभास का अब उस के आत्मा से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह गया है। वे तो अब केवल अहङ्कार के आधार पर ही जीवनयात्रा कर रहे हैं।

अथ विश्वाद्यं विश्ववन्द्यमित्यस्य विवरणम्—

अब 'विश्वाद्यम्' 'विश्ववन्द्यम्' इन दो पदों का व्याख्यान किया जाता है।

विश्वकृद् विश्वरूपोऽसौ विश्वहृद् विश्वपालकः।
विश्वाद्यो विश्ववन्द्यश्च विश्वेशो गिरिजापतिः ॥२३॥

यह प्रत्यगभिन्न परमात्मा ही इस सकल विश्व को बनाने वाला है। यह समस्त विश्व ही उस का आकार है। इस समस्त विश्व का संहार भी वही करता है। इस सकल जगत् को (अपनी सत्ता, अपना चैतन्य तथा अपना आनन्द देकर) पालने वाला भी वही है। इस सम्पूर्ण विश्व पर शासन करने वाला भी वही है। गिरि नामक मोह तथा उस के कार्य विक्षेप की सहायता से उत्पन्न होनेवाली ब्रह्माकारवृत्तिरूपी गिरिजा का पति भी वही है। विश्व का कारण तथा विश्व का वन्दनीय भी वही।

अथ निखिलभयहरमित्यस्य विवरणम्—

अब श्लोक के 'निखिलभयहरम्' इस पद का व्याख्यान किया जाता है।

श्रुति र्भयमिति प्राह द्वितीयाद्वै भयं भवेत्।
हरो हरति भक्तानां मुक्तिदो निखिलं भयम् ॥२४॥

"द्वितीयाद्वै भयं भवति" भय का सिद्धान्त ही दूसरा है। क्योंकि भय दूसरे से ही हो सकता है। श्रुति ने बड़ी दृढता के साथ द्वितीय को ही भय का कारण बताया है। अद्वैतरूपिणी मुक्ति को देने वाले तथा भक्तों के समस्त क्लेशों को निवारण करने वाले हररूपी गुरुदेव अपने भक्त किंवा सेवक मुमुक्षु लोगों के सम्पूर्ण भय (अथवा भय के कारण द्वैत प्रपञ्च) को क्षण भर में विनष्ट कर डालते हैं।

अथ पञ्चवक्त्रमित्यस्य विवरणम्—

अब श्लोक के 'पञ्चवक्त्रम्' इस पद का व्याख्यान करते हैं—

ध्यायन्ति भक्ताः सर्वत्र सर्वेषामपि संमुखः।
उन्मुखो विमुखानां यस्तस्य सा पञ्चवक्त्रता ॥२५॥

भक्त मुमुक्षु लोग जहाँ तहाँ चारों दिशाओं में बैठकर ध्यान करते हैं, यह सदाशिव उन सब भक्तों को सन्मुख ही दीखा करता है, परन्तु जिन भाग्यहीन लोगों को उस पर श्रद्धा नहीं है, उनसे तो वह सदा ही पराङ्मुख रहता है। यही तो उस की पञ्चवक्त्रता कहलाती है।

तात्पर्य यह है कि चारों दिशाओं में भक्तों को दर्शन देने के कारण तो वह चतुर्मुख होता है तथा भक्तिहीन लोगों से विमुख रह जाने के कारण उसको पञ्चवक्त्र कहा जाता है। यही उसके पाँच मुख कहाते हैं।

अथ त्रिनेत्रमित्यस्य विवरणम्—

अब 'त्रिनेत्रम्' इस पद का व्याख्यान किया जाता है—

कर्मोपास्ती उभे नेत्रे, ज्ञानं नेत्रं तृतीयकम्।
ललाटे राजते यस्य, त्रिनेत्रस्तेन शङ्करः ॥२६॥

हे शिष्य! कर्म किंवा उपासना ये ही तो दो नेत्र साधारण लोगों के पाये जाते हैं। तीसरा ज्ञानरूपी नेत्र तो कभी किसी महापुरुष का ही देखा जाता है। वह तीसरा ज्ञानरूपी नेत्र जिस गुरुदेव के ललाट में खुल गया हो, उसी के कारण उस गुरुरूप शङ्कर को त्रिनेत्र कहा गया है। कर्म से पितृलोक उपासना से देवलोक और ज्ञान से मोक्षधाम मिलता है।

इति ध्यानम्।

यह ध्यान प्रतिपादक श्लोक का विवरण समाप्त हुआ।

अथोपकरणविचारः—

अब ध्यान के उपकारक उपाङ्गों का विचार किया जायगा।

तत्रादौ शुद्धस्फटिकसङ्काशताविचारः—

शिव को शुद्ध स्फटिक के समान बताया है। अब उसके कारण का विचार किया जाता है।

निर्मले सर्वमेवेदं यदस्मिन् प्रतिबिम्बति।
शुद्धस्फटिकसङ्काशो नीरागः सोऽयमीश्वरः ॥२७॥

यह सम्पूर्ण जगज्जाल सदा ही प्रत्यक्ष रहने वाले उस निर्मल (सदाशिव) में ही प्रतिबिम्बित हो रहा है। सकल जगत् के प्रतिबिम्ब वाला होने पर भी वह नित्य प्रत्यक्ष ईश्वर सदा ही नीराग बना रहता है।

जिस प्रकार स्फटिक पत्थर नीले पीले पदार्थों के समीप आ जाने पर नीला पीला सा प्रतीत होने तो लगता है, परन्तु वस्तुतः उसमें कोई भी राग नहीं होता। इसी प्रकार वह आत्मतत्त्व भी, यद्यपि देखने में जगत् के पदार्थों के प्रतिबिम्बवाला दीखता है, परन्तु तत्त्वविचार करने पर तो उसमें जगत् के पदार्थों का लेशमात्र भी सम्पर्क नहीं हो पाया है। यह बात अनुभवी विद्वानों के ही अनुभव में आती है।

अथ कर्पूरगौरताविचारः—

अब शिव की 'कर्पूरगौरता' का अभिप्राय बताया जाता है।

यद्वासनाप्रसादेन सर्वा दुर्वासना गता।
स्वभावशीतला सेयं शिवे कर्पूरगौरता ॥२८॥

जिस शिव की वासना (भावना) के उत्पन्न हो जाने से अन्य सम्पूर्ण दुर्वासनाएँ निवृत्त हो गईं, ऐसी वह स्वात्मशिव-विषयक वासना स्वभाव से ही बड़ी शीतल है (इसके प्रभाव

से तीनों प्रकार के ताप निवृत्त हो जाते हैं)। यही तो हमारे स्वात्मशिव में कर्पूरगौरता कहाती है।

अथ दिगम्बरताविचारः—

शास्त्र तथा लोक में शिव को दिगम्बर कहा गया है, अब उसका तात्पर्य बताया जाता है—

निरावरणविज्ञानस्वरूपो हि स्वयं हरः।
स्वैरं चरति संसारे तेन प्रोक्तो दिगम्बरः ॥२९॥

सम्पूर्ण द्वैत जाल को हरने वाला शिव स्वयं यद्यपि आवरण रहित चैतन्यस्वरूप है, परन्तु फिर भी समष्टिरूपी तीनों देहों में स्वेच्छापूर्वक विहार करता रहता है, कहीं उलझता नहीं। इस प्रकार (तत्त्वदृष्टि से निवारण होने के कारण ही) उसको दिगम्बर कहा गया है (ऐसी अलौकिक दिगम्बरता को न समझकर मूर्ख लोग शिव की दिगम्बरता का अर्थ नग्नता कर बैठते हैं।)

अथ भस्मोद्धूलनविचारः—

लोक तथा लौकिकशास्त्रों में जहाँ तहाँ शिव के भस्मलेपन की चर्चा की गई है, उसका गूढ तात्पर्य यहाँ बतलाया जाता है—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते किल।
तेनैव भस्मना गात्रमुद्धूलयति धूर्जटिः ॥३०॥

ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्मसात् कर डालती है, कर्मों की उसी भस्म से यह शिव अपने गात्र को पोता करते हैं।

जबकि शिव के हृदय में सकलकर्मदाहक आत्मज्ञानरूपी अग्नि जल उठती है, तब वह संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण नामक सम्पूर्ण कर्मों को भस्मसात् कर डालती है, यह बात

"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" इत्यादि श्रुतियों में बतायी गई है। वेदान्त सांख्य तथा योग नामक तीन जटाओं को धारण करने वाला वह धूर्जटि उन्हीं कर्मों की भस्म को अपने सच्चिदानन्दब्रह्म नामक गात्रों में मले रहता है। जिस प्रकार भस्म से कोई काम नहीं निकलता, इसी प्रकार इन बाधित कर्मों से भी फिर किसी भोग की प्राप्ति नहीं होती। जिस प्रकार वह कुछ न कर सकने वाली भस्म किसी के गात्र पर पुत रही हो, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष में बाधित कर्मों की प्रतीति लौकिक दृष्टि से होती ही रहती है। इसी भाव को भस्मोद्धूलन जैसे गम्भीर शब्द से निरूपण किया गया है।

भासते भिन्नभावानामपि भेदो न भस्मनि।
स्वस्वभावस्वभावेन भस्म भर्गस्य वल्लभम् ॥३१॥

भस्म बन जाने पर फिर भिन्न भिन्न पदार्थों का भी भेद नहीं रह जाता, तब तो वे सब एकरूप ही हो जाते हैं। भस्म का यह स्वभाव महादेव के स्वभाव से मिलता जुलता है। इसी कारण से शिव को भस्म प्यारी हो गई है।

अथ चन्द्रचूडताविचारः—

अब शिव की चन्द्रचूडता का विचार किया जाता है।

नश्यन्त्यस्य कलाः सर्वाः सा कला नैव नश्यति।
यार्पिता शङ्करे भक्त्या चन्द्रचूडस्तया हरः ॥३२॥

इस चैतन्यरूपी चन्द्रमा की सारी कलाएं नष्ट हो जाती हैं। केवल एक वही कला नष्ट नहीं होती, जिस को कि वह भक्ति-भाव से शङ्कर को अर्पण कर देता है। भक्त की दी हुई उसी कला को धारण करने से वह हर चन्द्रचूड हो गया है।

अन्तःकरण की उपाधि में फँसे हुए चैतन्यरूपी चन्द्रमा की पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय पांच प्राण तथा मनरूपी सोलह कलाएं होती हैं। जिन के कारण कि पुरुष को चन्द्रमा की उपमा दी गई है। काल पाकर वे सब ही नष्ट हो जाती हैं। परन्तु उन में से केवल एक वह कला कभी भी नष्ट नहीं होती, जिस को कि चैतन्यरूपी चन्द्रमा, भक्ति के आवेश में आकर सकलजगदानन्ददायक परमात्मा को अर्पण कर देता है किंवा तदाकार बना देता है। कभी भी नष्ट न होने वाली उस (परमात्माकार चित्त-वृत्तिरूपी) कला को धारण करने के कारण ही परमात्मा को लोक किंवा शास्त्रों में जहां तहां चन्द्रचूड कहा गया है।

अथ जटाजूटविचारः—

अब शिव के जटाजूट का अभिप्राय प्रकट करते हैं।

विश्रामोऽयं मुनीन्द्राणां पुरातनवटो हरः।
वेदान्तसांख्ययोगाख्याः तिस्रस्तज्जटयः स्मृताः ॥३३॥

अनादिकाल से उगे हुए पुराने वट के समान यह हर, मुनीन्द्र लोगों के विश्राम लेने का स्थान बना हुआ है। उस सदाशिव आत्मदेव की वेदान्त सांख्य तथा योग नामक तीन जटाएं कहाती हैं। (इन्हीं से वह सुशोभित हो रहा है।)

अथ गङ्गाधरत्वविचारः—

शिव को 'गङ्गाधर' बताने का गूढ तात्पर्य—

ब्रह्मलोका च या गङ्गा सुषुम्णा शीतलद्रवा।
मस्तके राजते यस्य तेन गङ्गाधरो हरः ॥३४॥

ब्रह्मलोक में रहने वाली, आनन्दरूपी शीतल जल से भरी हुई, गङ्गा के समान पवित्र, सुषुम्णा नाडी जिस शिवगुरु के

मस्तक में प्रकाशित हो जाती है, उसी के कारण उसको गङ्गाधर कहा जाता है।

अथ त्रिनेत्रताविचारः—

अब शिव की त्रिनेत्रता का तात्पर्य बताया जाता है—

आप्यायन स्तमोहन्ता विद्यया दोषदाहकृत्।
सोमसूर्याग्निनयन स्त्रिनेत्रस्तेन शङ्करः॥३५॥

आप्यायन (अर्थात् अपने आनन्द का दान कर के तर्पण करने वाला) होने से जो सोम के समान है। अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करने के कारण जिस को सूर्य की उपमा दी गई है। विद्या नामक ज्ञानरूपवृत्ति से रागादि दोषों को भस्मसात् करने के कारण जो अग्नि के सदृश है। इन्हीं सब समानताओं के के कारण उस को सोम सूर्य तथा अग्नि नेत्रवाला कहा जाता है। यही समानता देख कर शङ्कर को, लोक तथा शास्त्र में 'त्रिनेत्र' बताया जाता है।

उस के त्रिनेत्र होने का कारण लौकिक चन्द्रमा सूर्य तथा अग्नि नहीं है, अथवा ललाट के अग्नि नामक तीसरे नेत्र के कारण भी उसको त्रिनेत्र नहीं कहा गया है। ऐसी त्रिनेत्रता का ज्ञानमार्ग में उपयोग भी क्या हो?

अथ नीलकण्ठताविचारः—

अब शिव की नीलकण्ठता का तात्पर्य बताया जाता है—

कण्ठे ब्रह्माण्डनभसां गिलितानां मनेकधा।
छाया स्फटिकसंकाशे नीलकण्ठत्वकारणम्॥३६॥

स्फटिक पत्थर में जिस प्रकार नील पीत आदि रंग नहीं चढ़ते, किन्तु वह शुद्ध बना रहता है, उसी की तरह उपाधि

के धर्मों से सदा ही असंपृक्त रहनेवाले, सदाशिव परमात्मा के कण्ठरूपी एकदेश में, यदा तदा निगीर्ण होने वाले ब्रह्माण्डों के मध्यवर्ती नीलाकाश का जो कि प्रतिबिम्ब पड़ गया है, उसी से इस शिव को नीलकण्ठ कहा जाने लगा है। (इस के अतिरिक्त उस की नीलकण्ठता का और कोई कारण नहीं है।

यद्ब्रह्माण्डशरीरस्य श्यामलं पार्वतीपतेः।
कण्ठदेशे स्थितं व्योम नीलकण्ठ स्ततो हरः ॥३७॥

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (जगत्) ही जिस का शरीर है, समस्त ब्रह्माण्ड में अहंबुद्धि करने वाले उस पार्वतीपति विराट् के कण्ठ में जो श्यामता बताई जाती है, वह और कुछ नहीं है, वह तो केवल रिक्त (द्वैतहीन) आकाश ही है। उसी के कारण सकल द्वैत जाल को हरण करने वाले शिव को नीलकण्ठ कहा जाता है।

अब साकार शिवोपासकों के सिद्धान्तानुसार नीलकण्ठता का कारण बताया जाता है—

शङ्करेणाभ्रशुभ्रेण यद्विषाम्बु दयालुना।
कण्ठे धृतमतः कण्ठे नवाम्बुधरसुन्दरः ॥३८॥

यद्यपि शम्भु (स्वयं शरत्काल के निर्जल) मेघ के समान शुभ्रवर्ण के हैं परन्तु उन्होंने सकल प्राणियों पर दया करके (समुद्रमथन के समय निकले हुए) विषजल को अपने गले में धारण कर लिया है, इसीलिये वे शिव, कण्ठ में नवीन मेघ के समान सुन्दर नीलवर्ण के हो गये हैं।

शुद्धस्फटिकसंकाशः स्थितोऽयं मन्दराचले।
इन्द्रलीलाचलच्छाया नीलकण्ठत्वकारणम् ॥३९॥

देखने में शुद्ध स्फटिक के समान (शुभ्र वर्णवाला) वह साकार सदाशिव मन्दर नामक पर्वत पर निवास कर रहा है। उस का निवासस्थान वह मन्दराचल पर्वत इन्द्रनील नामक मणियों का बना हुआ है। उस इन्द्रनीलाचल की छाया उस के शुभ्र वर्ण शरीर पर पड़ती है, यों उसका कण्ठ नीला दीखने लगा है, यही उस शिव की नीलकण्ठता का मुख्य कारण है ।

रामोऽस्य परमो भक्तः शङ्करो भक्तवत्सलः ।
रामरत्नं धृतं कण्ठे नीलकण्ठत्वकारणम् ॥४०॥

राम इस शिव का परम भक्त है, शङ्कर अपने भक्तों पर बड़ा प्यार करते हैं (इसी स्नेह के कारण) उसने नीले रंग के रामरूपी (नीले) रत्न को अपने गले में धारण कर लिया है, यही शिव की नीलकण्ठता का कारण है ।

अथ भुजङ्गभूषणताविचारः—

अब शिव की भुजङ्गभूषणता का विचार किया जाता है—

योगिनः पवनाहारा स्तथा गिरिबिलेशयाः ।
निजरूपे धृतास्तेन भुजङ्गाभरणो हरः ॥४१॥

प्राणनामक पवन को वश में करने वाले, गिरि अर्थात् तत्त्वज्ञान से गिरने वाले देहरूपी बिल में सोते हुए, (अर्थात् शरीर की तरफ़ से सदा ही उदासीन रहने वाले तथा परमात्मविषय में सदा सजग रहने वाले) योगिरूपधारी भुजङ्गों (सर्पों) को उसने अपने रूप में स्थापित कर लिया है, इसी कारण से उस हर को भुजङ्गाभरण कहा जाने लगा है ।

जैसे सर्प पवनाहार तथा बिलेशय होते हैं इसी प्रकार

योगी भी होते हैं। इसी समानता से योगियों को भुजङ्गों (सर्पों) की उपमा दी गई है ।

काचित् कुण्डलिनी शक्तिः शङ्करेण वशीकृता ।
कुण्डलिन्या कुण्डलिनो देहाभरणतां गताः ॥४२॥

सब प्राणियों के शरीर में सुषुप्त अवस्था में रहने वाली कुण्डलिनी नामक जीवनशक्ति को जगाकर शिव ने अपने वश में कर लिया है, उसी कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा ही सर्प लोग उसकी देह के भूषण बन गये हैं। क्योंकि वह शक्ति सर्पों के शरीर में भी निवास किये रहती हैं, (योग की प्रक्रिया से यह विचार किया है)।

अनन्तवासुकी शम्भोः कर्णकुण्डलतां गतौ ।
तत्प्रधानतयाऽन्येऽपि ख्याताः कुण्डलिसंज्ञया ॥४३॥

अनन्त तथा वासुकि नाम के सर्प शिव के कर्णकुण्डल बन गए थे। वे दोनों सब सर्पों में प्रधान सर्प थे। इसलिये (छत्रिन्याय से) शेष सर्प भी कुण्डली कहाने लगे हैं। (यह बात साकार उपासकों के मत से कही है)।

अथ त्रिशूलविचारः—

शिव के त्रिशूल का गूढ तात्पर्य बताया जाता है—

शान्तिवैराग्यबोधाख्यैः त्रिभिरग्रै स्तरस्विभिः ।
त्रिगुणत्रिपुरं हन्ति त्रिशूलेन त्रिलोचनः ॥४४॥

अज्ञान को विदीर्ण करने में समर्थ शान्ति (अष्टाङ्गयोग से होने वाली उपरति, जिसके होने पर जगत् का भान बन्द होने से व्यवहार भी बन्द हो जाता है) वैराग्य (विषयों में दोष देख कर विषयों को त्यागने की उत्कृष्ट इच्छा तथा भोग्य पदार्थों में

दीनता न रहना) तथा बोध (श्रवण मनन तथा निदिध्यासन से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान, जिसके होने पर स्वभाव से ही सत्य मिथ्या का विवेक हो जाय, जिसके प्रभाव से चिदात्मा तथा अहंकार की चिज्जडग्रन्थि खुल जाय और फिर कभी ऐसी उलझन उत्पन्न न हो) इन तीन अत्यन्त तीव्र फलक वाले त्रिशूल की मार से वह त्रिनेत्र सदाशिव सत्त्व, रज, तम नामक तीन गुणों से बने हुए (स्थूल सूक्ष्म तथा कारण नामक) तीनों पुरों (देहों) को एकपदे नष्ट कर देता है ।

अथ डमरुविचारः—

शिव के डमरु का तात्पर्य बताते हैं—

टन्टंकारच्छलेनासौ शैवानां मुक्तिहेतवे ।
नेति नेति मुहुः प्राह डमरुः शाम्भवो हि सः ॥४५॥

शम्भु अथवा वेद में बताया गया डमरु शिव के भक्तों को मुक्ति दिलाने के लिये 'टन् टङ्कार' शब्द के बहाने से बार बार नेति नेति यह उपदेश कर रहा है ।

वह कहता है कि हे शिवभक्तो ! जिस द्वैत के माया मोह में तुम फँस रहे हो, जिसको तुम परम पुरुषार्थ समझे बैठे हो, जिसको तुम 'यत्परो नास्ति' सोच रहे हो, वह द्वैत तो कुछ नहीं है । उसकी तो कोई असली बुनियाद ही नहीं है । तुम अपने अमूल्य आयुष्य को व्यर्थ मत खोवो, तुम तो सर्वाधिष्ठान सकल जगत् के साक्षी, सम्पूर्ण जगत् के प्रकाशक सदाशिव आत्मदेव का भजन करो, उसी से तुम्हें मुक्ति का परमपद हाथ लगेगा।

अथ मुण्डमालाविचारः—

शिव के पहनने की मुण्डमाला का तात्पर्य बताते हैं—

अनन्तमृतब्रह्माण्डमुण्डमालाविधारणे ।
अनाद्यनन्तरूपत्वात् समर्थः शिव एव हि ॥४६॥

अनादिकाल से लेकर अब तक नष्ट हुए अनन्त ब्रह्माण्डों के मुण्डों (कपालों) की माला बनाकर पहनने में समर्थ तो वह हमारा आत्मदर्शी शिव गुरु ही है क्योंकि वह अनादि तथा अनन्तरूप को प्राप्त हो चुका है ।

अथ वृषवाहनविचारः—

शिव के वृषवाहन का गूढ तात्पर्य कहते हैं—

ब्रह्माद्या यत्र नारूढा स्तमारोहति शंकरः ।
समाधिं धर्ममेघाख्यं तेनायं वृषवाहनः ॥४७॥

धर्म की मूसलाधार वृष्टि करने वाली जिस धर्ममेघ नामक समाधि पर ब्रह्मा आदि भी आरूढ नहीं हो सके, जगदानन्द-दायक परमात्मा उसी धर्ममेघ नामक समाधि पर आरूढ हुए दीख पड़ते हैं । इसी कारण से उन को वृषवाहन कहा जाता है ।

अथ कैलासविचारः—

अब कैलास का तात्पर्य बताया जाता है—

कैवल्ये लसते रुद्र स्तद्भक्ता अपि सर्वदा ।
तत्कैवल्यविलासेन कैलासं शम्भुमन्दिरम् ॥४८॥

रुद्र नामक परमात्मा सदा ही कैवल्य (अर्थात् अखण्डैक-रस आत्मा) में विलास करते रहते हैं । उस के सेवक भक्त लोग भी सदा उसी कैवल्य को पाकर स्वयंप्रकाश हो जाते हैं । इस प्रकार सदा ही कैवल्य का विलास बना रहने से, सकल जगत् को सुख देने वाले शम्भु का वासस्थान, सदा ही कैलास

के समान स्वयंप्रकाशमान बना रहता है। (अनन्त कोटि भक्तों की भीड़ हो जाने पर भी वहां का कैवल्य नष्ट नहीं हो पाता)।

अथ मन्दरविचारः—

अब मन्दर नामक पर्वत की व्याख्या करते हैं—

मथितो मुक्तिरत्नार्थं येनायं भवसागरः।
स बोधो मन्दरो नाम मन्दिरं शंकरस्य तत् ॥४९॥

जिस बोध ने मोक्षरूपी रत्न को पाने के लिये इस समस्त संसाररूपी सागर को मथ डाला, वह बोध (आत्मज्ञान) ही सच्चा मन्दर कहाता है। उस पवित्र बोध को ही जगदानन्द-दायक शङ्कर का निवासस्थान समझना चाहिये (ऐसे बोध में आकर ही सदाशिव वास करते हैं।)

अथ श्मशानविचारः—

अब श्मशान का तात्पर्य बताया जाता है—

नित्यं क्रीडति यत्रायं स्वयं संहारभैरवः।
तत्र श्मशाने संसारे शिव स्सर्वत्र दृश्यते ॥५०॥

संहार को करने के कारण, डरावने रूप को धारण किये हुए, वे आत्मदेव सदा ही संसाररूपी श्मशान में खेल किया करते हैं (उन की क्रीडाभूमि होने के कारण यह संसाररूपी श्मशान [मुरदों के सोने की जगह] भी मङ्गलरूप हो गया है)। इस संसाररूपी श्मशान में वे शिव, ज्ञानी लोगों को सदा और सब जगह दीखते हैं।

अथ गणविचारः—

अब गणों का विचार करते हैं—

आनन्दसागरः शम्भु स्तच्छक्ति र्द्रव उच्यते ।
शीकरा इव सामुद्रा स्तदानन्दकणा गणाः ॥५१॥

वह शम्भु स्वयं (विद्यानन्द तथा विषयानन्द आदि समग्र) आनन्दों के समुद्र हैं । उसी आनन्दसागर की जगज्जननशक्ति को ही मुनि लोग द्रव (आनन्दवारि) कहते हैं । आनन्दरूप उसी शम्भु के (विषयानन्द तथा विद्यानन्द आदि) अंश, समुद्र के जलशीकरों के समान तुच्छ भाग होते हैं । ये सब आनन्द-कण ही उस शम्भु के सच्चे गण (सेवक) हैं ।

जगद्विलक्षणः स्वामी स्वरूपाकृतिलक्षणैः ।
जगद्विलक्षणा एव गणास्तस्य किमद्भुतम् ॥५२॥

विद्यानन्द आदि गणों का स्वामी वह शम्भु इस (असत् जड तथा दुःखस्वरूप) जगत् से सर्वथा ही विलक्षण है (उसका स्वरूप स्वतःप्रकाश है, यह जगत् तो परतःप्रकाश्य है, वह निराकार है, जगत् तो प्रत्यक्ष ही साकार दीख पड़ता है । वह सच्चिदानन्द है, यह जगत् तो असत् जड तथा दुःखरूप है) उस शम्भु के (विद्यानन्द आदि) गण भी विषयानन्दादिरूपी जगत् से विलक्षण प्रकार के ही हों तो इस में आश्चर्य ही क्या है ?

अथ योगिनीगणविचार:—

शैव पुराणों में वर्णित योगिनियों का तात्पर्य बताते हैं—

यैव यैव मनोवृत्ति र्योगाभ्यासेन योगिनाम् ।
सा समीपं गता शम्भोः सैवायं योगिनीगणः ॥५३॥

योगी लोग जब योगाभ्यास करते हैं, तब उनकी बाह्य विषयों से रुकी हुई, जो जो मनोवृत्ति शम्भु नामक परमात्मा

के निकट तक जा पहुँचती है, ज्ञानियों की दृष्टि में तो वह ही योगिनीगण कहाते हैं।

सखायः शङ्करस्यैते योगिनीभैरवादयः।
जीवन्मुक्ता जडैरुक्ता भूतप्रेतपिशाचकाः ॥५४॥

ये योगिनी तथा भैरव आदि उसी जगदानन्ददायक शंकर के बड़े मित्र जीवन्मुक्त लोग हैं, मूर्ख लोग तो शिव के इन गणों को भूत प्रेत तथा पिशाच कहने लगे हैं।

अथ कालभैरवविचारः—

शिव के समीपवर्ती कालभैरवों का विचार—

विवर्तितजगज्जालः कालोऽस्य द्वारपालकः।
कालाद्बिभेति यद्विश्वं स गणः कालभैरवः ॥५५॥

जिस ने इस जगद्रूपी जाल को विपरीत रूप का बना डाला है, जगत् की कल्पना करने वाला वह काल ही इस शिव का द्वारपाल है। उस काल से यह समस्त जगत् भय खाता है। काल नामक उन अनन्त ईश्वरों का समूह ही कालभैरव कहाता है।

अथ दण्डपाणिविचारः—

अब शिव के दण्डपाणिगणों का विचार करते हैं—

मनसो दण्डनेनैव दण्डपाणिर्गणो भवेत्।
तादृशा एव देवस्य गणत्वमुपयान्ति हि ॥५६॥

जब कोई महापुरुष (निरोधरूपी दण्ड से अपने सङ्कल्परूप) मन को दण्ड दे देते हैं किंवा अपने मन पर शासन कर लेते हैं, तब ये ही लोग दण्डपाणि नामक गण बन जाते हैं। (जैसे कि पशुओं को रोकने के लिये हाथ में दण्ड पकड़ा जाता

है, इसी प्रकार अपने मन को रोकने के लिये निरोध नामक समाधि अथवा अष्टाङ्गयोग को हाथ में ले लेते हैं, तो ये ही लोग दण्डपाणि नाम के गण हो जाते हैं) अब भी जो कोई इस पद्धति से प्रयत्न करे तो वह भी उसका गण बन सकता है।

अथ क्षेत्रपालविचारः—

अब क्षेत्रपाल नामक शिव के गणों का विचार करते हैं—

परमात्मा स्वयं शम्भुः तदंशाः क्षेत्रपालकाः।
अंशांशिभावभेदेन क्षेत्रपालैर्वृतो हरः ॥५७॥

शम्भु नामक परमात्मा तो स्वयं ही सिद्ध है। क्षेत्रपाल अर्थात् समष्टि व्यष्टि स्थूल सूक्ष्म शरीरों को पालने वाले जीव लोग उसी के अंश हैं। इस प्रकार अंशांशिभाव की कल्पना कर लें तो हर नामक परमात्मा क्षेत्रपाल नामक जीवों से घिरा रहता है।

अथ नन्दिगणविचारः—

अब शिव के नन्दि नामक सेवकों का विचार करते हैं—

यस्योपरि स्फुरद्रूपो दृश्यते परमेश्वरः।
स बोधः शुद्धभावात्मा गीयते नन्दिकेश्वरः ॥५८॥

जिस बोध के हाथ लग जाने के अनन्तर परमेश्वर प्रकाशमान रूप में साक्षात् अनुभव में आने लगता है। उस शुद्ध तथा निर्लेप भाव वाले बोध को ही विवेकी लोग नन्दिकेश्वर गण कहते हैं।

अथ भृङ्गिविचारः—

शिव के भृङ्गि नामक गणों का विचार करते हैं—

यः कीटभृङ्गभावेन भक्तः सारूप्यमागतः।
स एव खण्डपरशो भृङ्गिनामा गणः किल ॥५९॥

जिस प्रकार भृङ्ग किसी कीड़े को पकड़ कर अपने बनाए घर में बन्द कर देता है, तो वह भय अथवा प्रेम से उस भृङ्ग को ही स्मरण करता करता अन्त में स्वयं भी भृङ्ग ही बन जाता है । इसी प्रकार जो कोई भक्त प्रेम से विचार करते करते सारूप्य (ब्रह्मभाव) को प्राप्त हो जाता है तो वही ज्ञानी, खण्ड-परशु शिव का भृङ्गि नामक गण कहाने लगता है ।

अथ महाकालविचारः—

अब शिव के महाकाल नामक गण का विचार करते हैं—

कालेन भक्षितं विश्वं कालो बोधेन भक्षितः ।
बोधात्मा कालकालोऽयं महाकालोऽपरो गणः ॥६०॥

मृत्यु ने समस्त जगत् को ग्रस रखा है, यह तो सभी जानते है, परन्तु उस काल नामक मृत्यु को भी बोध (ज्ञान) ने ग्रस लिया है । ज्ञानियों के प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाला वह बोध, काल का भी काल है । वही 'महाकाल' नाम का गण कहाता है।

अथ स्कन्दविचारः—

अब स्कन्द का निर्णय किया जाता है—

बोधस्वसेनया येन मोहस्य स्कन्दनं कृतम् ।
स बुद्धिमान् महासेनः स्कन्दो नाम शिवात्मजः ॥६१॥

जिस प्रत्यगात्मरूपी स्कन्द ने बोधरूपी सेना को ले कर अज्ञानरूपी शत्रु का नाश कर डाला, आत्मा तथा परमात्मा को एक समझने वाली उसी बुद्धिरूपी सेना के कारण महासेन कहाने वाला वह ज्ञानी ही स्कन्द नाम का शिव पुत्र कहाता है । क्योंकि वह भी तो शिवस्वरूप ही होता है ।

अथ गणेशविचारः—

अब गणेश नामक शिवपुत्र का विचार करते हैं—

सुतोऽन्यो विघ्नराशिघ्नः सर्वविद्याविशारदः ।
आनन्दतुन्दिलः साक्षात् सिद्धिदाता गणेश्वरः ॥६२॥

मोक्षमार्ग में विघ्नकारक रागादि दोषों की राशि को नष्ट करनेवाला, सम्पूर्ण विद्याओं में बड़ा चतुर, आत्मानन्द की अधिकता के कारण सदा ही तुन्दिल सा प्रतीत होता हुआ, प्रत्यक्षसिद्धि का दान करने वाला प्रत्यगात्मा ही उन का दूसरा पुत्र गणेश्वर कहलाता है ।

उस ने शान्ति आदि वृत्तियों के गणों पर अपना पूर्ण अधिकार जमा रखा है । उसी को इस शिवपूजा में गणेश समझना चाहिये ।

अथ शिवरात्रिविचारः—

अब शिवरात्रि का तात्पर्य बताते हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
जागर्ति शिवरात्रौ यः शिवस्तस्मिन् प्रसीदति ॥६३॥

सब भूतों की जो रात्रि है संयमी पुरुष उसी में जागते हैं, उसी को शिवरात्रि समझो। उस शिवरात्रि में जो जागता है उस पर शिव प्रसन्न हो जाते हैं ।

जिस आत्मस्थिति में पहुंच जाने पर प्राणियों के सम्पूर्ण व्यवहार बन्द हो जाते हैं, वह आत्मस्थिति ही सब प्राणियों की निशा है । ऐसी रात्रि को ही सच्ची शिवरात्रि कहना चाहिये । साधारणतया कोई भी प्राणी इस अलौकिक शिवरात्रि में जागरण नहीं करते, परन्तु जो कोई भी संयमी अभ्यासी इस शिवरात्रि

में जागने (तत्पर रहने) लगता है (अर्थात् लोकव्यवहार का भान बन्द होकर आत्मस्थिति जब किसी को प्राप्त हो जाती है, जब कोई आत्मस्वरूप का प्रतिक्षण अनुभव करता रहता है) तब वह सदाशिव उस पर प्रसन्न हो जाता है (उस को शिव के निर्मलस्वरूप के दर्शन हो जाते हैं)।

पञ्च कर्मेन्द्रियाण्येव पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि च।
मनोऽहंकृतिचित्तानि त्रीणि बुद्धिश्चतुर्दशी ॥६४॥
इयन्तु शाम्भवैः प्रोक्ता शिवरात्रिचतुर्दशी।
निराहारतया तत्र वृत्तिलोपी भवेद् बुधः ॥६५॥

पांच कर्मेन्द्रिय पांच ज्ञानेन्द्रिय मन अहङ्कार तथा चित्त ये तेरह पदार्थ होते हैं। अखण्ड ज्ञानरूप बुद्धि ही चतुर्दशी कहाती है। अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वृत्ति को ही चतुर्दशी कहते हैं। शम्भु के आत्मभूत ज्ञानी लोग इसी को सच्ची शिवरात्रि नाम की चतुर्दशी मानते हैं। बुद्धिमान् को उचित है कि इस शिवरात्रि में किसी भी विषय का आहार (भोग) न करे और ज्ञान के विरोधी कामादि वृत्तियों का नाश करता रहे।

यही तो इस शिवरात्रि का उपवास कहाता है। केवल भोजन न करने मात्र से इस शिवरात्रि का व्रत पूरा नहीं होता।

शिवभक्तैः कृता पूर्वं शिवस्यात्यन्तवल्लभा।
शिवरात्रिरियं पुत्र शिवसायुज्यदायिनी ॥६६॥

हमारी बताई हुई यह शिवरात्रि (आत्मस्थिति) ही शिव को अत्यन्त प्रिय लगती है। शिव के भक्तों ने इसी शिवरात्रि को मनाया है और इसी की उपासना की है। हे शिष्य! सदाशिव

हुई यही शिवरात्रि उपासक (चिदाभास) को शिव के साथ एकता का दान किया करती है।

निशीथ एव मध्याह्नो रात्रिरेव दिनं विभोः।
न यत्र किंचित् काशेत स प्रकाशस्तु शाम्भवः ॥६७॥

उस विभु की तो रात्रि ही दिन है और आधीरात ही भरी दोपहरी का समय होता है। जिस में कुछ भी नहीं दीख पड़ता वही तो शाम्भव प्रकाश कहाता है।

हे शिष्य ! यद्यपि अन्य देवताओं की पूजा दिन में ही की जाती है, परन्तु शिवपूजा के लिये रात्रि को पसन्द करने का एक बड़ा गूढ कारण यह है कि सर्वत्र सामान्यरूप से रहने वाले उस विभु शम्भुदेव का आत्मप्रकाश जब होता है तब सब विशेष प्रकाश बन्द हो जाते हैं, तथा केवल सामान्य प्रकाश शेष रह जाता है। उसके होने पर रात्रि के समान ही सम्पूर्ण व्यवहार बन्द हो जाते हैं। इस लिये यह रात्रि ही ज्ञानी का सच्चा दिन है। इसी में ज्ञानी को ज्ञानरूपी प्रकाश के अखण्ड दर्शन होने लगते हैं। ऐसी अलौकिक रात्रि का जब निशीथ (आधीरात) आता है—जिस में कि प्रपञ्च की स्फूर्ति सर्वथा बन्द हो जाती है तब यही ज्ञानी का सच्चा मध्याह्न कहाने लगता है। जिस चिद्रूप प्रकाश के हो जाने पर और कोई भी वस्तु प्रतीत न हो, जगदानन्ददायक शम्भु नामक ब्रह्म का यही तो सच्चा ज्ञानरूप प्रकाश होता है। इस आत्मप्रकाश को दृष्टि में रख कर ही रात्रि को दिन तथा आधी रात को मध्याह्न कहा है।

अथ शिवताण्डवविचारः—

शिव के ताण्डव का तात्पर्य कहते हैं—

यस्यानन्दलयेनैव नन्दिता नारदादयः ।
तदानन्दविनोदाख्यं शाम्भवं विद्धि ताण्डवम् ॥६८॥

जिस के आनन्दलय* नामक नृत्य से नारद शुकदेव तथा दत्तात्रेय आदि नन्दित (किंवा ब्रह्मानन्द को प्राप्त) हो रहे हैं, ऐसा वह आनन्दविनोद नामक नृत्य ही (जिस के होने पर कि कर्म उपासना तथा ज्ञान, असङ्ग रहते हुए भी अनायास ही होते रहते हैं) शम्भु का सच्चा ताण्डव नृत्य कहाता है ।

अथ स्मरहरत्वविचारः—

अब शिव के स्मरहर नाम का विचार करते हैं—

हृते स्मरे हृता एव षडप्येते स्मरादयः ।
स्मरादिहरणादेव देवः स्मरहरो हरः ॥६९॥

जब किसी को जगत् का स्मरण ही भूल जाता है, तब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर नामक छहों विकार तो स्वयमेव बाधित हो जाते हैं । इन कामादि का बाध करने के कारण उस

---

* जिस प्रकार लोक में नृत्य करते करते जब लय आ जाता है, अर्थात् स्वर, गान, ताल, मृदङ्ग आदि बाजे तथा पादप्रक्षेप और हावभाव आदि सब समता को प्राप्त हो जाते हैं तब देखने वालों को बड़ा ही आनन्द आता है । इसी प्रकार जब सब आनन्दों का लय हो जाता है, अर्थात् "स एको ब्रह्मण आनन्दः, यो वै भूमा तत्सुखम्, रसो वै सः" इत्यादि में प्रतिपादित आनन्द का लय अर्थात् साम्य हो जाता है अर्थात् सकलवेदादि शब्दरूपी गाने, वेदोक्त क्रिया उपासना तथा ज्ञान नामक पादप्रक्षेप, उनके फलों की वासनासहित अनेक आवेशरूपी हाव-भाव तथा इन सब से होने वाले छोटे मोटे सब ही आनन्द जब महानन्द में विलीन हो जाते हैं, तब वह 'आनन्दलय' कहाता है ।

हर को स्मरहर (अर्थात् जगत् के स्मरण [भान] को नष्ट करने वाला) कहते हैं। (लोकप्रसिद्ध काम को जला डालने से शिव को स्मरहर नहीं कहा जाता)।

अथ गौरीविचारः—

अब बारह श्लोकों से गौरी का निर्णय करते हैं—

सा स्वभावेन वामैव मनोवाचामगोचरा।
वामाङ्गी वामदेवस्य वामे गौरी विराजते ॥७०॥

जिस वृत्ति को मन और वाणी के विषय में न आने वाली बताया गया है, ऐसी वह अद्भुत ब्रह्माकारवृत्ति स्वभाव से ही बड़ी कमनीय हो गई है। परमशुद्ध होने से उसी को गौरी भी कहा जाता है। वह तो वामदेव नामक सुखरूप आत्मा के सुखरूपी वाम अङ्ग में विराजती रहती है। यही कारण है कि उसको वामाङ्गी अर्थात् सुखस्वरूप वाली कहते हैं (वामाङ्गी कहाने में देह की सुन्दरता कारण नहीं है)।

सा ब्रह्मवादिनां श्रेष्ठा भवानी ब्रह्मवादिनी।
या कटाक्षेण सर्वत्र शिवाख्यं ब्रह्म वीक्षते ॥७१॥

जीव को ब्रह्म कहने वाली वह ब्रह्मवादिनी भवानी ही ब्रह्म-वादी लोगों में सर्वश्रेष्ठ है। विवेकी लोगों में रहने वाली वृत्ति रूपी भवानी की सर्वोपरि श्रेष्ठता का कारण यह भी है कि वह अपने (धर्ममेघ समाधि नामक) कटाक्ष से जाग्रदादि सम्पूर्ण अवस्थाओं तथा जगत् के सब पदार्थों में शिवनामक ब्रह्म के अखण्ड दर्शन लेने लगती है।

मम प्रियो मम स्वामी ममात्मा मे गृहेश्वरः
इति यस्याः शिवे भावः सा धन्या शैलकन्यका ॥७२॥

जिस ब्रह्माकार वृत्ति का शिव में सदा ही यह प्रेम भाव बना रहता हो कि वह शिव ही मुझे प्रिय है, वही मेरा पालक है। (उसी की सत्ता से मेरी सत्ता चल रही है)। वही मेरा आत्मा है किंवा वही मेरा पारमार्थिक स्वरूप है (उस के विना मेरी तो कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है) वही मेरा गृहेश्वर है। (अर्थात् जब मैं ब्रह्मत्व का स्वीकार करती हूँ और अपनी सुध बुध भूल जाती हूँ तब मुझ अन्धीभूत का हाथ पकड़ कर चलाने वाले नियामक भी तो वह सदाशिव ही हैं) इस प्रकार सर्वात्मना आत्मसमर्पण करने वाली शैलकन्या (ब्रह्माकार वृत्ति) बड़ी ही धन्य और कृतकृत्य हो गई है।

स ईक्षितः स आश्लिष्टः स भुक्तः स च पूजितः।
स एव हृदये ध्यातः पार्वत्या परमेश्वरः ॥७३॥

पर्वत नामक अज्ञान से उत्पन्न होने वाली ब्रह्माकार वृत्ति-रूपी पार्वती ने (बाह्य पदार्थों से विरक्त हो कर) सर्वत्र उसी परमेश्वर को देखा है (प्रपञ्च का निषेध करके केवल उसी का साक्षात्कार किया है) उसी को ऐक्यभावनारूपी आलिङ्गन दिया है, उसी का अनुभव किया है, उसी को आदर की दृष्टि से देखा है तथा उसी का अपने हृदयमन्दिर में चिन्तन किया है।

शिवं भजति भावेन पातिव्रत्येन पार्वती।
अतः सौभाग्यमेतस्या लोके वेदे च गीयते ॥७४॥

पार्वती(ब्रह्माकार वृत्ति) शिवस्वरूप ब्रह्म को पातिव्रत्य प्रेम से भजन करती है, (वह समझती है कि मुझ ब्रह्माकार वृत्ति को सदा ही अपने इस पति का व्रत धारण किये रहना चाहिये। मुझे सदा ही अखण्ड एकरस बने रहना चाहिये) यही कारण है

कि ऋषिप्रणीत लौकिक शास्त्रों में, वेदों में तथा इन दोनों के द्वारा साधारण लोगों तक में इस वृत्ति की महिमा अथवा सौभाग्य जहां तहां गाया गया है।

समस्त तीर्थों के स्नान, सम्पूर्ण पृथ्वी के दान, सम्पूर्ण यज्ञों के अनुष्ठान, सम्पूर्ण देवों के तर्पण तथा संसार से अपने पितरों के समुद्धरण से भी वह फल प्राप्त नहीं होता, जो एक बार अखण्ड ब्रह्माकारवृत्ति करने वाले महात्मा के हाथ लगता है।

योगेश्वराणां योगोऽयं भुज्यते यन्महेश्वरः।
तेन योगेन सम्पन्ना भवानी दिव्ययोगिनी ॥७५॥

महेश्वर सदाशिव आत्मदेव को (योग की विधि से) अनुभव का विषय वना लिया जाय, बस इसी को योगकला का मर्म जानने वाले लोग, ब्रह्मा आदि योगेश्वरों का योग (अर्थात् ब्रह्म के साथ एकीकरण की गुह्य विधि किंवा गुह्य ज्ञान) बताते हैं। उसी महामहिम योग से सम्पन्न भवानी नामक ब्रह्माकार वृत्ति को दिव्ययोगिनी (अलौकिक ज्ञानवाली) कहा गया है।

नित्यं नृत्यति पार्वत्याः पुरतः परमेश्वरः
यदन्त स्तादृशं प्रेम तदग्रे किं न नृत्यतु ॥७६॥

(यह ब्रह्माकार वृत्तिरूपी पार्वती जब किसी विवेकी को सिद्ध हो जाती है तब) उस पार्वती नामक वृत्ति के सामने आकर वह परमेश्वर सदा ही नृत्य करता हुआ सा प्रतीत होने लगता है। क्योंकि जिस वृत्ति के हृदय में वैसा (रिझा देनेवाला) अनन्य प्रेम हो, उस प्रेममयी वृत्ति के सामने वह परमेश्वर क्यों न नाचने लगे?

एकात्मभावसम्पन्नौ स्थितौ भिन्नात्मकाविव।
भवानीशङ्करौ वन्दे ब्रह्मविद्ब्रह्मणी यथा ॥७७॥

जिस प्रकार एकात्मभाव को पाकर भी अभी तक ब्रह्म तथा ब्रह्मज्ञानी ये दोनों ही अपने अपने भिन्न स्वरूप को धारण किये हुए हैं, इसी प्रकार सच्चिदानन्दरूपी वास्तव एकात्मभाव को प्राप्त हो कर भी, लौकिक दृष्टि के अनुसार अपने अपने भिन्न भिन्न स्वरूपों को भी धारण किये हुए, इन भवानी तथा शङ्कर दोनों को मैं मुमुक्षु प्रणाम करता हूँ।

प्रकारद्वितयेनापि पार्वती स्तुतिमर्हति।
यदस्याः शङ्करे प्रेम, यदस्यां प्रेम शाङ्करम् ॥७८॥

हे मुमुक्षो ! यह ब्रह्माकार वृत्तिरूपी पार्वती दोनों ही प्रकार से स्तुति अथवा आदर की पात्र है, क्योंकि इस पार्वती का सकलजगदानन्ददायक ब्रह्म में अपूर्व स्नेह है, तथा इस विद्वन्मनोविनोदिनी पार्वती नामक वृत्ति पर वह शङ्कर भगवान् भी अत्यन्त स्नेह रखते हैं। अतः मुमुक्षु लोगों को ब्रह्माकारवृत्ति बनाने में विशेष आदर रखना चाहिये।

पूजनीया विशेषेण शङ्करादपि पार्वती।
साक्षादानन्दरूपो यस्तस्याप्यानन्दवर्धिनी ॥७९॥

मुमुक्षु लोगों को उचित है कि शङ्करदेव से भी अधिक इस ब्रह्माकारवृत्तिरूपी पार्वती की पूजा (आदर) किया करें। क्योंकि जो शङ्कर स्वतः ही आनन्दस्वरूप हैं उन आत्मशङ्कर के भी आनन्द को यह वृत्ति बढ़ा देती है।

यह वृत्ति अपने विषय ब्रह्मानन्द को भी भोगती है तथा आत्मानन्द को भी लेती रहती है। इस प्रकार इस वृत्ति की महिमा से यह आनन्द दुगुना हो जाता है। यही कारण है कि सामान्य आनन्दस्वरूप ब्रह्म की अपेक्षा आनन्द को अधिक कर

देने वाली ब्रह्माकारवृत्ति का ही विशेष आदर मुमुक्षु लोगों को करना चाहिये।

परब्रह्मस्वरूपैव पार्वती नात्र संशयः।
यदस्यां प्रचुरप्रेमा ब्रह्मज्ञानी सदाशिवः ॥८०॥

इस ब्रह्माकार वृत्तिरूपी पार्वती को साक्षात्परब्रह्मस्वरूप ही समझना चाहिये। इस की ब्रह्मरूपता में सन्देह करने का कोई भी कारण नहीं है। क्योंकि ब्रह्मज्ञानी सदाशिव इस वृत्तिरूपी पार्वती पर सदा ही अपना प्रगाढ प्रेम रखते हैं।

साक्षात् मुक्ति पद को दिलानेवाला ब्रह्मभाव ही यद्यपि मुमुक्षु लोगों को प्रिय होना चाहिये, तथापि इस ब्रह्माकारवृत्ति तथा ब्रह्मभाव में कोई भी अन्तर नहीं है, तथा सभी ब्रह्मज्ञानी लोग इस वृत्ति पर बड़ा अनुराग रखते हैं। ये लोग इसी वृत्ति के बढ़ते बढ़ते अन्त में पूर्ण ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेते हैं। इसी कारण से ब्रह्मभाव के समान ही यह वृत्ति भी मुमुक्षु लोगों को प्रिय हो गई है।

मन्दारा स्तरवो वनेषु परिखातोयं सुधासागरो
द्वारेऽप्यष्टविभूतयो निधिगणै रन्तःपुरे पार्वती।
शूलं शस्त्रवरं वृषः प्रियसखा नारः कपालः करे
ग्रैवेयं गरलं भुजेषु भुजगा भस्माङ्गरागे रुचिः ॥८१॥

चन्द्रादित्यशतप्रकाशजयिनी चन्द्रावतंसोज्ज्वला
गङ्गागर्भजटाधरा त्रिनयना गङ्गाम्बुवन्निर्मला।
वामे भूधरकन्यका सहचरी भूत्या सदालंकृता
सानन्दा शितिकण्ठिनी पुरभिदो मूर्तिः पुरः स्फूर्जति ॥८२॥

जिस के वनों में तो बहुत से कल्पवृक्ष खड़े हैं, सुधा का समुद्र जिस के नगर की परिखा (खाई) का जल बन रहा है, नौ निधियों के साथ ही आठों विभूतियां जिस के द्वार पर (पहरा देती) रहती हैं, जिस के अन्तःपुर में पार्वती जैसी अनुपम स्त्री है (इतना बड़ा सम्पत्तिशाली और इतनी बड़ी महिमा वाला होने पर भी) त्रिशूल को ही जिस ने अपना सर्वोत्तम आयुध बनाया है, बैल से ही जिस ने प्रिय मित्र का नाता जोड़ा है, आदमी की खोपड़ी को ही जिस ने अपने हाथ में (पात्र की जगह) ले रखा है (सब कुछ छोड़ कर) गरल (हालाहल) को ही जिस ने अपना ग्रैवेय (कण्ठ का भूषण) बना लिया है (सोने आदि के अमूल्य आभूषणों को छोड़कर) जिस ने अपनी भुजाओं में सांपों को लपेट रक्खा है (चन्दन आदि सुगन्ध और बहुमूल्य पदार्थों को छोड़ कर) अपने अंगों पर भस्म मलना ही जिस ने पसन्द किया है। ८१। (यद्यपि वे इतने सीधे सादे हैं) परन्तु अनन्त सूर्यचन्द्रों के प्रकाश को परास्त करने वाली (सिर पर पहने हुए) चन्द्रभूषण के कारण निर्मल, गङ्गागर्भित जटाओं वाली (जिस मूर्ति की जटाओं में गङ्गा समा रही है) तीन नेत्रों वाली, गङ्गाजल के समान निर्मल भूति (विभूति अथवा भस्म) से सदा अलंकृत, अपने में से ही आनन्द को लेने वाली नीलकण्ठवाली अपने वामभाग में पार्वती को बिठाये हुए उन त्रिपुरनाशक की वह मूर्ति हमारे सामने सदा ही चमका करती है। ८२।

प्रकृत—जिस (ब्रह्मज्ञानी शिव) के (सेवन करने योग्य वेदान्तरूपी) वनों में मन्दार नामक (मकार के अर्थ समष्टि व्यष्टि अज्ञान, अज्ञानोपाधि ईश्वर और प्राज्ञ, इन सब से मिल कर बने हुए अपने प्रपञ्च को और साथ ही शरण में आये हुए मुमुक्षु लोगों

के भी प्रपञ्च को विदीर्ण कर डालने वाले) ज्ञानीतरु निवास करते हैं (जिन्हों ने कि इस भवसागर को बात की बात में पार कर डाला है, जो ज्ञानी लोग शिवस्वरूप के ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले वेदान्तों में बतायी हुई निष्ठा में रह कर स्वतः तो भवसागर को पार कर ही जाते हैं परन्तु साथ ही दूसरों के अज्ञान को हटा कर उन्हें भी पार कर देते हैं) अविद्या को उखाड़ देने वाली विद्यानाम की परिखा (खोद डालने वाली) में भरा हुआ विद्यानन्द आदि नामों से कहा जाने वाला सुखरूपी जल ही (जिस ने कि तृष्णारूपी प्यास को बुझाने का बोझ स्वयं ही अपने सिर पर उठा रक्खा है) सुधासागर नाम से कहा जाता है। इस सदाशिव की प्राप्ति के साधन जो योग अथवा ज्ञानरूपी दो द्वार हैं उन द्वारों पर, आठों प्रकार की सिद्धियां, उन उन सिद्धियों को देने वाली उन उन धारणाओं के साथ ही विराजती रहती हैं। उस के लिङ्गशरीररूपी अन्तःपुर में सदा ही ब्रह्माकार वृत्तिरूपी पार्वती बैठी रहती है। (वे सदा ही अपने मन में ब्रह्मचिन्तन करते रहते हैं। शान्ति वैराग्य तथा बोध नाम की तीन धारों से बना हुआ, अज्ञानरूपी शत्रु का वध करनेवाला बोधरूपी) त्रिशूल ही जिस का (उपदेश करने योग्य शस्त्रों में) सर्वश्रेष्ठ शस्त्र हो रहा है, धर्ममेघ समाधि नाम का वृष ही जिन का प्रिय मित्र बन गया है, जिस ने नार अर्थात् वैराग्य आदि साधनों से सम्पन्न अधिकारी के (ब्रह्मसुखसाक्षात्काररूपी) कपाल को अपने (योग नाम के) हाथ में पकड़ रक्खा है, गुरुसेवन रूपी गरल को (अथवा गुरु के बताये रहस्य को स्वीकार कर लेने रूपी गरल को) ही जिस ने अपने कण्ठ का भूषण बना लिया है, जिस ने (अपनी द्वैतत्याग तथा अद्वैतग्रहणरूपी सांख्य

अथवा योग नाम की भुजाओं के सहारे से आत्मा का दर्शन करने वाले) योगी अथवा विवेकी भुजगों को अपनी भुजाओं का भूषण बना कर पहन रक्खा है, ज्ञानाग्नि से जलाये हुए, प्रारब्ध शेष पर्यन्त प्रतीत होने वाले, जगद्रूपी भस्म से ही जिस ने अपने स्वरूप को रंग डालना पसन्द किया है, पुरभिद् (अर्थात् स्थूल सूक्ष्म और कारण नाम के तीनों शरीरों को विदीर्ण करके बाहर निकल आने वाले शिवात्मा) की वह अनन्त सूर्य और अनन्त चन्द्रों के प्रकाशों को जीतनेवाली, बोधरूपी चांद के बने हुए शिरोभूषण को पहन कर निर्मल दीखती हुई, ब्रह्माकार वृत्तिरूपी गंगा से युक्त, वेदांत सांख्य तथा योग नाम की जटाओं को धारण किये हुए (क्रमानुसार अन्तःकरण को शुद्ध, चित्त को स्थिर तथा आत्मा का दर्शन कराने वाले) कर्म, उपासना तथा ज्ञान नाम के तीन नेत्रोंवाली (अपने और अपनी शरण में आये हुए मुमुक्षु लोगों के पाप माया और अविद्या आदि मलों को हटाने के कारण) गंगाजल के समान निर्मल आकार को धारण किये हुए, आठों विभूतियों से सदा सुशोभित रहने वाली भूधरकन्यका (भूनाम के अन्तःकरण को धारण करने वाले अहंकार की पुत्री के समान ब्रह्माकार वृत्ति) को अपने सुखरूपी वाम भाग में बिठाने वाली, अनादि काल से ले कर अब तक निगले हुए अनन्त ब्रह्माण्डों की नीलिमा को अपने गले में धारण करने वाली, वह चिन्मात्ररूप आकृति हम विवेकी लोगों की ध्यानरूपी आंखों के सामने सदा ही खिंची रहती है।

इति सोपकरणं ध्यानम्।

ध्यान के अनुकूल सब सामग्रीसहित यह चिन्तनरूपी पूजोपचार समाप्त हुआ।

अब स्नान का तात्पर्य बताते हैं—

पशुपतये नमः स्नानम्।

पशु नामक अज्ञ जीवों को (अपनी सत्ता, अपना चैतन्य तथा अपना आनन्द देकर) पालने वाले सदाशिव आत्मदेव (के स्वरूप पर अपना पूर्ण प्रभुत्व जमाने) के लिये हमारा प्रह्वीभाव हो।

अर्थात् आठ प्रकृतिरूपी* आठ अंगों सहित परमेश्वर तथा हमारे जीवभाव की बाधा हो जाय। हम अपने उपाधिरहित आत्मधाम को प्राप्त हो जायँ। हम अज्ञ जीवों के जीवभाव का सर्वथा लोप हो जायँ। यही हमारा प्रणाम अथवा प्रह्वीभाव कहाता है। ऐसा प्रह्वीभाव प्राप्त करने की कला जब किसी के हाथ लग जाय तब हम कहेंगे कि वह स्नान करके पवित्र होकर शिवपूजन का सच्चा अधिकारी बन गया है।

पशुत्ववासना त्याज्या ज्ञानगंगाम्बुधारया।
पवित्रया शीतलया स्नाप्यः पशुपतिः शिवः ॥८३॥

प्रथम तो अपने पशुत्व (जीवभाव) के विचारों को सर्वथा छोड़ दो और फिर (जब कि आत्मज्ञान का धारावाहिक प्रवाह बहने लगे, संसार के विषयों का चिन्तन इस प्रवाह को विच्छिन्न अथवा खण्डित न कर सके तब ऐसी) निरन्तर बहने वाली तथा दूसरों को भी पवित्र कर देने वाली ज्ञानरूपी गङ्गा के (तीनों तापों को हटाने वाले विद्यानन्दरूपी) जल की (अविद्या

---

* भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहङ्कार ये आठ प्रकृतियां कहाती हैं।

राग आदि मल से रहित होने से) पवित्र तथा (आध्यात्मिकादि तीनों तापों को हटाने के कारण) शीतल धार से पशुपति (अर्थात् शिवनामक सुखरूप आत्मदेव) को स्नान कराना चाहिये। (अपनी जीवत्ववासना को शनैः शनैः कम करते करते अन्त में जीवत्व की सम्पूर्ण बाधा ही कर देनी चाहिये। यही तो इस हमारे शिवपूजन में स्नान कहाता है)।

शिवाय नम इति पूजनम्।

शिवाय नमः इस मन्त्र से पूजन किया जाता है।

शिवरूप को प्राप्त करने के लिये मेरा ऐसा प्रह्वीभाव अथवा पतन हो कि उस के पश्चात् मैं जब उठ कर देखूँ तो मुझे आठ प्रकृतिरूपी आठों अंगों का तथा अधिष्ठानसहित मेरे जीवभाव का स्वल्प चिन्ह भी हाथ न आये।

शिवो देवः शिवो जीवः शिवादन्यन्न विद्यते।
एवं शिवे प्रकर्तव्यं भक्त्या चन्दनलेपनम् ॥८४॥

शिव ही पूजनीय देव है, शिव ही यह प्राणोपाधिवाला जीव हो बैठा है। शिव से पृथक् तो कुछ भी नहीं है। इस प्रकार के विचारप्रवाहों से बड़े प्रेमावेश में आकर बड़ी तत्परता से आत्मशिव के ऊपर विद्यानन्दरूपी चन्दन का लेप कर डालना चाहिये।

अथाक्षताः—

लौकिक शिवपूजन के अक्षतों का इस अलौकिक शिवपूजन में तात्पर्य बताते हैं—

भजनादक्षता भक्ता देवस्तु स्वयमक्षतः।
अतस्त्वक्षतया भक्त्या पूजनीयः शिवोऽक्षतैः ॥८५॥

भजन के प्रभाव से भक्त लोग भी अक्षत (अमर) हो जाते हैं। निरुपाधि आत्मदेव तो स्वभाव से ही अक्षत (अविनाशी) हैं। इस कारण अक्षत भक्तों को सदा ही अक्षत भक्ति किंवा ब्रह्माकारवृत्ति के द्वारा इस आत्मशिव की पूजा अथवा आदर करते रहना चाहिये। यही इस शिवपूजन में अक्षतपूजन है।

अथार्कपुष्पविचारः—

अर्क पुष्पों को लौकिक शिव पर चढ़ाने की विधि का इस शिवपूजन में तात्पर्य बताया जाता है—

अर्कः पाशुपतो नाम देवः पाशुपतप्रियः।
अतः पाशुपतार्कस्य पुष्पं पशुपतेः प्रियम् ॥८६॥

पाशुपत अर्थात् पशुपतिनामक परमात्मा का बोध ही (प्रकाश रूप हो जाने से) अर्क अथवा सूर्य कहाता है। वह पाशुपत बोध आत्मदेव को बड़ा ही प्रिय लगता है। इसी कारण बोधरूपी सूर्य का (मुक्तिसुखरूपी खिला हुआ) फूल ही पशुपति का प्रिय पुष्प हो गया है। (लौकिक अर्कपुष्प का यहां कुछ भी उपयोग नहीं है)।

कटुपत्रस्तरुः कोपि भक्तेन गिरिशेऽर्पितः।
प्रकाशकस्तमोहन्ता स एवार्कत्वमागतः ॥८७॥

किसी भक्त ने अपनी काम क्रोधादि वृत्तिरूपी कड़वे पत्तों वाले तरु अर्थात् बोध को स्वयंप्रकाश चिद्रूप आत्मदेव को अर्पण कर दिया हो तो फिर वही बोध इस अर्पण के प्रभाव से आत्मा और अनात्मा का प्रकाशक तथा अज्ञान का नाशक हो जाता है। यही कारण है कि वह बोध फिर 'अर्क' नाम से कहाने लगता है।

पुष्पङ्कुड्दलस्यास्य शाम्भवेन निवेदितम्।
शम्भुर्ना स्वीकृतं तेन सा जाता शिवमल्लिका ॥८८॥

इस (कामक्रोधादि रूपी) कड़वे पत्तों वाले जीवरूपी वृक्ष पर खिले हुए (ज्ञानसुखरूपी) पुष्प को, किसी शम्भु के भक्त (चिदाभास) ने लाकर आत्मदेव के भेंट कर दिया, भेंट में पाये हुए उस ज्ञानसुखरूपी पुष्प को शम्भु नामक निरुपाधिक आत्म-देव ने स्वीकार भी कर लिया (अपने से अभिन्न बना डाला।) तभी से लेकर यह बोधरूप ब्रह्माकारवृत्ति 'शिवमल्लिका' नाम से कही जाने लगी है। क्योंकि वह शिव के साथ ऐक्य को पाकर शोभित होने लगती है।

अथ धत्तूरनिर्णयः—

लौकिक शिवपूजन में धत्तूर के अर्पण की विधि होती है। इस शिवपूजन में उसका अलौकिक तात्पर्य बताते हैं—

ईश्वरस्य प्रसादेन भासतेऽन्यादृशं जगत्।
स्वसमानगुणत्वेन धत्तूरः शिववल्लभः ॥८९॥

जब किसी पर ईश्वर की प्रसन्नता होती है तब उसे यह जगत् और ही तरह का (नीरस) प्रतीत होने लगता है। धत्तूर के सेवन का भी यह प्रभाव होता है कि उसके पीनेवाले को भी यह जगत् और तरह का (उल्टा) दीखा करता है। इस प्रकार अपने समान गुणवाला होने से धत्तूर नाम का उन्मत्तवृक्ष महादेव को प्रिय हो गया है।

प्रकृत—ईश्वर का प्रसाद होने पर आत्मसाक्षात्कार करनेवाले चिदाभास को यह जगत् कुछ दूसरे ही रूप में प्रतीत होने लगता है। जिसे वह अज्ञानी अवस्था में जगत् समझ रहा था वही अपने आत्मा की अनुकम्पा हो जाने पर आत्मरूप दीखने लगता है। इसी गुण की समानता के कारण धत्तूर नामक वह पुरुष

जिसको कि यह जगत् अन्य प्रकार का ही प्रतीत होने लगा हो, शिव का अत्यन्त प्यारा हो जाता है।

उन्मन्या स्वयमुन्मत्त उन्मादयति शाम्भवान्।
अत एव प्रियं शम्भोः पुष्पमुन्मत्तसम्भवम् ॥९०॥

वह शिव स्वयं तो उन्मनी (मनोलय) अवस्था के प्रभाव से सदा ही उन्मत्त बना रहता है। वह अपने भक्तों को भी उन्मत्त बनाये रखता है। इसी कारण से उन्मत्त नामक वृक्ष का पुष्प उस शम्भु को प्यारा लगता है।

परमार्थ 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार शब्दानुविद्ध समाधि करते करते जब मन का अत्यन्त अभाव हो जाता है और मुक्तावस्था प्राप्त होने के कारण साधक उन्मत्त सा हो कर जगत् के कार्यों को भूलने लगता है, पूर्णतया उन्मनी के प्रभाव में आकर लोगों को भी उन्मत्त सा प्रतीत होने लगता है और शिव के भक्त अन्य विवेकी चिदाभासों को भी अपने समान ही उन्मत्त कर लेता है। (अर्थात् उन का भी मनोनाश कर लेता है) तब इस अद्भुत स्वभाव के कारण शम्भु को उस नष्टमनस्क (जिस का मन मर गया हो) चिदाभासरूपी वृक्ष पर लगा हुआ विकसित ज्ञानरूपी पुष्प ही अत्यन्त प्रिय लगता है। उस लौकिक धत्तूर पुष्प का यहाँ कुछ भी उपयोग नहीं है।

कैतवं कितवस्यास्य सर्वगोयं न लिप्यते।
अतः कितवधूर्तस्य कैतवं कुसुमं प्रियम् ॥९१॥

यह हमारा कपटी आत्मदेव सर्वग अर्थात् सर्वत्र अनुस्यूत होकर भी उनमें लिप्त नहीं होता है (अर्थात् उत्पत्ति आदि के बन्धन में स्वयं कभी नहीं आता है) यही इसका एक बड़ा कपट

है। इस अद्भुत कपट को पसन्द करने के कारण ही आत्मा का दर्शन करने वाले इस कपटी धूर्त को कैतव पुष्प अर्थात् उसी अलौकिक कपटवृक्ष पर लगा हुआ आत्मविषयक ज्ञानरूपी पुष्प ही प्यारा लगता है। अन्य लौकिक पुष्प नहीं।

कामादयो महाधूर्ता धूर्तितं यैर्जगत्त्रयम्।
तान् धूर्तयति यो युक्त्या स धूर्तो धूर्तवल्लभः ॥९२॥

ये काम क्रोधादि बड़े ही धूर्त हैं। इन्होंने तीनों जगत् को भ्रम में डालकर ठग लिया है। (इन के प्रभाव में आकर यह समस्त त्रिभुवन सर्वथा अकर्तव्य में फँस गया है और अन्धे के पीछे अन्धे के समान ही संसाररूपी भँवर में फँसकर चक्कर खा रहा है। परमार्थ का किसी को लेशमात्र भी ध्यान नहीं रह गया है) जो तो युक्ति के सहारे से इन जगद्वञ्चक कामादि धूर्तों को भी ठग लेता है तो ऐसा वह धूर्त ही (सब से बड़े) धूर्त परमात्मा को प्रिय लगने लगता है।

अर्पितं शङ्करे धूर्तपत्रं कनकपुण्यदम्।
अनेन हेतुना जातो धत्तूरः कनकाह्वयः ॥९३॥

शङ्कर को अर्पण किया हुआ (कामादि का वञ्चन करने वाले जीव का आत्मज्ञानरूपी) धूर्तपत्र सुवर्ण का दान करने के तुल्य ही महाफल को प्राप्त करा देता है। इसी कारण से (जगत् को अन्य प्रकार का समझने वाला) धत्तूर नाम का ज्ञानी भी सुवर्ण अथवा कनक नामवाला कहाने लगा है (क्योंकि वही इस फेंक देने किंवा फूँक देने योग्य असार संसार में सुवर्ण के समान ग्राह्य किंवा सत्करणीय पदार्थ है। वह संसार का सुवर्ण है।)

अथ कण्टकारिकानिर्णयः—

शिव को कण्टकारिका समर्पण का विचार—

भक्त्या भक्तेन चेद् वृत्ति र्मनसः शङ्करेऽर्पिता ।
सकण्टकस्वभावापि जाता साऽकण्टकारिका ॥९४॥

भक्त जब अपने मन की ब्रह्माकार वृत्ति को प्रेमगद्गद होकर आत्मशङ्कर के चरणों में धर देता है तब इस अर्पण करने से पूर्वकाल में उस वृत्ति में पीडा देने वाले कामादि विकार रूपी कण्टक भले ही रहे हों, परन्तु अब तो वह वृत्ति सर्वथा अकण्टकारिका हो जाती है । उसमें अधिकारी को दुःख देने वाले कामादि विकार नहीं रहते। अब तो वह केवल सुखमात्र का ही अनुसन्धान करने लगती है ।

अथ बिल्वविचारः—

शिव को बिल्व अत्यन्त प्रिय लगता है, इसी बिल्व का अब यहाँ विचार किया जाता है—

शिवभक्तिस्वभावेन शाण्डिल्यो हि महामुनिः ।
तन्नाम्नैव प्रियं शम्भोः पत्रं शाण्डिल्यसम्भवम् ॥९५॥

शिवभक्ति का स्वभाव पड़ जाने के कारण शाण्डिल्य मुनि एक महामुनि कहलाने लगा था। उस शाण्डिल्य मुनि के उपदेश से उत्पन्न हुआ ज्ञानरूपी पत्र उसी के नाम से शम्भु को अत्यन्त प्रिय हो गया है। इस आत्मशिव को लौकिक बिल्वपत्र रुचिकर नहीं होता ।

विश्वरूपो महादेवः स्वयं शैलूपलक्षणः ।
अतः शैलूषपत्राणां पूजया स प्रसीदति ॥९६॥

'विश्वरूप' होने से वह महादेव स्वयं भी तो एक प्रकार का

शैलूष (नट-बहुरूपिया) ही तो है। इस कारण शैलूष (बेल) के पत्तों की पूजा से वह प्रसन्न हो जाता है।

अपरिच्छिन्न चिन्मात्र रूप होनें से महादेव कहलाने वाले उस प्रत्यगात्मा ने ही इस समस्त जगत् का रूप धारण कर लिया है और यों वही विश्वरूप हो गया है। ये ही उसमें बहुरूपधारी शैलूष (नट) के लक्षण पाये जाते हैं। इस थोड़ी सी समानता के कारण ही, कभी तो इस समस्त जगदाकार बने हुए तथा कभी जगद्रूप की बाधा करके ब्रह्मरूप को धारण कर लेने वाले, जीवों की ब्रह्माकार वृत्ति रूपी पत्तों से की हुई अपनी पूजा को देखकर वह महादेव अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं। हमारे शिवपूजन में लौकिक बिल्वपत्रों की पूजा का कुछ भी उपयोग नहीं है। क्योंकि वह तो पूजकों को केवल सांसारिक फल दे सकती है।

जन्मनस्तु फलं श्रीमद्बिल्वपत्रार्पणाच्छिवे।
अतो निरूपितो वृक्षो बिल्वः श्रीफलसंज्ञया ॥९७॥

जब कोई अधिकारी अपने ब्रह्माकार वृत्तिरूपी बिल्वपत्र को शिव की सेवा में अर्पण कर देता है तब उसके जन्म धारण करने का प्रयोजन श्रीमत् (मुक्तिसम्पत्तिरूपी श्री से सुशोभित) हो जाता है इसी कारण से वह ज्ञानीरूपी बिल्व वृक्ष 'श्रीफल' अर्थात् मुक्तिरूपी फलवाला कहाने लगता है।

लौकिकार्थ—जिस जन्म में शिव को बिल्वपत्र चढ़ाया जाता है उस जन्म का फल यह होता है कि फिर उसे सायुज्य आदि मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिये बिल्व वृक्ष को लोक में 'श्रीफल' कहा जाता है।

धूपप्रदीपनैवेद्यफलताम्बूलदक्षिणाः।
शिवाय नम इत्येव सर्वमेवास्य पूजनम् ॥९८॥

धूप (२१२ पृष्ठ), दीप (२१३ पृ०), नैवेद्य (२१३), फल (२१५), ताम्बूल (२१४) तथा दक्षिणा (२१५) नाम के सब उपचार शिव को नमस्कार करने के भाव से किये जायँ तो फिर इस पूजक के (लौकिक, वैदिक, विहित और निषिद्ध) सभी कर्म उस आत्मदेव की पूजा ही हो जाते हैं। फिर इन अलौकिक भावों का तो कहना ही क्या ?

विद्यासु श्रुतिरुत्कृष्टा रुद्रैकादशिनी श्रुतौ ।
तत्र पञ्चाक्षरी श्रेष्ठा सा जप्या शिवतुष्टये ॥९९॥

शास्त्रों में वेद ही सर्वश्रेष्ठ हैं। उस वेद में ग्यारह अनुवाकों वाला रुद्राध्याय सबसे श्रेष्ठ है। उसमें से भी "शिवाय नमः" यह पञ्चाक्षरी मन्त्र सर्वश्रेष्ठ है । (क्योंकि इसके पाँच अक्षरों से पाँचों भूतों को ग्रहण करके उनके वाच्यांश को त्याग कर उनके साक्षी आत्मदेव का बोध, लक्षणावृत्ति से कराया जाता है)। अथवा उस रुद्राध्याय की अपेक्षा से भी "अहं ब्रह्मास्मि" यह पंचाक्षरी वाणी अधिक श्रेष्ठ है । मुमुक्षु लोग इन पञ्चाक्षरियों के जाप की आवृत्ति आत्मशिव के सन्तोष के लिये (अर्थात् उसे ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कर देने के लिये) बार बार करें।

अथैकादशबिल्वपत्रिकाः—

अब जीवरूपी बिल्व के वृत्तिरूपी ग्यारह पत्तों के अर्पण का विचार किया जाता है—

द्रष्टा च दर्शनं दृश्यमिति पत्रत्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे प्रथमा बिल्वपत्रिका ॥१००॥

द्रष्टा दर्शन और दृश्य इन तीन पंखड़ियोंवाली पहली बिल्व-पत्रिका को चिद्रूप शिव के अर्पण कर दो ।

रूपादि को देखने वाला द्रष्टा, रूपादि देखने का साधन चक्षु तथा दृश्य रूप आदि, इस प्रकार तीन दलों से मिल कर बनने वाले त्रिदल बिल्वपत्र को इन तीनों (द्रष्टा, दर्शन तथा दृश्य) में अनुगत इन तीनों के साक्षी चैतन्यमात्र आत्मरूप की सेवा में अर्पण कर देना चाहिये। यह विचार करना चाहिये कि इन तीनों में समान रूप से अनुगत वह साक्षिचैतन्य ही वास्तविक सत्य है, वही मैं हूँ। उससे पृथक् इन तीनों की कोई भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" उसी साक्षिचैतन्य के आत्मप्रकाश से यह सब विश्व भासित हो रहा है, इस विश्व की अपनी कोई भी सत्ता नहीं है। इसने अपने प्रकाश के लिये उसी आत्मचैतन्य से सत्ता को (आत्मदर्शन अथवा तत्वज्ञान होने तक के लिए) ऋणरूप में ले रक्खा है। द्रष्टा दर्शन तथा दृश्य यह तो एक इन्द्रियोपाधिक भ्रम है। यह तो इन्द्रियों के रहते रहते बना ही रहेगा। जिस प्रकार जल के रहते रहते वृक्ष उलटे दीखते ही रहते हैं, इसी प्रकार इन्द्रियों के विद्यमान रहते रहते यह भ्रम भी निवृत्त होने वाली वस्तु नहीं है। बुद्धिमान् लोगों को दिग्भ्रम अथवा पीलिया रोग से दीखने वाले भ्रम या पीलेपन के समान इनको कभी भी परमार्थ सत् न मानना चाहिये। ऐसे विचार करना ही इस सदाशिव को प्रथम बिल्वपत्रिका का अर्पण कहा जाता है।

कर्त्ता कार्यं च करणमिति पत्त्रत्रयात्मिका।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे द्वितीया बिल्वपत्रिका ॥१०१॥

कर्त्ता (कर्तृत्व का अभिमानी) कार्य (रूपादि साक्षात्कार) तथा करण (उन उन क्रियाओं के साधन दश इन्द्रिय तथा मन)

इन तीन पत्तों से मिलकर बनने वाली (बुद्धिरूपी) दूसरी त्रिदल बिल्वपत्रिका को उस शिव आत्मा की सेवा में अर्पण कर डालो और उसे चिन्मात्र रूप ही शेष रख लो।

मुमुक्षु को सदा ही यह भावना बनाये रखनी चाहिये कि उसी सामान्य चेतन के अज्ञान के कारण कर्ता, कार्य तथा करण नाम के तीन विभाग हो गये हैं। परमार्थ विचार करने पर ये तीनों उस सामान्य साक्षिचैतन्यरूप से किसी प्रकार भी पृथक् नहीं हैं। वह एक ही साक्षिचैतन्य उपाधि के कारण इन तीनों रूपों में भासित हो रहा है। जब इन विभागों को अपनी बुद्धि में से निकाल दिया जायगा तब फिर वही चिद्रूप शेष रह जायगा। जब किसी मुमुक्षु को अभ्यास करते समय अपनी किन्हीं क्रियाओं में अभिमान का उदय होने लगे अथवा बलात् ही रूपादि का साक्षात्कार हो जाय तब इन के इस झगड़े में घुसने किंवा इन की विचारधारा में बह निकलने से प्रथम ही अपनी स्थिति को स्पष्ट कर देना चाहिये कि मैं तो इन तीनों को चैतन्य का दान करने वाला, तीनों का प्रकाशक, तीनों का साक्षी चैतन्य हूँ। इन तीनों विचारों के आने से प्रथम मेरी जो शुद्ध स्थिति थी तथा इन के नष्ट हो जाने के अनन्तर मेरी जो निर्विकार स्थिति रह जायगी, उसी शुद्ध स्थिति में मैं अब भी हूँ। मैं तो अनादि काल से उसी प्रकार शुद्ध और निर्लेप चला आ रहा हूँ। केवल वर्तमान में कभी कभी इस देहाध्यास के चक्कर में आकर अपने को विकारी किंवा परिणामी सा मान बैठता हूँ और दुःखी सा बन जाता हूँ। परन्तु गम्भीर विचार करने पर तो मैं अब भी अत्यन्त शुद्ध और निर्लेप ही हूँ। जब किसी को उन्मनी अवस्था को लानेवाले ऐसे विचार पैदा होने लगें तब समझना होगा कि

उसने सदाशिव की सेवा में दूसरी बिल्वपत्रिका का अर्पण कर दिया।

भोक्ता च भोजनं भोज्यमिति पत्रत्रयात्मिका।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे तृतीया बिल्वपत्रिका ॥१०२॥

भोक्ता, भोजन तथा भोज्य इन तीन दलों से मिल कर बने हुए बुद्धिरूपी तीसरे बिल्वपत्र को सदाशिव आत्मदेव को अर्पण कर दो।

समाधि करते समय इन्द्रिय तथा अन्तःकरण की वृत्तियों के द्वारा प्राप्त हुए विषयजन्य सुख के आपातमात्रमधुर बन्धन में जब हम फँसने लगें, जब हम में भोक्तृत्व का अभिमान उदय होने लगे, अथवा जब हम विषयसुख का भोजन करने लगें, किंवा भोज्य विषयसुख ही किसी प्रारब्धवश उपस्थित हो जाय, तब पूर्वश्लोक में कहे प्रकार से सदा ही अपने शुद्ध रूप का बारम्बार स्मरण करते रहना चाहिये कि भोक्ता, भोजन तथा भोज्य ये तीनों भाव आगमापायी हैं। इन तीनों भावों को प्रकाशित करने वाला मैं तो इन तीनों का साक्षी सनातन पदार्थ हूँ। इन तीनों भावों के आजाने पर भी मैं इतना ही शुद्ध बना रहता हूँ जितना कि इन के वशीभूत हो जाने से प्रथम रहता था। केवल भ्रम के कारण ही मैं इन के आधीन हो गया सा प्रतीत होने लगता हूँ। वस्तुस्थिति तो यह है कि मैं तो सूर्य के समान इन सब विभागों को प्रकाशित किया करता हूँ और कभी भी इन से लिप्त नहीं होता हूँ। इस प्रकार अपनी असङ्ग स्थिति को जब कोई मुमुक्षु स्पष्ट करने लगता है तब समझना चाहिये कि उसने तीसरी बिल्वपत्रिका भी सदाशिव को समर्पण कर दी है।

भूर्भुवश्च तथा स्वर्ग इति पत्रत्रयान्विता।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे चतुर्थी बिल्वपत्रिका ॥१०३॥

अभ्यास करते हुए जब कभी भूलोक, अन्तरिक्षलोक अथवा स्वर्गलोक का ध्यान आकर ब्रह्माकारवृत्ति खण्डित होने लगे तब साधक को उचित है कि तुरन्त ही सन्नद्ध हो कर इन तीनों पत्तों वाली चौथी बिल्वपत्रिका को भी उसी सदाशिव के अर्पण करदे।

तब उस को निम्न प्रकार से विचार करना चाहिये कि उस चिन्मात्ररूप सदाशिव आत्मदेव ने ही भू, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग लोक के रूप में अपना विवर्त परिणाम कर लिया है। ये तीनों लोक भी कृतक होने से उत्पत्तिविनाशशील हैं। इन तीनों का भासक, इन तीनों में अनुगत, वह आत्मचैतन्य ही सदा रहने वाला तत्त्व है। फिर भला मुझे इन अशाश्वत पदार्थों के चिन्तन में पड़ कर अपने समाधिसुख को किस प्रयोजन से खण्डित कर लेना चाहिये ? जब कोई इन तीनों भावों से रहित होकर तथा सकल संकल्पों को छोड़ कर एक महती शुद्ध स्फटिक शिला के समान निश्चल हो रहेगा और अपने चिन्मात्ररूप साक्षी चैतन्य के अखण्ड दर्शन कर लेगा तब समझा जायगा कि उस ने चौथी बिल्वपत्रिका को शिव की भेंट चढ़ा दिया है।

जाग्रत्स्वप्नस्तथा सुप्तिरितिपत्रत्रयात्मिका।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे पञ्चमी बिल्वपत्रिका ॥१०४॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन पंखड़ियों वाली पांचवीं बिल्वपत्रिका को भी शिव के अर्पण कर देना चाहिये।

जब आत्मानुसन्धान को जाग्रत् स्वप्न किंवा सुषुप्ति के विचार खण्डित करने लगें और आत्मज्ञानरूपी अंकुर इन अवस्थाओं

के प्रभाव में आकर मुरझाने को उद्यत हो तब तुम अपने बोधांकुर के लालने पालने से कभी भी उपेक्षा मत करो। 'गर्भं इव सुभृतो गर्भिणीभिः' गर्भिणी स्त्रियां जिस प्रकार विपरीत आहार विहार से अपने गर्भ की रक्षा करती हैं इसी प्रकार इस बोधशिशु को विचारकर्दम में मत फँसने दो। तुरन्त ही आत्मोद्बोधन कर के बार बार इस की शुद्ध स्थिति और असंगता को स्मरण करते रहो। इस विचार को कभी भी अपने मन से न हटने दो कि जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति ये तीनों अवस्थायें आने जाने वाली हैं। एक के आने पर शेष दो नहीं रहती। यों इन तीनों का आपस में निरन्तर व्यभिचार देखा जाता है। इन तीनों अवस्थाओं में माला के पुष्पों में सूत्र की तरह जो चैतन्य अनुगत हो रहा है वही परमार्थी लोगों को ज्ञातव्य पदार्थ है। वही मैं हूँ। फिर भला मुझे पामर प्राणियों के समान इन जाग्रदादि के विचारों में ही क्यों उलझे रहना चाहिये। मुझे इन तीनों अवस्थाओं से ऊपर क्यों नहीं उठ जाना चाहिये। ये तीनों तो शरीर इन्द्रिय तथा मन तक ही परिमित रह जाने वाली अशाश्वत अवस्थायें हैं। इन के लिये मुझे अपने शाश्वत आत्मदेव का हनन क्यों होने देना चाहिये। ऐसा विचारप्रवाह जब उमड़ पड़े और गम्भीर शान्ति के चिराभिलषित दर्शन होने की मधुर आशा बँधने लगे, आत्मानुसन्धान का बार बार खण्डित होना बन्द हो जाय, हमारी समाधि के छिद्र थोड़े होने लगें, तब समझना चाहिये कि हम ने पांचवीं बिल्वपत्रिका को भी सदाशिव आत्मदेव के अर्पण कर डाला है।

स्थूलं सूक्ष्मं कारणाख्यमिति पत्रत्रयान्विता।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे षष्ठिका बिल्वपत्रिका ॥१०५॥

'स्थूल शरीर' 'सूक्ष्म शरीर' तथा 'कारण शरीर' इन तीन प्रकार के पत्तों से सम्बन्ध रखनेवाली बुद्धिरूपी छठी बिल्व-पत्रिका को भी चिद्रूप शिव के समर्पण कर देना चाहिये।

ब्रह्माकारवृत्ति करते समय यदि समष्टि व्यष्टि स्थूल शरीर का विचार आने लगे अथवा केवल लिङ्गशरीर के सम्बन्ध में रह कर मनोराज्य होने लगे अथवा कारण शरीर अज्ञान में ही समययापना हो रही हो तो अपने मनोमन्दिर में से इन तीनों प्रकार की बुद्धियों को एकदम बाहर कर दो। अपने इन तीनों भावों को, सदाशिव आत्मदेव के अर्पण कर डालो। यह विचार करो कि मुक्त होने के समय हम लोग जिस शुद्ध आत्मस्थिति में रहेंगे उस में तथा इस स्थिति में केवल अज्ञान के कारण ही तो अन्तर पड़ा हुआ है। यदि अपने आध्यात्मिक श्रम से हम इस अज्ञान को हटा सकें तो केवल शुद्धचैतन्य ही शेष रह जायगा। जब किसी मुमुक्षु को तीनों शरीरों के बन्धन में से निकल कर शुद्ध चिन्मात्र रूप रह जाने की युक्ति हाथ आ जाय तब कहना होगा कि उस ने छठी बिल्वपत्रिका को भी सदाशिव आत्मदेव की भेंट चढ़ा दिया है।

अविद्या संसृतिर्जीव इति पत्रत्रयान्विता।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे सप्तमी बिल्वपत्रिका ॥१०६॥

अविद्या, संसार तथा जीव इन तीन प्रकार के पत्तों से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धिरूपी सातवीं बिल्वपत्रिका को भी चिद्रूप शिव के अर्पण कर दो।

तात्पर्य यह है कि अविद्या से (उस अविद्या से उत्पन्न होने वाले इस) संसार से तथा जीव के जीवभाव का स्मरण आने से,

जब जब अखण्ड आत्मानुसन्धान खण्ड खण्ड होने लगे तब तब मुमुक्षु को उचित है कि इन अविद्या संसार तथा जीव नाम के तीनों पदार्थों में अनुगत चिन्मात्र रूप का ध्यान बड़ी तत्परता से किया करे कि ये तीनों पदार्थों क्षणध्वंसी परतःप्रकाश्य तथा अशाश्वत हैं। यदि मैं इन का ही चिन्तन करता रहूँगा और अपने अमूल्य आयुष्य की यों ही व्यर्थ गँवा दूँगा तो मुझे अपने इस व्यर्थप्रयास का क्या फल मिलेगा? मुझे तो सदा अपने उस शाश्वत चिन्मात्र रूप आत्मदेव का ही मनन करते रहना चाहिये। जिस के प्रताप से मैं इस भवसागर को पार कर के पांचों क्लेशों से मुक्ति पा सकूँगा। इस प्रकार के विचारप्रवाह में जब कोई अधिकारी बह निकलता है और बहता बहता आत्मतट तक पहुँच जाता है तब समझा जाता है कि उसने सातवीं बिल्वपत्रिका को भी चिन्मात्ररूप सदाशिव आत्मदेव को अर्पण कर डाला।

उत्पत्तिश्च स्थितिर्नाश इति पत्रत्रयान्विता।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे त्वष्टमी बिल्वपत्रिका ॥१०७॥

उत्पत्ति स्थिति तथा नाश इन तीन प्रकार के पत्तों से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धिरूपी आठवीं बिल्वपत्रिका को भी चिद्रूप शिव के अर्पण कर दो।

जब कि अपने अथवा उस जगत् के उत्पन्न होने, अथवा किसी वस्तु को पैदा करने के विचार किसी मुमुक्षु के मन में आने लगें, जब कभी अपने धर्माचरण की भावनायें हृदय में उठती हों तथा जगद्व्यवहार को चलाने वाले धर्माचरण में प्रवृत्ति होती हो, या कभी किसी का संहार करना ही मन को रुचिकर होने लगे, तब इन सब बुद्धियों को समेट कर (इन सब के प्रका-

शक) आत्मदेव की भेंट चढ़ा दो। यह भेंट इतनी गम्भीर हो कि जब यह भेंट चढ़ा चुको तब न तो किसी की उत्पत्ति का विचार आये, न किसी की स्थिति का संकल्प उठे और न किसी का संहार करने की ही भावना जागे। तब केवल चिन्मात्ररूप आत्मदेव ही जहां तहां सर्वत्र दिखाई पड़ने लगें। यह भावना सदा के लिये दृढ हो जाय कि इन उत्पत्ति आदियों में अनुगत रहने वाला इन का साक्षी चेतन आत्मा ही एक शाश्वत तथा चिन्तनीय पदार्थ है। इन तीनों का चिन्तन करने से तो क्लेशों के वश में आना पड़ता है। इस सब खटपट से छुटने का सर्वोत्तम तथा करने में भी सुखदायी उपाय तो यही है कि केवल चिन्मात्ररूप में अपनी स्थिति का सम्पादन कर लिया जाय। अथवा यों समझो कि अपने चिन्मात्र 'ओम्' आत्मा में एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया जाय। जब किसी अधिकारी को ऐसी स्थिति अनायास ही प्राप्त होने लगे तब समझ लेना चाहिये कि उस ने आठवीं बिल्वपत्रिका को भी चिन्मात्ररूप सदाशिव आत्मदेव की भेंट चढ़ा दिया है।

ब्रह्मा विष्णु स्तथा रुद्र इति पत्रत्रयान्विता।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे नवमी बिल्वपत्रिका ॥१०८॥

ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र इन तीन प्रकार के पत्तों से सम्बन्ध रखनेवाली नवमी बिल्वपत्रिका को भी चिद्रूपशिव के अर्पण करदो।

अपनी कामपूर्ति के लिये ब्रह्मा की किंवा अपने किसी भोग को स्थित रखने के लिये विष्णु की तथा किसी शत्रु का संहार आदि करने के लिये रुद्र की उपासना करने के विचार उत्पन्न होने लगें और इन्हीं विचारों के कारण समाधि में लम्बे लम्बे

छिद्र हो जायँ और उन छिद्रों में हो कर साधक का आत्मसुख विलुप्त होने लगे तो तुरन्त सावधान हो कर वस्तुस्थिति का विचार करना चाहिये कि इन ब्रह्मा आदियों को भी (अपनी सत्ता का दान देकर) पालने वाला तो यह मेरा शुद्ध चैतन्य ही है। इन उपाधि वाले चेतनों के प्रपञ्च में फँस कर मुझे अपने आत्मसुख को खण्डशः (टूक टूक) क्यों कर देना चाहिये! हाय! हाय! यह कैसी निकृष्ट स्थिति है कि अखण्ड सुख को छोड़ कर खण्डित सुखों की ओर ही मेरा मन चलता है। इस अस्वाभाविक स्थिति से तो मुझे अवश्य ही बाहर हो जाना चाहिये। इस प्रकार से विचार करते करते जब किसी अधिकारी की परमुखापेक्षिता (सुख के लिये दूसरे विषयों का मुँह ताकने की आदत) नष्ट हो जाय और केवल आत्मसुख से ही तृप्ति मिलने लगे, जब कि शुद्ध आत्मारामता का आविर्भाव होने लगे, तब निश्चय कर लेना चाहिये कि इस अधिकारी ने नौवीं बिल्वपत्रिका की भी चिन्मात्र सदाशिव आत्मदेव की भेंट चढ़ा दिया है।

तमो रजस्तथा सत्वमिति पत्रत्रयान्विता।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे दशमी बिल्वपत्रिका ॥१०९॥

तम, रज तथा सत्व इन तीन प्रकार के पत्तों से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धिरूपी दसवीं बिल्वपत्रिका को भी चिद्रूप शिव के अर्पण कर दो।

जब किसी मुमुक्षु की बुद्धि (आत्मा को भुला डालने वाले मोहरूपी) तमोगुण से दब कर किंवा (चंचलस्वभाव वाले) रजोगुण में फँस कर अथवा (धर्म में प्रीति बढ़ाने वाले तथा सकल जगत् का ज्ञान कराने वाले प्रकाशरूप) सत्व गुण में रम कर

अपने आत्मधाम को भूल जाय तब उसे चाहिये कि वह तुरन्त सावधान हो कर इन बुद्धिवृत्तियों को सदाशिव आत्मा की भेंट चढ़ा दिया करे। तब यह चिन्तन किया करे कि इन तीनों गुणों को प्रकाशित करने वाला मेरा आत्मचैतन्य ही परमार्थ वस्तु है। ये सब तो उसी आत्मचैतन्य के काल्पनिक रूप हैं। मुझे तो इन सब का चिन्तन छोड़ कर सदा अपने उसी पारमार्थिक स्वरूप का विचार रखना चाहिये। यह आत्मचैतन्य सदा ही त्रिगुणातीत (तीनों गुणों से बाहर) है इन गुणों से आत्मा की सच्ची अवस्था में तो कुछ भी अन्तर (फ़र्क़) नहीं पड़ता है। फिर मुझे ऐसी भूल क्यों करनी चाहिये कि मैं इन के चिन्तन में ही लगा रह जाऊँ ? जब कोई इस विधि से त्रिगुणातीत हो कर शुद्ध आत्मस्थिति को पा लेता है तब कहा जाता है कि उस ने दसवीं बिल्वपत्रिका को भी चिन्मात्ररूप सदाशिव आत्मदेव की भेंट चढ़ा दिया है।

त्वन्ता हन्ता तथेदन्त्व मिति पत्रत्रयान्विता।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे रुद्राख्या बिल्वपत्रिका ॥११०॥

त्वन्ता (तूपन) अहन्ता (मैंपन) और इदन्ता (यहपन) इन तीन प्रकार के पत्तों से सम्बन्ध रखनेवाली बुद्धिरूपी ग्यारहवीं बिल्वपत्रिका को भी चिद्रूप शिव के अर्पण कर दिया करो।

ब्रह्माभ्यास करते करते जब किसी मुमुक्षु के मन में तुझ से, मुझ से या अन्य किसी से सम्बन्ध रखने वाले विचार उदय होने लगें और उस साधक के नवप्रज्वलित बोधदीपक के बुझने का भय हो तब उसे उचित है कि बड़ी तत्परता के साथ इन सब प्रकार के विचारों को समेट कर सदाशिव आत्मदेव के (अप-

वादाधिष्ठान रूपी) चरण में फेंक दिया करे । यदि ये विचार सहसा वश में न आते हों तो निम्न विधि से विचार किया करे कि ये सब त्वन्ता (तूपन) आदि इसी चिन्मात्र आत्मा को न पहचानने से इसी के अपारमार्थिक रूप बन गये हैं। काठ के बने हुए हाथी के समान ये सब काल्पनिक हैं। इन सब का सच्चा रूप तो वह सदाशिव आत्मा ही है । फिर भला मुझ साधक को उस पारमार्थिक रूप को छोड़कर इन अशाश्वत और मायिक पदार्थों के चिन्तन में ही क्यों डूबे रह जाना चाहिये। इन त्वन्ता अहन्ता आदियों ने तो मेरे आत्मसुख को मुझ से छीनने का बीड़ा उठा रक्खा है। यह सब जान चुकने पर भी मुझे उन की ठगई में क्यों आते जाना चाहिये । जब किसी मुमुक्षु की बुद्धि पर से त्वन्ता अहन्ता आदि का मोहक फांसा उठ कर शुद्ध चैतन्य के दर्शन होने लगे हों तो समझना चाहिये कि उस ने ग्यारहवीं बिल्व-पत्रिका को भी चिन्मात्ररूप सदाशिव आत्मा को भेंट चढ़ा दिया है।

एकादशैताः कथिताः शाम्भवा बिल्वपत्रिकाः ।
एताभिरर्चितः शम्भुः सद्यो मुक्तिं प्रयच्छति ॥१११॥

हमने शम्भु की भेंट करने को ये ग्यारह बिल्वपत्रिकायें बतायी हैं इनसे पूजा हुआ शम्भु शीघ्र ही मुक्ति दे देता है ।

जीवों के मनों में आने वाले, आत्मशम्भु पर चढ़ाने योग्य, बिल्वपत्ररूपी ग्यारह प्रकार के विचारों का निरूपण हमने यहाँ तक किया। जब कोई मुमुक्षु प्रसंगानुसार उपयुक्त समय देखकर इन ग्यारह पत्तों से अपने आत्मशम्भु की पूजा कर दे (अर्थात् जब इन ग्यारह प्रकार के विचारों में से कोई सा विचार उत्पन्न हो तब तुरन्त ही अपने अध्यात्मविचार की सहायता से उनका

लय कर दे और अखण्ड एकरस आत्मदेव के चिन्तन का निरन्तर प्रवाह बहादे) तो यह आत्मशम्भु उस पर तुरन्त प्रसन्न होकर तत्काल ही उसे जीवन्मुक्ति के दुर्लभ पद का दान कर दे।

भाव यह है कि ब्रह्माभ्यास करते करते जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियें शान्त हो जायँ, जब सब संकल्पों में महामारी सी फैल जाय, जब मनोधर्म का चिन्ह भी शेष न रहे, जब बुद्धि भी चेष्टा करना बन्द कर दे, खोजने पर जब प्रवृत्ति का पता न पाये अथवा यों कहना चाहिये कि अनादि काल से अपने अपने तुच्छ कामों में फँसे हुए शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को विश्राम मिलने लगे तब समझना चाहिये कि परमगति की प्राप्ति होने लगी है, ज्ञानात्मा को शान्त आत्मा में यमन करने की विधि मालूम पड़ गई है, बुद्धि से भी परम जो तत्व है उसको पहचान लिया गया है। परन्तु करोड़ों पुण्यों से कमाई हुई ऐसी शुद्ध आत्मस्थिति को हमारे अनादि काल के संस्कार बार बार खण्डित करते ही रहते हैं। वे इसे निरन्तर रहीं रहने देते। उस पवित्र अवस्था को निरन्तर रखने के लिये ही उक्त ग्यारह प्रकार के बिल्वपत्रार्पण बताये गये हैं। जिस प्रकार उड़ने की कला में सिद्धहस्त (चतुर) गृध्र आदि महापक्षी अपने पंखों को हिलाये बिना ही आकाशमार्ग में उड़ान मारते रहते हैं, केवल कभी कभी (जब कि नीचे को गिरने का भय हो जाता है तब) अपने पंखों को थोड़ा सा हिला लेते हैं इसी प्रकार मुमुक्षु लोग भी ब्रह्माकार वृत्ति करते करते शुद्ध आत्मस्थिति में विहार करने लगते हैं। परन्तु जब कभी उनकी उस शुद्ध स्थिति के भंग होने का प्रसंग आने लगता है, तब वे तुरन्त ही (उक्त ग्यारह प्रकारों में से किसी एक पद्धति से) फिर फिर ब्रह्माकार वृत्ति बना लेते हैं और इस प्रपंच के मिथ्या बंधन से बार बार मुक्त होते

रहते हैं। इस अभ्यास को करते करते अन्त में तो ऐसी शान्त और स्पृहणीय देवदुर्लभ अवस्था का प्रादुर्भाव होता है कि जिस का वर्णन करने का भारी बोझ मनुष्यों की अधूरी भाषा से सँभल भी नहीं सकता। जिन ज्ञानयोगियों का हृदय जितनी देर के के लिये वैसी देवदुर्लभ अवस्था का विलासक्षेत्र बन जाता है वे लोग उतनी देर के लिये आकाश के समान अनन्त, समुद्र के समान गम्भीर, सलिल के समान शीतल और स्फटिक के समान स्वच्छ हो जाते हैं।

अथाष्टमूर्तिपूजनम्—

शैव शास्त्रों में क्षिति आदि नाम वाली शिव की आठ मूर्तियों का वर्णन आता है उन के द्वारा शिवपूजन का निश्चय अब किया जाता है—

शर्वो भवो रुद्र उग्रो भीमः पशुपतिस्तथा।
महादेवस्तथेशान इति मूर्तिप्रपूजनम् ॥११२॥

शर्व (प्राणियों को धारण करने वाला पृथिवी से बना हुआ देह) भव (पृथिवी को उत्पन्न करने वाला जल से बना हुआ देह) रुद्र (जला कर सब जगत को रुलाने वाला अग्नि से बना हुआ तेजःस्वरूप देह) उग्र (भूत भौतिक पदार्थों का शोषण करने वाला वायु से निर्मित देह) भीम (वायु आदि समस्त भूत भौतिक पदार्थों को अपने में लय करने के कारण सबको भय देने वाला आकाश से बना हुआ देह) पशुपति (जीवरूपी पशु की रक्षा करने वाला मनोनिर्मित देह) महादेव (मन से भी श्रेष्ठ होने से महान् तथा चैतन्य रूप, सकल संसार की क्रीडाभूमि, बुद्धि से निर्मित देह) तथा ईशान (जीवों को

अपनी शक्ति से प्रेरित करने वाला अहङ्कारनिर्मित देह) हमारी शिवपूजा में ये ही आठ मूर्ति हैं। इनका पूजन करना चाहिये।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहङ्कार नामक आठ प्रकृति ही उस चिन्मात्र के अपारमार्थिक रूपान्तर हो गये हैं। जब इन सब के साक्षी का ध्यान किया जाता है तब शिव (निरूपाधि प्रत्यगभिन्न ब्रह्मचैतन्य) ही दृष्टिगोचर होने लग जाता है। इन आठों प्रकृतियों में से जिस किसी पर मुमुक्षु की दृष्टि पड़ती है उसको वहीं वहीं अपने साक्षी आत्मा के अखण्ड दर्शन होते हैं और समाधि होने लगती है। जब किसी मुमुक्षु को आत्मदेव के ऐसे सार्वत्रिक दर्शन मिलने लगें तब समझना चाहिये कि उसने अष्टमूर्ति का विधिपूर्वक पूजन कर लिया है।

अष्टौ प्रकृतिरूपाणि कष्टान्यष्टैव देहिनः।
स्पष्टं मूर्तिभिरष्टाभि रष्टमूर्ति हरत्यसौ ॥११३॥

परा प्रकृति ने ये ही पृथिवी आदि आठ रूप धारण कर लिये हैं। यही कारण है कि देही जीवात्मा को इन आठ ओर से आये हुए, आठ प्रकार के ही दुखों को, भोगना पड़ता है। परन्तु उन आठ प्रकार के दुःखों को यह हमारा जागा हुआ अष्टमूर्ति अपनी आठों मूर्तियों से हर लेता है।

इन आठों मूर्तियों के द्वारा लक्षणावृत्ति से ज्यों ही इन आठों प्रकृतियों के साक्षी आत्मचैतन्य का अनुसन्धान कोई साधक करते हैं त्यों ही आठों प्रकृतियों का बाध हो जाता है (उनमें से कोई सी भी शेष नहीं रहती) तब तो वहाँ एकान्त-लीलाचतुर केवल साक्षिचैतन्य ही विराजा करते हैं। जब कि

वे आठों प्रकृतियाँ नहीं रहतीं तब उन आठों प्रकृतियों से उत्पन्न होने वाला दुःख ही कैसे रहे ?

अथ प्रदक्षिणनिर्णयः—

लौकिक पूजन में प्रदक्षिणा करने की जो विधि है उसका यहाँ जो तात्पर्य है वह बताया जाता है—

अपर्यन्तो महादेव स्तस्य कल्पशतैरपि ।
न स्यात् प्रदक्षिणं तेन शिवस्यार्धं प्रदक्षिणम् ॥११४॥

चिन्मात्ररूप महादेव का पर्यन्त (अथवा समाप्ति) कहीं भी नहीं होता। अनगिनत महाकल्पों का समय व्यतीत कर देने पर भी उसकी पूरी प्रदक्षिणा किसी भी चिदाभास से हो नहीं सकती। इसी कारण से शिव तत्व की प्रदक्षिणा आधी अर्थात् एकदेश में ही मानी गयी है ।

ब्रह्म के सम्पूर्ण रूप का चिन्तन किसी से भी नहीं किया जा सकता। जितने भी ज्ञानी लोग हैं वे सब उसके किसी एकदेश के चिन्तन में ही दक्ष पाये जाते हैं (कोई ज्ञानी उसकी पूर्णता का ही ध्यान करते हैं, कोई उसकी समता में ही विश्राम कर लेते हैं, किसी को उनका शान्तरूप ही पसन्द आता है, किसी को चतुर्थ चिन्ता ही भाती है, कोई तो कुछ भी चिन्तन न करने को ही परमपुरुषार्थ समझने लगते हैं इत्यादि)। लौकिक शिवपूजन में शिवप्रदक्षिणा करते समय सोमसूत्र (शिव-लिंग पर चढ़ाये हुए जल के बाहर निकलने की नाली) को उल्लंघन न करने (किंवा शिव की आधी प्रदक्षिणा करने) का तात्पर्य भी यही है कि सैकड़ों कल्पों तक प्रदक्षिणा करने भी अनन्तरूप महादेव की पूरी प्रदक्षिणा किसी से भी नहीं हो सकती।

अथ गल्लवाद्यविचारः—

शिव के सामने गल्लवाद्य करने का विचार किया जाता है—

यथा स्वरूपं देवस्य तथा वक्तुं न शक्यते ।
स्तुतिर्वा गल्लवाद्यं वा तेन शम्भोर्द्वयं समम् ॥११५॥

चिन्मात्ररूपी आत्मदेव का जैसा स्वरूप है यथार्थ में उसके प्रतिपादन करने का सामर्थ्य तो किसी को भी नहीं है । ऐसी अवस्था में उस सदाशिव आत्मदेव की चाहे तो स्तुति की जाय या फिर (स्तुति की निरर्थकता को देखकर) गाल बजाये जायँ, सकल जगत् को आनन्द देने वाले उस आत्मशम्भु की दृष्टि में ये दोनों बातें समान ही होती हैं ।

अथ नमस्कारविचारः—

अब नमस्कार नाम के उपचार का निर्णय किया जाता है—

प्रेमनिर्भरभावेन दण्डवत्पतितै भुवि ।
महादेवो नमस्कार्यो गलितत्वादहङ्कृतेः ॥११६॥

अहंकार के पूरा नष्ट हो जाने के कारण, प्रेम से गद्गद होकर, ब्रह्मरूपी भूमि में दण्ड के समान निरभिमान होकर शयन कर सकने वाले लोग ही महादेव को नमस्कार किया करें ।

शिवपूजन करते करते जब प्रेम की मात्रा अपनी सीमा का उल्लंघन करने लगे और अधिकारी का अहङ्कार नष्ट हो जाय तब मुमुक्षु को उचित है कि ब्रह्मनाम की विस्तीर्ण भूमि (जीवेश्वरादि प्रपंच के उत्पत्तिस्थान होने से उसे भूमि कहा गया है) में इस प्रकार गिर पड़े और काल पाकर वहीं इस प्रकार विलीन हो जाय जैसे कि डण्डा लम्बायमान होकर भूमि पर गिर पड़ता है और वहीं पड़ा पड़ा गल सड़ कर उसी भूमि में विलीन हो

कर अपना नामरूप खो देता है। जिन साधकों के गम्भीर पतन में इस प्रकार मर मिटने और विलीन हो जाने का सामर्थ्य आगया हो ऐसे मुमुक्षु पुरुष ही अनन्त चैतन्यरूप ब्रह्म को नमस्कार करने के सच्चे अधिकारी हैं। तात्पर्य यह है कि जब कोई अधिकारी अहङ्कारादि उपाधियों का परित्याग कर देता है और ब्रह्म के साथ एकता का सम्पादन कर लेता है तब यही इस शिवपूजन का नमस्कार कहाता है।

अथ क्षमापनम्—

अब इस शिवपूजन के क्षमापन का निर्णय किया जाता है—

मानुष्यमपि सम्प्राप्य पूजितो न महेश्वरः।
अपराधो महाञ्जातः क्षमस्वेति मुहुर्वदेत् ॥११७॥

मनुष्य जन्म पाकर भी महेश्वर का पूजन मैंने नहीं किया, यह मुझसे बड़ा भारी अपराध हुआ। हे सदाशिव! मेरे इस अपराध को सहन कर लीजिये। ऐसी प्रार्थना अपने आत्मदेव से बार बार करता रहे।

अनादि काल से लेकर मैंने अनेक बार मनुष्य जन्म पाये, परन्तु अपने अज्ञान के कारण मैं सदा ही अल्पेश्वरों की पूजा करता रहा। उन जन्मों में कभी भी उस महादेव का पूजन नहीं किया (मैं सदा इन्हीं पामर-स्पृहणीय झगड़ों में फँसा रहा) यह मुझसे एक बड़ा भारी अपराध हो गया है। हे आत्मदेव! मुझ मुमुक्षु के इस अपराध को आप सह लीजिये। मुमुक्षु को उचित है कि अपने आत्मदेव से बार बार ऐसी क्षमायाचना करता रहे।

अथ विसर्जननिर्णयः—

अब इस शिवपूजन के विसर्जन का तात्पर्य बताया जाता है—

ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वजीवत्वादिविसर्जनम् ।
एतस्यां शिवपूजाया मेतदेव विसर्जनम् ॥११८॥

ज्ञत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा जीवत्व आदि धर्मों का परित्याग ही इस शिपूजन में विसर्जन कहाता है ।

आत्मज्ञान में दीक्षित हो जाने के अनन्तर पूर्वाभ्यासवश जब कभी यह भान होने लगे कि "ये कान, नाक, आँख आदि ज्ञानेन्द्रियाँ मेरी हैं मैं इनसे श्रवण आदि करता हूँ, कर्मेन्द्रियाँ मेरी है, मैं इनसे क्रिया करता हूँ, मैं ही प्राण लेता हूँ, उन उन भोग्य विषयों के आने पर सुख अथवा दुःख भी मुझे ही होते हैं। प्राणों को धारण करने वाला जीव भी मैं ही हूँ" तब तब तुरन्त सावधान होकर इन सब अनात्मधर्मों का विसर्जन कर देना चाहिये अर्थात् यह चिन्तन करना चाहिये कि शुद्ध आत्मचैतन्य में इन धर्मों का अस्तित्व कहीं भी नहीं है । ये सब धर्म इन्द्रिय प्राण तथा मन आदि उपाधियों के कारण हैं। जब कोई विवेकी इन अनात्मधर्मों को कभी भी अपने पास नहीं फटकने देता, अपने ज्ञानदीपक को कभी बुझने नहीं देता, इन्द्रियों को कभी भी अपने ज्ञानद्रव्य को चुराने नहीं देता, वृत्तिरूपी रन्ध्रों के द्वारा अपने ज्ञानद्रव्य को बहने नहीं देता, तब यह अनात्मधर्मों से हट जाना ही इस शिवपूजन में विसर्जन कहाता है ।

अज्ञाकरत्वमायाति पुरुषार्थचतुष्टयी ।
यतोऽस्याः शिवपूजाया महिमा केन वर्ण्यताम् ॥११९॥

यदि कोई विवेकी उक्त प्रकार से शिवपूजन कर ले तो चारों पुरुषार्थ हाथ बांध कर उसकी दासता करने लगते हैं। फिर

भला किस संसारी की वाणी में इतना सामर्थ्य हो कि इस शिवपूजा की महिमा का पूरा पूरा वर्णन कर सके।

तत्त्वतो यः शिवं वेद स वेद शिवपूजनम्।
कस्तत्त्वतः शिवं वेद को वेद शिवपूजनम् ॥१२०॥

जो कोई महापुरुष यथार्थरूप में सदाशिव को जान जाय वही शिवपूजन को सम्पूर्णतया जान सकता है। परन्तु ऐसा प्रसङ्ग कभी भी आने वाला नहीं है। क्योंकि ऐसा है ही कौन जो कि यथार्थ रूप में शिव के स्वरूप को जान गया हो? यही कारण कि शिवपूजन की पद्धति का सम्पूर्ण ज्ञान आज तक किसी को भी ज्ञात नहीं हो सका है।

शिवपूजाशतक में एक सौ बीस श्लोक हो गये हैं। उनका विवरण इस प्रकार है इनमें सोलह श्लोक ध्याननिर्णायक श्लोक की व्याख्या है तथा माहात्म्य और अधिकारी का निरूपण करने वाले दोनों श्लोक भी उसी में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

अथ बोधसारप्रशंसा

आत्मज्ञान में दीक्षित पुरुषों को अन्य सब ग्रन्थ छोड़ कर (पाठकों की वृत्ति को सैंकड़ों वार अखण्डाकार करने वाला) यह ग्रन्थ ही सर्वाधिक उपादेय है। यही बात ग्रन्थकार ने इस आठ श्लोकों के 'बोधसार प्रशंसा' नामक प्रकरण से निरूपण की है।

आदौ गुरुस्तवो यत्र प्रान्ते च शिवपूजनम्।
मध्ये मुकुन्दस्मरणं बोधसारः स उत्तमः ॥१॥

जिस ग्रन्थ के प्रारम्भ में (आत्मज्ञान में दीक्षित करने वाले देशिक) गुरु की स्तुति करने वाला 'गुरुस्तव' नाम का अद्भुत प्रकरण आया है, जिस की समाप्ति में (सदाशिव आत्मदेव का

पूजन सिखाने वाला) 'शिवपूजाशतक' नामक प्रकरण ग्रथित हो रहा है तथा जिस के मध्य में भी 'तुरीयतुलसीपत्रपूजा' नाम से मुकुन्दस्मरण किया गया है (इस प्रकार आदि मध्य तथा अन्त में मङ्गलमय होने से) यह बोधसार नामक ग्रन्थ अन्य ग्रन्थों से श्रेष्ठ है।

सिद्धार्थः सुगमार्थश्च विशेषै र्बहुभिर्वृतः।
ग्रन्थस्त्वेतादृशस्तात न भूतो न भविष्यति ॥२॥

जीव ब्रह्मैक्यरूपी सदातन सिद्ध अर्थ को निरूपण करने वाला होने पर भी अत्यन्त सुगम पद्धति से अभिप्राय को वर्णन करता हुआ, अनेक प्रकार की विचित्रताओं वाला (अनेक प्रकार के विचित्र रूपकों, अद्भुत उपमाओं, अलौकिक दृष्टान्तों, रोमहर्ष तथा अश्रुपात कराने वाले निरूपणों, पाठकों के मन और वाणियों को स्तब्ध कर देने वाले वर्णनों वाला) ऐसा अद्भुत शास्त्र आज तक न किसी ने बनाया और न आगे को ही बनाने की आशा है। वर्तमान की तो बात ही क्या कही जाय। (इस लिये यह ग्रन्थ मुमुक्षु लोगों के बड़े ही काम की चीज़ हो गयी है)।

न स्तौमि न च निन्दामि कथयामि यथास्थितम्।
एकैकस्मिन्निह श्लोके प्रोक्तः सिद्धान्तनिर्णयः ॥३॥

मैं इस ग्रन्थ की न तो स्तुति ही करता हूँ और न निन्दा ही करता हूँ किन्तु वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि इस ग्रन्थ के प्रत्येक श्लोक में वेदान्त के गूढ सिद्धान्तों का निर्णय किया गया है (इस कारण से ही ग्रन्थ में इतनी अलौकिकता आ गयी है)।

यथा ब्रह्माण्डसर्वस्वं पिण्डे पिण्डे निरूपितम्।
तथा सिद्धान्तसर्वस्वं श्लोके श्लोके निरूपितम् ॥४॥

जिस प्रकार ब्रह्माण्ड का सर्वस्व (ब्रह्मा इन्द्र शिव तथा सूर्य चन्द्र आदि) सब इस सात बालिश्त के देह में ही बताये जाते हैं (योगी लोग इन सब को प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं) इसी प्रकार वेदान्त के अनेक शास्त्रों में बिखरे हुए जीव ब्रह्मैक्यरूपी रहस्य के यथार्थ स्वरूपको मैंने प्रत्येक पद्य में कूट कूट कर भर दिया है। (इस लिये मुमुक्षु लोगों को इस ग्रन्थ का बड़ा ही आदर करना चाहिये)।

अविद्योन्मूलकुद्दाल स्त्वविद्यादावपावकः।
अविद्यामृगशार्दूल स्त्वविद्यागजकेसरी ॥५॥

यह ग्रन्थ अविद्या को जड़ से उखाड़ने वाला कुदाल है, अविद्यारूपी वन को जलाने वाली अग्नि है, अविद्यारूपी मृग को फाड़ खाने वाला व्याघ्र, है अविद्यारूपी हाथी को मार भगाने वाला सिंह है।

अविद्याजीवगरल मविद्याकण्ठकच्छुरी।
अविद्यालवणस्याप अविद्याप्रलयार्णवः ॥६॥

यह बोधसार नामक ग्रन्थ अविद्यारूपी जीव को मारने में विष के समान है। अविद्या के गले को काटने वाली छुरी है। यह अविद्यारूपी लवण को घोल कर नष्ट कर डालने वाला जल है। अविद्या से बनी हुई सृष्टि को बहा डालने अथवा डुबा देने के लिये तो यह साक्षात् प्रलयार्णव ही हो जाता है।

अविद्याशैलदम्भोलि रविद्यान्धकशङ्करः।
अविद्याकसंगोविन्द स्त्वविद्याचण्डचण्डिका ॥७॥

यह बोधसार नामक ग्रन्थ अविद्यारूपी पर्वत को काट कर फेंकने वाला इन्द्र का वज्र हो जाता है। अविद्यारूपी अन्धकासुर

को नष्ट करने वाला शङ्कर बन बैठता है। अविद्यारूपी कंस को मारते समय कृष्ण का रूप धारण कर लेता है। अविद्यारूपी चण्डासुर को नष्ट करने के लिये चण्डिका सा भयङ्कर हो जाता है।

अविद्यादाहशीतांशु रविद्याध्वान्तभास्करः।
तथैव बोधसारोऽय मविद्यास्वप्नजागरः ॥८॥

यह ग्रन्थ अविद्या के दाह के लिये चन्द्रमा, अविद्यारूपी अँधेरे के लिये सूर्य तथा अविद्यारूपी सुपने को तोड़ने वाला जागरण है।

अथ बोधसारोपासना

इस प्रकरण में बोधसार को ही उपास्यदेव मान कर भिन्न भिन्न प्रकार से उसी की उपासना का विधान है।

गुरुर्मे बोधसारोयं यतो ज्ञानप्रदो मम।
शिष्यो मे बोधसारोयं यमुद्दिश्य वदाम्यहम् ॥१॥

यह बोधसार नाम का ग्रन्थ ही मेरा गुरु है क्योंकि इस से मुझे आचार्य के समान मेरे स्वरूप के ज्ञान का उपदेश मिला है। मेरा शिष्य भी तो बोधसार ही है क्योंकि इसी (बोधसार ग्रन्थ तथा इस के प्रतिपाद्य जीवब्रह्मैक्य) को उद्देश्य कर के मैं यह सब बोल रहा हूँ।

स्वामी मे बोधसारोयं मां पालयति यः सदा।
सेवको बोधसारो मे मम सेवां करोति यः ॥२॥

मेरे समाधिकाल में मुझे प्रत्यक्ष दीखने वाला यह बोधसार परमात्मा तथा उस का प्रतिपादन करने वाला यह ग्रन्थ मेरा स्वामी है। मैं तो इस की सेवा करता हूँ। उस के विनिमय (बदले) में यह बोधसार उस का विचार करने वाले मुझ को सदा ही

पालता रहता है। यह बोधसार ही मेरा सच्चा सेवक है क्योंकि यह सदा ही मेरा अङ्गीकार अथवा भजन करता रहता है।

सुहृन्मे बोधसारोयं सर्वं जानाति मद्गतम्।
सखा मे बोधसारोयं यस्मिन् दृष्टे सुखं मम ॥३॥

यह बोधसार मेरा सच्चा सुहृद है क्योंकि यह मुझ में विद्यमान (आत्मा तथा अनात्मा) सभी को सामान्य रूप से जान रहा है। यह बोधसार मेरा परम उपकारी मित्र है जिसके एकबार देख लेने पर ही मुझ को परमानन्द का अविर्भाव हो जाता है।

गृहं मे बोधसारोयं यत्रैव निवसाम्यहम्।
आरामो बोधसारो मे विहारो यत्र मामकः ॥४॥

मेरा तो यह बोधसार ही सच्चा घर है जिसमें कि मैं सदैव निवास करता रहता हूँ। मेरा तो घूम फिर कर मनोविनोद करने का साधन 'आराम' भी यही बोधसार है, जिसमें कि मैं प्रपंच की चिन्ता से रहित होकर सदैव ही विहार किया करता हूँ।

कान्ता मे बोधसारोयं यमालिङ्ग्य स्वपाम्यहम्।
मनो मे बोधसारोयं मननं येन जायते ॥४॥

मैं तो अपनी प्रिय भार्या भी इसी बोधसार को समझता हूँ। क्योंकि इसी (ब्रह्मात्मता रूपी बोधसार) को आलिङ्गन करके मैं (प्रपंचविस्मृति रूपी) नींद लिया करता हूँ। मेरा संकल्प विकल्पात्मक मन भी तो यह बोधसार ही है क्योंकि इसी ग्रन्थ के सहारे से मैं (अपनी ब्रह्मात्मता का) मनन किया करता हूँ।

बुद्धिं मे बोधसारोयं परमं बुध्यते यया।
चित्तं मे बोधसारोयं येन चेतामि तत्पदे ॥६॥

मेरी तो बुद्धि भी यही बोधसार है क्योंकि इससे मुझे कार्य-कारणातीत प्रत्यगभिन्न ब्रह्मचैतन्य का ज्ञान हुआ है । मेरा तो चित्त भी यही बोधसार है क्योंकि इसी की सहायता से मैं सदा ही प्रत्यगभिन्न ब्रह्मपद का अनुसन्धान करता रहता हूँ ।

अहङ्कारो बोधसारो बोधसारो हमेव हि ।
शरीरं बोधसारो मे ममता यत्र भूयसी ॥७॥

मेरा अहंकार भी बोधसार ही है तथा मैं चिदाभास ही यह बोधसार हो गया हूँ (जब किसी को इस रहस्य का ज्ञान हो जाता है तब उस की दृष्टि में इस अहङ्कार, इस बोधसार तथा इसके प्रतिपाद्य प्रत्यगभिन्न ब्रह्म में कोई भी भेद शेष नहीं रह जाता) मेरा देह भी तो यह बोधसार ही है क्योंकि अज्ञानावस्था में जैसे केवल देह में ही मुझे बड़ी ममता हो रही थी उसी प्रकार अब मुझे इस बोधसार में बड़ी ममता हो गयी है ।

प्राणो मे बोधसारोयं यतः प्रियतरो मम ।
जीवो मे बोधसारोयं येन जीवाम्यहं सदा ॥८॥

मेरे जीवन का साधन प्राण भी तो यह बोधसार ही है क्योंकि यह मुझे अत्यन्त प्यारा लगता है । मेरा जीव (अर्थात् जीवन) भी यह बोधसार ही है क्योंकि इसी के सहारे से मैं सदा अपने प्राणों को धारण कर रहा हूँ और जी रहा हूँ ।

ईश्वरो बोधसारो मे यतो मुक्तिप्रदो मम ।
बोधसारः परं ब्रह्म बोधसारात्परं नहि ॥९॥

मेरा उपास्य ईश्वर भी यह बोधसार ही है क्योंकि अनुसन्धान किये हुए इसी बोधसार ने मुझे मुक्ति का दान किया है । वह परब्रह्म भी तो यह बोधसार ही है । यही सब देखकर यह

निश्चय करना पड़ता है कि इस बोधसार नामक ग्रन्थ तथा इसके प्रतिपाद्य जीव ब्रह्मैक्य से भिन्न कोई भी दूसरी वस्तु इस संसार में नहीं है।

अथ प्रामाण्यसिद्धिः

उपनिषदि वने ये पुष्पिता मन्त्रवृक्षाः,
सुरभि कुसुममेषा मेकमेकं विविच्य।
समरसपदलब्ध्यै वाङ्मयैरेव पुष्पै-
र्नरहरिसुधियैतत् पूजितं बोधलिङ्गम् ॥१॥

वेदान्तों में प्रसिद्ध मुमुक्षु जनों से सेवनीय उपनिषद्रूपी वनों के जिन मन्त्ररूपी वृक्षों पर (ज्ञानरूपी) पुष्प खिल रहे हैं उन्हीं कुसुमित वृक्षों में जहाँ तहाँ बिखरे हुए ब्रह्मात्मवासना से सुगन्धित प्रत्येक कुसुमतुल्य मनोहर परमार्थ को एकत्रित करके सदा एकरस परमानन्ददायक पद को पाने के लिये इन वाङ्मय पुष्पों से इस ब्रह्मनामक बोधमय लिङ्ग को मुझ नरहरि नामक विद्वान् ने पूजा है।

बुधजनहितकारी सम्प्रदायानुसारी,
परमसुखनिधानं मोहमुक्तेर्निदानम्।
नरहरिविहितोयं बोधवृक्षस्य तोयं,
कुमतिवनकुठारः पठ्यतां बोधसारः ॥२॥

बुध जनों का मोक्षरूपी परमहित करनेवाला है। वेदान्त के सम्प्रदाय के अनुसार ही वेदान्त के मर्मों का प्रदिपादन करनेवाला है। परम सुख का निवासस्थान है। मूलाज्ञान नामक मोह से छूटने का मूल कारण है। नरहरि का बनाया हुआ नये अङ्कुरित

कोमल बोधवृक्ष को दिया जाने वाला जल है। संसारासक्त कुमतिरूपी वन को काटकर फेंकने वाला एक प्रकार का कुठार है। मुमुक्षु लोगों को इस बोधसार ग्रन्थ को बार बार पढ़ना चाहिये।

गुरुभि दीक्षितानां हि सर्वमेवेश्वरार्पणम्।
अयं तु बोधसारोस्य स्वात्मैव परमेशितुः॥३॥

गुरु लोगों से जो महापुरुष दीक्षित हो जाते हैं उनके सभी (लौकिक वैदिक) कार्य (स्वभावतः) ईश्वरार्पण हुआ करते हैं। परन्तु मेरा बनाया हुआ यह बोधसार तो इस परमेश्वर का साक्षात् स्वरूप ही है। ऐसी अवस्था में यह मेरी बोधसार नाम की पुस्तक ईश्वर के अर्पण कैसे हो! मैं ईश्वर को ही ईश्वर के अर्पण कैसे करूँ? इसलिये मैं इस बारे में उन से कुछ भी कह कर उनके मौन का भंग नहीं करूँगा।

श्री नरहरि विरचित बोधसार
समाप्त हुआ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
६	१०	स्वात्माजातीयो	स्वात्मजातीयो
५४	१	स्थलसूक्ष्मा	स्थूलसूक्ष्मा
६२	१८	विचारेणानदेना	विचारेणानन्देना
८३	६	चित्त प्रसीदति	चित्तं प्रसीदति
९०	१६	यता:	यत:
११२	९	बुधै प्रोक्ता	बुधैः प्रोक्ता
११४	१	के नाम	के और नाम
११४	४	परोक्षका:	परोक्षका
११५	१६	भूमिकायें	ये तीन भूमिकायें
१७७	१४	विद्यानामक पर	विद्यानामक
१८५	२०	होने तक	होने तथा तात्पर्य तक
२२०	२१	पूजनीय भाव	पूजक जीवभाव
२३७	२४	लगता है	लगना है
२४९	२२	तद्यथर्वभि:	तर्ह्यथर्वभिः
२५३	२	चूड़ामणि	चूड़ामणिः
२५७	४	भावा	भाव